व्याकरणचन्द्रोदय

तृतीय खण्ड

(तिङन्त)

श्री चारुदेवशास्त्री

एम्० ए०, एम्० ओ० एल्०

श्रीगान्धिचरित, अनुवादकला, प्रस्तावतरङ्गिणी, उपसर्गार्थचन्द्रिका, वाक्यमुक्तावली, शब्दापशब्दविवेक आदि ग्रन्थों के निर्माता, वाक्यपदीय (प्र० का०) के परिष्कर्ता तथा व्याकरण महाभाष्य(नवाह्निक)के अनुवादक व विवरणकार

मोतीलाल बनारसीदास

दिल्ली :: वाराणसी :: पटना

किञ्चिद् वक्तव्य

व्याकरणचन्द्रोदय का यह तृतीय खण्ड उपस्थित किया जा रहा है। इसमें तिङन्त पद का सर्वाङ्ग-सम्पूर्ण निरूपण किया है। विषयानुक्रमण प्रायः सिद्धान्तकौमुदी के अनुसार हुआ है। यहाँ इतना अवश्य विशेष है कि सभी लकारों के रूप एकसाथ नहीं दिये हैं। भ्वाद्यादिगणों की धातुओं से शप् आदि गण-कार्य होने से लट्, लोट्, लङ्, विधिलिङ् के रूप एकत्र दिये हैं। लुट्, लृट्, लृङ् में कर्तृवाची सार्वधातुक तिङ् परे शप् आदि का अपवाद तास् और स्य प्रत्यय होते हैं, जो आर्धधातुक हैं। लुङ् में लावस्था में ही च्लि प्रत्यय होता है, जिसे सिच् अङ् आदि आदेश हो जाते हैं जो आर्धधातुक हैं। सिच् आदि आने पर धातु से कर्तृवाची सार्वधातुक नहीं रहता, अतः शप् आदि की प्राप्ति नहीं रहती। आशीर्लिङ् तथा लिट् के आदेश-भूत तिङ् की आर्धधातुक संज्ञा की है, अतः यहाँ भी कर्तृवाची सार्वधातुक न होने से शप् आदि नहीं होते। फलतः लुट्-प्रत्ययान्तादि शब्दों की रूप-रचना में धातु किस गण की है, इसका विचार नहीं करना होता। अतः हमने प्रत्यय और प्रत्ययार्थ के साम्य को लेकर लुट् आदि तीन लकारों का निरूपण एक प्रकरण में किया है। आशीर्लिङ् तथा लिट् का निरूपण दो भिन्न-भिन्न प्रकरणों में किया है।

इस पृथक्करण से विषयप्रतिपादन अभिव्यक्ततर हो जाता है। लुट् आदि के रूपों में इडादि व्यवस्था विशद व सुबोध हो जाती है। लुङ् के निरूपण में अङ् सिच् आदि प्रत्ययों का विषय-विभाग दिखाते हुए उस-उस धातु के लुङन्त रूप दिये हैं। प्रायः व्यवहारावतीर्ण सभी धातुओं के लुङन्त रूप दिये हैं। सिचि वृद्धि, हलन्त-लक्षणा वृद्धि, हलन्तलक्षण-वृद्धि-प्रतिषेध, इडादि सिच्परक वैकल्पिक वृद्धि, नित्यवृद्धि, वृद्ध्यपवाद-गुण, गुण-निषेध आदि शास्त्रीय कार्यों को क्रमबद्ध करके निर्दशित किया है।

आशीर्लिङ् अल्पप्रयोगतर है, अतः इसे लिट् के पीछे रखा है। यहाँ दीर्घ, ह्रस्व, आत्व, एकारान्तादेश, वैकल्पिक एकारान्तादेश, उपधा-न-लोप, इदित्-निमित्तक न-लोपाभाव, गुण, गुणाभाव, रिङादेश, इर् उर् अन्तादेश, इड्-

विकल्प इत्यादि विशेष कार्यों को उस-उस धातु के विषय में विस्तरशः प्रदर्शित किया है।

इसके पीछे ण्यन्तादि प्रक्रियाओं को कौमुदीस्थ क्रम से रखा गया है। पुस्तकान्त में धातूपसर्ग-योग नामक एक नया प्रकरण जोड़ा गया है। इसमें प्रतिदिन के व्यवहार में आनेवाली १२ धातुओं का उपसर्गयोग दिखाते हुए कोई २४० वाक्य संगृहीत किये हैं; ये वाक्य प्रायः हमारी अपनी कृति हैं। पर इनमें कुछ भी अमूल नही। सभी समूल हैं। सभी शिष्टव्यवहार-समर्थित हैं।

धातुओं का अभिनव वर्गीकरण

परम्पराप्राप्त प्रचरित धातुपाठ में पढ़ी भ्वादिगण की धातुओं का नये ढंग से वर्गीकरण किया है। वर्तमान धातुपाठ सदोष है, ऐसा कथन साहसमात्र नहीं। दीक्षित प्रभृति वैयाकरण भी साशङ्क होकर नीचैः स्वर से इसकी सदोषता की ओर सकेत करते हैं—जि जये। अयमजन्तेषु पठितुं युक्तः (दीक्षित)। क्षीज अव्यक्ते शब्दे पढ़ी है। कूज अव्यक्ते शब्दे भी १३ धातुओं के व्यवधान से पूर्व पढ़ी है। इस पर दीक्षित का कहना है—कूजिना सहायं पठितुं युक्तः। क्षि क्षये—इस पर तत्त्वबोधिनीकार का कथन है—अजन्तेषु पठितुं युक्तः। हमें यहाँ कुछ अतिरिक्त वक्तव्य भी है—शुचादयः क्षिवर्जम् उदात्ता उदात्तेतः परस्मैभाषाः—ऐसा धातुपाठ है। हम जानना चाहते हैं कि उदात्त धातुओं के मध्य में अनुदात्त क्षि क्यों पढ़ा गया।

धातुपाठ में जो क्रम आश्रित किया है उसकी बहुत बड़ी प्रयोजनवत्ता नहीं। यह ठीक है कि उदात्तेत् (परस्मैपदी), अनुदात्तेत् (आत्मनेपदी), स्वरितेत् (उभयपदी), तथा उदात्त (सेट्), अनुदात्त (अनिट्) धातुओं को पृथक् वर्गों में पढ़ना प्रयोजनवान् है, सार्थक है, पर अन्त्य वर्ण के आधार पर, अजन्त, कवर्गीयान्त, चवर्गीयान्त आदि वर्गों में धातुओं का वर्गीकरण कुछ विशेष अर्थ नहीं रखता। इससे प्रक्रिया में (तिङन्त-रूपरचना में) कोई सौकर्य नहीं होता, तत्तत्कार्य के स्मरण व धारण में कोई सहायता नहीं मिलती, कारण कि सभी अजन्तादि धातुओं में एकसमान शास्त्र-कार्य नहीं होता। वैसे भी धातुपाठ का धातुक्रम युक्तायुक्त-विचार-विश्रान्त है। अत् आदि उदात्त उदात्तेत् परस्मैपदी पढ़ी हैं। फक्क आदि भी उदात्त उदात्तेत् परस्मैपदी पढ़ी हैं। इन्हें दो भिन्न वर्गों में क्यों पढ़ा गया।

अतः हमने धातुपाठ की निर्दोषता-सम्पादन की इच्छा से तथा इसे अधिकाधिक प्रयोजनवान् बनाने के उद्देश्य से भ्वादिगण की धातुओं को १२ अवान्तर गणों में विभक्त किया है—अजन्त १, इगुपध २, दीर्घोपध ३, अकारवान् हलन्त तथा अकारोपध ४, अकारवान् ल्रान्त ५, अन्य हलन्त धातुएँ ५, इदित् ६, ऋदित् ७, ऊदित् ८, एदित् ९, इरित् ११, लृदित् १२। इस वर्गीकरण का आधार धातु का अन्त्य वर्ण ही नहीं। धातु का अन्त्य वर्ण अच्, उपधा इक्, उपधा अ, मध्यस्थ अ, तथा—इकारादि अनुबन्ध—ये सभी इस अभिनव वर्गीकरण के आधार हैं। अजन्त (इगन्त) को शप् परे गुण, लघु इक् उपधा को गुण, दीर्घ उपधा को गुणाभाव, अकारवान् हलन्त को लुङ् में वृद्धि, इडादि सिच् परे रहते वैकल्पिकी वृद्धि, ल्रान्त धातु के ल्, र् से पूर्व वर्तमान अ (ह्रस्व) को नित्य वृद्धि—इत्यादि शास्त्रीय कार्य एकत्र असकृत् दिखाए हुए जैसे झटिति बुद्धिस्थ हो जाते हैं वैसे दूर व्यवहित आये हुए रूपों में दिखाए हुए नहीं। अनुबन्ध-निर्देश से तत्तदनुबन्ध-निमित्तक वह-वह कार्य शीघ्र सुगृहीत हो जाता है। समानानुबन्धक धातुओं को एक-साथ पढ़ने से वे अल्पायास से ही स्मृत्युपारूढ हो जाती हैं। धातुपाठ में भी अनुबन्ध को आश्रित कर एक अवान्तर वर्ग पढ़ा है—अथ डीङन्ता ङितः।

धात्वर्थविवेचन

यहाँ धातुपाठ के अनुसार धात्वर्थ-निर्देश करके धात्वर्थ-विचार भी किया है। ऐसा विचार कहीं-कहीं पूर्व विवरणकारों ने भी किया है। कर्द कुत्सिते शब्दे—ऐसा धातुपाठ है। इससे नहीं जाना जाता कि कुत्सित शब्द से क्या अभिप्रेत है। कौक्षे रवे—ऐसा विवरण है। सुख दुःख तत्क्रियायाम्(कण्ड्वादि) —ऐसा धातुपाठ है। इस पर तदनुभवे—यह विवरण है। पर यह विवेचन अत्यन्त विरल है। जहाँ किया भी है वहाँ धुँधला है। गडि वदनैकदेशे—ऐसा धातुपाठ है। तत्क्रियायाम्—यह विवरण है। यह किंविवरण है। संवरण है ऐसा कहना अधिक उचित होगा। भ्वादिगण की धातुओं के विषय में किये गये हमारे विवेचन को आप व्यापक तथा अर्थयाथार्थ्य-बोधक पायेंगे। धातुपाठ में गत्यर्थवाची शतशः धातुएँ पढ़ी हैं। ये सभी समानार्थक नहीं हो सकतीं। निश्चय ही नानाविध गति अभिप्रेत है। सभी का एकसमान गत्यर्थ में प्रयोग नहीं हो सकता इसे वितत रूप से सोदाहरण दिखाया है। चञ्च् गत्यर्थ में पढ़ी है, पर ग्रामं चञ्चति ऐसा नहीं कह सकते। इस का स्फुरण, स्पन्दन अर्थ

है। प्लुङ् गत्यर्थ में पढ़ी है, पर इस का अर्थ तैरना, बहना, उछलना, उछल कर चलना है, सामान्य गति नहीं, यह सप्रमाण दर्शाया है। म्लुच् गत्यर्थ में पढ़ी है, पर इसका सूर्य की नीचैर्गति (अस्तंगमन) में ही प्रयोग नियत है, अन्यत्र कहीं नहीं। कई धातुओं के अर्थों को प्राचीन साहित्य के प्रयोगों से स्पष्ट किया है। बिदि अवयवे, पिश अवयवे। पूर्वत्र हरिवंश से उदाहरण दिया है, उत्तरत्र अथर्वसंहिता से। इसी से काश्यप का 'बिदि का तिङ्-विषयक प्रयोग नहीं होता' ऐसा कहना साहसमात्र है यह स्पष्ट हो जाता है। पिश् का सुन्दर सुघटित बनाना तथा विघटित करना—दोनों अर्थ हैं यह स्पष्ट किया है। उच्छी विवासे। इस पर क्षीरस्वामी आदि द्वारा किये गये विवासः परिसमाप्तिः इस अर्थापन को अयथार्थ बताया है। वा गतिगन्धनयोः। गन्धनं सूचनम्—ऐसा दीक्षित का विवरण है। सूचन (जो अन्यत्र हिंसाप्रयुक्त सूचन लिया जाता है) का 'वायु' में कुछ भी अन्वय नहीं। सूचन अर्थ में उदाहरण भी नहीं है। सूचनार्थ विचारासह है इसे सप्रमाण दिखाया है।

बहुत्र अर्थनिर्देश से यह निश्चित नहीं होता कि धातु सकर्मक है अथवा अकर्मक। हृत्र कौटिल्ये, क्नूयी उन्दे शब्दे च—ये अकर्मक हैं, सकर्मक नहीं, इसे सप्रमाण सिद्ध किया है। स्वृ शब्दोपतापयोः। इसका ठीक-ठीक अर्थ क्या है, किस अर्थ में यह सकर्मक है, किसमें अकर्मक—इसका विवेचन किया है। गृधु अभिकाङ्क्षायाम् की अकर्मकता के विषय में दिये गये नाना उदाहरणों द्वारा इसकी सकर्मकता-विषयक भ्रान्ति का निरास किया है। सकर्मकता-अकर्मकता-विषयक भट्टि की अनेक भ्रान्तियों का दिग्दर्शन भी कराया है।

धात्वर्थों की द्योतकता में उपसर्गनैयत्य भी निर्दिशित किया है। चायृ पूजा-निशामनयोः। पूजा अर्थ में अप-पूर्वक चाय् का प्रयोग होता है। निशामन (दर्शन) अर्थ में निपूर्वक चाय् का—ऐसा नियम है।

भ्वादिगण के अन्त में 'वर्धते धातुगणः' तथा चुरादिगण के अन्त में 'सर्वे नवगण्यां पठिता धातवः स्वार्थे णिचं लभन्तेऽपठिताश्च केचन', और ण्यन्त प्रक्रिया के अन्त में 'अन्तर्भावितण्यर्थकाः' इन विषयों का निरूपण किया है। अनुबन्ध (१) में धात्वर्थवैचित्र्य को दिखाया है।

धातुपाठ में धात्वर्थ निर्देश व्यामोहक है इस विषय में हमारा निबन्ध 'पाणिनीये धातुपाठेऽर्थनिर्देशः' इस शीर्षक से जर्नल् आफ् ओरियण्टल् रिसर्च्, मद्रास (खण्ड २७, भाग १८४, सितम्बर १९५७, अगस्त १९५८, पृ० ७९-८४) में प्रकाशित हुआ है। इसे आप पढ़ें। मुझे यहाँ इतना कहना है कि जब

दीक्षित आदि का यह मत है कि धातुपाठ में जो अर्थ-निर्देश है वह आचार्य पाणिनिकृत नहीं, आधुनिक है, भीमसेनादि आचार्यों द्वारा प्रणीत है, तो इसमें अपाणिनीय प्रयोगों के साधुत्व के लिये निपातन क्यों आश्रित किया है। यम उपरमे, टुवम उद्गिरणे, दंश दशने—इत्यादि स्थलों में शोधन क्यों नहीं किया जाता ?

धातूदाहरण

उस-उस अर्थ में पढ़ी हुई धातुओं के प्रयोगों को दिखाने की चिन्ता न प्राचीन वैयाकरणों को थी, न अर्वाचीनों को है। इस अनभिनन्दनीय औदासीन्य के कारण व्याकरण प्रक्रिया-प्रधान शास्त्र ही रह गया। व्यवहृत तथा अव्यवहृत शब्दों की सिद्धि ही इसका एकमात्र लक्ष्य हो गया। धात्वर्थ जानने पर भी प्रयोगविषयक परिस्फुट ज्ञान न होने से बड़े-बड़े व्याकरणश्रमी मनमाने ढंग से धातुओं का प्रयोग करते हैं और कुछ भी उद्विग्न नहीं होते। इस अनिष्ट के वारण के लिये हमने इस ग्रन्थ में विशाल संस्कृत साहित्य से उस-उस धातु के उस-उस अर्थ में प्रयोगों को ढूंढकर रखा है। इस ढूंढ में हमें वेद तक जाना पड़ा है। जो धातुएँ छान्दस नहीं हैं, लौकिक हैं, उनके प्रयोग भी लौकिक साहित्य में विरल हैं। दय् दान, गति, रक्षण, हिंसा, आदान—इन पाँच अर्थों में पढ़ी है। (लोक में प्रसिद्ध दया करना अर्थ रक्षण से उपलक्षित होता है)। इन अर्थों में वैदिक उदाहरण मिलते हैं और वे यहाँ दिये हैं। शब्दज्ञानपूर्वके प्रयोगे धर्मः यह हमारा सिद्धान्त है। हमारी इस कृति का प्रयोग-ज्ञान अथवा वाग्व्यवहार-ज्ञान मुख्य साध्य है, प्रक्रिया अथवा व्याक्रिया साधनमात्र है। उदाहरणों की प्रचुरता व प्रत्यग्रता प्रथम दो खण्डों की तरह इस खण्ड का स्वालक्षण्य है। अतिरुचिर शिष्टजुष्ट वाक्यावलि समस्त ग्रन्थ को व्याप रही है। प्रत्येक प्रकरण के अन्त में प्रयोगमाला दी गई है जो पढ़ते ही बनती है। प्रयोग साधुत्व-ज्ञान के लिये ही हमने उपग्रह-विषयक स्खलनों से दूषित (पर अन्यथा अतीव रुच्य) २०० वाक्य परिशोधनार्थ दिये हैं।

व्याख्या

यहाँ सूत्रादि की व्याख्या कैसी हुई है यह पूर्वत्रासिद्धम् (पृ० १५६), असिद्धवदत्राभात् (पृ० ७३, ७४), कृ सृ भृ वृ स्तु द्रु स्रु श्रुवो लिटि (पृ०२६६), कर्मवत्कर्मणा तुल्यक्रियः (पृ० ४६४), पूर्ववत्सनः (पृ० ४६५), श्तिपा शपानुबन्धेन० की विवृति (पृ० ४२३) को देखने से सुविदित हो जायगा।

प्रक्रिया

प्रक्रियांश में हमारा कुछ वैशिष्ट्य नहीं हमने कुछ नूतन नहीं कह प्रत्येक लक्ष्य में लक्षण-प्रवृत्ति को यथेष्ट रूप से दिखाया है। साथ ही पूर्वाचार्यों से किये गये आक्षेप समाधानों को स्पष्ट करने तथा सुग्रह बनाने का पूरा प्रयत्न किया है।

अनुबन्ध

पुस्तक के अन्त में तीन अनुबन्ध लगाये हैं। अनुबन्ध (१) में उक्त, अनुक्त, दुरुक्त की चिन्ता की गई है। अनुबन्ध (२) में 'करोतिना सर्वधात्वर्थानुवादः क्रियते' इस विषय का निरूपण किया है। यह विषय इसी कृति में इदम्प्रथमतया निरूपित किया गया है। इसे आप अतिरोचक तथा अत्यन्तोपयोगी पाएँगे। अनुबन्ध (३) में समानार्थक धातुओं का कारिकाबद्ध संग्रह दिया है जिसकी उपयोगिता में लेशमात्र भी सन्देह नहीं हो सकता है।

हमारा मतभेद

(क) ण्यन्त लभ् को प्राप्त्युपसर्जन गतिप्रधान अर्थ में द्विकर्मक माना गया है। अन्यथा अनुक्त कर्ता में तृतीया होती है, ऐसा मत है। हमने द्विकर्मकता ही स्वीकार की है। हमारे मत की उपपादना के लिये अनुबन्ध(१) पढ़ें।

(ख) 'समः प्रतिज्ञाने' सूत्र की व्याख्या में सभी व्याख्याकार तुदादि गॄ निगरणे का ग्रहण करते है। हमें क्र्यादि गॄ शब्दे का ग्रहण इष्ट है। यह क्यों इसके लिये आत्मनेपद प्रक्रिया में पृ० ४६३ पर हमारा विमर्श पढ़ें।

(ग) दिवादिगण में केचिदाद्यन्तव्यत्यासेन पतेति पठन्ति। क्षीरस्वामी के अनुसार यह द्रमिड लोगों का अभिमत पाठ है। माधव दोनों पाठों को प्रमाण मानता है। हमारे विचार में 'पत ऐश्वर्ये वा' यही पाठ युक्त है। दूसरा अविचारित-रमणीय है। इसे हमने वैदिक उदाहरणों द्वारा सिद्ध किया है। इसे पृ० १२६ तथा अनुबन्ध (१) में देखें।

(घ) 'नानोर्ज्ञः' सूत्र की व्याख्या में वृत्तिकारादि सर्पिषोऽनुजिज्ञासते यहाँ 'पूर्ववत्सनः' से आत्मनेपद की प्राप्ति निर्बाध मानते हैं। यह हमें मान्य नहीं। इस विषय में यहाँ दिए हुए हेतुओं पर मर्मज्ञ विद्वान् ध्यान दें।

(ङ) 'यावत्पुरानिपातयोर्लट्' सूत्र की व्याख्या में भट्टोजिदीक्षित ने जो 'यावत्पुरानिपातौ निश्चयं द्योतयतः' यह कहा है वह हमें न्याय्य प्रतीत नहीं होता। यह अर्थ हमें स्वीकार्य नहीं। यह क्यों? इस सूत्र की व्याख्या (पृ० ५०५) देखें।

मुद्रण के विषय में एक शब्द कहना है। प्रथम दो खण्डों की तरह इस खण्ड का मुद्रण भी प्रायः स्वच्छ व शुद्ध हुआ है। पर प्रूफ्-संशोधन में महान् अभियोग करने पर भी कुछ न कुछ मुद्रणस्खलन रह ही जाते हैं। इन्हें हमने पुस्तक के अन्त में अशुद्ध-शोधन के नाम से दिया है। अप्रतिबुद्ध-बोधनार्थ कुछ एक को यहाँ भी दोहराया जाता है—पृ० ६३—सेधेतम (अशुद्ध)। **सेधेतम्** (शुद्ध)। सेधयम् (अशुद्ध)। **सेधेयम्** (शुद्ध)। पृ० ८७—अधाध्वम् (अशुद्ध)। **अधोध्वम्** (शुद्ध)। पृ० ८६—वातये (अशुद्ध)। **वीतये** (शुद्ध)। इनमें हल् चिह्न के निकल जाने से अथवा मात्रा के टूट जाने से अशुद्धि हुई है। पृ० २६१—अघृक्षत (अशुद्ध)। **अघृक्षन्त** (शुद्ध)। पृ० ३०८ पं २१—दद्दशतुः (अशुद्ध)। **दद्दशथुः** (शुद्ध)।

यह तृतीय खण्ड ५९७ पृष्ठों में समाप्त हुआ है। इसके प्रणयन में जो परिश्रम मैंने किया है उसके विषय में मुझे कुछ नहीं कहना। यही विनम्र प्रार्थना है कि विद्वान् अध्यापक इसे आमूल-चूल देख जायें। इसीसे मैं अपने आपको कृतार्थ समझूँगा।

धात्वर्थादिविवेचनैश्च समितः सूत्रार्थसंमर्शनैः
शैक्षार्थं च कृतैर्वरैः सुविशदैश्चोद्यार्थसंचिन्तनैः।
साहित्याब्धिसमुद्धृतैश्च विविधैर्वाक्यैर्भृशं रोचनै-
र्ग्रन्थो वाचि विचक्षणैः सुकृतिभिस्तैङोऽयमालोच्यताम्॥

यदि तनुरपि तोषो मत्कृतौ नूतनार्थाल्
लसति हृदि बुधानां वाचि निष्ठां गतानाम्।
यदि च भवति बोधः संमतः शब्दशास्त्रे
सुमतियुतबटूनां स्यात्तदा धन्यता मे॥

सुरभि ३/५४, रूपनगर
दिल्ली—७
१ जुलाई, १९७१

निवेदक
विद्वद्विधेय चारुदेवशास्त्री।

ओं नमः परमात्मने

नमो भगवते पाणिनये । नमः शिष्टेभ्यः ।

प्रकृत्यादिविभागेन शब्दानामनुशिष्यते ।
साधुत्वं येन तच्छास्त्रं वेद्यं व्याकरणाभिधम् ॥१॥

व्याक्रियन्ते पदानीह क्रियन्ते नूतनानि न ।
अन्वाख्यानस्मृतिस्तस्मादुक्ता व्याकरणं बुधैः ॥२॥

ऐतदात्म्यमिदं शास्त्रं प्रस्मृत्येदं निरर्गलाः ।
त तमर्थं विवक्षन्तः शब्दान्नूत्नान्प्रकुर्वते ॥३॥

अर्थेऽर्थे प्रत्ययं शिष्ट्वा शिष्टैर्व्युत्पादितानुत ।
अर्थान्तरेऽननुज्ञाते शब्दान्वामी प्रयुञ्जते ॥४॥

आसतां तावदन्ये येऽर्वाचीनाः साहसप्रियाः ।
भट्ट्याद्यैः सूरिभिश्चापि सम्प्रदायो न रक्षितः ॥५॥

तद्रक्षया प्रणुन्नोऽहं विनेयप्रणयेन च ।
व्याक्रियां लौकिकानां हि शब्दानां वक्तुमुद्यतः ॥६॥

सूत्राणां वार्तिकानां च सम्प्रदायानुरोधिनो ।
सोपपत्तिरसन्देहा व्याक्रिया प्रकृते स्थिता ॥७॥

पदानां प्रक्रिया लघ्वी बुद्धिवैशद्यकारिणी ।
शैक्षाणामुपकाराय प्रभूताय भविष्यति ॥८॥

इहस्थं वाक्यसन्दोहं दर्शं दर्शं बुभुत्सवः ।
प्रयोगनैपुणीं काञ्चिल्लप्स्यन्तेऽन्यत्र दुर्लभाम् ॥९॥

अज्ञानमन्यथाज्ञानं ज्ञानं सांशयिकं तथा ।
भेत्स्यतीयं कृतिः कृत्स्नं तमश्चन्द्रोदयो यथा ॥१०॥

विषयानुक्रमणी

अथ

व्याकरणचन्द्रोदये तिङन्तप्रकरणम्

ये प्रधानं पदं वाक्ये यतो वाक्यार्थनिर्णयः ।
यान्विना वाक्यतोऽसिद्धिस्तांस्तिङन्तान्प्रचक्ष्महे ।।

गण-पठित भू आदि क्रियावाचक शब्दों को '**धातु**' कहते हैं ।[1] संस्कृत में भिन्न-भिन्न कालों तथा विध्यादि अर्थों के वाचक दस प्रत्यय हैं—लट् । लिट् । लुट् । लृट् । लेट् । लोट् । लङ् । लिङ् । लुङ् । लृङ् । इन सब में 'ल' समान होने से इन्हें "**लकार**" कहते हैं । इनमें पञ्चम लकार (लेट्) छन्दोमात्र-गोचर (वैदिक-विषय) है । वह इस पुस्तक का विषय नहीं । लकार मात्र के स्थान में धातु से परे निम्नलिखित १८ प्रत्यय आदेश होते हैं[2]—

तिप् । तस् । झि । सिप् । थस् । थ । मिप् । वस् । मस् । (परस्मैपद)
त । आताम् । झ । थास् । आथाम् । ध्वम् । इट् । वहि । महिङ् ।(आत्मनेपद)

तिप् के 'ति' से महिङ् के ङ् तक एक "**तिङ्**" प्रत्याहार बन जाता है, जिससे इन सब का ग्रहण होता है । तिङ् प्रत्ययों के तीन-तीन के समुदाय की **विभक्ति** संज्ञा है ।[3] विभक्त्यन्त को पद कहते हैं । अतः पाणिनीय व्याकरण में आख्यात (क्रियावाचक पद) को तिङन्त कहते हैं ।

कई एक लकारों में तिङ् प्रत्ययों के एकदेश में विकार हो जाता है । लिट् परस्मैपद में तो सारे तिङ् प्रत्ययों के स्थान में आदेश हो जाते हैं, अर्थात् प्रत्यय पूर्णरूप से बदल जाते हैं, तो भी एकदेशविकृतमनन्यवद् भवति, इस

---

१. भूवादयो धातवः (१।३।१) ।
२. लस्य (३।४।७७) ।
३. विभक्तिश्च (१।४।१०४) ।

न्याय से तथा आदेश स्थानी के तुल्य (तुल्यधर्मा) होता है इस अतिदेश के अनुसार वे सब तिङ् ही हैं।

तिप् से मस् तक ९ प्रत्ययों की **परस्मैपद** संज्ञा है।[1] **तङ्**=त से महिङ् तक के ९ प्रत्ययों की **आत्मनेपद**[2] और **शानच्, कानच्** की भी। परस्मैपद **के तीन-तीन के** समुदाय की क्रम से **प्रथमपुरुष, मध्यमपुरुष, उत्तमपुरुष** संज्ञा है।[3] ये प्रत्यय प्रथमपुरुष आदि को कहते हैं अतः इन्हें ही **प्रथमपुरुष** आदि कह दिया गया है। तिङ् प्रत्ययों के कर्तृ-कर्म-वाची होने से इनकी ये संज्ञाएँ की गई हैं। जिसको अधिकृत करके कुछ कहा जाता है वह **प्रथमपुरुष** है। जिसे अभिमुख करके कहा जाता है उसे मध्यमपुरुष कहा जाता है। और कहने वाले को उत्तमपुरुष कहते हैं। उत्तम का अर्थ अन्तिम है, सत्तम नहीं। प्रत्येक त्रिक (तीन-तीन के समुदाय) के प्रथम को **एकवचन**, द्वितीय को **द्विवचन** और तृतीय को **बहुवचन** कहते हैं।[4] कर्ता व कर्म के एक होने से धातु से एकवचन, दो होने से द्विवचन, तीन व तीन से अधिक होने से बहुवचन होता है।[5] तिङ् प्रत्यय सकर्मक धातुओं से कर्ता अथवा कर्म के वाचक होते हैं और अकर्मक धातुओं से कर्ता अथवा भाव के।[6]

युष्मद् (सर्वनाम) प्रयुक्त अथवा अप्रयुक्त (=गम्यमान) जब तिङन्त के

---

१. लः परस्मैपदम् (१।४।९९)।

२. तङानावात्मनेपदम् (१।४।१००)।

३. तिङस्त्रीणि त्रीणि प्रथम-मध्यमोत्तमाः (१।४।१०१)।

४. तान्येकवचन-द्विवचन-बहुवचनान्येकशः (१।४।१०२)।

५. बहुषु बहुवचनम् (१।४।२१)। द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने (१।४।२२)।

उभयत्र दशाहानि कुलस्यान्नं न भुज्यते। दानं प्रतिग्रहो यज्ञः स्वाध्यायश्च निवर्तते (मनु० ५।३ प्रक्षिप्त) ॥ **आदित्यचन्द्रावनिलोऽनलश्च द्यौर्भूमिरापो हृदयं यमश्च। अहश्च रात्रिश्च उभे च सन्ध्ये धर्मश्च जानाति नरस्य वृत्तम्** ॥ इन दोनों पद्यों में कर्ता के अनेक होने पर भी जो धातु से परे एकवचन का प्रयोग हुआ है, उसका यही समाधान है कि अन्तिम कर्ता के एक होने से, उसके साथ ही अन्वय मानने से 'निवर्तते' तथा 'जानाति' में एकवचन हुआ है। दूसरे कर्ताओं के साथ अन्वित क्रियापद का अध्याहार कर लिया जाता है।

६. लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः (३।४।६९)।

साथ समानाधिकरण=समानकारक हो तो धातु से मध्यम पुरुष प्रयुक्त होता है।[1] १—**त्वं पश्यसि** तू देखता है। २—**त्वं दृश्यसे** तू देखा जा रहा है। (१) में तिङ् का वाच्य कर्ता है और त्वम् भी कर्तृकारक है। (२) में तिङ् का वाच्य कर्म है और त्वम् भी कर्मकारक है। कर्म उक्त होने से कर्म में द्वितीया विभक्ति नहीं हुई।

अस्मद् (सर्वनाम) प्रयुक्त अथवा अप्रयुक्त जब तिङन्त के साथ समानाधिकरण हो तो धातु से उत्तमपुरुष प्रयुक्त होता है[2]—**अहं पश्यामि**, मैं देखता हूँ। **अहं दृश्ये**, मैं देखा जा रहा हूँ।

युष्मद् अस्मद् से भिन्न कोई और शब्द समानाधिकरण हो तो धातु से प्रथम पुरुष प्रयुक्त होता है[3]—**स पश्यति। स दृश्यते। रामः पश्यति। रामो दृश्यते। भवान् पश्यति। भवान् दृश्यते।**

जब किसी धातु के समीप मन् दिवा० का प्रयोग हो और वाक्यार्थ से प्रहास (हँसी) की प्रतीति होती हो तब उस धातु से परे 'ल' के स्थान में मध्यम पुरुष का प्रयोग होता है और समीपस्थ मन् से उत्तमपुरुष एकवचन का[4]—**एहि मन्ये, ओदनं भोक्ष्यसे। न हि भोक्ष्यसे, भुक्तः सोऽतिथिभिः,** आइये, क्या आप समझते हैं कि भात खाएँगे? नहीं खाओगे, उसे तो अतिथि खा चुके हैं। प्रहास की प्रतीति न हो और वस्तुकथन मात्र हो तो **एहि मन्यसे ओदनं भोक्ष्ये इति। नहि भोक्ष्यसे, भुक्तः सोऽतिथिभिः।** यथाप्राप्त मध्यमपुरुष और उत्तमपुरुष होंगे। प्रकृत विषय में महावीरचरित में एक सुन्दर उदाहरण है—**एहि मन्ये राजपुत्र, जामदग्न्यं विजेष्यसे।** (सस्मितम्)। **नहि विजेष्यसे** (अङ्क ३)।

समस्त धातुराशि को व्याकरणाचार्यों ने दस गणों में विभक्त किया है —**१. भ्वादि** (भू आदि)। **२. अदादि। ३. जुहोत्यादि। ४. दिवादि। ५. स्वादि। ६. तुदादि। ७. रुधादि। ८. तनादि। ९. क्र्यादि** (क्रीआदि)। **१०. चुरादि।**

कई धातु केवल परस्मैपदी होती हैं, अर्थात् उनसे परस्मैपद प्रत्यय ही

---

१. युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि मध्यमः (१।४।१०५)।

२. अस्मद्युत्तमः (१।४।१०७)।

३. शेषे प्रथमः (१।४।१०८)।

४. प्रहासे च मन्योपपदे मन्यतेरुत्तम एकवच्च (१।४।१०६)।

आते हैं। कई केवल आत्मनेपदी और कई परस्मैपदी तथा आत्मनेपदी दोनों, अर्थात् उभयपदी। जो धातु अनुदात्तेत् (जिनका अनुदात्त अच् इत्संज्ञक हो, जिन्हें आचार्य ने कार्य-विशेष के लिए अनुदात्त स्वर सहित पढ़ा है, (जो स्वर इत् होता है, चला जाता है, रहता नहीं) अथवा ङित् (जिनका ङ् इत् हो) हों वे **आत्मनेपदी**[1], जो स्वरितेत् (स्वरित अच् जिनका इत् हो) अथवा ञित् हों वे क्रियाफल के कर्तृगामी होने पर (जब क्रिया का मुख्य फल, जिसके लिए क्रिया की जाती है, क्रिया के करने वाले को मिले) आत्मनेपदी होती हैं अन्यथा परस्मैपदी[2]। अर्थात् ऐसी धातुएँ **उभयपदी** होती हैं। जिन धातुओं से पाणिनि मुनि आत्मनेपद विधान नहीं करते उन सबसे परस्मैपद प्रत्यय आते हैं कर्ता के वाच्य होने पर।[3] अर्थात् वे **परस्मैपदी** होती हैं।

तिङ् और धात्वधिकारोक्त शित् (शकारेत्=शप्, श्यन्, श, श्नम् आदि) प्रत्ययों की **सार्वधातुक** संज्ञा है।[4]

तिङ् और शित् से भिन्न धातु से विहित प्रत्ययों की **आर्धधातुक** संज्ञा है।[5]

१—जिससे प्रत्यय विधान किया जाता है, उस प्रत्यय के परे रहते तदादि शब्द स्वरूप को **अङ्ग** कहते हैं।[6]

२—सार्वधातुक आर्धधातुक प्रत्यय परे होने पर इगन्त (इक् अन्त वाले) अङ्ग को गुण होता है।[7] गुण वृद्धि शब्द उच्चारण करके (गुण हो वृद्धि हो ऐसा कहकर) जो गुण वृद्धि विधान किए जाते हैं वे इक् के स्थान में होते हैं ऐसी परिभाषा है।[8] इवर्ण को 'ए', उवर्ण को 'ओ', ऋवर्ण को अर् (रपर अ) तथा लृवर्ण को अल् (लपर अ) गुण होता है।

---

१. अनुदात्तङित आत्मनेपदम् (१।३।१२)।
२. स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले (१।३।७२)।
३. शेषात्कर्तरि परस्मैपदम् (१।३।७८)।
४. तिङ्-शित्सार्वधातुकम् (३।४।११३)।
५. आर्धधातुकं शेषः (३।४।११४)।
६. यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम् (१।४।१३)।
७. सार्वधातुकार्धधातुकयोः (७।३।८४)।
८. इको गुणवृद्धी (१।१।३)।

३. **पुगन्त** (पुक् अन्त, पुक्=प् आगम है अन्त जिसका) अङ्ग तथा **लघूपध** (**उपधा**=अन्त्य अल् से पूर्ववर्ती वर्ण, लघु उपधा वाले) अङ्ग के इक् को गुण होता है सार्वधातुक आर्धधातुक प्रत्यय परे होने पर।[1] यहाँ (२) से गुण की प्राप्ति नहीं थी, अतः विशेष विधान किया है।

४. जो सार्वधातुक पित् न हो वह ङित् वत् समझा जाता है, अर्थात् ङित् प्रत्यय परे रहते जो कार्य प्राप्त होता है वह अपित् सार्वधातुक परे रहते भी होता है।[2]

५—कित् ङित् प्रत्यय के निमित्त से जो गुण वृद्धि प्राप्त होते हैं वे नहीं होते। अर्थात् पूर्व दो सूत्रों से प्राप्त गुण (और सूत्रान्तर से प्राप्त वृद्धि भी) प्रत्यय के कित् अथवा ङित् होने से रुक जाता है।[3]

६—वर्तमान में होने वाली क्रिया को कहने वाली धातु से **लट् प्रत्यय** आता है।[4] **अदन्त** अङ्ग से लट् के स्थान में अधोलिखित तिङ् प्रत्यय (आदेश रूप से) आते हैं—

लट्

	परस्मैपद			आत्मनेपद		
	एक०	द्वि०	बहु०	एक०	द्वि०	बहु०
प्रथमपुरुष	ति (प्)	तस्	अन्ति	ते	इते	अन्ते
मध्यमपुरुष	सि (प्)	थस्	थ	से	इथे	ध्वे
उत्तमपुरुष	मि (प्)	वस्	मस्	ए	वहे	महे

अदन्त अङ्ग भ्वादि, दिवादि, तुदादि चुरादि गण तथा सन्नन्त आदि धातुओं से शप् आदि आने से निष्पन्न होता है। अन्यत्र अदादि आदि गणों में अदन्त अङ्ग दुर्लभ है। 'झि' के झ् मात्र को अन्त् आदेश होता है[5]। अङ्ग चाहे अदन्त हो अथवा न हो। जो टित् लकार हैं जैसे लट्, लोट्, लिट्, उनमें

---

१. पुगन्त-लघूपधस्य च (७।३।८६)।

२. सार्वधातुकमपित् (१।२।४)।

३. क्ङिति च (१।१।५)।

४. वर्तमाने लट् (३।२।१२३)।

५. झोऽन्तः (७।१।३)।

आत्मनेपद प्रत्ययों के टि[1] (अचों के मध्य में जो अन्त्य अच् उसकी, यदि उससे परे अन्त्य हल् हो तो उन दोनों की 'टि' संज्ञा है) को 'ए' हो जाता है[2], जिससे त, आताम्, आथाम्, ध्वम्, इट्, वहि, महि को क्रम से ते, इते (यहाँ आ को इय् होकर य्-लोप भी[3]), इथे, (आ को इय् होकर य-लोप भी), ध्वे, ए, वहे, महे आदेश हो जाते हैं । टित् लकारों के थास् को 'से' आदेश होता है[4] । 'झ' को 'अन्त' होकर उसके टि-भाग को 'ए' होने से 'अन्ते' प्रथम-पुरुष बहुवचन होता है ।

लोट्

	एक०	द्वि०	बहु०	एक०	द्वि०	बहु
प्र०पु०	तु—तात्	ताम्	अन्तु	ताम्	इताम्	अन्ताम्
म०पु०	—तात्	तम्	त	स्व	इथाम्	ध्वम्
उ०पु०	आनि	आव	आम	ऐ	आवहै	आमहै

लोट्-सम्बन्धी तस्, थस्, थ को क्रम से ताम्, तम्, त आदेश होते हैं ।[5] तिप् के स्थान में 'तु', अन्ति के स्थान में 'अन्तु' आदेश होते हैं ।[6] सिप् को 'हि' होता है, जिस का **अदन्त अङ्ग से परे लुक् हो जाता है** ।[7] आशीरर्थ में तु और हि को तातङ्(तात्)आदेश विकल्प से होता है ।[8] सिप् पित् है पर उसका आदेश 'हि' अपित् होता है जिस से 'हि' परे रहते धातु को गुण नहीं होता है । मिप् को 'नि' आदेश होता है ।[9] वस्, मस् के स् का लोप हो जाता है ।[10]

---

१. अचोऽन्त्यादि टि (१।१।६४)

२. टित आत्मनेपदानां टेरे (३।४।७८)।

३. आतो ङितः (७।२।८१)। आत्मनेपद प्रत्यय सभी अपित् होने से ङित्वत् हैं । यह आदेश अदन्त अङ्ग से परे ङित् लकार के अवयव आकार को होता है । अदन्त-अंग न होगा तो यह आदेश नहीं होगा । इस आदेश 'इय्' के य् का लोपो व्योर्वलि (६।१।६६) से लोप हो जाता है ।

४. थासः से (३।४।८०) ।

५. तस्थस्थमिपां तान्तन्तामः (६।४।१०१) ।

६. एरुः (३।४।८६) ।

७. से ह्यपिच्च (३।४।८७) । अतो हेः (६।४।१०५)।

८. तुह्योस्तातङ्ङाशिष्यन्यतरस्याम् (७।१।३५) ।

९. मेर्निः (६।४।८९) ।

१०. लोटो लङ्वत् (३।४।८५) । नित्यं ङितः (३।४।९९) ।

दोनों पदों में उत्तमपुरुष के प्रत्ययों से पूर्व आ (ट्) आगम होता है जो पित् माना जाता है।[1] जिससे अङ्ग को यथाप्राप्त गुण होता है। आत्मनेपद प्रत्यय त आदि की टि को लकार के टित् होने से 'ए' हो जाने पर उसे फिर आम् कर दिया जाता है।[2] थास् के स्थान में हुए हुए 'से' के 'ए' को व, तथा ध्वे (ध्वम् से बने हुए) के 'ए' को अम् आदेश होते हैं।[3] उत्तमपुरुष के प्रत्ययों के टित्त्व से प्राप्त एकार को ऐकार हो जाता है।[4] प्रक्रिया में अदन्त अङ्ग से अजादि प्रत्यय परे होने पर गुण, वृद्धि, दीर्घ रूप एकादेश होते हैं।

लोट् का प्रयोग किसी काल-विशेष में न होकर विधि निमन्त्रण आदि, आशिस्, कामचाराऽनुज्ञा आदि अर्थों में होता है।

लङ्

	परस्मैपद			आत्मनेपद		
	एक०	द्वि०	बहु०			
प्र०पु०	त्	ताम्	अन्	त	इताम्	अन्त
म०पु०	स्	तम्	त	थास्	इथाम्	ध्वम्
उ०पु०	अम्	व	म	इ (ट्)	वहि	महि

तिप् सिप् झि के इकार का लोप हो जाता है[5]। 'झ्' को अन्त् होकर संयोगान्तस्य लोपः (८।२।२३) से 'त्' का लोप हो जाता है। जिससे प्र०पु० बहु० अन् होता है। मिप् को अम् आदेश होता है[6]। आदेश स्थानी के तुल्य होता है, अतः यह अम् भी पित् ही है। वस्, मस् के 'स्' का लोप हो जाता है।[7] आत्मनेपद प्रत्ययों के विषय में कुछ विशेष वक्तव्य नहीं। केवल अङ्ग के अदन्त होने से आताम्, आथाम् के 'आ' को इय् होकर य् का लोप हो जाता है

---

१. आडुत्तमस्य पिच्च (३।४।९२)।
२. आमेतः (३।४।९०)।
३. सवाभ्यां वामौ (३।४।९१)।
४. एत ऐ (३।४।९३)।
५. इतश्च (३।४।१००)।
६. तस्थस्थमिपां तान्तन्तामः (३।४।१०१)।
७. नित्यं ङितः (३।४।९९)।

जैसे लट् में होता है। प्रक्रिया में अदन्त अङ्ग से परे आये इट् (उ० पु० ए०) तथा पूर्ववर्ती 'अ'—इन दोनों के स्थान में गुण-रूप एकादश 'ए' हो जाता है। ऐसा ही इताम्, इथाम् के परे होने पर होता है।

लङ् प्रत्यय अनद्यतन (आज से भिन्न) भूत काल के अर्थ में धातु से आते हैं।[१]

विधिलिङ्

	परस्मैपद			आत्मनेपद		
	एक०	द्वि०	बहु०	एक०	द्वि०	बहु
प्र०पु०	इत	इताम्	इयुः	ईत	ईयाताम्	ईरन्
म०पु०	इस्	इतम्	इत	ईथास्	ईयाथाम्	ईध्वम्
उ०पु०	इयम्	इव	इम	ईय	ईवहि	ईमहि

यहाँ लकार (लिङ्) के ङित् होने से प्रत्यय प्रायः वही हैं जो लङ् के। पस्मैपद प्रत्ययों को यासुट् (यास्) आगम होता है, जिसे उदात्त और ङित माना जाता है।[२] अदन्त अङ्ग से परे इस यास् को इय् हो जाता है[३], जिसके 'य्' का य—भिन्न व्यञ्जन परे होने पर लीप हो जाता है (लोपो व्योर्वलि)। इयुः, इयम् में य् लोप नहीं हुआ क्योंकि परे उस् और और अम् का अच् है। ङित् लकार होने से झिके इ का लोप होने पर 'झ' को 'उस्' आदेश होता है।[४] लिङ् प्रत्यय-सम्बन्धी त, थ को सुट् आगम भी होता है दोनों पदों में।[५] पर इसका विधिलिङ् में लोप हो जाता है।[६] आशीर्लिङ् में इसका श्रवण होता है अर्थात् यह अवस्थित रहता है, विशेष कर स्फुट रूप से आत्मनेपद में।

लिङ्-सम्बन्धी आत्मनेपद प्रत्यय भी प्रायः वही हैं जो लङ् के। 'झ' को यहाँ 'रन्' आदेश होता है[७] और उत्तमपुरुष इ (ट्) को अ ('त्')[८]। लिङ् को

---

१. अनद्यतने लङ् (३।२।१११)।
२. यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च (३।४।१०३)।
३. अतो येयः (७।२।८०)।
४. झेर्जुस् (३।४।१०८)।
५. सुट् तिथोः (३।४।१०७)।
६. लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य (७।२।७९)।
७. झस्य रन् (३।४।१०५)।
८. इटोऽत् (३।४।१०६)।

सीयुट् (सीय्) आगम होता है[1] और प्रत्ययावयव त्, थ् को सुट् आगम।[2] इन दोनों सकारों का विधिलिङ् में लोप हो जाता है।[3] सीयुट् के 'य्' का पूर्वोक्त विधि से लोप हो जाता है।

लिङ् प्रत्यय विधि, निमन्त्रण, आमन्त्रण आदि अर्थों में आते हैं। आशिस् में भी आते हैं। आशिस् अर्थ से व्यतिरिक्त विध्यादि अर्थों में प्रयुक्त हुए लिङ् को **विधिलिङ्** कह दिया जाता है। इसे **सार्वधातुक लिङ्** भी कहते हैं।

भ्वादि गण (प्रथम गण)

७—धातु से परे शप् (अ) प्रत्यय आता है कर्तृवाची सार्वधातुक परे होने पर[4]। शप् को **विकरण** कहते हैं। श्, प् की इत्संज्ञा है। शप् शित् होने से सार्वधातुक प्रत्यय है। शप् धातुमात्र से विहित है, किसी गणविशेष की धातुओं से नहीं। अतः ण्यन्त, सन्नन्त धातुओं से परे भी होता है। भू आदि से शप् आने से भ्वादिगण की धातुओं को **शब्विकरण** कहा जाता है।

८—अपदान्त अकार से परे गुण-संज्ञक अ, ए हों तो दोनों के स्थान पर पररूप एकादेश हो जाता है। यह सवर्णदीर्घत्व और वृद्धि का अपवाद है।[5]

९—अदन्त अङ्ग को यञ् आदि सार्वधातुक परे होने पर दीर्घ हो जाता है[6]। यञ्=य र ल व, अनुनासिक, झ, भ।

भू लट्। भू तिप्। भो अ ति (२) भवति (अवादेश)। भो अ अन्ति। भवन्ति (८)। भो अ मि। भव मि। भवामि (९)।

अजन्त धातुएँ

भू सत्तायाम् (होना)[7] परस्मैपदी

---

१. लिङः सीयुट् (३।४।१०२)।

२. सुट् तिथोः (३।४।१०७)।

३. लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य (७।२।७९)।

४. कर्तरि शप् (३।१।६८)।

५. अतो गुणे (६।१।९७)।

६. अतो दीर्घो यञि (७।३।१०१)।

७. भू आदि धातुओं के जो सत्ता आदि अर्थ दिये हैं वे केवल धातुओं के क्रियावाचित्व को दिखाने के लिये पढ़े हैं, वे अर्थों के उदाहरण हैं, अर्थों का परिगणन नहीं। धातु तो अनेकार्थ हैं ऐसा वैयाकरण-सिद्धान्त है—

क्रियावाचित्वमाख्यातुमेकैकोर्थो निर्दशितः।
प्रयोगतोऽनुगन्तव्या अनेकार्था हि धातवः॥

लट्

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०पु०	**भवति** वह है	**भवतः** वे दो हैं	**भवन्ति** (८) वे हैं
म०पु०	**भवसि** तू है	**भवथः** तुम दो हैं	**भवथ** तुम हो
उ०पु०	**भवामि** (६) मैं हूँ	**भवावः** हम दो हैं	**भवामः** हम हैं

१०—लुङ्, लङ्, लृङ् के परे होने पर अङ्ग को अट् (अ) आगम होता है जो उस का पूर्वावयव बन जाता है। यदि अङ्ग अजादि (स्वरादि) हो तो आट् (आ) आगम होता है।[1]

११—आट् और अगले अच् (स्वर के स्थान में वृद्धि (आ, ऐ, औ) एकादेश होता है।[2]

भू लङ्। अ भू लङ्। अ भू त्। अ भू अ त् (७)। अ भो अ त् (२)। अभवत् (अवादेश)। अ भू अ स्। अ भो अ स् (अभवस्) अभवः। पदान्त स् को र् और र् को विसर्ग। अभव अन्। अभवन् (८)। अभव अम्। अभवम् (६)। **अट् वा आट् का आगम नित्य है और लङ आदि के आते ही धातु से पूर्व लगा दिया जाता है। इस आगम के किए जाने के पश्चात् ही उपसर्ग लगाया जाता है, पहले नहीं।** अनु-भू—अनु अभवत्=अन्वभवत् (उ को यण्)। परि-भू—परि अभवत्=पर्यभवत्। परा-भू—परा अभवत्=पराभवत्। सम्-भू—सम् अभवत्=समभवत्। प्र-भू—प्र अभवत्=प्राभवत्। ऐसा ही सब धातुओं के विषय में जानें।

लङ्

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	**अभवत्** वह था	**अभवताम्** वे दो थे	**अभवन्** (८)वे थे
म० पु०	**अभवः** तू था	**अभवतम्** तुम दो थे	**अभवत** तुम थे
उ० पु०	**अभवम्** (८) मैं था	**अभवाव**(६)हम दो थे	**अभवाम**(६)हम थे

भू लोट्। भू ति। भू अ ति। भू अ तु। भवतु। भू अ अन्तु। भवन्तु (८)। भू अ सि। भू अ हि। भवहि। भव(हि का लुक्)। भू मि। भू अ मि।

---

१. लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः (६।४।७१)। आडजादीनाम् (६।४।७२)।
२. आटश्च (६।१।६०)।

भू अ नि । भू अ आ नि । भवानि । अन्तर् भवानि=अन्तर्भवाणि । यहाँ उपसर्गस्थ निमित्त से लोट्-सम्बन्धी आनि के न् को ण् होता है ।[1] णत्व विधि के लिए अन्तर् जो उपसर्ग नहीं, उपसर्ग मान लिया जाता है ।[2] वेद में उपसर्ग का व्यवहित प्रयोग होने से णत्व नहीं हुआ—**कदा न्वन्तर् वरुणे भुवानि** (=भवानि), मैं कब वरुण में लीन होऊँ ? (ऋ० ७।८६।२) ।

लोट्

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	**भवतु—भवतात्** वह हो	**भवताम्** वे दो हों	**भवन्तु** (८) वे होवें
म० पु०	**भव—भवतात्** तू हो	**भवतम्** तुम दो हो	**भवत** तुम होवो
उ० पु०	**भवानि** मैं होऊँ	**भवाव** हम दो होवें	**भवाम** हम होवें

भो अ इत् । भव इत् । भवेत् । भू उस् । भू यास् उस् भू अ यास् उस् । भू अ यास् उस् । भू अ इय् उस् । भो अ इय् उस् । भवेयुः । भू अम् । भू यास् अम् । भू अ यास् अम् । भू अ इय् अम् । भो अ इयम् । भवेयम् ।

विधिलिङ्

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	**भवेत्** उसे होना चाहिये	**भवेताम्** उन दो को होना चाहिये	**भवेयुः** उन्हें होना चाहिये
म० पु०	**भवेः** तुझे होना चाहिये	**भवेतम्** तुम दो को होना चाहिये	**भवेत** तुम्हें होना चाहिये
म० पु०	**भवेयम्** मुझे होना चाहिये	**भवेव** हम दो को होना चाहिये	**भवेम** हमें होना चाहिये

जि जये (जीतना, उत्कृष्ट होना) परस्मै०

	लट्			*लङ्*		
१.	जयति	जयतः	जयन्ति	अजयत्	अजयताम्	अजयन्
२.	जयसि	जयथः	जयथ	अजयः	अजयतम्	अजयत
३.	जयामि	जयावः	जयामः	अजयम्	अजयाव	अजयाम
	लोट्			*विधिलिङ्*		
१.	जयतु	जयताम्	जयन्तु	जयेत्	जयेताम्	जयेयुः

---

१. आनि लोट् (८।४।१६) ।

२. अन्तः शब्दस्याङ्-किविधि-णत्वेषूपसर्गवद्वृत्तिर्वाच्या (वा०) ।

	—जयतात्					
२.	जय जयतात्	जयतम्	जयत	जयेः	जयेतम्	जयेत
३.	जयानि	जयाव	जयाम	जयेयम्	जयेव	जयेम

सर्वत्र शप् परे होने पर धातु के 'इ' को 'ए' गुण हुआ है, जिसे अच् परे रहते अय् आदेश हुआ है।

जि जीतना (अभिभव) अर्थ में सकर्मक है—**शत्रुं जयति**। उत्कृष्ट होने अर्थ में अकर्मक है—**स जयति परिणद्धः शक्तिभिः शक्तिनाथः** (मालती० ५।१)।

क्षि क्षिये (क्षीण होना) परस्मै०

	लट्			लङ्		
१.	क्षयति	क्षयतः	क्षयन्ति	अक्षयत्	अक्षयताम्	अक्षयन्
२.	क्षयसि	क्षयथः	क्षयथ	अक्षयः	अक्षयतम्	अक्षयत
३.	क्षयामि	क्षयावः	क्षयामः	अक्षयम्	अक्षयाव	अक्षयाम

	लोट्			विधिलिङ्		
१.	क्षयतु —क्षयतात्	क्षयताम्	क्षयन्तु	क्षयेत्	क्षयेताम्	क्षयेयुः
२.	क्षय—क्षयतात्	क्षयतम्	क्षयत	क्षयेः	क्षयेतम्	क्षयेत
३.	क्षयाणि	क्षयाव	क्षयाम	क्षयेयम्	क्षयेव	क्षयेम

श्रिञ् सेवायाम् (आश्रय लेना) उभयपदी

	लट् परस्मै०			लट् आत्मने०		
१.	श्रयति	श्रयतः	श्रयन्ति	श्रयते	श्रयेते	श्रयन्ते
२.	श्रयसि	श्रयथः	श्रयथ	श्रयसे	श्रयेथे	श्रयध्वे
३.	श्रयामि	श्रयावः	श्रयामः	श्रये	श्रयावहे	श्रयामहे

	लङ् परस्मै०			लङ् आत्मने०		
१.	अश्रयत्	अश्रयताम्	अश्रयन्	अश्रयत	अश्रयेताम्	अश्रयन्त
२.	अश्रयः	अश्रयतम्	अश्रयत	अश्रयथाः	अश्रयेथाम्	अश्रयध्वम्
३.	अश्रयम्	अश्रयाव	अश्रयाम	अश्रये	अश्रयावहि	अश्रयामहि

लोट् परस्मै०			लोट् आत्मने०		
१ श्रयतु-श्रयतात्	श्रयताम्	श्रयन्तु	श्रयताम्	श्रयेताम्	श्रयन्ताम्
२ श्रय-श्रयतात्	श्रयतम्	श्रयत	श्रयस्व	श्रयेथाम्	श्रयध्वम्
३ श्रयाणि	श्रयाव	श्रयाम	श्रयै	श्रयावहै	श्रयामहै

विधिलिङ् परस्मै०			विधिलिङ् आत्मने०		
१ श्रयेत्	श्रयेताम्	श्रयेयुः	श्रयेत	श्रयेयाताम्	श्रयेरन्
२ श्रयेः	श्रयेतम्	श्रयेत	श्रयेथाः	श्रयेयाथाम्	श्रयेध्वम्
३ श्रयेयम्	श्रयेव	श्रयेम	श्रयेय	श्रयेवहि	श्रयेमहि

श्रि के रूपों में जि की तरह सर्वत्र शप् परे रहते गुण (ए) हुआ है। 'ए' को सर्वत्र अय् शप् (अ) परे होने पर। शप् के 'अ' और उससे परे प्रत्यय के आदि इ, ई के स्थान में गुण-रूप एकादेश हुआ है। पदान्त न् को ण् नहीं होता, अतः 'श्रयेरन्' में नहीं हुआ निमित्त के होने पर भी।

१२—धातु के आदि ष् के स्थान में स् आदेश होता है[1]। पाणिनि मुनि ने व्यवस्था द्वारा कुछेक धातुओं को **षोपदेश** पढ़ा था, ताकि इण् से परे उनके ष् के स्थान में आदेश-भूत सकार को षकार हो सके। आगमभ्रंश से वह व्यवस्थित पाठ नहीं रहा। अतः कौन-कौन धातुएँ षोपदेश हैं इसे लक्षण-द्वारा कहा जाता है—

सेक्-सृप्-सृ-स्तृ-सृज्-स्तृ-स्त्यान्ये दन्त्याजन्तसादयः।
एकाचः षोपदेशाः ष्वष्क्-ष्विव्-ष्वव्-ष्वञ्ज्-स्वप्-स्मिङः॥

ऐसी सादि(सकारादि) धातुएँ जिनके स् से परे अच् आता है अथवा शुद्ध दन्त्य वर्ण है वे षोपदेश हैं। इस लक्षण से अतिव्याप्ति के वारण के लिए कारिका में कह दिया है कि सेक् आदि स्त्यै पर्यन्त धातु षोपदेश नहीं हैं, यद्यपि ये सादि हैं और इनके स् से परे अच् अथवा दन्त्य वर्ण (त्) है। अव्याप्ति को वारण करने के लिए ष्वष्क् आदि स्मिङ् पर्यन्त धातुओं को पढ़ दिया है। ये षोपदेश ही मानी जाती हैं। लक्षण के अनुसार साध् जो सादि पढ़ी है षोपदेश ही जाननी चाहिए।

---

१. धात्वादेः षः सः (६।१।६४)।

ष्मिङ् ईषद्धसने (मुस्कराना) आत्मने०

	लट्			लङ्	
१ स्मयते (१२)	स्मयेते	स्मयन्ते (२)	अस्मयत	अस्मयेताम्	अस्मयन्त
२ स्मयसे	स्मयेथे	स्मयध्वे	अस्मयथाः	अस्मयेथाम्	अस्मयध्वम्
३ स्मये	स्मयावहे	स्मयामहे	अस्मये	अस्मयावहि	अस्मयामहि

	लोट्			विधिलिङ्	
१ स्मयताम्	स्मयेताम्	स्मयन्ताम्	स्मयेत	स्मयेयाताम्	स्मयेरन्
२ स्मयस्व	स्मयेथाम्	स्मयध्वम्	स्मयेथाः	स्मयेयाथाम्	स्मयेध्वम्
३ स्मयै	स्मयावहै	स्मयामहै	स्मयेय	स्मयेवहि	स्मयेमहि

विपूर्वक 'स्मि' के विस्मयते, व्यस्मयत, विस्मयताम्, विस्मयेत इत्यादि रूप होंगे। यहाँ 'स्मि' के आदेश-रूप सकार को षत्व नहीं हुआ, कारण कि १३—'साति' प्रत्यय के स् को तथा पद के आदि-भूत स् को जो षत्व प्राप्त होता है वह नहीं होता।[1]

श्वि गतिवृद्धयोः (जाना, बढ़ना) परस्मै०

	लट्			लङ्	
१ श्वयति	श्वयतः	श्वयन्ति	अश्वयत्	अश्वयताम्	अश्वयन्
२ श्वयसि	श्वयथः	श्वयथ	अश्वयः	अश्वयतम्	अश्वयत
३ श्वयामि	श्वयावः	श्वयामः	अश्वयम्	अश्वयाव	अश्वयाम

	लोट्			विधिलिङ्	
१ श्वयतु-श्वयतात्	श्वयताम्	श्वयन्तु	श्वयेत्	श्वयेताम्	श्वयेयुः
२ श्वय-श्वयतात्	श्वयतम्	श्वयत	श्वयेः	श्वयेतम्	श्वयेत
३ श्वयानि	श्वयाव	श्वयाम	श्वयेयम्	श्वयेव	श्वयेम

श्वि का प्रयोग प्रायः सूजने अर्थ में आता है, तब इससे पूर्व उद् उपसर्ग भी लगाया जाता है—**सततरुदितेनोदश्वयतां तस्याक्षिणी अम्बया वियुक्तस्य,** निरन्तर रोने से माता से वियुक्त हुए उसकी आँखें सूज गईं। हाँ **उदश्वित्** (लस्सी) में श्वि वृद्धि (बढ़ना) अर्थ में प्रयुक्त हुई है। गति अर्थ अत्यन्त अप्रसिद्ध है। प्रयोग बनाया जा सकता है—**अद्य चिरेणाऽऽश्वः** (आङ्—(श्वि-लुङ्), तुम आज देर से आये हो।

---

१. सात्-पदाद्योः (८।३।१११)।

णीञ् प्रापणे (ले जाना) उभयपदी

लट् परस्मै०			लङ् परस्मै०		
१ नयति	नयतः	नयन्ति(२)	अनयत्	अनयताम्	अनयन्
२ नयसि	नयथः	नयथ	अनयः	अनयतम्	अनयत
३ नयामि	नयावः	नयामः	अनयम्	अनयाव	अनयाम
लोट् परस्मै०			**विधिलिङ् परस्मै०**		
१. नयतु-नयतात्	नयताम्	नयन्तु	नयेत्	नयेताम्	नयेयुः
२ नय-नयतात्	नयतम्	नयत	नयेः	नयेतम्	नयेत
३ नयानि	नयाव	नयाम	नयेयम्	नयेव	नयेम
लट् आत्मने०			**लङ् आत्मने०**		
१ नयते	नयेते	नयन्ते	अनयत	अनयेताम्	अनयन्त
२ नयसे	नयेथे	नयध्वे	अनयथाः	अनयेथाम्	अनयध्वम्
३ नये	नयावहे	नयामहे	अनये	अनयावहि	अनयामहि
लोट् आत्मने०			**विधिलिङ् आत्मने०**		
१ नयताम्	नयेताम्	नयन्ताम्	नयेत	नयेयाताम्	नयेरन्
२ नयस्व	नयेथाम्	नयध्वम्	नयेथाः	नयेयाथाम्	नयेध्वम्
३ नयै	नयावहै	नयामहै	नयेय	नयेवहि	नयेमहि

१४—णीञ् णोपदेश है। णोपदेश धातु के आदि ण् को न् हो जाता है।[1] नर्द्, नाटि, नाथ्, नाध्, नन्द्, नक्क्, नॄ, नृत्—इन्हें छोड़कर शेष नकारादि पढ़ी हुई धातुएँ णोपदेश हैं। उपदेश आद्य उच्चारण को कहते हैं। आद्य उच्चारण से अभिप्राय आचार्य के मुख से उच्चारित धातु सूत्र, गणादि से है। घटादि नट् (जिसे दीर्घ नहीं होता) णोपदेश ही है। कुछ लोग नाध्, नॄ और नन्द् को णोपदेश मानते हैं।

१५—जो धातु णोपदेश है उसके 'न्' को ण् हो जाता है उपसर्गस्थ निमित्त से, चाहे समास हुआ हो चाहे न।[2]

प्र-नी—प्रणयति। परि-नी—परिणयति। प्र-नदति—प्रणदति। परिणदति। यहाँ असमास मे णत्व हुआ है। प्रणीत। परिणीत। प्रणदित। परिणदित। यहाँ समास में। पर प्रनर्दति—यहाँ णत्व नहीं होगा। नर्द् णोपदेश नहीं।

---

१. णो नः (६।१।६५)।
२. उपसर्गादसमासेपि णोपदेशस्य (८।४।१४)।

डीङ् विहायसा गतौ (आकाश में जाना, उड़ना) आत्मने०

	लट्			लङ्	
१ **डयते**	**डयेते**	**डयन्ते**	**अडयत**	**अडयेताम्**	**अडयन्त**
२ **डयसे**	**डयेथे**	**डयध्वे**	**अडयथाः**	**अडयेथाम्**	**अडयध्वम्**
३ **डये**	**डयावहे**	**डयामहे**	**अडये**	**अडयावहि**	**अडयामहि**

धात्वर्थ-निर्देश में 'विहायसा' में अधिकरण में करणत्व की विवक्षा करके तृतीया हुई है। ऐसा ही वाग्व्यवहार है।

	लोट्			विधिलिङ्	
१ **डयताम्**	**डयेताम्**	**डयन्ताम्**	**डयेत**	**डयेयाताम्**	**डयेरन्**
२ **डयस्व**	**डयेथाम्**	**डयध्वम्**	**डयेथाः**	**डयेयाथाम्**	**डयेध्वम्**
३ **डयै**	**डयावहै**	**डयामहै**	**डयेय**	**डयेवहि**	**डयेमहि**

इस धातु का प्रायः उद् उपसर्ग-पूर्वक प्रयोग होता है। केवल का अति-विरल। दूसरे उपसर्ग भी आते हैं।

उद् डयते—उड्डयते। उद् डयताम्—उड्डयताम्। उद् अडयत—उदडयत। इत्यादि। यहाँ तवर्ग (द्) को टवर्ग (ड्) के योग में टवर्ग हुआ है। इसे शास्त्र में '**ष्टुत्व**' विधि कहते हैं।

द्रु गतौ (जाना, भागना, द्रव-द्रव्य का चलना, बहना) परस्मै०

	लट्			लङ्	
१ **द्रवति**	**द्रवतः**	**द्रवन्ति** (२)	**अद्रवत्**	**अद्रवताम्**	**अद्रवन्**
२ **द्रवसि**	**द्रवथः**	**द्रवथ**	**अद्रवः**	**अद्रवतम्**	**अद्रवत**
३ **द्रवामि**	**द्रवावः**	**द्रवामः**	**अद्रवम्**	**अद्रवाव**	**अद्रवाम**

	लोट्			विधिलिङ्	
१ **द्रवतु-द्रवतात्**	**द्रवताम्**	**द्रवन्तु**	**द्रवेत्**	**द्रवेताम्**	**द्रवेयुः**
२ **द्रव-द्रवतात्**	**द्रवतम्**	**द्रवत**	**द्रवेः**	**द्रवेतम्**	**द्रवेत**
३ **द्रवाणि**	**द्रवाव**	**द्रवाम**	**द्रवेयम्**	**द्रवेव**	**द्रवेम**

यहाँ सर्वत्र शप् परे रहते धातु के (उ) को गुण (ओ) हुआ है। 'द्रवाणि' में एक ही पद में वर्तमान र् से परे अट्-कृत व्यवधान होने पर भी णत्व हुआ है। ऐसा ही सर्वत्र जानें। **रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति** (गीता), डरे हुए राक्षस दिशाओं में दौड़ रहे हैं। **द्रवति च हिमरश्मावुद्गते चन्द्रकान्तः**

(उ० रा० च०) द्रवति=स्यन्दते। **ततः किरीटी सहसा पाञ्चालसमरेऽद्रवत्,** तब अर्जुन पाञ्चाल के साथ युद्ध में टूट पड़ा।

विपूर्वक द्रु का भागना अर्थ भी होता है। और पिघलना भी। प्र-द्रु का विघ्नित करना, ऊपर आ पड़ना भी। इस अर्थ में यह सकर्मक हो जाती है।

विद्रवति। व्यद्रवत्। विद्रवतु। विद्रवेत्। इत्यादि।

इसी प्रकार दु गतौ (जाना), ध्रु स्थैर्ये (स्थिर होना), षु (सु प्रसवैश्वर्ययोः (अनुज्ञा देना, अधिकार रखना), स्रु गतौ (बहना) के रूप जानो।

१६—श्रु धातु को कर्तृवाचक सार्वधातुक परे होने पर 'शृ' आदेश होता है और इस के साथ ही शप् के स्थान में श्नु प्रत्यय होता है। श्नु में श् इत्संज्ञक है।

१७—जुहोति (हु) के 'उ' को तथा श्नुप्रत्ययान्त अनेकाच् असंयोग-पूर्व-उवर्णान्त जो अङ्ग उसके 'उ' को यण् आदेश होता है अजादि सार्वधातुक परे होने पर। उवङ् (उव्) प्राप्त था।[1] श्रु ति। शृ श्नु ति। शृ नु ति। शृणोति। श्नु प्रत्यय अपित् सार्वधातुक है और अपित् सार्वधातुक ङित्वत् होता है अतः शृ को गुण नहीं हुआ (५)। पर आगे तिप् (पित् सार्वधातुक) होने से 'नु' को गुण हुआ है (२)। शृणुतः। यहाँ तस् प्रत्यय के अपित् होने से अङ्ग के इक् (उ) को गुण नहीं हुआ (५)। श्रु अन्ति। शृ नु अन्ति। शृण्वन्ति। यहाँ 'उ' के स्थान में यण् (व्) हुआ है। (१७)

१८—ऐसे उकारान्त प्रत्यय, जिसके 'उ' से पूर्व संयोग नहीं, से परे लोट्-सम्बन्धी हि का लुक् हो जाता है।[2] शृणु। पर आप्नुहि। यहाँ उ से पूर्व प्, न् का संयोग है, अतः 'हि' का लुक् नहीं हुआ।

१९—ऐसे उकारान्त प्रत्यय, जिसके 'उ' से पूर्व संयोग न हो, से परे जब मकारादि वकारादि प्रत्यय हो तब उसके 'उ' का विकल्प से लोप हो जाता है[3]—शृणुमः। शृण्मः। शृणुवः। शृण्वः।

श्रु श्रवणे (सुनना) परस्मै०

	लट्			लङ्	
१ **शृणोति**	**शृणुतः**	**शृण्वन्ति**	**अशृणोत्**	**अशृणुताम्**	**अशृण्वन्**

---

१. हुश्नुवोः सार्वधातुके (६।४।८७)।

२. उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात् (६।४।१०६)।

३. लोपश्चान्यतरस्यां म्वोः (६।४।१०७)।

२ शृणोषि	शृणुथः	शृणुथ	अशृणोः	अशृणुतम्	अशृणुत
३ शृणोमि	शृणुवः शृण्वः (१९)	शृणुमः शृण्मः	अशृणवम् (२)	अशृणुव अशृण्व (१९)	अशृणुम अशृण्म

लोट्			विधिलिङ्		
१ शृणोतु-शृणुतात्	शृणुताम्	शृण्वन्तु	शृणुयात्	शृणुयाताम्	शृणुयुः
२ शृणु-शृणुतात् (१८)	शृणुतम्	शृणुत	शृणुयाः	शृणुयातम्	शृणुयात
३ शृणवानि	शृणवाव	शृणवाम	शृणुयाम्	शृणुयाव	शृणुयाम

लोट् सम्बन्धी आनि, आव, आम में आट् आगम के पित् होने से आव और आम भी पित् हो गये (मिप् के स्थान में नि तो पहले से ही स्थानिवद्भाव से पित् है), कारण कि **आगम आगमी का अवयव बन जाते हैं, सो आनि आव, आम आगम सहित प्रत्यय ही हैं और आगम धर्म से पित् हैं।** अतः यहाँ उ० पु० के तीनों वचनों में अङ्ग (शृणु) को गुण होता है। गुण (ओ) होकर अवादेश हो जाता है।

विधिलिङ् में यासुट् (यास्) आगम परे रहते अङ्ग के अदन्त न होने से यास् को इय् नहीं होता। 'शृणुयुः' में यास् के स् का लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य (७।२।७९) से लोप हो जाता है। अदन्त अङ्ग न होने से 'या' को इय् नहीं होता। उस् परे रहते उस्यपदान्तात् (६।१।९६) से पररूप एकादेश हो जाता है—या उस्=युस्।

च्युङ् गतौ (गिरना) आत्मने०

लट्			लङ्		
१ च्यवते (२)	च्यवेते	च्यवन्ते	अच्यवत	अच्यवेताम्	अच्यवन्त
२ च्यवसे	च्यवेथे	च्यवध्वे	अच्यवथाः	अच्यवेथाम्	अच्यवध्वम्
३ च्यवे	च्यवावहे	च्यवामहे	अच्यवे	अच्यवावहि	अच्यवामहि

लोट्			विधिलिङ्		
१ च्यवताम्	च्यवेताम्	च्यवन्तम्	च्यवेत	च्यवेयाताम्	च्यवेरन्

२ **च्यवस्व**	**च्यवेथाम्**	**च्यवध्वम्**	**च्यवेथाः**	**च्यवेयाथाम्**	**च्यवेध्वम्**
३ **च्यवै**	**च्यवावहै**	**च्यवामहै**	**च्यवेय**	**च्यवेवहि**	**च्यवेमहि**

यहाँ च्यु को शप् परे रहते सर्वत्र गुण हुआ है। (ओ) को अवादेश। च्यु का अर्थ गिरना है, गति-सामान्य नहीं। अच्युत भगवान् विष्णु का नाम है, जो मर्यादा से कभी पतित नहीं हुआ। उपनिषद् में भी यही अर्थ प्रसिद्ध है—**क्षीणे पुण्ये स्वर्गलोकाच्च्यवन्ते।**

च्युङ् की तरह ही रुङ् गतिरेषणयोः, रेषण=हिंसा, प्रुङ् गतौ तथा प्लुङ् गतौ के रूप जानें। रवते। प्रवते। प्लवते। लङ्घन में प्लुङ् सकर्मक है—**शतयोजनविस्तीर्णं पुप्लुवे लवणार्णवम्** (रा० १।१।७२)। कटप्रूः शब्द में प्रुङ् धातु प्रसिद्ध है। प्लु का अर्थ भी गतिसामान्य नहीं है। इस का तैरना, उछलना, उछल कर चलना अर्थ है—**ज्ञानोदन्वत उपर्येव प्लवसे। प्लवेन प्लुत्या गच्छतीति प्लवङ्गमः।** वानर, जो छलांगें मारता चलता है। '**प्लव**' नौका को भी कहते हैं और कारण्डव (बतख़) को भी।

रुङ् का हिंसार्थ में वेद में प्रयोग है—**शिरो न्वस्य राविषम्** (ऋ० १०।८६।५)। परस्मैपद छान्दस है।

पूङ् पवने (बहना, पवित्र करना) आत्मने०, ङित्

लट्			*लङ्*		
१ **पवते** (२)	**पवेते**	**पवन्ते**	**अपवत**	**अपवेताम्**	**अपवन्त**
२ **पवसे**	**पवेथे**	**पवध्वे**	**अपवथाः**	**अपवेथाम्**	**अपवध्वम्**
३ **पवे**	**पवावहे**	**पवामहे**	**अपवे**	**अपवावहि**	**अपवामहि**

लोट्			*विधिलिङ्*		
१ **पवताम्**	**पवेताम्**	**पवन्ताम्**	**पवेत**	**पवेयाताम्**	**पवेरन्**
२ **पवस्व**	**पवेथाम्**	**पवध्वम्**	**पवेथाः**	**पवेयाथाम्**	**पवेध्वम्**
३ **पवै**	**पवावहै**	**पवामहै**	**पवेय**	**पवेवहि**	**पवेमहि**

वायु के बहने में भी पूङ् का प्रयोग होता है—**सर्वा दिशः पवते मातरिश्वा** (अथर्व० १६।५४।२)। **सोमः पवते** (यजुः ७।२१)। निघण्टु में पूङ् गतिकर्मा पढ़ी है।

इसी तरह मूङ् बन्धने (बाँधना) आत्मने० के रूप जानें।

ऋ गतिप्रापणयोः (जाना, ले जाना) परस्मै०

ऋ को शप् परे ऋच्छ आदेश होता है।

	लट्			लङ्	
१ ऋच्छति	ऋच्छतः	ऋच्छन्ति	आर्छत्	आर्छताम्	आर्छन्
२ ऋच्छसि	ऋच्छथः	ऋच्छथ	आर्छः	आर्छतम्	आर्छत
३ ऋच्छामि	ऋच्छावः	ऋच्छामः	आर्छम्	आर्छाव	आर्छाम

उपधा इक् न होने से कहीं भी गुण का प्रसंग नहीं।

लङ् में धातु के अजादि होने से आट् आगम हुआ, सामान्य-विहित अट् नहीं। आ (ट्) और आट् से परे अच्—इन दोनों के स्थान में वृद्धि एकादेश हुआ करता है। सो यहाँ आर् (रपर आ) वृद्धि हुई। तुक् के निमित्त ह्रस्व अच् (ऋ) की निवृत्ति हो जाने से तुक् (च्) की भी निवृत्ति हो गई। **निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः।**

	लोट्			विधिलिङ्	
१ ऋच्छतु ऋच्छतात्	ऋच्छताम्	ऋच्छन्तु	ऋच्छेत्	ऋच्छेताम्	ऋच्छेयुः
२ ऋच्छ ऋच्छतात्	ऋच्छतम्	ऋच्छत	ऋच्छेः	ऋच्छेतम्	ऋच्छेत
३ ऋच्छानि	ऋच्छाव	ऋच्छाम	ऋच्छेयम्	ऋच्छेव	ऋच्छेम

भृञ् भरणे (भरना, पालना) उभयपदी, ञित्

	लट् परस्मै०			लट् आत्मने०	
१ भरति(२)	भरतः	भरन्ति (८)	भरते(२)	भरेते	भरन्ते(८)
२ भरसि	भरथः	भरथ	भरसे	भरेथे	भरध्वे
३ भरामि	भरावः	भरामः	भरे(८)	भरावहे(८)	भरामहे(९)

	लङ् परस्मैपद			लङ् आत्मनेपद	
१ अभरत्	अभरताम्	अभरन्	अभरत	अभरेताम्	अभरन्त
२ अभरः	अभरतम्	अभरत	अभरथाः	अभरेथाम्	अभरध्वम्
३ अभरम्	अभराव	अभराम	अभरे	अभरावहि	अभरामहि

	लोट् परस्मै०			लोट् आत्मने०	
१ भरतु-भरतात्	भरताम्	भरन्तु	भरताम्	भरेताम्	भरन्ताम्
२ भर-भरतात्	भरतम्	भरत	भरस्व	भरेथाम्	भरध्वम्
३ भराणि	भराव	भराम	भरै	भरावहै	भरामहै

विधिलिङ् परस्मै०			विधिलिङ् आत्मने०		
१ भरेत्	भरेताम्	भरेयुः	भरेत	भरेयाताम्	भरेरन्
२ भरेः	भरेतम्	भरेत	भरेथाः	भरेयाथाम्	भरेध्वम्
३ भरेयम्	भरेव	भरेम	भरेय	भरेवहि	भरेमहि

भृ को शप् परे रहते सर्वत्र गुण अर् (रपर अ) हुआ है। इसमें विशेष कार्य कुछ भी नहीं हुआ। पालने अर्थ में प्रसिद्ध प्रयोग है—दरिद्रान्भर कौन्तेय मा प्रयच्छेश्वरे धनम्।

इसी प्रकार हृञ् हरणे (ले जाना, दूर करना, चुराना), धृञ् धारणे (धारण करना), धृङ् अवध्वंसने (नष्ट होना) केवल आत्मने०, सृ गतौ (सरकना) परस्मै०, ध्वृ हूर्छने (कुटिलता करना, हिंसा करना) परस्मै०, स्मृ चिन्तायाम् (याद करना) परस्मै०, स्वृ शब्दोपतापयोः (शब्द करना, रुग्ण होना, गरम करना) परस्मै०। (शब्द करने अर्थ में स्वृ अकर्मक है—**स्वरन्तीति स्वराः**। बुलाने अर्थ में सकर्मक है—**स्वरन्ति त्वा सुते नरः**(अथर्व २०।५७।१५)। लोग तुझे सोमरस के निमित्त बुलाते हैं। उपताप=गरम करना। इस अर्थ में भी स्वृ सकर्मक है—**यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागमनिमेषं विदथाऽभिस्वरन्ति** (ऋ० १।१६४।२१)। निरुक्त (७।२३।१०) में 'प्रतिस्वरे' (= उपतापे) पढ़ा है। (ह्वृ कौटिल्ये (कुटिल व्यवहार करना) परस्मै० के रूप जानें। ह्वृ अकर्मक है—**मा ह्वार्मित्रस्य त्वम्** (काशिका)।

सृ को शीघ्रगति अर्थ में आगे कहे जाने वाले (२०) विधायक शास्त्र से धौ आदेश हो जाता है इत्संज्ञक शकारादि प्रत्यय (शप्) परे होने पर—धावति। धावतः। धावन्ति। इत्यादि।

तॄ प्लवनतरणयोः (बहना, तैरना, तैर कर पार करना) प०

लट्			लङ्		
१ तरति(२)	तरतः	तरन्ति	अतरत्	अतरताम्	अतरन्
२ तरसि	तरथः	तरथ	अतरः	अतरतम्	अतरत
३ तरामि	तरावः	तरामः	अतरम्	अतराव	अतराम

लोट्			विधिलिङ्		
१ तरतु-तरतात्	तरताम्	तरन्तु	तरेत्	तरेताम्	तरेयुः
२ तर-तरतात्	तरतम्	तरत	तरेः	तरेतम्	तरेत
३ तराणि	तराव	तराम	तरेयम्	तरेव	तरेम

तृ तैरने, बहने अर्थ में अकर्मक है। **नद्यां तरति,** नदी में तैरता है। **नदीं तरति,** नदी को तैरकर पार करता है। पार करने अर्थ में उद् उपसर्ग भी लगा दिया जाता है—**परीक्षां तरति। परीक्षामुत्तरति।**

दॄ विदारणे क्र्यादि का भय अर्थ में मित्त्व के लिए घटादि धातुओं के मध्य में पाठ किया है ऐसा एक मत है। दूसरे लोग दॄ भये स्वतन्त्र भौवादिक धातु मानते हैं। महाभारत में प्रयोग भी है—**नैव राज्ञा दरः कार्यो जातु कस्यां चिदापदि। अथ चेदपि दीर्णः स्यान्नैव वर्तेत दीर्णवत्**=(भीतवत्)॥ **(उद्योग १३६।१)।** भ्वादि होने से दरति। दरतः। दरन्ति इत्यादि रूप होंगे।

२०—पा, घ्रा, ध्मा, स्था, म्ना, दाण् (दा), दृश्, ऋ, सृ, शद्, सद्—इन धातुओं को शित् (इत्संज्ञक शकारादि) प्रत्यय परे होने पर क्रम से पिब, जिघ्र्, धम्, तिष्ठ्, मन्, यच्छ्, पश्य्, ऋच्छ्, धौ, शीय्, सीद्—आदेश होते हैं।[1]

पा पाने (पीना) प०

	लट्			*लङ्*	
१ पिबति	पिबतः	पिबन्ति	अपिबत्	अपिबताम्	अपिबन्
२ पिबसि	पिबथः	पिबथ	अपिबः	अपिबतम्	अपिबत
३ पिबामि	पिबावः	पिबामः	अपिबम्	अपिबाव	अपिबाम

	लोट्			*विधिलिङ्*	
१ पिबतु-पिबतात्	पिबताम्	पिबन्तु	पिबेत्	पिबेताम्	पिबेयुः
२ पिब-पिबतात्	पिबतम्	पिबत	पिबेः	पिबेतम्	पिबेत
३ पिबानि	पिबाव	पिबाम	पिबेयम्	पिबेव	पिबेम

पा का आदेश पिब अदन्त है, ह्रस्व 'अ' इसके अन्त में पढ़ा है। अतः उपधा 'ब्' हुई, 'इ' नहीं। अतः शप् परे रहते कहीं भी गुण नहीं हुआ। इस आदेश के 'अ' का आगे शप् के 'अ' के साथ पर-रूप एकादेश हो जाता है

---

१. पा-घ्रा-ध्मा-स्था-म्ना-दाण्-दृश्यर्ति-सर्ति-शद-सदाम् पिब-जिघ्र-धम-तिष्ठ-मन-यच्छ-पश्यर्छ-धौ-शीय-सीदाः (७।३।७८)।

(८)। शबन्त के अ का अन्ति आदि के अ के साथ पुनः पर-रूप एकादेश होता है (८)।

घ्रा गन्धोपादाने (सूंघना)—जिघ्रति। अजिघ्रत्। जिघ्रतु-जिघ्रतात्। जिघ्रेत्।

ध्मा शब्दाग्निसंयोगयोः (फूंक लगाकर बजाना, अग्नि में फूंक देना)—धमति। अधमत्। धमतु-धमतात्। धमेत्। **शङ्खं धमति,** शंख को फूंक देकर बजाता है। **अग्निं धमति धमन्या,** धौंकनी से अग्नि में फूंक देता है। सूत्रकार कहते हैं—**नाग्निं मुखेनोपधमेत्,** अग्नि में मुंह से फूंक न लगाए। ष्ठा गति-निवृत्तौ (ठहरना) —तिष्ठति। अतिष्ठत्। तिष्ठतु-तिष्ठतात्। तिष्ठेत्। गतिनिवृत्त्यर्थक स्था का कृदन्त रूप में महाभारत में सुन्दर प्रयोग आया है—**स्थाने वापि व्रजन्तोपि सदा ह्रेषन्ति वाजिनः** (भा० विराट० ४७।२५)। म्ना अभ्यासे (अभ्यास करना, बार-बार पढ़ना, बार-बार कहना)—आमनति। आमनत्। आमनतु-आमनतात्। आमनेत्। 'म्ना' का आङ् उपसर्ग बिना प्रयोग नहीं होता। सम् आङ्—दो उपसर्गों का भी प्रयोग होता है—समामनति। समामनतः। समामनन्ति। 'आम्नाय' वेद का नाम है। समाम्नाय सङ्ग्रह का नाम है। दाण्—यच्छति। अयच्छत्। यच्छतु-यच्छतात्। यच्छेत्। इसका प्रायः प्रपूर्वक प्रयोग होता है—**दरिद्रान् भर कौन्तेय मा प्रयच्छेश्वरे धनम्।** प्रणियच्छति—यहाँ उपसर्गस्थ निमित्त से णत्व होता है। प्रणिदान=बदले में देना। वेद में एक स्थान पर (दाँतों के) दिखाने अर्थ में दाण् का प्रयोग हुआ है—**यदर्जुन सारमेय दतः पिशङ्ग यच्छसे** (ऋ० ७।५५।२)। यच्छसे में आत्मने० छान्दस है।

ऋ, सृ के रूप दिए जा चुके हैं। शद्, सद् के लृदित् धातुओं में दिए जाएँगे।

धेट् पाने (धे पीना, चूसना) प०, टित्

	लट् परस्मै०			लङ् परस्मै०	
१ धयति	धयतः	धयन्ति	अधयत्	अधयताम्	अधयन्
२ धयसि	धयथः	धयथ	अधयः	अधयतम्	अधयत
३ धयामि	धयावः	धयामः	अधयम्	अधयाव	अधयाम

	लोट्			विधिलिङ्	
१ धयतु-धयतात्	धयताम्	धयन्तु	धयेत्	धयेताम्	धयेयुः
२ धय-धयतात्	धयतम्	धयत	धयेः	धयेतम्	धयेत
३ धयानि	धयाव	धयाम	धयेयम्	धयेव	धयेम

धेट् में ट् इत् (अनुबन्ध) है। शप् परे रहते सर्वत्र 'ए' को अय् हुआ है।

यह धातु स्तनन्धय (दुधमुँहा बच्चा), धात्री (धाया), सुधा (अमृत) आदि शब्दों में देखी जाती है। प्रनि धयति=प्रणिधयति—यहाँ णत्व होगा। इस धातु का सोपसर्गक तिङन्त प्रयोग हमारी दृष्टि में नहीं आया। **न वारयेद् धयन्तीं गाम्** (याज्ञ०) इत्यादि स्मृति वाक्यों में तथा **धापयेते शिशुमेकं समीची** (ऋ० १।९६।५) इत्यादि श्रुतिवाक्यों में धेट् निरुपसर्गक का प्रयोग प्रसिद्ध है।

धेट् की तरह देङ् रक्षणे (रक्षा करना) आ० ङित् तथा मेङ् प्रणिदाने (बदले में देना) आ० ङित् के रूप जानें। मेङ् का प्रयोग निपूर्वक अथवा विनिपूर्वक देखा जाता है। निमयते। विनिमयते।

वेञ् तन्तुसन्ताने (बुनना) उभयपदी, ञित्

	लट् प०			लट् आ०	
१ वयति	वयतः	वयन्ति	वयते	वयेते	वयन्ते
२ वयसि	वयथः	वयथ	वयसे	वयेथे	वयध्वे
३ वयामि	वयावः	वयामः	वये	वयावहे	वयामहे
	लङ् प०			**लङ् आ०**	
१ अवयत्	अवयताम्	अवयन्	अवयत	अवयेताम्	अवयन्त
२ अवयः	अवयतम्	अवयत	अवयथाः	अवयेथाम्	अवयध्वम्
३ अवयम्	अवयाव	अवयाम	अवये	अवयावहि	अवयामहि
	लोट् प०			**लोट् आ०**	
१ वयतु-वयतात्	वयताम्	वयन्तु	वयताम्	वयेताम्	वयन्ताम्
२ वय-वयतात्	वयतम्	वयत	वयस्व	वयेथाम्	वयध्वम्
३ वयानि	वयाव	वयाम	वयै	वयावहै	वयामहै

विधिलिङ् प०			विधिलिङ् आ०		
१ वयेत्	वयेताम्	वयेयुः	वयेत	वयेयाताम्	वयेरन्
२ वयेः	वयेतम्	वयेत	वयेथाः	वयेयाथाम्	वयेध्वम्
३ वयेयम्	वयेव	वयेम	वयेय	वयेवहि	वयेमहि

वेञ् का प्रयोग प्र-उपसर्ग-पूर्वक होता है। प्र-उ त (क्तान्त) = प्रोत। प्रवाणी=तन्तुवायशलाका। आङ्पूर्वक भी मिलता है—**स ओतः प्रोतश्च विभुः प्रजासु** (वा० सं० ३२।८)। व्येञ् संवरणे (ढाँपना) तथा ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च (बुलाना, ललकारना, टक्कर लेना) के वेञ् की तरह ही रूप होते हैं—व्ययति—व्ययते। ह्वयति। ह्वयते। व्येञ् का प्रायः सम् अथवा उप-पूर्वक प्रयोग होता है। ढाँपने से यहाँ वस्त्र से परिवेष्टित करना अभिप्रेत है—संव्ययति। उपव्ययति। संवीत (क्तान्त)। उपवीत (क्तान्त)। यज्ञोपवीत=यज्ञ-सम्बन्धी ब्रह्मचारी को ढाँपने का वस्त्र, जो कालान्तर में त्रिवृत् सूत्र-रूप में परिणत हो गया। स्पर्धा अर्थ में ह्वे से पूर्व प्रायः आङ् (स्पर्धा द्योतक) लगाया जाता है, तब यह धातु आत्मनेपद में ही प्रयुक्त होती है। **कृष्णश्चाणूरमाह्वयते।**

कै शब्दे (शब्द करना, काँ-काँ करना) प०

लट्			लङ्		
१ कायति	कायतः	कायन्ति	अकायत्	अकायताम्	अकायन्
२ कायसि	कायथः	कायथ	अकायः	अकायतम्	अकायत
३ कायामि	कायावः	कायामः	अकायम्	अकायाव	अकायाम

लोट्			विधिलिङ्		
१ कायतु-कायतात्	कायताम्	कायन्तु	कायेत्	कायेताम्	कायेयुः
२ काय-कायतात्	कायतम्	कायत	कायेः	कायेतम्	कायेत
३ कायानि	कायाव	कायाम	कायेयम्	कायेव	कायेम

यहाँ कै अ ति=काय् अ ति=कायति। ऐ को आय् आदेश (सन्धि)। कै यास् उस्=कै अ यास् उस्=काय् अ इय् उस्=कायेयुः। पहले लिङ् परस्मैपद प्रत्यय को यासुट् (यास्) आगम होता है। यासुट् आगमी उस् का अवयव है, तो आगम-सहित उस् सार्वधातुक प्रत्यय है। अब कर्तृवाचकत्व

की विवक्षा होने पर कै (धातु) से शप् हुआ। अदन्त अङ्ग से यास् के स्थान में इय् होकर रूप-सिद्धि हुई।

इसी प्रकार गै शब्दे (गाना), ध्यै चिन्तायाम् (ध्यान करना, सोचना), क्षै, जै, षै, क्षये (क्षीण होना), दैप् (दै) शोधने (शुद्ध करना), शै श्रै पाके (पकाना), ग्लै म्लै हर्षक्षये (दुर्बल होना, मुर्झाना), पै शोषणे (सुखाना), ओवै (वै) शोषणे (सूखना), द्यै न्यक्करणे (तिरस्कार करना), स्त्यै ष्ट्यै शब्दसङ्घातयोः (शब्द करना, इकट्ठा होना) के रूप जानो।

दैप् धातु में 'प्' इत् संज्ञक है। इसका प्रायः अवपूर्वक प्रयोग देखा जाता है—अवदायति। अवदात (क्तान्त)। **अवदातान्यस्य कर्माणि।** पै का प्रयोग कृदन्त रूप में अधिक मिलता है, तिङन्त में बहुत कम—**पाम। पामा।** ओ वै में 'ओ' इत् संज्ञक है। निष्ठा-नत्व के लिए पढ़ा है। वायति=शुष्यति। वै अकर्मक है, सकर्मक नहीं। वेद में प्रयोग है—**न वायन्ति सुभ्वो देवयुक्ताः** (ऋ० ७।६७।८)। **वप्सदग्नि र्न वायति** (ऋ० ८।४३।७)। वान (निष्ठान्त) =शुष्क। **वानानि फलान्यापणेषु सुलभानि।** सूखे फल दुकानों में मिल सकते हैं। द्रै का प्रयोग 'नि' के बिना नहीं होता—**निद्रायत्युष्णालुर्मयूरः।** स्त्यै ष्ट्यै। यहाँ यद्यपि ष्ट्यै मूर्धन्यादि पढ़ी है, पर सेक्-सृप्-सृ—इत्यादि पूर्वोक्त कारिका के अनुसार षोपदेश नहीं। सो इसके ष् को स् आदेश नहीं होता—स्त्यायति। ष्ट्यायति। **स्त्यायतः संहन्येते रजोवीर्ये अस्यामिति स्त्री।** इन दोनों धातुओं का शब्द अर्थ में प्रयोग अन्वेष्य है।

त्रैङ् पालने (रक्षा करना) आ०, ङित्

	लट्			*लङ्*		
१	**त्रायते**	**त्रायेते**	**त्रायन्ते**	**अत्रायत**	**अत्रायेताम्**	**अत्रायन्त**
२	**त्रायसे**	**त्रायेथे**	**त्रायध्वे**	**अत्रायथाः**	**अत्रायेथाम्**	**अत्रायध्वम्**
३	**त्राये**	**त्रायावहे**	**त्रायामहे**	**अत्राये**	**अत्रायावहि**	**अत्रायामहि**

	लोट्			*विधिलिङ्*		
१	**त्रायताम्**	**त्रायेताम्**	**त्रायन्ताम्**	**त्रायेत**	**त्रायेयाताम्**	**त्रायेरन्**
२	**त्रायस्व**	**त्रायेथाम्**	**त्रायध्वम्**	**त्रायेथाः**	**त्रायेयाथाम्**	**त्रायेध्वम्**
३	**त्रायै**	**त्रायावहै**	**त्रायामहै**	**त्रायेय**	**त्रायेवहि**	**त्रायेमहि**

यहाँ कुछ भी विशेष कार्य नहीं हुआ। केवल 'ऐ' को आय् शप् का 'अ' परे होने पर—यह सन्धि कार्य हुआ है। त्रै का प्रयोग केवल का भी अति

प्रचुर है और परि-पूर्वक का भी। **अल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्** (गीता)। **परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्** (गीता)।

हलन्त धातुएँ

इगुपध हलन्त—

षिध गत्याम् (सिध् जाना) प०

	लट्			*लङ्*	
१ सेधति (३)	सेधतः	सेधन्ति (८)	असेधत्	असेधताम्	असेधन्
२ सेधसि	सेधथः	सेधथ	असेधः	असेधतम्	असेधत
३ सेधामि (६)	सेधावः	सेधामः	असेधम्	असेधाव	असेधाम
	लोट्			*विधिलिङ्*	
१ सेधतु-सेधतात्	सेधताम्	सेधन्तु	सेधेत्	सेधेताम्	सेधेयुः
२ सेध-सेधतात्	सेधताम्	सेधत	सेधेः	सेधेतम्	सेधेत
३ सेधानि	सेधाव	सेधाम	सेधेयम्	सेधेव	सेधेम

सिध् आदि हलन्त धातुएँ धातुपाठ में अच्-सहित पढ़ी हैं। इनका अच् (उदात्त, अनुदात्त वा स्वरित) इत्संज्ञक है। इत्संज्ञक का लोप हो जाता है।

सिध् षोपदेश है। अतः (१२) से ष् को 'स्' हुआ है। यह आदेश-सकार है। इण् अथवा कवर्ग से परे अपदान्त 'स्' को ष् हो जाता है। अतः इकारान्त उपसर्ग नि, प्रति आदि से परे सिध् के स् को षत्व प्राप्त होता है। यह षत्व (१३) से रुक जाता है। पर षत्व इष्ट है, अतः सूत्रकार पुनः षत्व का विधान करते हैं—

२१—उपसर्गस्थ निमित्त से परे सुञ् (स्वा०), सू (तुदा०), सो (दिवा०) स्तुञ् (अदादि) स्तुभ् (भ्वा० आ०), स्था, सेनय (नाम धातु), सेध्, सिच्, सञ्ज्, स्वञ्ज् (भ्वा० आ०)—इन धातुओं के आदेश-रूप स् को ष् हो जाता है[1]—प्रतिषेधति। निषेधति। यहाँ उपसर्गस्थ निमित्त न होने पर षत्व नहीं होगा—आसेधति। व्यासेधति। अपसेधति (=दूरं गमयति))।

२२—पर गत्यर्थ सिध् को षत्व नहीं होता उपसर्गस्थ निमित्त होने पर भी[2]—**गङ्गां विसेधति**(=गच्छति)। यहाँ उपसर्गस्थ निमित्त 'इ' (इण्) है।

---

१. उपसर्गात्सुनोति-सुवति-स्यति-स्तौति-स्तोभति-स्था-सेनय-सेध-सिच-सञ्ज-स्वञ्जाम् (८।३।६५)।

२. सेधतेर्गतौ (८।३।११३)।

२३—(२०) में कही हुई सुञ् आदि धातुओं को, स्तम्भ्, सद् तथा सेव्, को अट्-आगम-कृत-व्यवधान होने पर भी उपसर्गस्थ निमित्त से षत्व होता ही है[1]—**प्रत्यषेधत् । न्यषेधत् ।**

चिती संज्ञाने (चेतनावान् होना) प०, ईदित्

	लट्			लङ्	
१ **चेतति** (३)	**चेततः**	**चेतन्ति**	**अचेतत्**	**अचेतताम्**	**अचेतन्**
२ **चेतसि**	**चेतथः**	**चेतथ**	**अचेतः**	**अचेततम्**	**अचेतत**
३ **चेतामि**	**चेतावः**	**चेतामः**	**अचेतम्**	**अचेताव**	**अचेताम**

	लोट्			विधिलिङ्	
१ **चेततु—चेततात्**	**चेतताम्**	**चेतन्तु**	**चेतेत्**	**चेतेताम्**	**चेतेयुः**
२ **चेत—चेततात्**	**चेततम्**	**चेतत**	**चेतेः**	**चेतेतम्**	**चेतेत**
३ **चेतानि**	**चेताव**	**चेताम**	**चेतेयम्**	**चेतेव**	**चेतेम**

इस धातु का प्रयोग वेद में सरस्वती नदी के विषय में हुआ है वह द्रष्टव्य है—**एका ऽचेतत् सरस्वती नदीनाम्** (ऋ० ७।९२।२)। नदियों में सरस्वती ही एक चेतनावाली है।

इसी प्रकार किट खिट् त्रासे (डराना, पशु पक्षियों का शिकार करना), रिष हिंसायाम् (मारना, हानि पहुँचाना), शिषु श्लिषु दाहे (जलाना), ष्ठिवु निरसने (थूकना)—इन उदित् धातुओं के रूप जानो। ष्ठिव् के ष् को (१२) से प्राप्त स् नहीं होता—ष्ठीवति।

बुध अवगमने (जानना) प०

	लट्			लङ्	
१ **बोधति** (३)	**बोधतः**	**बोधन्ति**	**अबोधत्**	**अबोधताम्**	**अबोधन्**
२ **बोधसि**	**बोधथः**	**बोधथ**	**अबोधः**	**अबोधतम्**	**अबोधत**
३ **बोधामि**	**बोधावः**	**बोधामः**	**अबोधम्**	**अबोधाव**	**अबोधाम**

	लोट्			विधिलिङ्	
१ **बोधतु—बोधतात्**	**बोधताम्**	**बोधन्तु**	**बोधेत्**	**बोधेताम्**	**बोधेयुः**

१. प्राक् सितादड्व्यवायेऽपि (८।३।६३)।

२ **बोध—**	**बोधतम्**	**बोधत**	**बोधेः**	**बोधेतम्**	**बोधेत**
बोधतात्					
३ **बोधानि**	**बोधाव**	**बोधाम**	**बोधेयम्**	**बोधेव**	**बोधेम**

इसी प्रकार कुच सम्पर्चन-कौटिल्य-प्रतिष्टम्भ-विलेखनेषु (सुंकेड़ना, टेढ़ा होना, निश्चेष्ट होना, कुरेदना) प०, क्रुश आह्वाने रोदने च (बुलाना, रोना), शुच शोके(शोक करना),पुष पुष्टौ(पुष्ट करना), तुज हिंसायाम्(मारना), उष दाहे (जलाना , उख गतौ (जाना), ग्रुचु ग्लुचु स्तेयकरणे (चोरी करना), रुह बीज सन्ताने प्रादुर्भावे च(उगना, प्रकट होना), म्रुचु म्लुचु गतौ(जाना) के रूप जानो ।

कुच् का प्रयोग सम्, वि, आङ् अथवा व्याङ् तथा उद् उपसर्गों के साथ देखा जाता है—संकोचति । विकोचति । आकोचति । व्याकोचति । उत्कोचति । 'उत्कोच' रिश्वत को कहते हैं । बुलाने अर्थ में क्रुश् आङ् सहित ही प्रयुक्त होता है, केवल, नहीं । बुलाने से यहाँ 'परित्राता को पुकारना' समझना चाहिये । **शुच्** विना उपसर्ग के भी सकर्मक भी है और अकर्मक भी । तुज् का प्रयोग वेद में देखा जाता है—**इन्द्रायाहि तूतुजानः** (ऋ० १।३।६) । म्रुच्, म्लुच् का निपूर्वक प्रयोग (सूर्य के) अस्तंगमन अर्थ में वेद में मिलता है—**श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि** (ऋ० १०।१५१।५) । स्मृति में भी—**तं चेदभ्युदियात्सूर्यः शयानं कामचारतः । निम्लोचेद्वाप्यविज्ञानाज्जपन्नुपवसेद् दिनम् ॥** (मनु २।२२०) । बिना 'नि' के भी श० ब्रा० (१४।४।३।३३) में प्रयोग आया है—**म्लोचन्ति ह्यन्या देवता न वायुः** । सामान्य गति में इन धातुओं का प्रयोग दुर्लभ है । **मलिम्लुच** चोर को कहते हैं । इसमें **म्लुच्** धातु का प्रयोग स्पष्ट है, पर व्युत्पत्ति अनिश्चित है । उष् का प्रयोग तिङन्त रूप में विरल है । ओषधि के ओष-रूप पूर्व अवयव में तथा उष्ण आदि शब्दों में दीखता है । उख् का भी कृदन्त रूप **उखा** में ही प्रयोग मिलता है । भौवादिक पुष् का निरुक्त (१०।३४।१) में प्रयोग आया है—**पोषति प्रजा रसानुप्रदानेन ।**

२४—ष्ठिवु, क्लमु, चमु (सब उदित्) के अच् (स्वर) को दीर्घ हो जाता है इत्संज्ञक शकारादि प्रत्यय परे होने पर[1] । चम् को यह दीर्घ तभी होता है जब वह आङ्-पूर्वक हो ।

ष्ठिवु निरसने (थूकना) प०, उदित्

लट्			लङ्		
१ **ष्ठीवति**	**ष्ठीवतः**	**ष्ठीवन्ति**	**अष्ठीवत्**	**अष्ठीवताम्**	**अष्ठीवन्**

१. ष्ठिवु-क्लमु-चमां शिति (७।३।७५) । आङि चम इति वक्तव्यम्(वा)।

२ ष्ठीवसि	ष्ठीवथः	ष्ठीवथ	अष्ठीवः	अष्ठीवतम्	अष्ठीवत
३ ष्ठीवामि	ष्ठीवावः	ष्ठीवामः	अष्ठीवम्	अष्ठीवाव	अष्ठीवाम

लोट्			विधिलिङ्		
१ ष्ठीवतु— ष्ठीवतात्	ष्ठीवताम्	ष्ठीवन्तु (२३)	ष्ठीवेत्	ष्ठीवेताम्	ष्ठीवेयुः
२ ष्ठीव— ष्ठीवतात्	ष्ठीवतम्	ष्ठीवत	ष्ठीवेः	ष्ठीवेतम्	ष्ठीवेत
३ ष्ठीवानि	ष्ठीवाव	ष्ठीवाम	ष्ठीवेयम्	ष्ठीवेव	ष्ठीवेम

ष्ठिव् षोपदेश है। इस के ष् को स् होना चाहिये था, पर **सुब्धातु-ष्ठिवु-ष्वष्कतीनां प्रतिषेधो वक्तव्यः** इस वार्तिक से रोक दिया जाता है। ष्ठिव् का प्रयोग नि-पूर्वक होताहै —निष्ठीवति।

२५—धातु के आदि ञि, टु, डु की इत्संज्ञा होती है। इत्संज्ञक का लोप।[1]

ञिमिदा स्नेहने (स्निग्ध होना, स्नेह चर्बी वाला होना, मोटा होना) आ०

लट्			लङ्		
१ मेदते (३)	मेदेते	मेदन्ते	अमेदत	अमेदेताम्	अमेदन्त
२ मेदसे	मेदेथे	मेदध्वे	अमेदथाः	अमेदेथाम्	अमेदध्वम्
३ मेदे	मेदावहे	मेदामहे	अमेदे	अमेदावहि	अमेदामहि

लोट्			विधिलिङ्		
१ मेदताम्	मेदेताम्	मेदन्ताम्	मेदेत	मेदेयाताम्	मेदेरन्
२ मेदस्व	मेदेथाम्	मेदध्वम्	मेदेथाः	मेदेयाथाम्	मेदेध्वम्
३ मेदै	मेदावहै	मेदामहै	मेदेय	मेदेवहि	मेदेमहि

यहाँ (२५) से ञि की इत्संज्ञा होकर उस का लोप हो जाता है। औपदेशिक अनुनासिक अच् (आ) की भी इत्संज्ञा होकर लोप हो जाने पर प्रक्रियोपयोगी धातु मिद् रहती है।

इसी प्रकार ञिष्विदा, ञिक्ष्विदा स्नेहनमोचनयोः (चिकना करना, छोड़ना) आ०, श्विता वर्णे (श्वित् सफेद होना) आ० तथा त्विष दीप्तौ उभय० (चमकना) के रूप जानो।

---

१. आदि ञिटुडवः (१।३।५)। तस्य लोपः (१।३।९)।

श्वेतते प्रासादः, महल सफेद है, सफेद हो रहा है। **व्यतिकरितदिगन्ताः श्वेतमानैर्यशोभिः** (मालती)। तिङ् प्रत्यय और कृत् प्रत्यय के अभिधान-भेद पर क्षीरस्वामी कहते हैं—**श्वेतगुणः सिद्धोप्याख्यातेन साध्यैकरूप उच्यते। कृता तु साध्योपि धात्वर्थः सिद्धतया पाकादिवत्। शब्दशक्तिस्वाभाव्यात्।**

मुद हर्षे (प्रसन्न होना) आ०

	लट्			*लङ्*	
१ **मोदते** (३)	**मोदेते**	**मोदन्ते**	**अमोदत**	**अमोदेताम्**	**अमोदन्त**
२ **मोदसे**	**मोदेथे**	**मोदध्वे**	**अमोदथाः**	**अमोदेथाम्**	**अमोदध्वम्**
३ **मोदे**	**मोदावहे**	**मोदामहे**	**अमोदे**	**अमोदावहि**	**अमोदामहि**

	लोट्			*विधिलिङ्*	
१ **मोदताम्**	**मोदेताम्**	**मोदन्ताम्**	**मोदेत**	**मोदेयाताम्**	**मोदेरन्**
२ **मोदस्व**	**मोदेथाम्**	**मोदध्वम्**	**मोदेथाः**	**मोदेयाथाम्**	**मोदेध्वम्**
३ **मोदै**	**मोदावहै**	**मोदामहै**	**मोदेय**	**मोदेवहि**	**मोदेमहि**

यहाँ कुछ भी विशेष कार्य नहीं हुआ। मुद में 'अ' अनुदात्त इत् है। जिससे यह अनुदात्तेत् होकर आत्मनेपदी हुई।

इसी प्रकार रुच दीप्तावभिप्रीतौ च (चमका, पसन्द आना), द्युत दीप्तौ (चमकना), स्फुट विकसने (खिलना), तुभ हिंसायाम् (मारना), शुभ दीप्तौ (चमकना, शोभा पाना), क्षुभ संचलने (प्रकृति का बदल जाना, मन्थन-कृत हल चल का होना), घुट पदिवर्तने (घोटना), रुट, लुट, लुठ प्रतिघाते (लुढ़कना) के रूप जानो।

वृतु वर्तने (होना, व्यवहार करना) आ०

धातु वृत् है। 'उ' इत् है। अतः यह उदित् हुई।

	लट्			*लङ्*	
१ **वर्तते** (३)	**वर्तेते**	**वर्तन्ते**	**अवर्तत**	**अवर्तेताम्**	**अवर्तन्त**
२ **वर्तसे**	**वर्तेथे**	**वर्तध्वे**	**अवर्तथाः**	**अवर्तेथाम्**	**अवर्तध्वम्**
३ **वर्ते**	**वर्तावहे**	**वर्तामहे**	**अवर्ते**	**अवर्तावहि**	**अवर्तामहि**

	लोट्			*विधिलिङ्*	
१ **वर्तताम्**	**वर्तेताम्**	**वर्तन्ताम्**	**वर्तेत**	**वर्तेयाताम्**	**वर्तेरन्**
२ **वर्तस्व**	**वर्तेथाम्**	**वर्तध्वम्**	**वर्तेथाः**	**वर्तेयाथाम्**	**वर्तेध्वम्**
३ **वर्तै**	**वर्तावहै**	**वर्तामहै**	**वर्तेय**	**वर्तेवहि**	**वर्तेमहि**

व्यवहार (आचरण) अर्थ में भी वृत् अकर्मक है—मातरि साधु वर्तते, माता के प्रति अच्छा व्यवहार करता है।

इसी प्रकार वृधु वृद्धौ (बढ़ना) उदित्, शृधु शब्द कुत्सायाम् (गुदरव अर्थ में), वृक् आदाने (लेना, पकड़ना), ऋज गति-स्थानार्जनोपार्जनेषु (जाना, ठहरना, मुख्य रूप से कमाना, आनुषङ्गिक रूप से कमाना) के रूप जानो।

२६—कृप् के र् को ल् हो जाता है और कृप् के ऋ के अवयव-भूत रेफ (रेफ सदृश वर्ण) के स्थान में लकार-सदृश आदेश हो जाता है। जहाँ गुण का प्रसङ्ग है वहाँ कृप् के ऋकार को गुण (अ रपर) हो जाने से 'र्' मिल जाता है। उस 'र्' को ल् हो जाता है। जहाँ गुण का प्रसङ्ग नहीं वहाँ ऋ का एक-देश जो रेफ सदृश उसे लकार सदृश आदेश हो जाता है, अर्थात् ऋ को लृ हो जाता है। इस अर्थ के लिये सूत्र का पदच्छेद इस प्रकार किया जाता है—कृप उः रः लः। कृप में अकार उच्चारण के लिए है। कृप यहाँ लुप्तषष्ठी का अर्थ है, पर षष्ठी विभक्ति का लोप है। यह अवयव में षष्ठी है। ऋ की षष्ठी का रूप 'उः' है। यह भी अवयव में षष्ठी है। रः यह भी षष्ठी है। लः—प्रथमान्त है।

कृपू सामर्थ्ये (समर्थ होना) आ०, ऊदित्

	लट्			लङ्		
१	कल्पते	कल्पेते	कल्पन्ते	अकल्पत	अकल्पेताम्	अकल्पन्त
२	कल्पसे	कल्पेथे	कल्पध्वे	अकल्पथाः	अकल्पेथाम्	अकल्पध्वम्
३	कल्पे	कल्पावहे	कल्पामहे	अकल्पे	अकल्पावहि	अकल्पामहि
	लोट्			**विधिलिङ्**		
१	कल्पताम्	कल्पेताम्	कल्पन्ताम्	कल्पेत	कल्पेयाताम्	कल्पेरन्
२	कल्पस्व	कल्पेथाम्	कल्पध्वम्	कल्पेथाः	कल्पेयाथाम्	कल्पेध्वम्
३	कल्पै	कल्पावहै	कल्पामहै	कल्पेय	कल्पेवहि	कल्पेमहि

वृषु सेचने (बरसना, बरसाना) प०, उदित्

वर्षति। अवर्षत्। वर्षतु वर्षतात्। वर्षेत्। इसी प्रकार पृषु, मृषु सेचने के रूप जानो। मृषु सहना अर्थ में भी आती है। वृष्, पृष् वस्तुतः सकर्मक हैं पर कर्म (जल) के प्रसिद्ध होने से उसे छोड़ दिया जाता है और धातुएँ अकर्मक बन जाती हैं—**देवो वर्षति। पर्जन्यः वर्षति।** पर **पार्थः शरान् वर्षति**—यहाँ कर्म विशेष की अपेक्षा होने से सकर्मक है। पृष् का प्रयोग पृषत् नपुं० (बूँद),

पृषत् पुं (बूंद) आदि कृदन्त रूपों में प्रायः मिलता है। **पृषदाज्य** (नपुं०) दधि-मिश्रित घी—यहाँ भी। वेद में पृष् का तिङन्त रूप भी पाया जाता है—यस्य प्रयांसि पर्षथ (ऋ० १।८३।७)। सकर्मक धातुएँ कैसे अकर्मक हो जाती हैं इसका उत्तर—

धातोरर्थान्तरे वृत्तेर्धात्वर्थेनोपसङ्ग्रहात्।
प्रसिद्धेरविवक्षातः कर्मणोऽकर्मिका क्रिया॥

धातु का अर्थ बदल जाने से (जिसमें कर्म की अपेक्षा ही नहीं रहती), धातु के अर्थ में ही जब कर्म उपसंगृहीत होता है (जिससे बाह्य कर्म की अपेक्षा नहीं रहती), कर्म के प्रसिद्ध होने से (जब कर्म इतना प्रसिद्ध होता है कि उसे शब्द द्वारा कहने की आकाङ्क्षा नहीं होती), जब कर्म विशेष के कहने की इच्छा नहीं होती तब सकर्मक धातु अकर्मक हो जाती है—**भारं वहति**। पर **नदी वहति** (=प्रवहति)। जीव प्राणधारणे—ऐसी धातु पढ़ी है। इसके अर्थ में कर्म 'प्राण' अन्तर्भूत है। तो अब केवल 'जीवति' कहेंगे, इसके साथ प्राणान् जोड़कर जीवति प्राणान् नहीं। प्रसिद्धि का उदाहरण ऊपर दिया जा चुका है। अविवक्षा से भी—**शृणु। संशृणुष्व। विद्धि। संवित्स्व।** इनमें कर्म की अविवक्षा होने से धातु के अकर्मक होने से ही सम्पूर्वक श्रु और विद् से आत्मनेपद हुआ है।

हृषु अलीके (झूठ बोलना) उदित्—हर्षति। अहर्षत्। हर्षतु-हर्षतात्। हर्षेत्।

घृषु संघर्षे (रगड़ना), उदित्—घर्षति। अघर्षत्। घर्षतु-घर्षतात्। घर्षेत्।

दीर्घोपध हलन्त धातुएँ

जीव प्राणधारणे (जीना) प०

	लट्			लङ्		
१	जीवति	जीवतः	जीवन्ति	अजीवत्	अजीवताम्	अजीवन्
२	जीवसि	जीवथः	जीवथ	अजीवः	अजीवतम्	अजीवत
३	जीवामि	जीवावः	जीवामः	अजीवम्	अजीवाव	अजीवाम
	लोट्			**विधिलिङ्**		
१	जीवतु-जीवतात्	जीवताम्	जीवन्तु	जीवेत्	जीवेताम्	जीवेयुः
२	जीव-जीवतात्	जीवतम्	जीवत	जीवेः	जीवेतम्	जीवेत

३ जीवानि	जीवाव	जीवाम	जीवेयम्	जीवेव	जीवेम

यहाँ उपधा के लघु न होने से शप् होने पर भी कहीं भी गुण का प्रसङ्ग नहीं। इसी प्रकार पीव मीव तीव णीव स्थौल्ये (मोटा होना), शील समाधौ (अभ्यास करना), ईष उञ्छे (एक-एक कण चुनना), मील श्मील स्मील क्ष्मील निमेषणे (आँख का बन्द होना)—इन परस्मै० धातुओं के रूप जानो।

ईह चेष्टायाम् (चेष्टा करना, यत्न करना) आ०

	लट्			लङ्	
१ ईहते	ईहेते	ईहन्ते	ऐहत	ऐहेताम्	ऐहन्त
२ ईहसे	ईहेथे	ईहध्वे	ऐहथाः	ऐहेथाम्	ऐहध्वम्
३ ईहे	ईहावहे	ईहामहे	ऐहे	ऐहावहि	ऐहामहि
	लोट्			विधिलिङ्	
१ ईहताम्	ईहेताम्	ईहन्ताम्	ईहेत	ईहेयाताम्	ईहेरन्
२ ईहस्व	ईहेथाम्	ईहध्वम्	ईहेथाः	ईहेयाथाम्	ईहेध्वम्
३ ईहै	ईहावहै	ईहामहै	ईहेय	ईहेवहि	ईहेमहि

यहाँ भी उपधा के लघु न होने से कहीं भी गुण नहीं हुआ। लङ् में धातु के अजादि होने से आट् आगम हुआ। आट् (आ) और धातु के ई के स्थान में वृद्धि एकादेश (ऐ) हुआ।

इसी प्रकार ईज गतिकुत्सनयोः (जाना, निन्दा करना), ईष गतिहिंसा-दर्शनेषु (जाना, मारना, देखना) आत्मने० धातुओं के रूप जानो।

पूष वृद्धौ (बढ़ाना, पुष्ट करना) प०

	लट्			लङ्	
१ पूषति	पूषतः	पूषन्ति	अपूषत्	अपूषताम्	अपूषन्
२ पूषसि	पूषथः	पूषथ	अपूषः	अपूषतम्	अपूषत
३ पूषामि	पूषावः	पूषामः	अपूषम्	अपूषाव	अपूषाम
	लोट्			विधिलिङ्	
१ पूषतु-पूषतात्	पूषताम्	पूषन्तु	पूषेत्	पूषेताम्	पूषेयुः
२ पूष-पूषतात्	पूषतम्	पूषत	पूषेः	पूषेतम्	पूषेत
३ पूषाणि	पूषाव	पूषाम	पूषेयम्	पूषेव	पूषेम

इसी प्रकार तूष तुष्टौ (सन्तुष्ट होना), चूष पाने (चूसना), मूष स्तेये (चुराना), लूष रूष भूषायाम् (सजाना), ऊष रुजायाम् (पीड़ित करना), तूल निष्कर्षे (अन्तर्गत वस्तु को बाहर निकालना), कूज अव्यक्ते शब्दे (कूजना, कूँ कूँ करना), कूल आवरणे (ढाँपना), पूल संघाते (इकट्ठा करना), शूल रुजायां संघोषे च (पीड़ा देना, कराहना) इन परस्मै० धातुओं के रूप जानो। मूष् का प्रयोग 'मूषक' में दीखता है। **रेणुरूषितचरणः**—यह रूष् का औपचारिक प्रयोग है। ऊष् का त्र्यूषण (=त्रिकटु) में मिलता है। पूष् का पूषन् (सूर्य) में। कूल् का **नद्याः कूलम्** इत्यादि में कृदन्त रूप से प्रयोग मिलता है।

धूप सन्तापे (गरम करना) प०

	लट्			लङ्		
१	धूपायति	धूपायतः	धूपायन्ति	अधूपायत्	अधूपायताम्	अधूपायन्
२	धूपायसि	धूपायथः	धूपायथ	अधूपायः	अधूपायतम्	अधूपायत
३	धूपायामि	धूपायावः	धूपायामः	अधूपायम्	अधूपायाव	अधूपायाम

	लोट्			विधिलिङ्		
१	धूपायतु-धूपायतात्	धूपायताम्	धूपायन्तु	धूपायेत्	धूपायेताम्	धूपायेयुः
२	धूपाय-धूपायतात्	धूपायतम्	धूपायत	धूपायेः	धूपायेतम्	धूपायेत
३	धूपायानि	धूपायाव	धूपायाम	धूपायेयम्	धूपायेव	धूपायेम

धूप् से परे स्वार्थ में 'आय' प्रत्यय आता है। आय-प्रत्ययान्त की धातु संज्ञा हो जाती है। धूप् आय ति—धूपाय शप् ति—धूपायति। आय आर्धधातुक प्रत्यय है। उपधा के लघु न होने से कहीं भी गुण नहीं होता है।

ऊह वितर्के (बूझना) आ०

	लट्			लङ्		
१	ऊहते	ऊहेते	ऊहन्ते	औहत	औहेताम्	औहन्त
२	ऊहसे	ऊहेथे	ऊहध्वे	औहथाः	औहेथाम्	औहध्वम्
३	ऊहे	ऊहावहे	ऊहामहे	औहे	औहावहि	औहामहि

लङ् में धातु के अजादि होने से आट् आगम हुआ है—आ ऊहत = औहत। वृद्धि एकादेश। इसी प्रकार पूयी विशरणे दुर्गन्धे च, ईदित् (झड़ना, सड़ना), क्नूयी शब्दे उन्दे च, ईदित् (शब्द करना, गीला होना) के रूप जानो।

इन के अजादि न होने से लङ् में अट् आगम होगा, आट् नहीं—अपूयत। अक्नूयत। क्नूय् अकर्मक है। गीला करने अर्थ में सर्वत्र ण्यन्त का प्रयोग देखे जाने से—**अक्नोपनो भवति इति स्थौलाष्ठीविर्न क्नोपयति न स्नेहयति** (निरुक्त ७।१४।५)।

अकारवान् तथा अकारोपध हलन्त धातुएँ—

पठ व्यक्तायां वाचि (पढ़ना, उच्चारण करना) प०

	लट्			लङ्	
१ पठति	पठतः	पठन्ति	अपठत्	अपठताम्	अपठन्
२ पठसि	पठथः	पठथ	अपठः	अपठतम्	अपठत
३ पठामि	पठावः	पठामः	अपठम्	अपठाव	अपठाम

	लोट्			विधिलिङ्	
१ पठतु-पठतात्	पठताम्	पठन्तु	पठेत्	पठेताम्	पठेयुः
२ पठ-पठतात्	पठतम्	पठत	पठेः	पठेतम्	पठेत
३ पठानि	पठाव	पठाम	पठेयम्	पठेव	पठेम

इसी प्रकार वद व्यक्तायां वाचि (बोलना), वस निवासे (रहना),[1] वज व्रज गतौ (जाना), गर्ज शब्दे (गर्जना), तर्ज भर्त्सने (झिड़कना), अज गतिक्षेपणयोः (चलना, फेंकना) लङ् में आट् होकर आजत्, अर्ज अर्जने कमाना, लङ् में आट् होकर आर्जत्, अर्च पूजायाम् (पूजाकरना), लङ् में आट् होकर आर्चत्, अर्ह पूजायाम् (के योग्य होना),लङ् में आट् होकर आर्हत्, अट गतौ (घूमना),

---

१. चेतन पदार्थ के कर्तृत्व होने पर वस् (रहना) का प्रयोग तो सर्वविदित है। अचेतन पदार्थ की कर्तृता में भी इस का प्रचुर प्रयोग होता है—**शतं वत्सरानुषितं घृतम्** (सौ बरस पुराना घी) सुश्रुत १।१८१।१६॥ **बदराणि सप्तरात्रमुषितानि**, सात दिन के बासे बेर। **तिस्रो रात्रीः क्रीतः सोमो वसति**, खरीदा हुआ सोम तीन रात तक रहता है (तै० ब्रा० १।८।५।५)। उप पूर्वक वस् अनशन (उपवास) अर्थ में प्रसिद्ध है, पर 'उप' के बिना भी इसी अर्थ में देखा जाता है—शुचिः पुरोवास्त्र्यहोषितः स्नातः (वराह० बृ० सं० ४६।१५)। त्र्यहोषितः=त्र्यहमुपोषितः।

लङ् में आट् होकर आटत्, अड उद्यमे[1] (उद्यम करना, लङ् में आट् होकर आडत), अत सातत्यगमने (व्याप्त होना), लङ् में आट् होकर आतत्, पट गतौ (जाना), रट परिभाषणे (रटना), कठ कृच्छ्रजीवने (कठिनता से निर्वाह करना), मठ मदनिवासयोः (मस्त होना, रहना), लड् विलासे (शृङ्गारमयी चेष्टा करना), ड ल का अभेद होने से लडति, ललति—ऐसे रूप होते हैं, जप जल्प व्यक्तायां वाचि (बोलना), जप मानसे च (मुंह में बोलना), अण रण वण भण कण क्वण शब्दे। यद्यपि ये शब्द-सामान्य में पढ़ी हैं, वण् तथा भण् का प्रयोग व्यक्त उच्चारण में ही होता है। क्वण् का प्रयोग वीणा आदि के शब्द में अधिकतर देखा गया है। अम गत्यादिषु (गति, शब्द तथा संभक्ति=देना) अर्थों में, वन षण संभक्तौ (देना), अव रक्षण आदि १९ अर्थों में, मव बन्धने (बाँधना), भष भर्त्सने (भौंकना), ह्लस शब्दे (शब्द करना), लस श्लेषणक्रीडनयोः (चिपकना, खेलना), द्रम हम्म गतौ (जाना), हय गतौ (जाना), शव गतौ (जाना), शश प्लुतगतौ (छलांगें मारते चलना), रद विलेखने (कुरेदना), मन्थ विलोडने (मथना), रह त्यागे (छोड़ना), कनी दीप्ति-कान्ति-गतिषु (चमकना, चाहना, जाना) ईदित्, णम प्रह्वत्वे शब्दे च, (झुकना, नमस्कार करना, शब्द करना), टुवम उद्गिरणे (उल्टी करना), टु इत्संज्ञक है, यभ मैथुने, क्रस गतौ (जाना), षस्ज गतौ (जाना), अञ्चु गतिपूजनयोः, (जाना, पूजा करना) उदित्, वल्ग गतौ[2] (जाना),

---

१. अड् का तिङन्त रूप में प्रयोग दुर्लभ है। प्रसिद्ध वैयाकरण संग्रह-नामक लक्षश्लोकात्मक ग्रन्थ के कर्त्ता 'व्याडि' के नाम में इस धातु का प्रयोग झलकता है। **विशेषेण अडति उद्यच्छते उद्युङ्क्त इति व्यडः। तस्यापत्यं व्याडिः।**

२. वल्ग् गति सामान्य में पढ़ी है पर इस का प्रयोग गति विशेष हिलना, उछलना, उछलते हुए चलना में देखा जाता है—**ववल्गुश्चापि कासांचित्कुण्डलान्यङ्गदानि च** (रा० ५।१३।४९)। **गच्छन्त्याः स्तनौ तस्या ववल्गतुः** (भा० ३।१८२४)। **द्वारे हेमविभूषणाश्च तुरगा वल्गन्ति चेद् दर्पिताः** (भर्तृ ३।१४८)। **तद् वृथा च सभामध्ये वल्गितं ते वृकोदर** (भा० ५।५४७६)। वल्गितम्=खुशी के मारे उछलना। **कस्मादेतेन वल्गितम्** (राजत० ३।१०४)। वल्ग् डींगें मारना (जो वाग्विषय उछलना है) अर्थ में भी बहुलतया प्रयुक्त हुई है—**अशक्तो मद्गुणान् वक्तुं वल्गसे बहु दुर्मते** (भा० ८।२०१८)। **निमित्तादपराद्धेषोर्धानुष्कस्येव वल्गितम्** (माघ० २।२७), यह लक्ष्य-च्युत-सायक धनुर्धर की डींग के सदृश है। **विद्यासद्मविनिर्गलत्कणमुषो वल्गन्ति चेत् पामराः**

वञ्चु, चञ्चु, तञ्चु गतौ (जाना) तीनों उदित्, फक्क नीचैर्गतौ (नीचे की ओर जाना), शंसु स्तुतौ (स्तुति करना) उदित्, रक्ष पालने (रक्षा करना), स्वन ध्वन शब्दे (शोर करना), खज मन्थे (बिलोना), लज भर्जने (भूनना), शसु हिंसायाम् (मारना), उदित्, अर्द गतौ याचने च (जाना, माँगना), नर्द गर्द शब्दे (शोर करना), कर्द कुत्सिते शब्दे (पेट का गुड़ गुड़ करना), खर्द दन्दशूके (साँप का काटना), चर्व अदने (चबाना), कर्व खर्व गर्व दर्पे (घमंड करना), अर्व शर्व षर्व हिंसायाम् (मारना), हर्य गतिकान्त्योः (जाना, चाहना) के रूप जानो।

पठ् का कीर्तन अर्थ भी है—**यं पठन्ति विभुं साङ्ख्याश्चिन्तयन्ति च योगिनः** (भा० १३।१०४०)। **इति मां नामभिर्नित्यं पठत्येव दिवानिशम्** (हरि-वं० १४७०३)।

अज् का गति अर्थ अज, अजा (बकरी) में स्पष्ट है। **समज, समाज, समज्या** में भी। यहाँ सम्पूर्वक होने से संगत होना अर्थ है। क्षेपण से यहाँ हाँकना अभिप्रेत है। प्राजति गाः, गौओं को हाँकता है। **उदजति गाः**, गौओं को हाँककर निकालता है। अर्ह् पूजा अर्थ में पढ़ी है। योग्यता से पूजा लक्षित होती है। **अर्हति भवानग्रे भोजनम्**। अट् गतिसामान्य में पढ़ी है, पर इस का प्रयोग भ्रमण अर्थ में रूढ है—**गामट भिक्षां चर**। इसका प्रायः परिपूर्वक प्रयोग देखा जाता है। वन षण संभक्ति अर्थ में पढ़ी हैं। संभक्ति के दो अर्थ दीखते है—देना (संभक्ति=संविभक्ति=संविभाग) और प्राप्त करना (चाह के अनुसार)। यह दूसरा अर्थ वृङ् संभक्तौ इस निर्देश में स्पष्ट है। वेद में सातये, सनये (धनानाम) इसी धातु (सन्) के रूप हैं। मव् (बाँधना) से क्त प्रत्यय होने पर '**मूत**' रूप होता है। यह मूत शब्द जीमूत(=मेघ) में प्रसिद्ध है—**जीवनस्य मूतः=जीमूतः** (पृषोदरादि)। भष् का अर्थ भर्त्सन (झिड़कना) पढ़ा है। कुत्ता जब भौंकता है तो ऐसा प्रतीत होता है कि वह झिड़क रहा है, अतः उसके भौंकने को भर्त्सन शब्द से कह दिया है। ह्लस् और रस् शब्द अर्थ में पढ़ी हैं। ह्लस् का इस अर्थ में प्रयोग दुर्लभ है। रस् प्रायः अव्यक्त शब्द करना, चिल्लाना, चीखना, गर्जना आदि अर्थों में प्रसिद्ध है—**करीव वन्यः परुषं ररास**(रघु० १६।७८)। **राजन्योपनिमन्त्रणाय रसति स्फीतं यशोदुन्दुभिः** (वेणी० १।२५)। द्रम् का प्रयोग लोक में विरल है। जु-चङ् क्रम्य-(३।२।१५०) सूत्र से ताच्छी-

---

(भा० वि० १।७२), सारस्वत-धाम से गिरे हुए कणों को चुराने वाले नीच लोग यदि डींगें मारें।

लिक युच् करके '**दन्द्रमण**' रूप सिद्ध किया जाता है। हम्म् का प्रयोग भाष्य के अनुसार सुराष्ट्र देश में होता था और शव् का काम्बोज देश में ही। आर्य लोग तो गम् धातु का प्रयोग करते थे। **शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाषितो भवति। विकार एनमार्या भाषन्ते शव इति। हम्मतिः सुराष्ट्रेषु।** शश् का प्रयोग वेद में मिलता है—**यः सुन्वन्तमवति यः पचन्तं यः शंसन्तं यः शशमान-मूती** (ऊती=ऊत्या) (अथर्व २०।३४।१५)। पाणिनीय धातुपाठ में शश् पर-स्मैपदी है।

रद् का कुरेदना, खोदना अर्थ है। **आमादो गृध्राः कुणपे रदन्ताम्**(अथर्व० १०।८।२४)। **इन्द्रो अस्माँ अरदद् वज्रबाहुः**(ऋ०३।३३।६)। इन्द्र ने हम नदियों के लिये खोदकर प्रवाह मार्ग बनाया। हाथी के दाँत को '**रद**' कहते हैं। हाथी को '**द्विरद**'। कन् का तिङन्त रूप में लोक में प्रयोग दुर्लभ है। वेद में सुलभ है—**ऽविक्रीतो अकानिषं पुनर्यन्** (ऋ० ४।२४।९)। दीप्ति तथा गति अर्थ में वहाँ भी दुर्लभ है। लोक में **कनक** (सुवर्ण) शब्द में दीप्ति अर्थ स्पष्ट है। कन्या शब्द में कान्ति (चाहना) अर्थ प्रत्यक्ष है—**कन्यते काम्यत इति कन्या।** वैदिक शब्द **कनी** तथा **कनीनक** (=युवक) में भी इसी अर्थ में कन् का प्रयोग लक्षित हो रहा है। नम् का प्रह्वत्व (झुकना, नमस्कार करना) तथा शब्द करना अर्थ बताया गया है। उन्नमति वर्षति...मेघः (मृच्छक० ५।२६)। **इयं नमति वः सर्वान् त्रिलोचनवधूरिति** (कुमार० ६।८९)। शब्द करने अर्थ में इसका प्रयोग नहीं मिलता है। हाँ ध्वनि—विकार अर्थ अभिप्रेत हो तो कुछ ठीक प्रतीत होता है। प्रातिशाख्यों में नमन, विनाम का अर्थ 'दन्त्य वर्ण का मूर्धन्य वर्ण में परिवर्तन' पाया जाता है। कस् यद्यपि गति सामान्य में पढ़ी है तो भी इस का प्रयोग विपूर्वक खिलने अर्थ में तथा निस्-पूर्वक निकलने (बाहर निकलने अर्थ में देखा जाता है—**विकसन्ति कुसुमानि,** फूल खिल रहे हैं। **निष्कसन्ति पुष्पाणि लतायाः,** बेल के फूल निकल रहे हैं। षस्ज्(=सज्ज्)। श्चुत्व से स् को श् होकर जश्त्व से उसे ज् हो जाता है। यद्यपि यह गति अर्थ में पढ़ी है, पर यह प्रवृत्त होना, तैयार होना, अटकना, रुकना अर्थों में साहित्य में प्रयुक्त हो रही है। अटकने अर्थ में रामायण में प्रयोग है—**येषां नोपरि नाधस्तान्न तिर्यक् सज्जते गतिः** (५।३९।३८)। हेतुमति च (३।१।२६) इस सूत्र में 'यदभिप्रायेषु सज्जते' इस भाष्य-वचन-प्रामाण्य से यह आत्मनेपदी भी है। अञ्च् के तिङन्त प्रयोग अर्वाचीन कवियों की कृतियों में मिलते हैं, जिन का बहुत महत्त्व नहीं—**स्वतन्त्रा कथमञ्चसि,** स्वतन्त्र क्यों घूम रही हो

(भट्टि० ४।२२)। **तस्मिन्नद्य रसालशाखिनि दशां दैवात् कृशामञ्चति** (भा० वि० १।४८)। **भीमोऽयं शिरसाऽञ्चति,** (वेणी० ५।२७), भीम सिर झुका कर सत्कार कर रहा है। नि पूर्वक तथा उद् पूर्वक अञ्च् का तो प्रचुर प्रयोग है—**कूपादुदकमुदञ्चति**, कूएँ से पानी निकालता है। **न्यञ्चति भूः,** धरती धसती है। ण्यन्त अञ्च् का अनु-सहित अथवा केवल का झुकने अर्थ में प्रचुरतर प्रयोग है—**अञ्चितसव्यजानुः** (रघु० १८।५१)। **अञ्चिताक्षिपक्ष्मा** (रघु० ५।७६)। **दक्षिणं जान्वाच्य,** दाएँ घुटने को झुका कर। यहां आङ् अञ्च्-ल्यप् का प्रयोग है।

वञ्च् जाने अर्थ में लोक में विरल-प्रयुक्त है। काशिकाकार एक वाक्य उद्धृत करते हैं—वञ्च्यं वञ्चन्ति वणिजः, बनिये अपने गन्तव्य स्थान को जाते हैं। इसमें गति-सामान्य में वञ्च् का प्रयोग स्पष्ट है। ण्यन्त में अहिं वञ्चयति का अर्थ है, साँप को लाँघ जाता है। प्रलम्भन (धोखा देना) अर्थ में 'वञ्चि' का आत्मनेपद में प्रयोग होता है—**आत्मानमेव वञ्चयते यः परान् वञ्चयते**। वेद में अण्यन्त वञ्च् का गति अर्थ में सुन्दर उदाहरण मिलता है—**यस्तिष्ठति चरति यश्च वञ्चति** (अथर्व० ४।१६।२)। चञ्च् का अर्थ गतिमात्र नहीं, किन्तु स्फुरण, स्पन्दन-रूप गति है। **चञ्चत्को मणिः। चञ्चद्भुजदण्डः। चञ्चत्पञ्चचूडः।** 'चञ्चल' शब्द में इसका हिलना-जुलना अर्थ है। **ग्रामं चञ्चामि** ऐसा नहीं कह सकते। खज् का बिलोना अर्थ **खजाका**=दर्वि में स्पष्ट है। लज् का अर्थ लाज (लाई, खील) जो पुं० बहु० में प्रयुक्त होता है, में विस्पष्ट है। **आचारलाजाः**। शस् (मारना) का प्रयोग बिना वि उपसर्ग के नहीं होता—विशसति। मारना भी यहाँ अंगों को काटना होता है। **अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी** (मनु० ५।५१) में विशसितृ को निहन्तृ से भिन्न किया है। अङ्गानि यः कर्तर्यादिना पृथक्-पृथक् करोति [स विशसिता]—कुल्लूक। इसका निष्ठान्त रूप '**विशसित**' होता है। अर्द् का गति अर्थ तो अप्रसिद्ध है। याचन अर्थ में कवि का प्रयोग है—**निर्गलिताम्बुगर्भं शरद्घनं नार्दति चातकोऽपि** (रघु० ५।१७)। नर्द् णोपदेश नहीं है, अतः उपसर्गस्थ निमित्त से इसे णत्व नहीं होगा—प्रनर्दति। गर्द् का प्रयोग गर्दभ शब्द को जो गधे का वाचक है, अन्वर्थ बना रहा है। **गर्दतीति गर्दभः,** जो चिल्लाता है। हर्य् का चाहने अर्थ में वेद में प्रयोग है—**जनित्रीव प्रतिहर्यासि सूनुम्** (अथर्व० १२।३।२३)। **नव्यं नव्यं हर्यसि मन्म नु प्रियम्** (अथर्व० (२०।३२।१)। **ता जुषाणो हर्यति जातवेदाः** (ऋ० ४।५८।८)।

२६—उपसर्गस्थ निमित्त से परे नि उपसर्ग के न् को ण् हो जाता है जब परे गद्, नद्, पत्, पद्, घु-संज्ञक मा, सो, हन्, या, वा, द्रा, प्सा, वप्, वह्, शम्, चिञ्, दिह् धातुएँ हों[1]।

गद व्यक्तायां वाचि (कहना) प० प्र-नि उपसर्ग

	लट्			लङ्	
१ प्रणिगदति	प्रणिगदतः	प्रणिगदन्ति	प्रण्यगदत्	प्रण्यगदताम्	प्रण्यगदन्
२ प्रणिगदसि	प्रणिगदथः	प्रणिगदथ	प्रण्यगदः	प्रण्यगदतम्	प्रण्यगदत
३ प्रणिगदामि	प्रणिगदावः	प्रणिगदामः	प्रण्यगदम्	प्रण्यगदाव	प्रण्यगदाम

यह 'नि' के न् को णत्व अट् के व्यवधान होने पर भी होता है जैसा कि लङ् के रूपों में स्पष्ट है।

इसी प्रकार नद्—प्रणिनदति। पत्—प्रणिपतति। वप्—प्रणिवपति। वह्—प्रणिवहति। शेष उदाहरण यथावसर दिए जायँगे।

२७—उपसर्गस्थ निमित्त से 'नि' के न् को ण् विकल्प से होता है यदि कोई और धातु जिसके आदि में औपदेशिक क्, ख् न हो और अन्त में ष् न हो, आगे हो[2]—प्रणिपचति। प्रनिपचति।

२८—इष्, गम्, यम् को 'छ्' अन्तादेश होता है शित् प्रत्यय परे होने पर[3]—यम्—यच्छति। नियच्छति, वश में करता है। यम उपरमे पढ़ी है।

२६—भ्राश्, भ्लाश्, भ्रम्, क्रम्, क्लम्, त्रस्, त्रुट्, लष्—इनसे श्यन् विकल्प से आता है।[4] यह उभयत्र विभाषा है। कईओं को दिवादिगणीय होने से श्यन् प्राप्त ही था, जैसे क्लम्, त्रस् को। शेष भ्राश् आदि को अप्राप्त था, कारण कि ये भ्वादिगणीय हैं और त्रुट् तुदादिगणीय है।

३०—क्रम को परस्मैपद-परक शित् प्रत्यय परे होने पर दीर्घ होता है[5]—क्रम् शप् ति=क्रामति। क्रम् श्यन् (=य) ति=क्राम्यति।

भ्रमु चलने (भ्रान्त होना), उदित्

	लट् शप्			लट् श्यन्	
१ भ्रमति	भ्रमतः	भ्रमन्ति	भ्रम्यति	भ्रम्यतः	भ्रम्यन्ति

---

१. नेर्गद-नद पत-पद-घु-मा-स्यति-हन्ति-याति-वाति-द्राति-प्साति-वपति-वहति-शाम्यति-चिनोति-देग्धिषु च (८।४।१७)।

२. शेषे विभाषाऽकखादावषान्त उपदेशे (८।४।१८)।

३. इषगमि-यमां छः (७।३।७७)।

४. वा भ्राश-भ्लाश-भ्रमु-क्रमु-क्लमु-त्रसि-त्रुटि-लषः (३।१।७०)।

५. क्रमः परस्मैपदेषु (७।३।७६)।

२	**भ्रमसि**	**भ्रमथः**	**भ्रमथ**	**भ्रम्यसि**	**भ्रम्यथः**	**भ्रम्यथ**
३	**भ्रमामि**	**भ्रमावः**	**भ्रमामः**	**भ्रम्यामि**	**भ्रम्यावः**	**भ्रम्यामः**

भ्रम् का अर्थ घूमना नहीं, किन्तु मन का घूमना, चकराना अर्थात् भ्रान्त होना अर्थ है—**शुक्तिं पश्यन् रजतमिति भ्रमति**—ऐसा प्रयोग होता है। श्यन् होने पर यहाँ दीर्घ नहीं होता, वह दिवादि शम् आदि आठ धातुओं में पढ़ी हुई भ्रमु अनवस्थाने (घूमना, भ्रमण करना) धातु को ही होता है।

क्लमु ग्लानौ (थकना, क्षीण होना) प० उदित्

	लट्			लङ्		
१	**क्लामति**	**क्लामतः**	**क्लामन्ति**	**अक्लामत्**	**अक्लामताम्**	**अक्लामन्**
२	**क्लामसि**	**क्लामथः**	**क्लामथ**	**अक्लामः**	**अक्लामतम्**	**अक्लामत**
३	**क्लामामि**	**क्लामावः**	**क्लामामः**	**अक्लामम्**	**अक्लामाव**	**अक्लामाम**

	लोट्					
१	**क्लामतु-क्लामतात्**	**क्लामताम्**	**क्लामन्तु**	**क्लामेत्**	**क्लामेताम्**	**क्लामेयुः**
२	**क्लाम-क्लामतात्**	**क्लामतम्**	**क्लामत**	**क्लामेः**	**क्लामेतम्**	**क्लामेत**
३	**क्लामानि**	**क्लामाव**	**क्लामाम**	**क्लामेयम्**	**क्लामेव**	**क्लामेम**

यहाँ (२४) से सर्वत्र धातु के अच् को दीर्घ हुआ है।

क्लम् दिवादिगण (चतुर्थगण) में पढ़ी है। इसे श्यन् (दिवादिगण का विकरण) विकल्प से होता है, पक्ष में सामान्य विहित शप् होता है, जो यहाँ हुआ है। क्लम् प्रायः वि, परि, आङ्पूर्वक प्रयुक्त होती है।

चमु भक्षणे (खाना, पीना) प० उदित्

चमति। अचमत्। चमतु-चमतात्। चमेत्। पर आङ् उपसर्ग लगने पर **आचामति। आचामत्। आचामतु-आचामतात्। आचामेत्।** आङि चमेरिति वक्तव्यम् ऐसा वार्तिक है।

३१—निस् उपसर्ग के स् को मूर्धन्यादेश (ष्) हो जाता है तप् धातु परे होने पर जब आसेवन (पुनः पुनः करना, अर्थात् तपाना) अर्थ न हो[1]—

तप सन्तापे (तपना, तपाना) प०

लट्—**तपति। तपतः। तपन्ति। तमस्तपति घर्मांशौ कथमाविर्भविष्यति**

---

१. निसस्तपतावनासेवने (८।३।१०२)।

(शाकुन्तल ५।१४)। यहाँ तप् अकर्मक है। निस् पूर्वक यह नित्य सकर्मक होता है—**निष्टपति स्वर्णं स्वर्णकारः**, सुनार सोने को खूब तपाता है। पर **निस्तपति लोहं लोहकारः**, लोहार लोहे को बार-बार तपाता है। **तं पाण्डवादित्यशरांशुजालं कुरुप्रवीरान्युधि निष्टपन्तम्** (भा० द्रोण० ६१।२२)।

३२—दंश्, सञ्ज्, स्वञ्ज्, रञ्ज्—इनके 'न्' का लोप हो जाता है शप् परे होने पर[1]—

दंश दशने (डसना) प०

दशति। दशतः। दशन्ति। अदशत्। अदशताम्। अदशन्।

षञ्ज सङ्गे (लगना)

सजति। असजत्। सजतु-सजतात्। सजेत्। अतिषजति (२०)। **व्यतिषजति** (जोड़ता है, सम्बद्ध करता है)। **व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोऽपि हेतुः** (उ० रा० च०)। उपसर्गवशात् धातु सकर्मक हो गई। अडागम-कृत व्यवधान होने पर भी नित्य षत्व होगा—**अभ्यषजत्। अन्वषजत्।** (२२)।

३३—वि तथा अव पूर्वक स्वन् (शब्द करना) के स् को ष् हो जाता है जब सशब्द भोजन करना अर्थ हो[2]—**विष्वणति। अवष्वणति।** सशब्दं भुङ्क्ते इत्यर्थः। अट् का व्यवधान होने पर भी षत्व होगा—**व्यष्वणत्। अवाष्वणत्।** षत्व के सिद्ध होने से न् को ण् भी हुआ है।

ष्वद स्वर्द आस्वादने (चखना, रुचना) आ०

लट्			अनु-स्वद् लट्		
१ स्वदते (१२)	स्वदेते	स्वदन्ते	अनुस्वदते (१३)	अनुस्वदेते	अनुस्वदन्ते
२ स्वदसे	स्वदेथे	स्वदध्वे	अनुस्वदसे	अनुस्वदेथे	अनुस्वदध्वे
३ स्वदे	स्वदावहे	स्वदामहे	अनुस्वदे	अनुस्वदावहे	अनुस्वदामहे

बुभुक्षित इति स्वद इमानपूपान्, परं नैते मे स्वदन्ते, मुझे भूख है, अतः इन पूओं को खा रहा हूँ, पर ये मुझे भाते नहीं। स्वद् आस्वादन (अनुभव) अर्थ में सकर्मक है, पर रुचना, भाना, अच्छा लगना अर्थ में अकर्मक है। **स्वर्दते। अस्वर्दत। स्वर्दताम्। स्वर्देत।**

स्पर्ध सङ्घर्षे (बराबरी करना)—**स्पर्धते। स्पर्धताम्। अस्पर्धत। स्पर्धेत।** स्पर्ध् सकर्मक भी है और अकर्मक भी—**को मां स्पर्धते। को मया स्पर्धते। स हि**

---

१. दंश-सञ्ज-स्वञ्जां शपि (६।४।२५)। रञ्जेश्च (६।४।२६)।

२. वेश्च स्वनो भोजने (८।३।६९)।

द्रोणं च भीष्मं च कर्णं च बलिनां वरम्। स्पर्धते स्म रणे नित्यम्······॥ (भा० आश्व० ६१।१४—१५)। **सर्वासु विद्यासु तपोविधाने प्रस्पर्धतेऽयं हि गुरुं सुराणाम्** (रा० ७।३६।४६)। यहाँ स्पर्ध् सकर्मक है। **पस्पर्ध कृष्णेन सदा नृपो यो वृकोदरस्यैष परिग्रहोऽग्र्यः** (भा० आश्रम० २५।१२)। यहाँ अकर्मक है। दध धारणे (धारण करना)—**दधते। अदधत। दधताम्। दधेत।** दद दाने (देना)—**ददते। अददत। ददताम्। ददेत।** ह्राद अव्यक्ते शब्दे—**ह्रादते। अह्रादत। ह्रादताम्। ह्रादेत।** इसका प्रयोग बिजली का कड़कना अर्थ में देखा जाता है—**ह्रादते ह्रादिनी,** बिजली कड़क रही है। **दुन्दुभि-ह्रादः। धनुर्ह्रादः।** ऐसा प्रयोग भी होता है। यहाँ गर्जना अर्थ है। ह्लादी सुख चे (शब्द करना, प्रसन्न होना)—**ह्लादते। अह्लादत। ह्लादताम्। ह्लादेत।** इसका प्र-पूर्वक अथवा आङ्पूर्वक प्रयोग देखा जाता है—**प्रह्लादते। आह्लादते। प्रह्लादः,** हिरण्यकशिपु का विष्णु-भक्त पुत्र। ह्लादी ईदित् है। क्ष्मायी विधूनने (हिलाना), ईदित्—क्ष्मायते। **चक्ष्माये च मही** (भट्टि १४।२१), भूकम्प हुआ। **अक्ष्मायत मही** (भट्टि १७।७३), पृथिवी काँपी। दोनों स्थलों में भट्टि क्ष्माय् को अकर्मक मान रहा है। आश्चर्य है 'विधूनन' का हिलना अर्थ कैसे लिया। **वायुर्विधूनयति चम्पकपुष्परेणून्**—यहाँ कविरहस्य में स्पष्टतया स्वार्थ ण्यन्त 'विधूनि' का सकर्मक रूप में प्रयोग है। स्फायी ओप्यायी वृद्धौ (समृद्ध होना, बढ़ना, मोटा होना)—**स्फायते। प्यायते।** ये दोनों ईदित् हैं। प्याय् ओदित् भी है जिसका फल निष्ठा-नत्व है—**पीन। प्रप्यान। पीवर। पीवन्** में भी यही धातु है। स्फाय् का प्रयोग प्रायः **स्फीत, स्फाति** आदि कृदन्त रूपों में पाया जाता है।

घट चेष्टायाम् (चेष्टा करना, यत्न करना) आ०

	लट्			लङ्	
१ घटते	घटेते	घटन्ते	अघटत	अघटेताम्	अघटन्त
२ घटसे	घटेथे	घटध्वे	अघटथाः	अघटेथाम्	अघटध्वम्
३ घटे	घटावहे	घटामहे	अघटे	अघटावहि	अघटामहि

	लोट्			विधिलिङ्	
१ घटताम्	घटेताम्	घटन्ताम्	घटेत	घटेयाताम्	घटेरन्
२ घटस्व	घटेथाम्	घटध्वम्	घटेथाः	घटेयाथाम्	घटेध्वम्
३ घटै	घटावहै	घटामहै	घटेय	घटेवहि	घटेमहि

यह धातु अकर्मक है। इसका साहित्य में प्रचुर प्रयोग है। सूत्रकार कर्मणि घटोऽठच् (५।२।३५) सूत्र में इसका मुख्य अर्थ में प्रयोग करते हैं। **कर्मणि घटते चेष्टत इति कर्मठः कर्मशूरः। दयितां त्रातुमलं घटस्व** (भट्टि० १०।४०)। चेष्टार्थ में अर्वाचीन कवियों की कृतियों में ही प्रयोग पाए जाते हैं। ण्यन्त घट् का चेष्टा करवाना, प्रेरणा करना अर्थ में रुचिर प्रयोग मिलता है—**स्नेहौघो घटयति मां तथापि वक्तुम्** (भट्टि० १०।७४)। सिद्ध होना, बनना, संगत होना—इन अर्थों में प्रचुर प्रयोग है—**प्राणैस्तपोभिरथवाऽभिमतं मदीयैः कृत्यं घटेत सुहृदो यदि तत्कृतं स्यात्** (मालती १।६)। **प्रसीदेति ब्रूयामिदमसति कोपे न घटते** (रत्नावली २।१६), यदि कोप के न होने पर भी, प्रसन्न हूजिये ऐसा कहूँ तो यह युक्त नहीं। संगत, युक्त होना अर्थ में घट् का सम्पूर्वक प्रयोग नहीं होता, कारण कि संघटते का 'अर्थ मिलता है', 'इकट्ठा होता है' ऐसा होता है।

घट् की तरह यती प्रयत्ने (यत्न करना) ईदित्, कत्थ श्लाघायाम् (अपने को सराहना, डींग मारना), कक लौल्ये (चञ्चल होना), चक तृप्तौ प्रतीघाते च (तृप्त होना, टकराना), ष्वष्क गतौ (जाना), पर्द कुत्सिते शब्दे (गुदा का शब्द करना), वर्च दीप्तौ (चमकना), षच सेचने च (सींचना, सेवन करना), षोपदेश, शच व्यक्तायां वाचि (बोलना), कच बन्धने (बाँधना), घट्ट चलने (क्षुभित होना), गल्भ धार्ष्ट्ये (धृष्ट होना), पण व्यवहारे स्तुतौ च (व्यापार करना, जुए में लगाना, स्तुति करना), भाम क्रोधे (क्रुद्ध होना), दय दानगति-रक्षण-हिंसाऽऽदानेषु (देना, जाना, रक्षा करना, मारना, लेना), रय गतौ (जाना), शल चलन-संवरणयोः (चलना, ढाँपना), वल वल्ल संवरणे संचलने च (ढाँपना, संक्रमण करना), मल मल्ल धारणे (धारण करना), भल भल्ल परिभाषण-हिंसा-दानेषु (कहना, मारना, देना), कल शब्द-संख्यानयोः (शब्द करना, गिनना), दक्ष वृद्धौ शीघ्रार्थे च (बढ़ना, चुस्ती से प्रवृत्त होना), भाष व्यक्तायां वाचि (बोलना), भ्यस भये (डरना), गर्ह गल्ह कुत्सायाम् (धिक्कारना, निन्दा करना), ञित्वरा(त्वर्)संभ्रमे(जल्दी करना, जल्दी चलना), व्यथ भयसंचलनयोः (डरना, हिलना, विचलित होना, डिगना), प्रथ प्रख्याने (प्रसिद्ध होना), म्रद मर्दने (मसलना), कृप कृपायां गतौ (कृपा करना, जाना), षह मर्षणे(सहना, षोपदेश),स्रंसु ध्वंसु भ्रंसु अवस्रंसने(गिरना),तीनों उदित्। ध्वंसु गतौ च (जाना अर्थ भी है)। भ्रशु गतौ ऐसा भी क्वाचित्क पाठ है। स्रम्भु विश्वासे (विश्वास करना), उदित्। श्रम्भु प्रमादे (कार्य में प्रमत्त होना,

ध्यान न देना), अञ्चु गतौ याचने (जाना, माँगना), ग्रसु ग्लसु अदने (खाना), दोनों उदित्—इन आत्मने० धातुओं के रूप जानें ।

कत्थ् का प्रयोग प्रायः वि उपसर्ग के बिना नहीं होता । कहीं-कहीं केवल कत्थ् का प्रयोग भी मिलता है—**इक्ष्वाकूणां विशेषेण बाहुवीर्यं न कत्थनम्** (भा० ३।६६।४८) । **गर्जितेन वृथा किं ते कत्थितेन च** (भा० १।५६६५) । **कक्** का प्रयोग काक (कौआ) में स्पष्ट है । ककत इति काकः (ण प्रत्यय) । **षच्** (सच्) का सेवन अर्थ में वेद में प्रयोग है—**यं पूरवो वृत्रहणं सचन्ते** (ऋ० १।५९।६) । शच् का प्रयोग शची (=वाणी, शक्ति, इन्द्राणी) में लक्षित होता है । कच् का कच (बाल, केश) में तथा विकच (=खिला हुआ) में स्पष्ट है । कच्यते बध्यत इति कचः । पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण (३।३।११८) से घ प्रत्यय । विकच में 'वि' विपर्यय अर्थ में है । गल्भ् का प्रायः 'प्र' के बिना प्रयोग नहीं होता । शक्त, समर्थ होना इस गौणार्थ में इस का प्रचुर प्रयोग है—**न मौक्तिकच्छिद्रकरी शलाका प्रगल्भते कर्मणि टङ्किकायाः**(विक्रमाङ्क० १।१६), मोती को बींधने वाली सिलाई टङ्क (पत्थर फाड़ने का शस्त्र) के कर्म में समर्थ नहीं है । भाम् का प्रयोग भामिनी(=चण्डी) शब्द में स्पष्ट है । दय् के रक्षण अर्थ से दया अर्थ उपलक्षित होता है यद्यपि यह साक्षात् नहीं पढ़ा । हिंसा अर्थ में इसका प्रयोग वेद में मिलता है—**अग्निर्वृत्राणि दयते पुरूणि**(ऋ० १०।८०।२)। देने अर्थ में **सर्पिषो दयते**, घी देता है, यह (२।३।५२) सूत्र पर वृत्तिस्थ उदाहरण है । **दुर्वर्तुर्भीमो दयते वनानि** (ऋ० ६।६।५) । यहाँ **दयते=दहति=हिनस्ति=विनाशयति** । 'दया करना' अर्थ में भी प्रयोग मिलता है—**एको देवत्रा दयसे हि मर्तान्** (ऋ० ७।२३।५), देवताओं में तू एक मर्त्यों पर दया करता है । रक्षा अर्थ में **नवेन पूर्वं दयमानाः स्याम** (मै० सं० ४।१३।८) । **त्वां मृत्युर्दयताम्** (अथर्व० ८।१।५) । देने अर्थ में भी प्रयोग है—**य एक इद् विदयते वसु** (ऋ० १।८४।७) । जो अकेला धन देता है । आदान अर्थ में भी—**महो धनानि दयमान ओजसा** (ऋ० १।१३०।१७) । **एको अजुर्यो दयते वसूनि** (ऋ० ६।३०।१) ।

यत् प्रायः अकर्मक है, पर रामायण में इस का सकर्मकतया प्रयोग भी मिलता है—**राक्षसा दुष्टभावा हि यतन्ते विक्रियां वने** (३।४६।५६) । **यतस्वान्यतमं रणम्**(३।३५।६०) । यहाँ **विक्रियां यतन्ते**=विक्रियामुद्दिश्य यतन्ते । **रणं यतस्व**=रणमुद्दिश्य यतस्व ।

रय् का अर्थ बहना है, गतिसामान्य नहीं । पर इसका तिङन्तरूप

में प्रयोग दुर्लभ है। **रयः**=**वेगः**। नदीप्रवाहः। **जम्बूकुञ्जप्रतिहतरयं तोयमादाय गच्छेः** (मेघ० २०)। वल् का संचरण अर्थ में प्रयोग मिलता है संवरण अर्थ में नहीं—**अन्योन्यं शरवृष्टिरेव वलते** (म० वी० च० ६।४१)। **प्रणयिनं परिरब्धुमथाङ्गना ववलिरे वलिरेचितमध्यमाः** (शिशु० ३।३८)। वल्ल् का प्रयोग वल्ली (बेल) में दीखता है। **वल्लते संचरतीति वल्ली**। मल् का प्रयोग 'माला' शब्द में दीखता है, तिङन्त रूप में कहीं नहीं—**मल्यते धार्यत इति माला**। कल् का साहित्य में नानार्थों में प्रयोग मिलता है, पर ण्यन्त का, अथवा चुरादि ण्यन्त का। **कलिवली कामधेनू** ऐसा वैयाकरणों का कहना है। शब्द अर्थ में '**कल**' (=अस्फुट मधुर ध्वनि) शब्द में यह धातु दीख रही है। **कलकल** शोर को कहते हैं। दक्ष् का दिए गए दोनों अर्थों में लोक में तिङन्त प्रयोग दुर्लभ है। वेद में **सुशंसो यश्च दक्षते** (ऋ० ७।१६।६) में सोत्साह प्रवृत्ति अर्थ में प्रयोग है। निरुक्तकार दक्ष् का बढ़ाना, समृद्ध करना अर्थ मानता है—**दक्षिणा दक्षतेः समर्धयतिकर्मणः** (१ ७।१)। उत्साह अर्थ भी—**दक्षिणो हस्तो दक्षतेरुत्साहकर्मणः** (१।७।१)। लोक में दक्ष चुस्त, शीघ्रकारी अर्थ में प्रचुरतया प्रयुक्त हुआ है। **भ्यस्** का प्रयोग वेद में देखा जाता है—**यस्य शुष्माद्रोदसी अभ्यसेताम्** (ऋ० २।१२।१), जिसके बल से पृथिवी और द्युलोक डरते हैं। व्यथ् भय अर्थ में प्रसिद्ध है। व्यथते=बिभेति =त्रस्यति। विचलन (मानसिक अस्थिरता) अर्थ में भी लोक में इसका प्रचुर प्रयोग है। पर 'बाह्य स्थूल पदार्थों का हिलना' अर्थ में वेद में ही प्रयोग मिलता है—**यः पृथिवीं व्यथमानामदृंहत्** (ऋ० २।१२।२), जिसने हिलती हुई पृथिवी को स्थिर किया। षह षोपदेश है। परि, नि, वि—पूर्वक इसके आदेश-रूप 'स्' को ष् होता है—**परिषहते। निषहते। विषहते**। अट् आगम का व्यवधान होने पर भी विकल्प से षत्व होगा—**पर्यषहत। पर्यसहत। व्यषहत। व्यसहत**। प्रपूर्वक सह् का अभिभव अर्थ है। यह अधेः प्रसहने (१।३।३३) सूत्र से स्पष्ट है। पर 'प्र' के बिना भी इस अर्थ में प्रयोग होता है—**अहस्तासो हस्तवन्तं सहन्ते** (ऋ० १०।३४।९)। ध्वंस् का जो गति अर्थ कहा है वह प्रायः अप-पूर्वक होने पर देखा जाता है और वह भी लोट् म० पु० एक० में—**अपध्वंस रे जाल्म**, रे असमीक्ष्यकारिन् (=दुष्ट) दूर हो। यहाँ अनुदात्तेत्व-लक्षण आत्मनेपद के अनित्य होने से आत्मनेपद नहीं हुआ। **तत्र स्थितं माम्। दूतो देवानामब्रवीदुग्ररूपो ध्वंसेत्युच्चैः** (भा० आदि०)। यहाँ केवल ध्वंस् का भी गति अर्थ है। **ध्वंस पाप परिभ्रष्टः क्षीणपुण्यो महीतले** (भा०

उ० १८।१६)—यहाँ भी। स्रम्भ् का विपूर्वक ही प्रयोग होता है, केवल का नहीं। तिङन्त प्रयोग दुर्लभ है। **विस्रम्भः। विस्रब्धः**=विश्वस्तः=निःशङ्कः।

३४—गुपू (गुप्), धूप्, विच्छ्, पण्, पन्—इनसे 'आय' प्रत्यय स्वार्थ में होता है।[1] आय-प्रत्ययान्त की धातु-संज्ञा है। पण्, पन् (स्तुत्यर्थक) से आय-प्रत्ययान्त होने पर आत्मनेपद नहीं होता, केवल से होता है। केवल का प्रयोग आर्धधातुक में ही मिलेगा। आय-प्रत्ययान्त की भी धातु संज्ञा है।

पण स्तुतौ (स्तुति करना) प०। **पन् स्तुतौ** (स्तुति करना) प०

	लट्			लट्	
१ **पणायति**	पणायतः	पणायन्ति	पनायति	पनायतः	पनायन्ति
२ **पणायसि**	पणायथः	पणायथ	पनायसि	पनायथः	पनायथ
३ **पणायामि**	पणायावः	पणायामः	पनायामि	पनायावः	पनायामः

धूप् के रूप दीर्घोपध धातुओं में दिए जा चुके हैं।

३५—कमु कान्तौ (कम् चाहना) से स्वार्थ में णिङ् (=इ) प्रत्यय होता है सार्वधातुक परे होने पर।[2] ण् वृद्धि के लिए है। ङ् आत्मनेपद केलिए है।

कमु कान्तौ (चाहना) आ० उदित्।

	लट्			विधिलिङ्	
१ **कामयते**	कामयेते	कामयन्ते	कामयेत	कामयेयाताम्	कामयेरन्
२ **कामयसे**	कामयेथे	कामयध्वे	कामयेथाः	कामयेयाथाम्	कामयेध्वम्
३ **कामये**	कामयावहे	कामयामहे	कामयेय	कामयेवहि	कामयेमहि

कम् णिङ्। कम् इ। कामि। यह एक नई धातु बन गई। णिङ् प्रत्ययान्त की भी धातु संज्ञा है। 'कामि' के धातु होने से 'त' प्रत्यय और शप् आकर गुण(ए)तथा अय् आदेश होकर 'कामयते' रूप निष्पन्न होता है।

३६—उपसर्गस्थ रेफ (र्) को 'ल्' हो जाता है जब आगे अय् धातु हो।[3]

अय गतौ (जाना) आ०।

	लट्			लङ्	
१. **अयते**	अयेते	अयन्ते	आयत	आयेताम्	आयन्त
२ **अयसे**	अयेथे	अयध्वे	आयथाः	आयेथाम्	आयध्वम्
३ **अये**	अयावहे	अयामहे	आये	आयावहि	आयामहि

---

१. गुपू-धूप-विच्छि-पणि-पनिभ्य आयः (३।१।२८)।

२. कमेर्णिङ् (३।१।३०)।

३. उपसर्गस्यायतौ (८।२।१६)।

त्वदभिसरणरभसेन वलन्ती पतति पदानि कियन्ति चलन्ती (गीतगो० ६), तुम्हें मिलने की उत्सुकता से शीघ्र चलती हुई कुछ पैर ही चलती है कि गिर जाती है। **दृष्टिरन्यतो न वलति** (कादम्बरी), दृष्टि दूसरी ओर नहीं मुड़ती। **अमन्दं कन्दर्पं ज्वरजनितचिन्ताकुलतया वलद्बाधां राधां सरसमिदमूचे सहचरी** (गीतगो० १)॥ यहाँ वल् का अर्थ बढ़ना है।

परा अय् (भाग जाना) आ०

	लट्			लङ्	
१ पलायते	पलायेते	पलायन्ते	पलायत	पलायेताम्	पलायन्त
२ पलायसे	पलायेथे	पलायध्वे	पलायथाः	पलायेथाम्	पलायध्वम्
३ पलाये	पलायावहे	पलायामहे	पलाये	पलायावहि	पलायामहि

लङ—परा आट् अय् अ त—**पलायत**। प्र उपसर्ग होने पर **प्लायते**। **प्लायेते**। **प्लायन्ते**। लङ्—**प्लायत**। निर् अय्—**निलयते** (निकलता है)। निस् के स्–स्थानापन्न र के असिद्ध होने से लत्व नहीं होगा—निरयते। अय के साथ वय पय भी गत्यर्थक पढ़ी हैं। पय् का प्रयोग वेद में मिलता है। **मिमाति मायुं पयते पयोभिः** (ऋ० १।१६४।२८)।

डुपचष् पाके (पच् पकाना) स्वरितेत् (उभयपदी)

	लट् परस्मै०			लट् आत्मने०	
१ पचति	पचतः	पचन्ति	पचते	पचेते	पचन्ते
२ पचसि	पचथः	पचथ	पचसे	पचेथे	पचध्वे
३ पचामि	पचावः	पचामः	पचे	पचावहे	पचामहे

डुपचष् में (२५) से डु की इत्संज्ञा है। ष् अन्त्य हल् होने से इत्संज्ञक है। षित् धातुओं से कृत् प्रत्यय अङ् विधान किया है—**पचा** (पच्-अङ्-टाप्)=**पाकः**।

इसी प्रकार खनु अवदारणे (खोदना) उदित्, भज सेवायाम् (सेवन करना), षच् समवाये (समवेत=युक्त होना) षोपदेश, शप आक्रोशे (शाप-देना), यज देवपूजा-संगतिकरण-दानेषु (देव पूजन=देवतोद्देश से हवि देना, संगति करना, देना), वह प्रापणे (ले जाना, ढोना, खींचना), डुवप बीज-सन्ताने (बोना, गर्भाधान करना)। वप् का अर्थ काटना, मूंडना भी है। धावु गति-शुद्ध्योः (दौड़ना, धोना, और रञ्ज रागे (रंगना) के रूप जानो।

रञ्ज् के अनुनासिक का (३२) से लोप हो जाता है—

रजति । रजतः । रजन्ति । इत्यादि ।

णिच् परे होने पर अनुनासिक-लोप नहीं होगा—**रञ्जयति**, रंगता है, प्रसन्न करता है । षच् (सच्) सकर्मक भी है और अकर्मक भी, दोनों तरह के प्रयोग मिलते हैं—**सचस्वा नः स्वस्तये** (ऋ० १।१।९), हमारे कल्याण के लिये हमारे साथ संगत हो । **ऋदूदरेण सख्या सचेय** (ऋ०८।४८।१०), मैं मृदु-उदर(=सोम)रूपी सखा से संयुक्त होऊँ । बुविशासिगुणेन च यत् सचते—इस भाष्यस्थ कारिका में भी सच् अकर्मक है । **सचते** = सम्बध्यते । **हर्विभिरेके स्वरितः सचन्ते** (ऋक्० खिल)—यहाँ सकर्मक है । यज् का मुख्यार्थ देवतोद्देश से यज्ञ में हवि देना है । **देवान्यजते**=देवानुद्दिश्य यागे हविर्ददाति । **यजाम देवान् यदि शक्नवाम**(ऋ० १।२७।१३) । देने अर्थ में भी इसका वेद में प्रयोग है—**प्रजावदस्मे द्रविणा यजस्व** (वा० सं० १४।४), इसे सन्तान-युक्त धन दो । धाव् के दोनों अर्थ प्रसिद्ध हैं—**समेन धावति । विषमेण धावति ।** समतल भूमि पर दौड़ता है । ऊबड़ खाबड़ भूमि पर दौड़ता है । **शिशुकस्य पोत्राणि धावत्यम्बा**, मां नन्हें बच्चे के वस्त्रों को धोती है । **धावक**=धोबी ।

अकारवान् लान्त धातुएँ

फल निष्पत्तौ (फल् सिद्ध होना, सफल होना) प०

	लट्			विधिलिङ्	
१ **फलति**	**फलतः**	**फलन्ति**	**फलेत्**	**फलेताम्**	**फलेयुः**
२ **फलसि**	**फलथः**	**फलथ**	**फलेः**	**फलेतम्**	**फलेत**
३ **फलामि**	**फलावः**	**फलामः**	**फलेयम्**	**फलेव**	**फलेम**

ज्वर रोगे (ज्वर्—रुग्ण होना) प०

	लट्			लङ्	
१ **ज्वरति**	**ज्वरतः**	**ज्वरन्ति**	**अज्वरत्**	**अज्वरताम्**	**अज्वरन्**
२ **ज्वरसि**	**ज्वरथः**	**ज्वरथ**	**अज्वरः**	**अज्वरतम्**	**अज्वरत**
३ **ज्वरामि**	**ज्वरावः**	**ज्वरामः**	**अज्वरम्**	**अज्वराव**	**अज्वराम**

ज्वर् अकर्मक है । ज्वर आना, ज्वरित होना अर्थ है । **ज्वरति देवदत्तः । मन्ये शीतकोऽस्य ज्वरः ।**

अकारवान् लान्त धातुओं की तिङन्त रूप रचना में अन्य अकारवान् हलन्त धातुओं की रूपरचना से कुछ भी भेद नहीं । लुङ् में नित्य वृद्धि के लिये इन्हें यहाँ पृथक् पढ़ा है ।

अन्य परस्मैपदी लृान्त धातुएँ—ञिफला विशरणे (फटना, झड़ना), गल अदने (खाना), खल संचये (इकट्ठा करना), दल विशरणे[1] (विशीर्ण होना, टूटना, फूटना), श्वल श्वल्ल आशुगमने (शीघ्र चलना), अल भूषणपर्याप्ति-वारणेषु (अलंकृत करना, पर्याप्त होना, निषेध करना), ज्वल दीप्तौ (जलना, चमकना), ह्वल ह्मल चलने (चलना), शल गतौ (जाना), हल विलेखने (कुरेदना, खोदना, हल चलाना), चल कम्पने (हिलना), अभ्र गतौ (जाना), त्सर छद्मगतौ (छिप कर जाना)।

फल् प्रायः अकर्मक है—**परोपकाराय द्रुमाः फलन्ति** (=फलवन्तो भवन्ति)। **विधातु र्व्यापारः फलतु च मनोज्ञश्च भवतु** (मालती० १।१६)। **मार्गारब्धाः सर्वयत्नाः फलन्ति** (प्र० यौ० १।१८)। 'उत्पन्न करना, साधना' अर्थ में सकर्मक है—**मौर्यस्यैव फलन्ति पश्य विविधश्रेयांसि मन्नीतयः** (मुद्रा० २।१६)। **सर्वफलप्रसवहेतुः शिवभक्तिरियं नो मनोरथदुर्लभानि फलति फलानि** (हर्ष० ३, पृ० १०२)। ञिफला में 'ञि' तथा 'आ' इत्-संज्ञक हैं। इसका कटने, टूटने, फटने अर्थ में प्रयोग प्रायः अकर्मकतया देखा जाता है—**मूर्धा ते विफलिष्यति** (=विपतिष्यति)। **तस्य मूर्धानमासाद्य पफालासिवरो हि सः** (भा०), वह उत्तम खड्ग उस के सिर के साथ टकरा कर टूट गया। खल् का प्रयोग खल (खलिहान) में स्पष्ट है। अर्थ की संगति भी है। दल् प्रायः अकर्मक है—**अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्** (उ० रा० च०)। अल् का तिङन्त रूप में प्रयोग नहीं मिलता। पर **अलकाश्चूर्णकुन्तलाः** (अमर) में **अलक** शब्द में तथा कुबेर की नगरी '**अलका**' नाम में यह धातु स्पष्ट है। 'कमल' शब्द में भी यह निःसन्देह विद्यमान है—**कं जलमलति भूषयतीति कमलम्**। त्सर् का आथर्वण श्रुति में प्रयोग है—**यस्त्वा स्वपन्तीं त्सरति** (८।६।८), जो तुझ सोती हुई के पास छिपकर (चोरी से) आता है। पञ्चविंश ब्राह्मण में भी प्रयोग है—**त्सरन्त इव सर्पन्ति मृगधर्मा वै यज्ञाः** (११।१।६।१२)।

अन्य हलन्त धातुएँ

बुक्क भषणे (बुक्क् भौंकना), प०

	लट्			लङ्	
१ **बुक्कति**	**बुक्कतः**	**बुक्कन्ति**	**अबुक्कत्**	**अबुक्कताम्**	**अबुक्कन्**

---

१. **दलन्ति दन्तवल्कानि यदा शर्करया सह** (सुश्रुत १।३०५।८)। शक्कर के साथ दन्तवेष्ट (मसूड़े) विशीर्ण हो जाते हैं।

२ बुक्कसि	बुक्कथः	बुक्कथ	अबुक्कः	अबुक्कतम्	अबुक्कत
३ बुक्कामि	बुक्कावः	बुक्कामः	अबुक्कम्	अबुक्काव	अबुक्काम

लोट्			विधिलिङ्		
१ बुक्कतु	बुक्कताम्	बुक्कन्तु	बुक्केत्	बुक्केताम्	बुक्केयुः
२ बुक्क	बुक्कतम्	बुक्कत	बुक्केः	बुक्केतम्	बुक्केत
३ बुक्कानि	बुक्काव	बुक्काम	बुक्केयम्	बुक्केव	बुक्केम

बुक्क् की उपधा 'क्' है। अतः शप् परे रहते गुण का प्रसङ्ग ही नहीं। ऐसे ही कुञ्च क्रुञ्च कौटिल्याल्पीभावयोः (टेढ़ा होना, सिकुड़ना), लुञ्च अपनयने (दूर करना, केश आदि का काटना), युच्छ प्रमादे (प्रमाद करना), ह्रीच्छ लज्जायाम् (लज्जा करना), (शुभ) शुम्भ[1] भाषणे। भासन इत्येके। हिंसायामित्यन्ये (बोलना, चमकना, मारना), सूर्क्ष्य ईर्क्ष्य ईर्ष्य ईर्ष्यार्थाः (ईर्ष्या=डाह करना), शुच्य अभिषवे (ढीला करना, सुरा निकालना, स्नान करना), उक्ष सेचने (सेचन करना), उच्छी विवासे (चमकना, अन्धेरे को दूर करना) के रूप जानें। प्र-पूर्वक युच्छ् का ऋग्वेद में प्रयोग है। शुम्भ् का भाषण अर्थ अत्यन्त अप्रसिद्ध है। हिंसार्थ **शुम्भ, निशुम्भ** (दैत्य-नाम) में तो स्पष्ट दीखता है। उक्ष् का प्रयोग प्रायः प्र-अभि-पूर्वक होता है—**प्रोक्षति**। अभ्युक्षति। उक्ष् सकर्मक है। **उक्षन्त्यस्मै मरुतो हिता इव पुरू रजांसि पयसा मयोभुवः** (ऋ० १।१६६।३)। उच्छी—यह ईदित् है। उच्छ् का अर्थ चमकना, अन्धेरे को दूर करना है। विवासः परिसमाप्तिः, यह जो दीक्षित का कथन है वह ठीक नहीं। वि-पूर्वक उच्छ् का वेद में उषस् के विषय में प्रयोग मिलता है। चमकना ही सर्वत्र अर्थ है। **इयमेव सा या प्रथमा व्यौच्छत्** (तै० सं० ४।३।११।१)। विपूर्वक वस् का भी इसी अर्थ में प्रयोग है—**प्रथमा ह व्युवास** (अथर्व० ३।१०।१)। व्युष्टा रजनी का 'रात समाप्त हो गई'—यह अर्थ नहीं, किन्तु रात चमक गई (रात्रिः प्रभाता) ऐसा है।

---

१. शुम्भ् भासन अर्थ में वेद में सकर्मकतया प्रयुक्त हुई है—**अग्नि शुम्भामि मन्मभिः** (ऋ० ८।४४।२६)। मैं अग्नि को स्तोत्रों से चमकाता हूँ। **शुम्भन्तो जेन्यं यथा वाजेषु विप्रा वाजिनम्** (ऋ० १।१३०।६)।

३७—हलन्त धातुओं के उपधा-भूत रेफ, वकार से पूर्ववर्ती इक् को दीर्घ हो जाता है।[1]

मुर्छा मोहसमुच्छ्राययोः (मूर्छित होना, बढ़ना) प०

	लट्			लङ्	
१ मूर्छति (३७)	मूर्छतः	मूर्छन्ति	अमूर्छत्	अमूर्छताम्	अमूर्छन्
२ मूर्छसि	मूर्छथः	मूर्छथ	अमूर्छः	अमूर्छतम्	अमूर्छत
३ मूर्छामि	मूर्छावः	मूर्छामः	अमूर्छम्	अमूर्छाव	अमूर्छाम
	लोट्			विधिलिङ्	
१ मूर्छतु-मूर्छतात्	मूर्छताम्	मूर्छन्तु	मूर्छेत्	मूर्छेताम्	मूर्छेयुः
२ मूर्छ-मूर्छतात्	मूर्छतम्	मूर्छत	मूर्छेः	मूर्छेतम्	मूर्छेत
३ मूर्छानि	मूर्छाव	मूर्छाम	मूर्छेयम्	मूर्छेव	मूर्छेम

मुर्छा आदित् है। अनुबन्ध-रहित धातु मुर्छ् है। मूर्छित होना अर्थ प्रसिद्ध है। समुच्छ्राय (वृद्धि) अर्थ में ये उदाहरण हैं—**तमसां निशि मूर्छतां निहन्त्रे** (विक्रमो० ३।७)। **मूर्छन्त्यमी विकाराः प्रायेणैश्वर्यमत्तेषु** (शाकुन्तल ५।१८)। **मुमूर्छ सख्यं रामस्य** (रघु० १२।५७)। **मुमूर्छ सहजं तेजो हविषेव हविर्भुजः** (रघु० १०।७९)। मुर्छ् व्याप्ति अर्थ में सकर्मक भी है—**दिगन्तांस्तूर्यस्वने मूर्छति मङ्गलार्थे** (रघु० ६।९)।

इसी प्रकार हुर्छा कौटिल्ये (टेढ़ा होना), टुओ स्फूर्जा वज्रनिर्घोषे (बिजली का कड़कना) इन आदित् धातुओं के, तथा गुर्वी उद्यमने (उठाना), धुर्वी हिंसायाम्[2] (हिंसा करना), मुर्वी बन्धने (बाँधना) इन ईदित् धातुओं के रूप

---

१. उपधायां च (८।२।७८)।

२. धुर्वी (धुर्व्) हिंसायाम् का लोक में प्रयोग दुर्लभ है। वेद में मिलता है—**यो नः स्वो अरणो यश्च निष्ट्यो जिघांसति। देवास्तं सर्वे धूर्वन्तु ब्रह्म वर्म ममान्तरम्** (ऋ० ६।७५।१९)॥ जो अपना अथवा पराया और जो कोई वर्णाश्रम बहिर्भूत चण्डालादि हमें मारना चाहता है, सभी देवता उसे नष्ट कर दें। ब्रह्म (=वेद) मेरा भीतरी कवच है। धुर्व् का क्तान्त रूप 'धूर्त्त' है जो लोक में प्रसिद्ध है।

जानें। टु ओ स्फूर्जा में टु, ओ और आ इत हैं। दीर्घ ऊकार पढ़ने का प्रयोजन चिन्त्य है। प्रक्रियोपयोगी धातु स्फूर्ज् है।

एध वृद्धौ (बढ़ना) आ०

	लट्			लङ्		
१	**एधते**	**एधेते**	**एधन्ते**	ऐधत(१०,११)	**ऐधेताम्**	**ऐधन्त**
२	**एधसे**	**एधेथे**	**एधध्वे**	ऐधथाः	**ऐधेथाम्**	**ऐधध्वम्**
३	**एधे**	एधावहे	एधामहे	ऐधे	ऐधावहि	**ऐधामहि**

	लोट्			विधिलिङ्		
१	**एधताम्**	**एधेताम्**	**एधन्ताम्**	**एधेत**	**एधेयाताम्**	**एधेरन्**
२	**एधस्व**	**एधेथाम्**	**एधध्वम्**	**एधेथाः**	**एधेयाथाम्**	**एधेध्वम्**
३	**एधै**	एधावहै	एधामहै	एधेय	एधेवहि	एधेमहि

यहाँ कुछ भी विशेष कार्य नहीं हुआ है। केवल धातु के अजादि होने से लङ् में आट् आगम होकर वृद्धि एकादेश हुआ है। एध् का प्रायः केवल का तथा प्र-पूर्वक व सम्पूर्वक का प्रयोग होता है—**एधन्तां ज्ञातयो मम** (साम मन्त्र ब्रा० १।२।२)। **अधर्मेणैधते तावत्ततो भद्राणि पश्यति** (मनु० ४।१७४)। **यश्च मूढतमो लोके यश्च बुद्धेः परं गतः। तावुभौ सुखमेधेते क्लिश्यत्यन्तरितो जनः** (भा०)॥

इसी प्रकार म्लेच्छ अव्यक्ते शब्दे (अस्फुट उच्चारण करना, अशुद्ध बोलना), चेष्ट चेष्टायाम् (चेष्टा करना, हिलना जुलना), वेष्ट वेष्टने[1] (लिपटना) इन आत्मने० धातुओं के रूप जानें।

ईक्ष दर्शने (देखना), भिक्ष भिक्षायामलाभे लाभे च (माँगना, न प्राप्त करना, प्राप्त करना), दीक्ष मौण्ड्येज्योपनयननियमव्रतादेशेषु (मुण्डन करना, यज्ञ करना, उपनयन करना, यज्ञाद्युद्देश से नियमों का सेवन करना, व्रत-

१. वेष्ट् अकर्मक है, (अतः सकर्मकत्व लाने के लिए इसका णिच्-सहित प्रयोग उपपन्न होता है)—**मयि ते वेष्टतां मनः** (अथर्व० ६।१०२।२)। **यस्य मन्दाकिनी चिरमवेष्टत पादमूले** (साहित्य०), यहाँ दोनों स्थलों में वेष्ट् का अर्थ लिपटना है। **वेष्टमान इवोरगः** (रा० ७।८६।३), उस साँप की तरह जो अपने ऊपर नई त्वचा (केंचुली) लपेट रहा है। यहाँ कर्म के धात्वर्थ में उपसंगृहीत होने ले धातु अकर्मक है।

धारण करना), ईष गतिहिंसा-दर्शनेषु (जाना, मारना, देखना)—यहाँ भी उपधा लघु नहीं है, ईक्ष् आदि में क् और ईष् में दीर्घ ई, अतः गुण का प्रसङ्ग ही नहीं। **ईक्षते**। **ऐक्षत** (लङ् आट्, वृद्धि)। **ईषते**। **ऐषत** (लङ्)। ईक्ष् से युक्त 'अव' उपसर्ग के 'अ' का लोप भी देखा जाता है—**शौचे धर्मेऽन्तपक्त्यां च पारिणाह्यस्य** (=गृहोपकरणस्य) **वेक्षणे** (मनु० ९।११)। ऐसा भागुरि के मत से होता है। शिक्ष विद्योपादाने (सीखना) — **शिक्षते**। **अशिक्षत**। **शिक्षताम्**। **शिक्षेत**। धुक्ष धिक्ष सन्दीपन-क्लेशन-जीवनेषु (जलना, पीड़ित होना,जीना)—**धुक्षते**। **धिक्षते**। **अधुक्षत**। **अधिक्षत**। **धुक्षताम्**। **धिक्षताम्**। **धुक्षेत**। **धिक्षेत**। **सन्दुधुक्षे तयोः कोपः** (भट्टि १४।१०९), उन दो का क्रोध भड़क उठा।

घूर्ण भ्रमणे (घूमना)—**घूर्णते**। **अघूर्णत**। **घूर्णताम्**। **घूर्णेत**। इसके साथ ही 'घुण्' पढ़ी है उसे तो शप् परे रहते गुण होकर **घोणते**। **अघोणत**। **घोणताम्**। **घोणेत**। आदि रूप होंगे। उर्द माने क्रीडायां च (मापना, खेलना)—**ऊर्दते** इत्यादि। कुर्द खुर्द गुर्द क्रीडायामेव (खेलना अर्थ में ही)—**कूर्दते**। **खूर्दते**। **गूर्दते**। यहाँ (३७) से दीर्घ होता है।

हिक्क (स्वरितेत्) अव्यक्ते शब्दे (हिचकी लगना)—**हिक्कति**—**हिक्कते**।

३८—प्र उपसर्ग से परे तुम्प हिंसायाम् प० को सुट् (स्) आगम होता है जब इस का कर्ता गो (बैल) हो।[1] इस अर्थ का गणसूत्र पारस्करादिगण में पढ़ा है।

प्र-तुम्प हिंसायाम् (मारना, आघात करना) प०

	लट्			लङ्		
१	**प्रस्तुम्पति**	**प्रस्तुम्पतः**	**प्रस्तुम्पन्ति**	**प्रास्तुम्पत्**	**प्रास्तुम्पताम्**	**प्रास्तुम्पन्**
२	**प्रस्तुम्पसि**	**प्रस्तुम्पथः**	**प्रस्तुम्पथ**	**प्रास्तुम्पः**	**प्रास्तुम्पतम्**	**प्रास्तुम्पत**
३	**प्रस्तुम्पामि**	**प्रस्तुम्पावः**	**प्रस्तुम्पामः**	**प्रास्तुम्पम्**	**प्रास्तुम्पाव**	**प्रास्तुम्पाम**

गौः प्रस्तुम्पति ऐसा प्रयोग होगा। 'प्र' के अभाव में **तुम्पति सूकरः**। **तुम्पति खड्गी**, गेंडा मारता है।

३९—इदित् धातुमात्र को अन्त्य अच् से परे नुम् (न्)आगम होता है।[2]

---

१. प्रात्तुम्पतौ गवि कर्तरि (ग० सू०)।

२. इदितो नुम् धातोः (७।१।५८)।

यह आगम अनैमित्तिक है और सर्वत्र निर्बाध होता है। लोप का निमित्त होने पर इस नुम् का लोप नहीं होता, यही इस विधि का प्रयोजन है, अन्यथा आचार्य टुनदि आदि को टुनन्द ऐसा ही पढ़ देते।

इदित् धातुएँ (परस्मैपदी)

टुनदि समृद्धौ (बढ़ना, प्रसन्न होना) प०

	लट्			लङ्		
१	नन्दति	नन्दतः	नन्दन्ति	अनन्दत्	अनन्दताम्	अनन्दन्
२	नन्दसि	नन्दथः	नन्दथ	अनन्दः	अनन्दतम्	अनन्दत
३	नन्दामि	नन्दावः	नन्दामः	अनन्दम्	अनन्दाव	अनन्दाम

	लोट्			विधिलिङ्		
१	नन्दतु-नन्दतात्	नन्दताम्	नन्दन्तु	नन्देत्	नन्देताम्	नन्देयुः
२	नन्द-नन्दतात्	नन्दतम्	नन्दत	नन्देः	नन्देतम्	नन्देत
३	नन्दानि	नन्दाव	नन्दाम	नन्देयम्	नन्देव	नन्देम

नन्द् का प्रयोग केवल का तथा आङ्, प्रति अभिपूर्वक प्रचुरतया मिलता है। प्रायः प्रति-पूर्वक और अभिपूर्वक यह धातु सकर्मक हो जाती है—**तौ गुरुर्गुरुपत्नी च प्रीत्या प्रतिननन्दतुः** (रघु० १।५७)। प्रतिननन्दतुः=आशिषा वर्धयामासतुः। **दृष्ट्वा हृष्येत्प्रसीदेच्च प्रतिनन्देच्च सर्वशः** (मनु० २।५४)। **आत्मविडम्बनामभिनन्दन्ति** (कादम्बरी)। **अतस्ते वचो नाभिनन्दामि** (शाकुन्तल)। **तापसीभिरभिनन्द्यमाना शकुन्तला तिष्ठन्ति** (शाकुन्तल)।

इसी प्रकार चदि आह्लादे (प्रसन्न करना), इगि, रिगि, लिगि, इखि, रगि, लगि, गत्यर्थाः (जाना), तकि कृच्छ्रजीवने (तंग रहना), कुबि आच्छादने (ढांपना), लुबि तुबि अर्दने (पीड़ित करना), शिघि आघ्राणे (सूंघना), गुजि अव्यक्ते शब्दे (गूंजना, घूं-घूं करना), वाछि इच्छायाम् (चाहना), काक्षि इच्छायाम् (चाहना), माक्षि इच्छायाम् (चाहना), कदि, क्रदि, क्लदि आह्वाने रोदने च (बुलाना, रोना), अति अदि बन्धने (बाँधना), इदि परमैश्वर्ये (अति-समृद्ध होना), बिदि अवयवे (टुकड़े करना), गडि वदनैकदेशे (मुख के एकदेश का विकृत करना), णिदि कुत्सायाम् (निन्दा, गर्हा करना), रुटि लुटि स्तेये (चोरी करना, लूटना), चुबि गात्रसंयोगे (चूमना), अगि गतौ (जाना), मुडि खण्डने (फोड़ना),

दह दहि बृहि बृद्धौ (बढ़ना), रहि गतौ (जाना, चलना)[1]—इन परस्मैपदी धातुओं के रूप जानें। दह् इदित् नहीं—इसका दर्हति, अदर्हत् आदि रूप होंगे। बृहि का अर्थ हाथी का चिघाड़नाँ भी है। खजि गतिवैकल्ये (लंगड़ाना), पिवि मिवि णिवि सेचने (सींचना, जल बरसाना), हिवि, धिवि, जिवि प्रीणने (प्रसन्न करना, तृप्त करना) के रूप जानें।

इङ्ग् का अर्थ साधारण गति नहीं है। एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने में यह कभी प्रयुक्त नहीं होती। इसका अर्थ चेष्टा करना, हिलना-जुलना है—**यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते** (आत्म० आर्ष) **सोपमा स्मृता** (गीता)। **त्वया सृष्टमिदं विश्वं यच्चेङ्ग यच्च नेङ्गति** (भारत)। रिङ्ग् का अर्थ रेंगना है। लङ्ग् का अर्थ लंगड़ाकर चलना है। तङ्क् का केवल रूप में अथवा आङ् वा प्र-पूर्वक प्रयोग होता है और वह भी प्रायः कृदन्त के रूप में। **आतङ्को भयरोगयोः** (विश्व)। **निरातङ्का निरीतयः** (रघु०)। शिङ्घ् का प्रयोग **शिङ्घाणं नासिकामलः** (अमर) इस अमर वचन के शिङ्घाण शब्द में स्पष्ट दीखता है। अति आदि पाँच धातुएँ तिङन्त रूप में प्रयुक्त नहीं होतीं ऐसा काश्यप का मत है। पर यह ठीक नहीं। बिन्द् का प्रयोग तो हरिवंश में मिलता है—**जिह्वाग्रं चास्य बिन्दति** (३।१९।३६)। गण्ड् का प्रयोग भी भारत में आया है। इसका अर्थ कपोल का रोगवश 'विकृत करना' है। अङ्ग् का प्रयोग तिङन्त रूप में दुर्लभ है। 'अग्नि' शब्द की व्युत्पत्ति इसी धातु से की जाती है। बृंह्—यह हाथी के चिघाड़ने अर्थ में भी बृंहित, बृंहण इत्यादि कृदन्त रूपों में ही प्रयुक्त हुई है। ण्यन्त निपूर्वक बृह् का अर्थ नाश करना है—**प्रमापणं निबर्हणं निकारणं विशारणम्** (अमर)। पिवि (पिन्व्) का प्रयोग वेद में प्रचुरतया मिलता है—**येभ्यो माता मधुमत् पिन्वते पयः पीयूषम्** (ऋ० १०।५३।३)। **ऊर्जं च तत्र सुमतिं च पिन्वत** (अथर्व० ६।२२।२)। जिन्व् का प्रयोग भी वेद में दीखता है—**भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नयः** (ऋ० १।१६४।५१)।

४०—धिवि (धिन्व्) कृवि (कृण्व्) से शप् के विषय में 'उ' प्रत्यय होता है और इनके व् को 'अ' आदेश होता है।[2] 'उ' आर्धधातुक है।

---

१. रहि गतौ का प्रयोग ऋ० १०।१०२।७ में मिलता है—अरंहत पद्याभिः ककुद्मान्। यहाँ आत्मनेपद छान्दस है।

२. धिन्विकृण्व्योर च (३।१।८०)।

४१—आर्धधातुक प्रत्यय परे रहते अदन्त अङ्ग के 'अ' का लोप हो जाता है।[1]

४२—पर-निमित्तक अजादेश (अच् को आदेश) स्थानिवत् होता है जब अजादेश से पूर्व अवस्थित को कोई विधि (=कार्य) करनी हो।[2] स्थानिवद्भाव से स्थानी के कारण जो कार्य प्राप्त होता है वह होता है, आदेश के कारण जो प्राप्त होता है, वह नहीं।

धिवि प्रीणने (प्रसन्न करना) प०

	लट्			लङ्		
१	धिनोति	धिनुतः	धिन्वन्ति (यण्)	अधिनोत्	अधिनुताम्	अधिन्वन्
२	धिनोषि	धिनुथः	धिनुथ	अधिनोः	अधिनुतम्	अधिनुत
३	धिनोमि	धिनुवः / धिन्वः (१९)	धिनुमः / धिन्मः (१९)	अधिनवम्	अधिनुव / अधिन्व (१९)	अधिनुम / अधिन्म

	लोट्			विधिलिङ्		
१	धिनोतु-धिनुतात्	धिनुताम्	धिन्वन्तु	धिनुयात्	धिनुयाताम्	धिनुयुः
२	धिनु-धिनुतात्	धिनुतम्	धिनुत	धिनुयाः	धिनुयातम्	धिनुयात
३	धिनवानि	धिनवाव	धिनवाम	धिनुयाम्	धिनुयाव	धिनुयाम

धिवि=धिन्व्। धिन्व् ति=धिन उ ति=धिन् उ ति (४१)=धिनोति (गुण)। 'उ' को सार्वधातुक तिप् परे रहते (२) से गुण हुआ। उ(आर्धधातुक) परे रहते उपधा 'इ' को (३) से गुण प्राप्त होता है वह नकारोत्तरवर्ती 'अ' के (४२) से स्थानिवद्भाव होने से रुक जाता है। स्थानी 'अ' को मानकर उपधा '**न्**' होती है, 'इ' नहीं। कृवि (कृण्व्) हिंसा करना, करना के भी ठीक इसी प्रकार रूप होते हैं—**कृणोति**। **अकृणोत्**। **कृणोतु-कृणुतात्**। **कृणुयात्**। **आपः पीताः केवल्यो न धिन्वन्ति** (श० ब्रा० ३।६।१।७)। केवली (स्त्री०) वेद में ही है। लोक में टाप् होकर 'केवला' होगा। **देवस्त्वां सविता धिनोतु समरे गोत्रस्य यस्ते पिता** (उ० रा० च० ५।२८)। कृवि (कृण्व्) का प्रयोग वेद में ही मिलता है—**किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु** (ऋ० ३।५३।१४)।

---

१. अतो लोप आर्धधातुके (६।४।४८)।

२. अचः परस्मिन्पूर्वविधौ (१।२।५७)।

इदित धातुएँ (आत्मनेपदी)

शकि शङ्कायाम् (शङ्का करना)

लट्			लङ्		
१ शङ्कते	शङ्केते	शङ्कन्ते	अशङ्कत	अशङ्केताम्	अशङ्कन्त
२ शङ्कसे	शङ्केथे	शङ्कध्वे	अशङ्कथाः	अशङ्केथाम्	अशङ्कध्वम्
३ शङ्के	शङ्कावहे	शङ्कामहे	अशङ्के	अशङ्कावहि	अशङ्कामहि

लोट्			विधिलिङ्		
१ शङ्कताम्	शङ्केताम्	शङ्कन्ताम्	शङ्केत	शङ्केयाताम्	शङ्केरन्
२ शङ्कस्व	शङ्केथाम्	शङ्कध्वम्	शङ्केथाः	शङ्केयाथाम्	शङ्केध्वम्
३ शङ्कै	शङ्कावहै	शङ्कामहै	शङ्केय	शङ्केवहि	शङ्केमहि

इसी प्रकार रघि लघि गतौ (जाना), अकि लक्षणे (अङ्कित करना), अहि गतौ (जाना), आङः शसि इच्छायाम्[1] (आङ् पूर्वक शस् चाहना, आशा रखना), बहि महि वृद्धौ (बढ़ना), मदि स्तुति-मोद-मद-स्वप्न-कान्ति-गतिषु (स्तुति करना, प्रसन्न होना, मस्त होना, सोना, चाहना, जाना), स्पदि ईषच्चलने (फड़कना), श्विदि श्वैत्ये (सफेद होना), स्कुदि आप्रवणे उछलना, निकालना), वदि अभिवादनस्तुत्योः (नमस्कार करना, स्तुति करना), भदि कल्याणे सुखे च (कल्याण युक्त होना, सुखी होना), क्लिदि परिदेवने (किसी के उद्देश्य से विलाप करना) सकर्मक, ग्रथि कौटिल्ये (कुटिल होना), श्रथि शैथिल्ये (शिथिल होना), जृभि गात्रविनामे (जँभाई लेना, अंगड़ाई लेना), कुडि दाहे (जलाना), पिडि संघाते (इकट्ठा करना), चडि कोपे (क्रुद्ध होना), पडि गतौ (जाना), कपि चलने (हिलना), रबि लबि अबि शब्दे (राँभना, बुलाना)। लबि अवस्रंसने च, लम्ब लटकना अर्थ में भी है। पचि व्यक्तीकरणे (व्यक्त करना, विस्तार करना), हिडि गत्यनादरयोः (जाना, पर्यटन करना, परवाह न करना)—इन आत्मनेपदी धातुओं के रूप जानें।

---

१. आङ्पूर्वक शंस् सकर्मक भी है और अकर्मक भी। दोनों तरह के प्रयोग मिलते हैं—**तस्या नाश्नीयादब्राह्मणो य आशंसेत भूत्याम्** (अथर्व० १२।४।४६)। जो अब्राह्मण क्षत्रियादि अपना भला चाहे वह उस ब्रह्म-गवी=(ब्राह्मण की गौ) का दूध आदि कुछ भी न पीये। **आशंसते वै**

रङ्घ् का अर्थ शीघ्रता से जाना, दौड़ना है, गतिसामान्य नहीं। अतः वेद में रघु=शीघ्रगामी, फुर्तीला। लङ्घ् का लांघना, कूद जाना अर्थ है। अहिं लङ्घते=सांप के ऊपर से कूद जाता है। परे जाना अर्थ भी है—पर्वतं लङ्घते। **'लङ्घनं परमौषधम्'** में लङ्घ् भोजन-परिहार अर्थ में प्रयुक्त हुई है। मन्द् का प्रयोग तिङन्त रूप में दुर्लभ है, हां वेद में क्वाचित्क है। कृदन्त रूप इस के बहुत मिलते हैं—**मन्दिरम्। मन्दः। मन्दाकः। मन्दन्ते स्तुवन्ति देवता अत्रेति (देव-) मन्दिरम्। मन्दन्ते स्वपन्त्यत्रेति मन्दुरा वाजिशाला।** क्लिन्द् सकर्मक है—**क्लिन्दते चैत्रम्,** चैत्रमुद्दिश्य परिदेवयते। कुण्ड् का प्रयोग तिङन्त रूप में विरल है। **अमृते जारजः कुण्डो मृते भर्तरि गोलकः** (अमर)। **कुण्डयते दह्यते कुलमनेन इति कुण्डः,** पति के जीते हुए जो जार से उत्पन्न हुआ है उसे 'कुण्ड' कहते हैं। **कुण्ड** पिठर का भी नाम है। पिण्ड् से 'पिण्ड' शब्द व्युत्पन्न होता है। पिण्डः=संघातः। **पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेषु** (रघु० २।५७)। संहनन शरीर का नाम है, अतः पिण्ड (=संघात) शरीर का वाचक है। गोपिण्डः। अबि—**अम्बते शब्दायते शब्दयतीति वाऽम्बा जननी।** अभि—**अम्भते शब्दं करोति अम्भो जलम्।** रम्भ्—**रम्भन्ते गावः।** जृम्भ्—**क्षुवतीं जृम्भमाणां वा (जायां) नेक्षेत** (मनु० ४।४३)। पञ्च् का अर्थ विस्तार करना है। प्रलय(=संकोच)और प्रपञ्च प्रतियोगी शब्द हैं। पञ्च् का 'शब्द द्वारा व्यक्त करना' 'सविस्तर कहना' अर्थ में प्रचुर प्रयोग है—**धर्मिविक्रियैवैषा धर्मद्वारा प्रपञ्च्यते** (योग सू० ३।१३ भाष्य)। हिण्ड्—**अटवीतोऽटवीमाहिण्डयते** (शाकुन्तल २)।

ऋदित् परस्मैपदी धातुएँ

क्रीड़ृ विहारे (खेलना)

	लट्			लङ्	
१ क्रीडति	क्रीडतः	क्रीडन्ति	अक्रीडत्	अक्रीडताम्	अक्रीडन्

धृतराष्ट्रः सपुत्रो महाराज्यमसपत्नं पृथिव्याम् (भा० उ० २६।२०)। **स्वकार्यसिद्धिं पुनराशशंसे** (कुमार० ३।५७)। **आशंसन्ते सुरयुवतयो बद्धवैरा हि दैत्यैरस्याधिज्ये धनुषि विजयं पौरुहूते च वज्रे** (शाकुन्तल २।१५)—यहाँ आशंस् का सकर्मकतया प्रयोग हुआ है। **तदा नाशंसे विजयाय संजय** (भा० आदि० १।१५०—२१४)। **मनोरथाय नाशंसे किं बाहो स्पन्दसे वृथा** (शाकुन्तल ७।१३)—यहाँ अकर्मकतया प्रयोग हुआ है।

२ क्रीडसि	क्रीडथः	क्रीडथ	अक्रीडः	अक्रीडतम्	अक्रीडत
३ क्रीडामि	क्रीडावः	क्रीडामः	अक्रीडम्	अक्रीडाव	अक्रीडाम

लोट्			विधिलिङ्		
१ क्रीडतु-क्रीडतात्	क्रीडताम्	क्रीडन्तु	क्रीडेत्	क्रीडेताम्	क्रीडेयुः
२ क्रीड-क्रीडतात्	क्रीडतम्	क्रीडत	क्रीडेः	क्रीडेतम्	क्रीडेत
३ क्रीडानि	क्रीडाव	क्रीडाम	क्रीडेयम्	क्रीडेव	क्रीडेम

यहाँ कुछ भी विशेष कार्य नहीं हुआ, केवल उपधा दीर्घ होने से गुण नहीं हुआ।

इसी प्रकार धोर्ऋ (धोर्) गति चातुर्ये (घोड़े की चाल), श्रोणृ अपनयने (दूर करना), मीमृ गतौ (जाना), पिसृ पेसृ गतौ, खादृ भक्षणे (खाना), शोणृ वर्णगत्योः (लाल होना, चलना), श्रोणृ संघाते (इकट्ठा होना, शौटृ गर्वे (गर्वित होना), शाखृ व्याप्तौ (व्याप्त करना)—इन परस्मैपदी धातुओं के रूप जानें। धोर्—**धोरति**—**धोरितक** घोड़े की चाल-विशेष का नाम है। **वाग्धोरणी** वाणी के प्रवाह को कहते हैं। श्रोण् से वनिप् (वन्) प्रत्यय करके **अवावन्** (प्र० ए० अवावा) रूप होता है। अनुनासिक को 'आ' हो जाता है। **अवावा=चोरः**। शोण्—शोणः=रक्त, लाल। शोण नदी विशेष का भी नाम है। **शोणति गच्छति वेगेन**। श्रोण् से 'श्रोणी' शब्द सिद्ध होता है। शौट् का तिङन्त प्रयोग दुर्लभ है। **शौटीर** (उणादि)= अभिमानी, दृप्त। **शौटीर्यम्**, दृप्तता। शाख् का भी 'शाखा' में प्रयोग दीखता है, तिङन्त रूप में नहीं।

आत्मनेपदी ऋदित् धातुएँ

काशृ दीप्तौ (काश्—चमकना)

लट्			लङ्		
१ काशते	काशेते	काशन्ते	अकाशत	अकाशेताम्	अकाशन्त
२ काशसे	काशेथे	काशध्वे	अकाशथाः	अकाशेथाम्	अकाशध्वम्
३ काशे	काशावहे	काशामहे	अकाशे	अकाशावहि	अकाशामहि

लोट्			विधिलिङ्		
१ काशताम्	काशेताम्	काशन्ताम्	काशेत	काशेयाताम्	काशेरन्
२ काशस्व	काशेथाम्	काशध्वम्	काशेथाः	काशेयाथाम्	काशेध्वम्
३ काशै	काशावहै	काशामहै	काशेय	काशेवहि	काशेमहि

इसी प्रकार रेषृ अव्यक्ते शब्दे (वृक शब्द, भेड़िये का बोलना), हेषृ, ह्लेषृ अव्यक्ते शब्दे (घोड़े का हिन हिनाना), एषृ गतौ (जाना), णासृ रासृ शब्दे (गधे का शब्द), भासृ दीप्तौ (चमकना), गेषृ अन्विच्छायाम् (ढूंढना), बाहृ यत्ने (यत्न करना), षेवृ सेवने, देवृ देवने (जुआ खेलना), रेवृ प्लवे (छलांगें मारते चलना), कासृ शब्दकुत्सायाम् (खाँसना), तायृ सन्तानपालनयोः (फैलना, रक्षा करना), कबृ वर्णे (रंगना), रेभृ शब्दे (अग्नि का फट-फट शब्द करना, जल का बुड़-बुड़ करना, गाड़ी का छक छक करना, प्रलाप करना, ऊंचे स्वर से बोलना, गौ आदि का रांभना), तिपृ तेपृ क्षरणे (बूंद-बूंद गिरना), टुवेपृ कम्पने (कांपना), टुभ्राजृ, टुभ्राशृ, टुम्लाशृ दीप्तौ (चमकना), नाथृ नाधृ याच्ञोपतापैश्वर्याशीःषु (मांगना, रुग्ण होना, अधिकार =स्वाम्य रखना, दूसरे के लिए प्रार्थना करना)[१], बाधृ लोडने (क्षुभित करना, पीड़ित करना), गाधृ प्रतिष्ठालिप्सयोर्ग्रन्थे च (रहना, ठहरना, तल तक प्रवेश करना, ढूंढना, ग्रन्थन करना), लोकृ लोचृ दर्शने (देखना), श्लाघृ कत्थने (सराहना, अपनी स्तुति करना), ढौकृ गतौ (जाना, पहुँचना), राघृ लाघृ द्राघृ सामर्थ्ये (सामर्थ्य को प्राप्त करना)। द्राघृ आयामे च (लम्बा होना इस अर्थ में भी), एजृ, भ्रेजृ, भ्राजृ दीप्तौ (चमकना), श्लोकृ सङ्घाते (ग्रन्थन करना अथवा ग्रथित होना), वाडृ आप्लाव्ये (बाढ़ आना, नहाना), रेकृ शङ्कायाम् (शङ्का करना)—इन आत्मनेपदी धातुओं के रूप जानें।

एष् का अनु उपसर्ग-पूर्वक 'ढूंढना' अर्थ है—**सीतामन्वेषते रामः।** रास् से रासभ (गधा) शब्द व्युत्पन्न होता है। ताय् से 'तायु' (चोर) व्युत्पन्न होता है। 'तायु' का वेद में ही प्रयोग मिलता है। ताय् का वृत्तिसर्गतायनेषु क्रमः (१।३।३८) में प्रयोग देखा जाता है। तायते, वितायते, प्रतायते आदि में तन् से भी कर्मवाच्य होने पर रूपसिद्धि सुलभ है। 'आशिषि नाथः' इस वार्तिक के अनुसार 'नाथ्' आशिस् अर्थ में ही आत्मनेपदी है, दूसरे अर्थों में

---

१. उपताप अर्थ में नाथ् का प्रयोग वेद में मिलता है—**देवान् यन्नाथितो हुवे** (अथर्व० ७।११३।७)।

नहीं। वेप् का वेदस्थ उदाहरण—**चक्रं न वृत्तं वेपते मनो भिया मे** (ऋ० ५।३६।३)। रेक् का प्रायः आङ्-पूर्वक प्रयोग होता है।

उभयपदी (स्वरितेत्) ऋदित धातुएँ

	लट् प०			लट् आ०	
१ राजति	राजतः	राजन्ति	राजते	राजेते	राजन्ते
२ राजसि	राजथः	राजथ	राजसे	राजेथे	राजध्वे
३ राजामि	राजावः	राजामः	राजे	राजावहे	राजामहे

इसी प्रकार टुयाचृ याच्ञायाम् (माँगना), मेधृ संगमे (मिलना, संगत होना), चीवृ आदानसंवरणयोः (लेना, ढाँपना), चायृ पूजानिशामनयोः(आदर करना, देखना), दाश्‍ृ, दासृ दाने (देना), भेषृ भये (डरना) के रूप जानें।

मेध का 'गृहमेधिन्' में प्रयोग स्पष्ट है। **गृहैर्दारैर् मेधन्ते संगच्छन्त इति गृहमेधिनः**, गृहस्थाः। चीव् का प्रयोग 'चीवर' शब्द में स्पष्ट उपलब्ध होता है। **चीव्यते संव्रियते शरीरम् अनेनेति चीवरम्**। चीवरं मुनिवासः। चाय् का पूजार्थ में अप-पूर्वक प्रयोग होता है, केवल का नहीं—**अपचायितः। अपचितः। अपचितिः**। निशामन अर्थ में निपूर्वक प्रयोग होता है—**निचाय्य तन् मृत्युमुखात्प्रमुच्यते** (कठ० १।३।१५)। दाश् का प्रयोग प्रायः वेद में ही मिलता है—**धनं यस्ते ददाश मर्त्यः** (ऋ० १।३६।४)। लोक में कृदन्त 'दाश' शब्द प्रसिद्ध है—**दाशन्तेऽस्मा इति दाशः**। पुरोडाश्, पुरोडाश शब्द में भी यही धातु है। दास् का भी कृदन्त रूप ही लोक में प्रसिद्ध है—**दासो भृत्यः**।

ऊदित् धातुएँ

षिधू शास्त्रे माङ्गल्ये च (सिध्—शिक्षा देना, मङ्गल कार्य करना) प०

	लट्			लङ्	
१ सेधति	सेधतः	सेधन्ति	असेधत्	असेधताम्	असेधन्
२ सेधसि	सेधथः	सेधथ	असेधः	असेधतम्	असेधत
३ सेधामि	सेधावः	सेधामः	असेधम्	असेधाव	असेधाम

	लोट्			विधिलिङ्	
१ सेधतु-सेधतात्	सेधताम्	सेधन्तु	सेधेत्	सेधेताम्	सेधेयुः
२ सेध-सेधतात्	सेधतम्	सेधत	सेधेः	सेधेतम	सेधेत
३ सेधानि	सेधाव	सेधाम	सेधयम्	सेधेव	सेधेम

शप् परे होने पर इसके तथा षिध गत्याम् के रूपों में कुछ भी भेद नहीं। शप् के अभाव में लुट्, लृट् आदि में भेद होगा। तक्षू त्वक्षू तनूकरणे छीलना, काटना—इन के रूपों में कुछ विशेष नहीं। हाँ—

४३—तनूकरण (काष्ठ आदि का छीलना, तराशना) अर्थ में तक्ष् से शप् के स्थान में श्नु विकल्प से होता है[1]—**तक्ष्णोति। तक्षति।** तनूकरण से अन्यत्र श्नु नहीं होता—**सन्तक्षति वाग्भिः**, वचनों से काटता है। तक्ष्णोति आदि में रषाभ्यां नो णः समानपदे (८।४।१) से न् को ण् होता है। क्ष्=क्ष्।

	लट्			लङ्		
१	**तक्ष्णोति**	**तक्ष्णुतः**	**तक्ष्णुवन्ति**	**अतक्ष्णोत्**	**अतक्ष्णुताम्**	**अतक्ष्णुवन्**
२	**तक्ष्णोषि**	**तक्ष्णुथः**	**तक्ष्णुथ**	**अतक्ष्णोः**	**अतक्ष्णुतम्**	**अतक्ष्णुत**
३	**तक्ष्णोमि**	**तक्ष्णुवः**	**तक्ष्णुमः**	**अतक्ष्णवम्**	**अतक्ष्णुव**	**अतक्ष्णुम**

यहाँ **तक्ष्णुवः, तक्ष्णुमः, अतक्ष्णुव अतक्ष्णुम** में संयोग पूर्व होने से 'उ' का (१६) से वैकल्पिक लोप नहीं हुआ।

४४—श्नुप्रत्ययान्त, इवर्णोवर्णान्त धातु तथा भ्रू इस अङ्ग के इ को इयङ् और उ को उवङ् होता है अजादि प्रत्यय परे होने पर[2]। ङित् होने से इय् तथा उव् अन्त्य इ, उ को होते हैं। इस से तक्ष्णुवन्ति, अतक्ष्णुवन् में उवङ् हुआ।

	लोट्			विधिलिङ्		
१	**तक्ष्णोतु- तक्ष्णुतात्**	**तक्ष्णुताम्**	**तक्ष्णुवन्तु**	**तक्ष्णुयात्**	**तक्ष्णुयाताम्**	**तक्ष्णुयुः**
२	**तक्ष्णुहि- तक्ष्णुतात्**	**तक्ष्णुतम्**	**तक्ष्णुत**	**तक्ष्णुयाः**	**तक्ष्णुयातम्**	**तक्ष्णुयात**
३	**तक्ष्णवानि**	**तक्ष्णवाव**	**तक्ष्णवाम**	**तक्ष्णुयाम्**	**तक्ष्णुयाव**	**तक्ष्णुयाम**[3]

लोट् म० पु० एक० में यहाँ 'हि' का लुक् नहीं हुआ कारण कि यहाँ प्रत्यय (श्नु) के 'उ' से पूर्व संयोग है। संयोग के अभाव में (१८) से लुक् होता है।

---

१. तनूकरणे तक्षः (३।१।७३)।

२. अचि श्नु-धातु-भ्रुवां य्वोरियङुवङौ (६।४।७७)।

३. तक्ष् का लोक में प्रचुर प्रयोग है—**यश्च मे दक्षिणं बाहुं चन्दनेन समुक्षयेत्। सव्यं वास्यापि यस्तक्षेत् समावेतावुभौ मम** (भा० शां० ३२०। ३६)॥ महाराज जनक की उक्ति है—जो मेरी दाहिनी बाँह को चन्दन से

४५—अक्षू व्याप्तौ[1] इस धातु से शप् के विषय में श्नु विकल्प से होता है।

अक्ष्णोति । **अक्षति** । **आक्ष्णोत्** । **आक्षत्** (आट्) । **अक्ष्णोतु** । **अक्षतु** । **अक्ष्णुयात्** । **अक्षेत्** । शेष तक्ष् की तरह जानें ।

अक्ष् का तिङन्त रूप से प्रयोग प्रायः वेद में मिलता है ।[2] लोक में अक्ष प्रातिपदिक व्यवहार (जैसे अक्षदर्शक=न्यायाधीश में),विभीतक(बहेड़ा), पासा आदि अर्थों में प्रसिद्ध है ।

गाहू विलोडने, ऊदित्(प्रवेश से क्षुभित करना, गहरा प्रवेश करना), गृहू गर्हणे, ऊदित् (निन्दा करना), क्षमूष् सहने (सहना, क्षमा करना), त्रपूष् लज्जायाम्, ऊ व ष् इत् (लज्जित होना), स्यन्दू प्रस्रवणे, ऊदित् (बहना) —इन आत्मनेपदी धातुओं के रूपों में कुछ भी विशेष कार्य नहीं होता । गृह् के उपधा ऋ को शप् परे रहते (३) से गुण होता है, जो सामान्य कार्य है—गर्हते । गर्हेते । गर्हन्ते ।

ऊनं न सत्त्वेष्वधिको बबाधे तस्मिन्वनं गोप्तरि गाहमाने (रघु० २।१४)। यहाँ आलोडन अर्थ कुछ भी नहीं । केवल संचरण, भ्रमण अर्थ है । गाह् के साथ युक्त हुए 'अव' उपसर्ग के 'अ' क लोप भी देखा जाता है—**पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः** (कुमार० १।१) । गाह् का अव-पूर्वक प्रयोग प्रायिक है—**अवगाहते** । तब इसका जलादि में डुबकी लगाना अर्थ होता है—**खगा वासोपेताः सलिलमवगाढो मुनिजनः** (स्वप्न० १।१६) । **शास्त्रपारावारकृतावगाहः**, जिसने शास्त्र-रूपी समुद्र में डुबकी लगाई है । केवल गाह् भी इस अर्थ में प्रयुक्त होता है—**गाहन्तां महिषा निपानसलिलम्** । क्षमूष्(क्षम्)सकर्मक है—क्रियासमभिहारेण विराध्यन्तं क्षमेत कः(माघ २।४३)।

भिगोए और जो मेरी बाईं बाँह को वसूले से छीले,वे दोनों मेरे लिये बराबर हैं । निस् पूर्वक तक्ष् का (लकड़ी में से) काटकर बनाना अर्थ है । **किं स्विद् वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः** (ऋ० १०।३१।७) । निष्टतक्षुः= निस्ततक्षुः । वह कौन सा बन था अथवा कौन सा वृक्ष था जिस को काट कर (देवताओं ने) द्युलोक तथा पृथिवीलोक का निर्माण किया । **तक्षन्=बढ़ई** । **तक्षक=बढ़ई** । **तक्षक=त्वष्टा=विश्वकर्मा** ।

१. अक्षोऽन्यतरस्याम् (३।१।७५) ।

२. रामायण में तिङन्त रूप में भी प्रयोग मिलता है—**त्वं हि त्रिपथगे देवि ब्रह्मलोकं समक्षसे** (२।५२।८६) । यहाँ आत्मनेपद आर्ष है ।

त्रप् अकर्मक है—**के चित्स्तूयमानास्त्रपन्ते परे प्रह्लादन्ते,** कोई लोग स्तुति किये जाने पर लज्जा अनुभव करते हैं, दूसरे प्रसन्न होते हैं। **त्रपन्ते तीर्थानि त्वरितमिह यस्योद्धृतविधौ** (गङ्गालहरी)। अपपूर्वक त्रप् का प्रयोग देखा जाता है—**य आत्मनाऽपत्रपते भृशं नरः स सर्वलोकस्य गुरुर्भवत्युत** (भारत)। **अहो बत महत् कष्टं विपरीतमिदं जगत्। येनापत्रपते साधुरसाधुस्तेन तुष्यति॥** (भारत)। अमर का कहना है कि जो दूसरे से लज्जा होती है उसे अपत्रपा कहते हैं—**साऽपत्रपाऽन्यतः**(१।७।२३)। पर महाभारत के प्रयोगों से यह बात प्रमाणित नहीं होती।

४६—अनु वि परि अभि नि—इन उपसर्गों से परे स्यन्द् धातु के सकार को विकल्प से मूर्धन्य (षकार) हो जाता है जब कर्ता आदि प्राणी से भिन्न हों[1]—**अनुस्यन्दते। अनुष्यन्दते। विस्यन्दते। विष्यन्दते। परिस्यन्दते। परिष्यन्दते। इह सततमभिष्यन्दन्ते मेघाः। इह सततमभिस्यन्दन्ते मेघाः। अहो सुधानिष्यन्दिनी वाक्,** आश्चर्य है वाणी से अमृत बह रहा है। पक्ष में **सुधानिस्यन्दिनी** भी। प्राणि-विषय में प्रयोग होने पर यह विकल्प नहीं होगा—**अनुस्यन्दते मत्स्य उदके।** प्राणी और अप्राणी का समुदाय प्राणी नहीं होता, अतः **मत्स्योदके अनुस्यन्देते**—यहाँ भी विकल्प होता है। **मत्स्योदके अनुष्यन्देते।** अर्थ है मत्स्य और जल दोनों बह रहे हैं। स्यन्द् अकर्मक है—**शिरामुखैः स्यन्दत एव रक्तम्** (नागानन्द ५।१६)। अन्तर्भावितण्यर्थ होकर यह धातु सकर्मक भी हो जाती है—**सस्यन्दे शोणितं व्योम** (भट्टि० १४।६८)।

४७—गुह् की उपधा (उ) को 'ऊ' हो जाता है जब गुण का हेतु अजादि प्रत्यय परे हो।[2] गुह् शप् तिप्। यहाँ शप् (अ) सार्वधातुक अजादि पित् प्रत्यय है। इस के परे रहते धातु की उपधा को गुण प्राप्त होता है। सूत्र विधान करता है कि गुह् की उपधा को गुण न होकर दीर्घ आदेश हो।

गुहू संवरणे (गुह् ढाँपना, छिपाना) **स्वरितेत्** (उभय०)

	लट् परस्मै०			*लट् आत्मने०*		
१	**गूहति**	**गूहतः**	**गूहन्ति**	**गूहते**	**गूहेते**	**गूहन्ते**
२	**गूहसि**	**गूहथः**	**गूहथ**	**गूहसे**	**गूहेथे**	**गूहध्वे**
३	**गूहामि**	**गूहावः**	**गूहामः**	**गूहे**	**गूहावहे**	**गूहामहे**

---

१. अनुविपर्यभिनिभ्यः स्यन्दतेरप्राणिषु (८।३।७२)।

२. ऊदुपधाया गोहः (६।४।८९)।

ऐसे ही दूसरे लकारों में रूप रचना करें।

गुह् का निपूर्वक प्रयोग देखा जाता है—**पापं नैव निगूहेत गुह्यमानं विवर्धते।** उप-पूर्वक गुह् आलिङ्गन अर्थ में रूढ है। तरङ्गहस्तैरुपगूहतीव (रघु० १३।६३)।

एदित् हलन्त धातुएँ

हसे हसने (हस् हंसना) प०

लट्			लङ्		
१ हसति	**हसतः**	**हसन्ति**	**अहसत्**	**अहसताम्**	**अहसन्**
२ हससि	**हसथः**	**हसथ**	**अहसः**	**अहसतम्**	**अहसत**
३ हसामि	**हसावः**	**हसामः**	**अहसम्**	**अहसाव**	**अहसाम**

जैसे यहाँ वैसे ही लोट् व विधिलिङ् के रूपों में भी कुछ भी विशेष कार्य नहीं है।

इसी प्रकार पथे गतौ (जाना), मथे विलोडने (बिलोना), क्वथे निष्पाके (उबालना, काढ़ा बनाना), लगे सङ्गे (लगना,, कखे हसने (हंसना), कटे वर्षावरणयोः (बरसाना, ढाँपना)—इन परस्मैपदी धातुओं के रूप जानें। कट् का 'बरसाना' अर्थ कट (गण्डस्थल) में दीखता है—**कटति वर्षति मदम् इति कटः** (करिकट इत्यर्थः)।

हस् सकर्मक है—**जले निपतितं दृष्ट्वा भीमसेनो महाबलः। जहास जहसुश्चैव किंकराश्च सुयोधनम्** (भा० सभा० ४७।७)। यहाँ 'सुयोधन' 'दृष्ट्वा' का कर्म है। **गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः। हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः॥** यहाँ हस् का प्रयोग अकर्मकतया हुआ है। उपहास करना, दूसरे की हंसी उड़ाना अर्थ में बिना उपसर्ग के भी यह सकर्मक है—**आपद्गतं हससि किं द्रविणान्धमूढ** (भर्तृ०)।

इरित् हलन्त धातुएँ

बुधिर् बोधने (बुध् जानना) स्वरितेत् (उभयपदी)

लट् प०			लट् आ०		
१ बोधति	**बोधतः**	**बोधन्ति**	**बोधते**	**बोधेते**	**बोधन्ते**
२ बोधसि	**बोधथः**	**बोधथ**	**बोधसे**	**बोधेथे**	**बोधध्वे**
३ बोधामि	**बोधावः**	**बोधामः**	**बोधे**	**बोधावहे**	**बोधामहे**

इसके रूपों में कुछ भी विशेष कार्य नहीं। शप् परे रहते उपधा को गुण होता है जो सामान्य कार्य है। इगुपध बुध अवगमने के जैसे इन लकारों में

रूप हैं, ठीक वैसे ही इस बुधिर् के हैं। अर्थ में भी भेद नहीं है। लुङ् में भेद होगा।

इरित् हलन्त धातुएँ

दृशिर् प्रेक्षणे (दृश्—देखना) प०

	लट्			लङ्	
१ पश्यति	पश्यतः	पश्यन्ति	अपश्यत्	अपश्यताम्	अपश्यन्
२ पश्यसि	पश्यथः	पश्यथ	अपश्यः	अपश्यतम्	अपश्यत
३ पश्यामि	पश्यावः	पश्यामः	अपश्यम्	अपश्याव	अपश्याम

	लोट्			विधिलिङ्	
१ पश्यतु-पश्यतात्	पश्यताम्	पश्यन्तु	पश्येत्	पश्येताम्	पश्येयुः
२ पश्य-पश्यतात्	पश्यतम्	पश्यत	पश्येः	पश्येतम्	पश्येत
३ पश्यानि	पश्याव	पश्याम	पश्येयम्	पश्येव	पश्येम

यहाँ सर्वत्र (१६) से दृश् को पश्य् आदेश हुआ है। स्कन्दिर् गति-शोषणयोः (जाना, गिरना, सूखना), च्युतिर् आसेचने। आसेचनम् आर्द्री-करणम्, (गीला करना, भिगोना)। आङ् ईषदर्थेऽभिव्याप्तौ वा। आङ् यहाँ 'थोड़ा' अर्थ में है अथवा 'पूर्णतया' अर्थ में है। भट्टि इसे टपकने, बहने अर्थ में प्रयुक्त करता है—इदं शोणितमग्र्यं सम्प्रहारेऽच्युतत्तयोः (६।१८)। श्च्युतिर् क्षरणे (टपकना, बहना)। प्रश्च्योतनं नु हरिचन्दनपल्लवानाम् (उ० रा० च०)। यह यकार-रहित भी पढ़ी जाती है—श्चुतिर् क्षरणे।[1] घुषिर् अवि-शब्दने। विशब्दनं प्रतिज्ञानम्। ततोऽन्यस्मिन्नर्थे (घुष् घोषणा करना)। कुछ लोग घुषिर् शब्दे ऐसा पढ़ते हैं। स्फुटिर् विशरणे (फूटना) —इन परस्मैपदी इरित् धातुओं की रूप-रचना में कुछ विशेष कार्य नहीं, केवल लुङ् आदि के लिए इनका पृथक् वर्गीकरण किया है।

स्कन्दिर् का 'जाना' अर्थ अप्रसिद्ध है। अवस्कन्द्, आस्कन्द् ऊपर आ पड़ना, घेरना—यहाँ गति अर्थ की प्रतीति होती है। परिस्कन्द (=नौकर) शब्द में भी गत्यर्थ झलकता है। गामास्कन्दति वृषः=गामारोहति (गर्भा-

---

१. यस्य वर्णं मधुश्चुतं हरिं हिन्वन्त्यद्रिभिः (ऋ० ९।६५।८)। मधु श्चोतति इति मधुश्चुत्, तम्।

धानाय)। ण्यन्त स्कन्द् में गत्यर्थ अधिक स्पष्ट हो जाता है—**एकः शयीत सर्वत्र न रेतः स्कन्दयेत् क्वचित्** (मनु० २।१८०)। स्कन्दयेत्=पातयेत्। **वृथा स्कन्दितम्** (स्कन्द् णिच् क्त) **आर्षभम्** (मनु० ९।५०)। सूखने अर्थ में—**—गवां पयांसि स्कन्नानि विमदा वरकुञ्जराः** (रा० ६।१०।१७)। गौओं के दूध सूख गये हैं। उत्तम मतंगजों की मस्ती जाती रही है।

४८—परिपूर्वक स्कन्द् के स् को कृत् तथा अकृत् प्रत्यय परे होने पर विकल्प से षत्व होता है[१]—**परिस्कन्तुम्। परिष्कन्तुम्। परिस्कन्नः। परिष्कण्णः।** अतः तिङ् परे रहते भी षत्व-विकल्प होता है—**परिस्कन्दति। परिष्कन्दति।**

लृदित् हलन्त धातुएँ

गम्लृ गतौ (गम् जाना) प०

	लट्			लङ्	
१ गच्छति	गच्छतः	गच्छन्ति	अगच्छत्	अगच्छताम्	अगच्छन्
२ गच्छसि	गच्छथः	गच्छथ	अगच्छः	अगच्छतम्	अगच्छत
३ गच्छामि	गच्छावः	गच्छामः	अगच्छम्	अगच्छाव	अगच्छाम

	लोट्			विधिलिङ्	
१ गच्छतु-गच्छतात्	गच्छताम्	गच्छन्तु	गच्छेत्	गच्छेताम्	गच्छेयुः
२ गच्छ-गच्छतात्	गच्छतम्	गच्छत	गच्छेः	गच्छेतम्	गच्छेत
३ गच्छानि	गच्छाव	गच्छाम	गच्छेयम्	गच्छेव	गच्छेम

(२८) से गम् के म् के स्थान में 'छ्' आदेश होता है।

पत्लृ गतौ (जाना)। **यदाशुभिः पतसि योजना पुरु** (ऋ० २।१६।३)। जो तू अनेक योजन शीघ्रगामी घोड़ों से जाता है। **नेज्जिह्मायन्त्यो नरकं पताम**, हम कुटिल आचरण करती हुईं नरक में न जायें। नीचैर्गति (गिरना) अर्थ भी है, अव, नि, विनि उपसर्ग हो चाहे न हो। उड़ना (उच्चैर्गति) अर्थ भी है, 'उद्' का योग हो चाहे न हो—**अपि शक्या गतिर्ज्ञातुं पततां खे पतत्रिणाम्** (कौ० अ० २।३०)।

---

१. (वेः स्कन्देरनिष्ठायाम्)(८।३।५३)। परेश्च (८।३।७४)।

सृप्लृ गतौ (जाना)। गतिसामान्य में पढ़ी हुई यह धातु सरकने अर्थ में प्रयुक्त होती है। इस का केवल का तथा उप, अप, वि, उद्, परि—पूर्वक का प्रयोग देखा जाता है—**सर्पति। सर्पतः। सर्पन्ति। सर्पतीति सर्पः। इतः किञ्चिदपसर्प**, यहाँ से कुछ परे सरकिये। **उत्सर्पयति कङ्कणम्**, कंगन को ऊपर सरकाता है। **विसर्पति विषम्**, विष (शरीर में) संचार कर रहा है। परि-सृप्, चारों ओर गति करना—**पतगपतेः परिसर्पणे च तुल्यः** (मृच्छक० ३।२१)। **अपसर्पः**=गुप्तचर।

शद्लृ शातने (शद् गिरना, नष्ट होना)

	लट्			लङ्	
१ **शीयते**	**शीयेते**	**शीयन्ते**	**अशीयत**	**अशीयेताम्**	**अशीयन्त**
२ **शीयसे**	**शीयेथे**	**शीयध्वे**	**अशीयथाः**	**अशीयेथाम्**	**अशीयध्वम्**
३ **शीये**	**शीयावहे**	**शीयामहे**	**अशीये**	**अशीयावहि**	**अशीयामहि**

	लोट्			विधिलिङ्	
१ **शीयताम्**	**शीयेताम्**	**शीयन्ताम्**	**शीयेत**	**शीयेयाताम्**	**शीयेरन्**
२ **शीयस्व**	**शीयेथाम्**	**शीयध्वम्**	**शीयेथाः**	**शीयेयाथाम्**	**शीयेध्वम्**
३ **शीयै**	**शीयावहै**	**शीयामहै**	**शीयेय**	**शीयेवहि**	**शीयेमहि**

यहाँ (१९) से सर्वत्र शद् को शीय् हुआ है। शदेः शितः (१।३।६०) से आत्मनेपद हुआ है। सूत्र का अर्थ है—जब शित् प्रत्यय (जैसे शप्) होने वाला हो तब शद् (जो उदात्तेत् है) से आत्मनेपद आता है। अन्यत्र यथाप्राप्त परस्मैपद। प्रकृत में शद् से आत्मनेपद प्रत्यय त, आताम् आदि आने पर कर्तरि शप् आता है और शद् को शीय् आदेश हो जाता हैं।

गिरने अर्थ में शद् का प्रयोग अथर्व० में पाया है—**दन्तास्ते शत्स्यन्ति** (११।३।३७), तेरे दाँत गिर जायेंगे।

षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु (सद् विध्वस्त होना, जाना, दुःख पाना) प०

	लट्			लङ्	
१ **सीदति** (१९)	**सीदतः**	**सीदन्ति**	**असीदत्**	**असीदताम्**	**असीदन्**
२ **सीदसि**	**सीदथः**	**सीदथ**	**असीदः**	**असीदतम्**	**असीदत**
३ **सीदामि**	**सीदावः**	**सीदामः**	**असीदम्**	**असीदाव**	**असीदाम**

	लोट्			विधिलिङ्	
१ सीदतु-सीदतात्	सीदताम्	सीदन्तु	सीदेत्	सीदेताम्	सीदेयुः
२ सीद-सीदतात्	सीदतम्	सीदत	सीदेः	सीदेतम्	सीदेत
३ सीदानि	सीदाव	सीदाम	सीदेयम्	सीदेव	सीदेम

उपसर्गस्थ निमित्त से परे सद् के स् को मूर्धन्य (ष्) हो जाता है पर 'प्रति' उपसर्ग होने पर यह आदेश नहीं होता। सदिरप्रतेः (८।३।६६)। **निषीदति। विषीदति। परिषीदति।** यहाँ उपसर्ग में इ (इण्) निमित्त है। 'प्रति' में भी यह निमित्त है पर उसका पर्युदास कर दिया है अतः **प्रतिसीदति**—यहाँ षत्व नहीं होता। **प्रसीदति, अवसीदति, आसीदति, उत्सीदति**—में उपसर्गस्थ निमित्त इण् नहीं है अतः षत्व नहीं हुआ। अडागम का व्यवधान होने पर भी यह षत्व होता है। (प्राक् सितादड्व्यवायेऽपि (८।३।६३)। **न्यषीदत्। व्यषीदत्। पर्यषीदत्।**

इति भ्वादयः शब्विकरणाः।

———

वर्धते धातुगणः

वैयाकरणों का कहना है कि धातुपाठ में जितनी धातुएँ पढ़ी हैं उतनी ही नहीं हैं। कुछ धातुएँ आचार्य ने सूत्रों में पढ़ी हैं जो **सौत्र** कहलाती हैं, जैसे स्तम्भ्, पश्, ऋत् और कुछ लोक में ही प्रयुक्त हुई मिलती हैं। धातुगण बढ़ता रहता है। **वीज्** पंखा करना अर्थ में धातुपाठ में नहीं है पर लोक में इस का प्रचुर प्रयोग मिलता है—(तं विसंज्ञं) **जलेनात्यर्थशीतेन वीजन्तः पुण्यगन्धिना** (भा० ७।३०७)। **यं पुरा व्यजनैरग्र्यैरुपवीजन्ति योषितः** (भा० ११।५०१)। **अवीजयेतां तं देवं धर्मासनगतं प्रभुम्** (हरिवं० २।२६।५५)। **न वीजयेत् केशमुखनखवस्त्रगात्राणि**(सुश्रुत २।१४५।३)। काव्य-नाटकों में भी वीज् अथवा वीज् णिच् का प्रचुर प्रयोग है। क्षीरस्वामी ने ठीक ही कहा है—**वीजिर्लौकिक** इति। धातुप्रदीपकार मैत्रेयरक्षित की वीज्=वि ईज्—यह कल्पना विभ्रमविलसितमात्र है। यदि ऐसा स्वीकार किया जाय तो लङ् में **आट्** होकर **व्यैजत्** अथवा णिच् होने पर **व्यैजयत्** रूप होगा जो कहीं भी देखने में नहीं आया।

इसी प्रकार **बिम्ब्** अथवा **प्रतिबिम्ब्** भी लौकिक है—

तस्मिंश्चिद्दर्पणे स्फारे समस्ता वस्तुदृष्टयः।

इमास्ताः प्रतिबिम्बन्ति सरसीव तटद्रुमाः ॥

प्रतिबिम्बन्ति=प्रतिफलन्ति ।

अर्घ् मूल्यवान् होना—यह भी लौकिक ही है—**परीक्षका यत्र न सन्ति देशे नार्घन्ति रत्नानि समुद्रजानि** (पञ्चतं० १।८४) ।

अदादिगण (द्वितीयगण)

४९—अद् आदि धातुओं से कर्तृवाची सार्वधातुक परे रहते शप् का लुक् हो जाता है । यह कर्तरि शप् का अपवाद है ।[1]

५०—इस शास्त्र में एकाल् (=एक अल् रूप) प्रत्यय **अपृक्त** कहलाता है[2] । 'अपृक्त' का अर्थ है असंयुक्त, पृथक्, अकेला, वर्णान्तर के साथ जो उच्चारित नहीं हुआ । ।

५१—सब आचार्यों के मत में अपृक्त सार्वधातुक (प्रत्यय) को अद् से परे होने पर अट् आगम होता है ।[3]

५२—हु धातु से तथा झलन्त धातुओं से परे लोट् म० पु० ए० 'हि' के स्थान में 'धि' आदेश हो जाता है ।[4]

अद भक्षणे (अद् खाना) प०

	लट्			लङ्		
१	**अत्ति**	**अत्तः**	**अदन्ति**	**आदत्** (५१)	**आत्ताम्**	**आदन्**
२	**अत्सि**	**अत्थः**	**अत्थ**	**आदः** (५१)	**आत्तम्**	**आत्त**
३	**अद्मि**	**अद्वः**	**अद्मः**	**आदम्**	**आद्व**	**आद्म**

	लोट्			विधिलिङ्		
१	**अत्तु-अत्तात्**	**अत्ताम्**	**अदन्तु**	**अद्यात्**	**अद्याताम्**	**अद्युः**
२	**अद्धि-अत्तात्**	**अत्तम्**	**अत्त**	**अद्याः**	**अद्यातम्**	**अद्यात**
३	**अदानि**	**अदाव**	**अदाम**	**अद्याम्**	**अद्याव**	**अद्याम**

अद् सि—यहाँ (४९) से शप् का लुक् हुआ है । ऐसा ही दूसरे रूपों में ।

---

१. अदिप्रभृतिभ्यः शपः (२।४।७२) ।

२. अपृक्त एकाल् प्रत्ययः (१।२।४१) ।

३. अदः सर्वेषाम् (७।३।१००) ।

४. हु-झल्भ्यो हेर्धिः (६।४।१०१) ।

अदादि गण की धातुओं में अङ्ग कभी भी 'अदन्त' नहीं मिलेगा, कारण कि यहाँ अदन्तता के सम्पादक शप् का लुक् हो जाता है। अद् सि में खरि च (८।४।५५) से 'द्' को 'त्' हुआ है। लङ् त्, स् अपृक्त प्रत्यय हैं, अतः इन्हें (५१) से अडागम हुआ है। यदि अट् न होता तो 'त्' परे होने पर आत्(हल्ङ्याब्भ्यः—सूत्र से त का लोप होने पर)रूप होता और 'स्' परे होने पर आत् व आः—ये दो अनिष्ट रूप होते(द् को पाक्षिक रु होने से)। 'आदत्' आदि में धातु के अजादि होने से धातु से पूर्व आट् आगम हुआ है (१०)।

'अद्धि' में हि परे रहते अद् झलन्त अङ्ग है, अतः 'हि' को 'धि' हो गया। अद्यात् आदि लिङ् के रूपों में अङ्ग के अदन्त न होने से यासुट् (यास्) को 'इय्' नहीं हुआ। अद्यास् उस्—यहाँ लिङ्-सम्बन्धी अनन्त्य स् का लोप होने पर उस्यपदान्तात् (६।१।९६) से पररूप एकादेश हो जाता है। अद् या उस्=**अद्युः**।

५३—अनुदात्तोपदेश (यम्, रम्, नम्, गम्, हन्, मन् दिवा०) धातुओं के अन्त्य अनुनासिक का, तनादि(तन्, सन्, क्षण् क्षिण्, ऋण्, तृण् घृण्)धातुओं के अनुनासिक का तथा वन् के अनुनासिक का लोप हो जाता है झलादि कित् ङित् परे होने पर।[1]

५४—गम्, हन्, जन्, खन्, घस् की उपधा (अ) का लोप हो जाता है। अजादि कित् ङित् प्रत्यय परे होने पर। पर अङ् प्रत्यय होने पर यह उपधा-लोप नहीं होता।[2]

५५—हन् धातु के हकार को कुत्व (घ्) होता है ञित्, णित् प्रत्यय परे होने पर तथा नकार परे होने पर।[3]

५६—हन् को 'ज' आदेश होता है लोट् म० पु० ए० 'हि' परे होने पर[4]।

५७—६।४।२२ सूत्र से आगे अध्याय की परिसमाप्ति तक जो भी सूत्र पढ़े हैं वे सब "आभीय" कहलाते हैं, कारण कि भस्य (६।४।१२९) से 'भ'

---

१. अनुदात्तोपदेश-वनति-तनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि क्ङिति (६।४।३७)।

२. गमहनजनखनघसां लोपः क्ङित्यनङि (६।४।९८)।

३. हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु (७।३।५४)।

४. हन्तेर्जः (६।४।३६)।

अधिकार चलता है जो पाद के अन्त तक जाता है। यहाँ से उस भाधिकार को व्याप्त करने वाला समस्त शास्त्र (सूत्रकलाप) 'आभीय' है। आङ् यहाँ अभिविधि अर्थ में है। असिद्धवदत्राभात् (६।४।२२) सूत्र यह कहता है कि समानाश्रय आभीय कार्य की कर्तव्यता में किया हुआ आभीय कार्य असिद्धवत् होता है, मानो हुआ ही नहीं।[1] हन्तेर्जः (६।४।३६) भी आभीय है और अतो हेः। (६।४।१०५) भी। 'हि' को विषय करके ये दोनों कार्य विहित हुए हैं। हन्तेर्जः प्रवृत्त हो चुका है पर अतो हेः की कर्तव्यता में उसका कार्य हन् को ज आदेश असिद्धवत् माना जाता है, जिससे 'हि' का लुक् नहीं होता। सूत्र में 'अत्र' यह विषय-सप्तमी है। 'आश्रय' से निमित्त लिया जाता है। निमित्तत्व किसी तरह से हो सभी इष्ट है। यह आवश्यक नहीं कि निमित्त कार्य से भिन्न हो और सप्तम्यन्त से ही निर्दिष्ट हो। इसीलिए 'हि' के लुक् का स्थानी होने पर भी हन् का ज-भाव (जो 'हि' को निमित्त मान कर हुआ है) असिद्धवत् होता है। अपित् सार्वधातुक प्रत्यय ङित्वत् होता है। तिप्, सिप्, मिप् को छोड़कर सभी परस्मैपद प्रत्यय अपित् हैं और आत्मनेपद सारे ही अपित् हैं।

५८—हलन्त से, दीर्घ ङ्यन्त, दीर्घ आबन्त से भी परे सु, ति, सि-सम्बन्धी अपृक्त हल् का लोप हो जाता है।[2]

हन हिंसागत्योः (हन्—मारना, जाना) प०

	लट्			लङ्	
१ हन्ति	हतः	घ्नन्ति	अहन्	अहताम्	अघ्नन्
२ हंसि	हथः	हथ	अहन्	अहतम्	अहत
३ हन्मि	हन्वः	हन्मः	अहनम्	अहन्व	अहन्म
	लोट्			**विधिलिङ्**	
१ हन्तु-हतात्	हताम्	घ्नन्तु	हन्यात्	हन्याताम्	हन्युः
२ जहि-हतात्	हतम्	हत	हन्याः	हन्यातम्	हन्यात
३ हनानि	हनाव	हनाम	हन्याम्	हन्याव	हन्याम

हन् ति—यहाँ नश्चापदान्तस्य झलि (८।३।२४) अर्थात् अपदान्त न्

१. असिद्धवदत्राभात् (६।४।२२)।

२. हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल् (६।१।६८)।

और म् को अनुस्वार हो जाता है झल् परे होने पर, इस विधान से न् को अनुस्वार होता है—हंति। तब अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः (८।४।५८) अर्थात् अपदान्त अनुस्वार को यय् (प्रत्याहार) परे होने पर परसवर्ण (=न्) होता है—**हन्ति**। **हंसि** में यय् परे न होने से परसवर्ण नहीं हुआ, अनुस्वार ही रह गया। **हन्मि, हन्वः, हन्मः** में न् से परे झल् न होने से अनुस्वार नहीं हुआ। **हन्यात्** में भी झल् परे न होने से अनुस्वार नहीं हुआ।

हतः, हथः, हथ, अहताम्, अहतम्, हताम्, हतम्, हत में सार्वधातुक प्रत्यय तस् आदि के अपित् (और इसीलिए ङित्वत्) होने से (५३) से न् का लोप हुआ है।

घ्नन्ति, घ्नन्तु, अघ्नन् में (५४) से उपधा (अ) का लोप हो जाने पर ह् से परे न् हो जाने से (५५) से ह् को कुत्व (घ्) हुआ है। **अहन्** में अपृक्त त्, स् का (५८) से लोप हुआ है।

५६—उपसर्गस्थ निमित्त से परे हन् के न् को विकल्प से ण् हो जाता है म, व परे होने पर[1]—**प्रहण्मि। प्रहन्मि। प्रहण्वः। प्रहन्वः। प्राहण्व। प्राहन्व। प्राहण्म। प्राहन्म।**

हन् हिंसा तथा गति अर्थ में पढ़ी है। हिंसा अर्थ प्रसिद्ध है। गति अर्थ अप्रसिद्ध है। 'हंस' शब्द में गत्यर्थ अवश्य स्वीकार करना पड़ता है। **हन्ति गच्छतीति हंसः**। हंस की चाल प्रसिद्ध है, हिंसा नहीं।

हन् के गत्यर्थक प्रयोग को मम्मटादि आलङ्कारिक दोष मानते हैं। वेद में तो गति अर्थ में प्रयोग मिलता है—**पूर्वस्माद्धंस्त्युत्तरस्मिन्त्समुद्रे** (अथर्व० ११।३।२५)।

अङ्ग के अदन्त न होने पर

आत्मनेपद प्रत्यय—

	लट्			लङ्	
१ ते	आते	अते	त	आताम्	अत
२ से	आथे	ध्वे	थास्	आथाम्	ध्वम्
३ ए	वहे	महे	इ	वहि	महि

अदादि, जुहोत्यादि, स्वादि, तुदादि, रुधादि, तनादि, क्र्यादि गणों में प्रत्यय से पूर्व अदन्त अङ्ग का सम्भव नहीं। लट् के टित् होने से प्रत्यय की 'टि' को 'ए' होता है, जैसे भ्वादिगण में हुआ। अङ्ग के अदन्त न होने से

---

१. वमोर्वा (८।४।२३)।

'झ' के स्थान में 'अत' आदेश होता है। और इसी हेतु आते, आथे, आताम्, आथाम् के स्थान में इते, इथे, इताम्, इथाम् नहीं होते।

लोट्			विधिलिङ्		
१ ताम्	आताम्	अताम्	ईत	ईयाताम्	ईरन्
२ स्व	आथाम्	ध्वम्	ईथाः	ईयाथाम्	ईध्वम्
३ ऐ	आवहै	आमहै	ईय	ईवहि	ईमहि

जैसे भ्वादिगण के विषय में कह चुके हैं लोट् उत्तमपुरुष के प्रत्ययों को दोनों पदों में आट् आगम होता है और वह पित् होता है। पित् होने से इससे पूर्व अङ्ग के इक् को गुण होता है। यहाँ (यथा पूर्वत्र) आट् आगम-सहित प्रत्यय दिए गए हैं। विधिलिङ् के प्रत्ययों में कुछ भी विशेष नहीं, केवल जहाँ अदन्त अङ्ग होता है (अदादि आदि गणों में इसका संभव नहीं) वहाँ अङ्ग के 'अ' तथा प्रत्यय के 'इ' के स्थान में गुण एकादेश हो जाता है।

६०—द्विष् से परे लङ्-स्थानीय 'झि' को जुस् (=उस्) विकल्प से होता है।[1]

द्विष अप्रीतौ (द्विष्—न चाहना, द्वेष करना) उ०

लट् प०			लट् आ०		
१ **द्वेष्टि**	**द्विष्टः**	**द्विषन्ति**	**द्विष्टे**	**द्विषाते**	**द्विषते**
२ **द्वेक्षि**	**द्विष्ठः**	**द्विष्ठ**	**द्विक्षे**	**द्विषाथे**	**द्विड्ढ्वे**
३ **द्वेष्मि**	**द्विष्वः**	**द्विष्मः**	**द्विषे**	**द्विष्वहे**	**द्विष्महे**

तिप्, सिप्, मिप् के पित् होने से इनसे पूर्व धातु की लघु उपधा को गुण हुआ है। शेष सभी परस्मै० व आत्मने० प्रत्यय अपित् हैं और (४) से अपित् सार्वधातुक प्रत्यय ङित्वत् होते हैं, जिससे (३) से गुण का निषेध हो जाता है।

द्विष् ति=द्वेष् ति=द्वेष्टि। ष्टुना ष्टुः (८।४।४१) से ष्टुत्व हुआ है अर्थात् त् को ट् हुआ है। द्विष्थः=द्विष्ठः। यहाँ भी ष्टुत्व हुआ है, अर्थात् थ् को ठ् हुआ है। द्वेक्षि में धातु के ष् को स् परे होने पर षढोः कः सि (८।२।४१) से क् हुआ और इण्कोः (८।३।५७) आदेशप्रत्यययोः (८।३।५९) से प्रत्यय के स् को ष्। क् ष्=क्ष्। द्विड्ढ्वे में ष्टुत्व से ध् को ढ् हुआ। तब झलां जश् झशि (८।४।५३) से धातु के ष् को ड्।

---

१. द्विषश्च (३।४।११२)।

	लङ् परस्मै०			लङ् आत्मने०	
१ अद्वेट्-ड्	अद्विष्टाम्	अद्विषन् / अद्विषुः	अद्विष्ट	अद्विषाताम्	अद्विषत
२ अद्वेट्-ड्	अद्विष्टम्	अद्विष्ट	अद्विष्ठाः	अद्विषाथाम्	अद्विड्ढ्वम्
३ अद्वेषम्	अद्विष्व	अद्विष्म	अद्विषि	अद्विष्वहि	अद्विष्महि

अद्वेट्-ड्—अद्विष् त्=अद्वेष् त्=अद्वेष्(५८)। झलां जशोन्ते (८।२।३९) से अद्वेड् (जश्त्व)। वाऽवसाने (८।४५६) से वैकल्पिक चर्त्व होकर अद्वेट्। ऐसी ही प्रक्रिया सिप् प्रत्यय परे रहते भी होती है। तिप्, सिप्, मिप् में गुण होता है, अन्यत्र कहीं नहीं।

	लोट् प०			लोट् आ०	
१ द्वेष्टु-द्विष्टात्	द्विष्टाम्	द्विषन्तु	द्विष्टाम्	द्विषाताम्	द्विषताम्
२ द्विड्ढि-द्विष्टात्	द्विष्टम्	द्विष्ट	द्विक्ष्व	द्विषाथाम्	द्विड्ढ्वम्
३ द्वेषाणि	द्वेषाव	द्वेषाम	द्वेषै	द्वेषावहै	द्वेषामहै

लोट् में दोनों पदों में उत्तम पुरुष के प्रत्ययों के परे रहते आट् आगम के पित् होने से सर्वत्र गुण हुआ है। परस्मै०, म० पु० ए० में (५२) से हि को धि आदेश हुआ है। 'हि' के अपित् होने से स्थानिवद्भाव से 'धि' भी अपित् सार्वधातुक ङित्वत् होता है। अतः उपधा-गुण नहीं हुआ।

	विधिलिङ् प०			विधिलिङ् आ०	
१ द्विष्यात्	द्विष्याताम्	द्विष्युः	द्विषीत	द्विषीयाताम्	द्विषीरन्
२ द्विष्याः	द्विष्यातम्	द्विष्यात	द्विषीथाः	द्विषीयाथाम्	द्विषीध्वम्
३ द्विष्याम्	द्विष्याव	द्विष्याम	द्विषीय	द्विषीवहि	द्विषीमहि

लिङ् में कहीं भी गुण नहीं होता, कारण कि यासुट् आगम ङित् उपदेश किया है। आगमी (तिप् आदि) यद्यपि पित् है, तो भी विशेष-विहित ङित्त्व उस पित्त्व का बाधक हो जाता है। आत्मने० प्रत्यय सभी अपित् हैं। सीयुट् आगमी के धर्म को लेता हुआ अपित् ही है।

द्विष् सकर्मक है। द्विष् का अर्थ अनभिनन्दन है। **औषधं द्वेष्टि** ऐसा भी प्रयोग होता है। **योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः** (मै० सं० १।२।१८)। अनुक्त

कर्म में द्वितीया हुई है। द्वेष्टि प्रायो गुणेभ्यो यत् (भट्टि० १८।२) में द्विष् का ईर्ष्या अर्थ में प्रयोग किया है। वह निष्प्रमाण है, व्यवहार-प्रतिकूल है।

दुह प्रपूरणे (दुह्, दूध भरना, दोहना) उ०

लट् प०			लट् आ०		
१ दोग्धि	**दुग्धः**	**दुहन्ति**	**दुग्धे**	**दुहाते**	**दुहते**
२ धोक्षि	**दुग्धः**	**दुग्ध**	**धुक्षे**	**दुहाथे**	**धुग्ध्वे**
३ दोह्मि	**दुह्वः**	**दुह्मः**	**दुहे**	**दुह्वहे**	**दुह्महे**

दुह् ति = दोह् ति (गुण)। दोघ् ति। दादेर्धातोर्घः (८।२।३२) से दकारादि हकारान्त धातु के ह् को घ् झल् परे रहते अथवा पदान्त में। दोघ् धि। झषस्तथोर्धोऽधः (८।२।४०) से झषन्त दोघ् से परे त् (और थ् को भी) को ध् आदेश हो जाता है झल् परे रहते अथवा पदान्त में।(पर यह आदेश धा धातु से परे त्, थ् को नहीं होता)। झलां जश् झशि (८।४।५३) से जश्त्व (घ् को ग्)होकर **'दोग्धि'** रूप निष्पन्न होता है। दोह् सि = दोघ् सि। धोघ् सि। एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः (८।२।३७) से झषन्त एकाच् दोघ् के अवयव बश् (द्) को भष् (ध्) होता है सकार परे रहते (और ध्व, अथवा पदान्त में भी)। घ् को खरि च (८।४।५५) से चर्त्व (क्) होकर प्रत्यय के स् को षत्व होने पर **धोक्षि** रूप निष्पन्न होता है।

लङ् प०			लङ् आ०		
१ अधोक्-ग्	**अदुग्धाम्**	**अदुहन्**	**अदुग्ध**	**अदुहाताम्**	**अदुहत**
२ अधोक्-ग्	**अदुग्धम्**	**अदुग्ध**	**अदुग्धाः**	**अदुहाथाम्**	**अधुग्ध्वम्**
३ अदोहम्	**अदुह्व**	**अदुह्म**	**अदुहि**	**अदुह्वहि**	**अदुह्महि**

अधोक्—ग् में(५८) से अपृक्त त्(और अपृक्त स्) का लोप हो जाता है। दादेर्धातोर्घः से धातु के झषन्त हो जाने पर उसके अवयव बश् (द्) को भष् (ध्)। तब झलां जशोऽन्ते से घ् को ग् और वैकल्पिक चर्त्व होने पर ग् को क्। **अदुग्धाः**—यहाँ धातु के झषन्त हो जाने पर थास् के थ् को ध्। झलां जश् झशि से जश्त्व (ग्)।

लोट् प०			लोट् आ०		
१ दोग्धु-दुग्धात्	**दुग्धाम्**	**दुहन्तु**	**दुग्धाम्**	**दुहाताम्**	**दुहताम्**

२ दुग्धि- दुग्धात्	दुग्धम्	दुग्ध	धुक्ष्व	दुहाथाम्	धुग्ध्वम्
३ दोहानि	दोहाव	दोहाम	दोहै	दोहावहै	दोहामहै

दुग्धि—सिप् के स्थान में जो 'हि' होता है वह अपित् माना जाता है। 'हि' के स्थान में जो (५२) से 'धि' आदेश विधान किया है वह भी स्थानी के धर्म को लेता हुआ अपित् ही है, अतः यहाँ उपधा गुण नहीं हुआ। उत्तम-पुरुष के दोनों पदों के प्रत्ययों के आट् आगम के पित् होने से सर्वत्र गुण होता है।

विधिलिङ् प०			विधिलिङ् आ०		
१ दुह्यात्	दुह्याताम्	दुह्युः	दुहीत	दुहीयाताम्	दुहीरन्
२ दुह्याः	दुह्यातम्	दुह्यात	दुहीथाः	दुहीयाथाम्	दुहीध्वम्
३ दुह्याम्	दुह्याव	दुह्याम	दुहीय	दुहीवहि	दुहीमहि

यहाँ कहीं भी गुण नहीं होता। परस्मैपद में यासुट् के ङित् होने से और आत्मनेपद प्रत्ययों के अपित् होने से।

दिह उपचये (दिह्—लीपना) उ०

लट् प०			लट् आ०		
१ देग्धि	दिग्धः	दिहन्ति	दिग्धे	दिहाते	दिहते
२ धेक्षि	दिग्धः	दिग्ध	धिक्षे	दिहाथे	धिग्ध्वे
३ देह्मि	दिह्वः	दिह्मः	दिहे	दिह्वहे	दिह्महे

लङ् प०			लङ् आ०		
१ अधेक्-ग्	अदिग्धाम्	अदिहन्	अदिग्ध	अदिहाताम्	अदिहत
२ अधेक्-ग्	अदिग्धम्	अदिग्ध	अदिग्धाः	अदिहाथाम्	अधिग्ध्वम्
३ अदेहम्	अदिह्व	अदिह्म	अदिहि	अदिह्वहि	अदिह्महि

लोट् प०			लोट् आ०		
१ देग्धु- दिग्धात्	दिग्धाम्	दिहन्तु	दिग्धाम्	दिहाताम्	दिहताम्
२ दिग्धि- दिग्धात्	दिग्धम्	दिग्ध	धिक्ष्व	दिहाथाम्	धिग्ध्वम्
३ देहानि	देहाव	देहाम	देहै	देहावहै	देहामहै

	विधिलिङ् प०			विधिलिङ् आ०	
१ दिह्यात्	दिह्याताम्	दिह्युः	दिहीत	दिहीयाताम्	दिहीरन्
२ दिह्याः	दिह्यातम्	दिह्यात	दिहीथाः	दिहीयाथाम्	दिहीध्वम्
३ दिह्याम्	दिह्याव	दिह्याम	दिहीय	दिहीवहि	दिहीमहि

दिह् के रूपों में दुह् के रूपों से कुछ भी भेद नहीं है। केवल यहाँ 'इ' को 'ए' गुण हुआ है। सारी प्रक्रिया वही है जो दुह् की, अतः कुछ विशेष वक्तव्य नहीं।

लिह आस्वादने (चाटना) उ०

	लट् प०			लट् आ०	
१ लेढि	लीढः	लिहन्ति	लीढे	लिहाते	लिहते
२ लेक्षि	लीढः	लीढ	लिक्षे	लिहाथे	लीढ्वे
३ लेह्मि	लिह्वः	लिह्मः	लिहे	लिह्वहे	लिह्महे

लिह् ति—लेह् ति (गुण)। लेढ् ति। यहाँ हो ढः (८।२।३१) से ह् को ढ् होता है झल् परे रहते अथवा पदान्त विषय में। तब झषन्त धातु से परे 'त्' को ध् (फिर ष्टुत्व-विधि से ध् को ढ्)। ढ् से परे ढ् हो तो पूर्व के ढ् का लोप हो जाता है। लीढः आदि में ढ् से परे ढ् का लोप हो जाने पर पूर्व अण् को दीर्घ हो जाता है। तिप्, सिप्, मिप् परे रहते धातु को गुण हो जाता है, कारण कि ये प्रत्यय पित् हैं। लीढे, लीढ्वे में भी ढत्व, ढो ढे लोप, पूर्व अण् को दीर्घ विधियाँ होकर इष्ट रूप निष्पन्न होता है।

	लङ् प०			लङ् आ०	
१ अलेट्-ड्	अलीढाम्	अलिहन्	अलीढ	अलिहाताम्	अलिहत
२ अलेट्-ड्	अलीढम्	अलीढ	अलीढाः	अलिहाथाम्	अलीढ्वम्
३ अलेहम्	अलिह्व	अलिह्म	अलिहि	अलिह्वहि	अलिह्महि

यहाँ (५८) से पहले त् लोप, पश्चात् गुण। ह् को ढ्। जश्त्व से ड्, वैकल्पिक चर्त्व से ट्।

	लोट् प०			लोट् आ०	
१ लेढु-लीढात्	लीढाम्	लिहन्तु	लीढाम्	लिहाताम्	लिहताम्
२ लीढि-लीढात्	लीढम्	लीढ	लिक्ष्व	लिहाथाम्	लीढ्वम्
३ लेहानि	लेहाव	लेहाम	लेहै	लेहावहै	लेहामहै

विधिलिङ् प०			*विधिलिङ् आ०*		
१ लिह्यात्	लिह्याताम्	लिह्युः	लिहीत	लिहीयाताम्	लिहीरन्
२ लिह्याः	लिह्यातम्	लिह्यात	लिहीथाः	लिहीयाथाम्	लिहीध्वम्
३ लिह्याम्	लिह्याव	लिह्याम	लिहीय	लिहीवहि	लिहीमहि

यासुट् ङित् है और आत्मने० प्रत्यय सभी अपित् हैं, अतः लिङ् में कहीं भी धातु को गुण नहीं होता। प्रत्ययों के झलादि न होने से कहीं भी 'हो ढः' की प्राप्ति नहीं।

चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि (कहना) आ०

लट्			*लङ्*		
१ चष्टे	चक्षाते	चक्षते	अचष्ट	अचक्षाताम्	अचक्षत
२ चक्षे	चक्षाथे	चड्ढ्वे	अचष्ठाः	अचक्षाथाम्	अचड्ढ्वम्
३ चक्षे	चक्ष्वहे	चक्ष्महे	अचक्षि	अचक्ष्वहि	अचक्ष्महि

चक्ष्-ते—यहाँ स्कोः संयोगाद्योरन्ते च (८।२।२९) से झल् परे रहते अथवा पदान्त में संयोग के आदि क् का लोप होने से चष् ते इस अवस्था में ष्टुत्व होकर 'चष्टे' रूप सिद्ध होता है। चक्ष् से—यहाँ भी संयोग(क् ष्=क्ष्) के आदि क् का लोप होने पर चष् से इस अवस्था में 'षढोः कः सि' से 'ष् को 'क्' होकर प्रत्यय स् को 'ष्' होकर क्ष् के योग से क्ष् होने से 'चक्षे' यह इष्ट रूप सिद्ध हुआ। चक्ष्—ध्वे—यहाँ भी संयोगादि क् का लोप होने पर ष् से परे 'ध्वे' के ध् को ष्टुत्व विधि से ढ् होने पर ष् को जश्त्व विधि से ड् होने पर 'चड्ढ्वे' इष्ट रूप निष्पन्न होता है।

लोट्			*विधिलिङ्*		
१ चष्टाम्	चक्षाताम्	चक्षताम्	चक्षीत	चक्षीयाताम्	चक्षीरन्
२ चक्ष्व	चक्षाथाम्	चड्ढ्वम्	चक्षीथाः	चक्षीयाथाम्	चक्षीध्वम्
३ चक्षै	चक्षावहै	चक्षामहै	चक्षीय	चक्षीवहि	चक्षीमहि

चक्ष्—स्व—यहाँ संयोगादि क् का लोप होने पर शेष ष् को 'षढोः कः सि' से क् होने पर प्रत्यय के स् को 'आदेशप्रत्यययोः' से ष् होने पर क् ष् के योग से क्ष् हो जाने से 'चक्ष्व' यह इष्ट रूप सिद्ध हुआ।

चक्षिङ् में 'इ' अनुदात्त है और वह इत् है, तो अनुदात्तेत् होने से ही चक्षिङ् से आत्मने० सिद्ध था तो ङित् क्यों किया? वह इसलिए किया है कि अनुदात्तेत्व-निमित्त से जो आत्मनेपद विधान किया है वह कदाचित् नहीं भी

होता अर्थात् वह अनित्य है इस बात को ज्ञापित किया जाए। 'इ' के इत् होने पर भी यह धातु नुम् आगम के लिए इदित् नहीं, कारण कि नुम् आगम के लिए अन्त्य इदित् लिया जाता है। यहाँ 'इ' अनन्त्य है, अन्त्य नहीं। चक्ष् का अर्थ देखना भी है—**विश्वा रूपाण्यभिचष्टे शचीभिः** (मै० सं० २।७।१२)। चक्ष् का आङ्, वि-आङ्, प्र, परि, सम् उपसर्गों के साथ प्रयोग देखा जाता है।

ईर् गतौ (ईर्—जाना) आ०

	लट्			लङ्	
१ **ईर्ते**	**ईराते**	**ईरते**	**ऐर्त**	**ऐराताम्**	**ऐरत**
२ **ईर्षे**	**ईराथे**	**ईर्ध्वे**	**ऐर्थाः**	**ऐराथाम्**	**ऐर्ध्वम्**
३ **ईरे**	**ईर्वहे**	**ईर्महे**	**ऐरि**	**ऐर्वहि**	**ऐर्महि**

लङ् में धातु के अजादि होने से (१०) से आट् होकर (११) से वृद्धि एकादेश हुआ है।

	लोट्			विधिलिङ्	
१ **ईर्ताम्**	**ईराताम्**	**ईरताम्**	**ईरीत**	**ईरीयाताम्**	**ईरीरन्**
२ **ईर्ष्व**	**ईराथाम्**	**ईर्ध्वम्**	**ईरीथाः**	**ईरीयाथाम्**	**ईरीध्वम्**
३ **ईरै**	**ईरावहै**	**ईरामहै**	**ईरीय**	**ईरीवहि**	**ईरीमहि**

ईर्ष्व में (इण्कोः) आदेशप्रत्यययोः से 'स्व' के स् को ष् हुआ है। ईर् अण्यन्त का प्रयोग लोक में विरल है। वेद में प्रचुर है। प्रायः प्र, उद्, सम् उपसर्ग-सहित प्रयोग देखा जाता है। **उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकम्** (ऋ० १०।१८।८)। **सं प्रेरते अनु वातस्य विष्ठाः** (ऋ० १०।१६८।२)। **उदीराणा उतासीनास्तिष्ठन्तः प्रक्रामन्तः। पद्भ्यां दक्षिणसव्याभ्यां मा व्यथिष्महि भूम्याम्** (अथर्व० १२।१।२८)॥ उठते हुए, बैठते हुए, ठहरते हुए आगे चलते हुए हम पृथिवी पर दाएँ बाएँ पाओं से डिगें नहीं। लोक में णिच् सहित का प्रयोग बहुल है—**ईरयति। प्रेरयति। समीरयति। उदीरयति। प्रेरणा**—यह भी ण्यन्त ईर् से युच्-प्रत्ययान्त है। बिना 'प्र' के भी ण्यन्त ईर् से युच् प्रत्ययान्त प्रयोग मिलता है—**षण्णां भग इतीरणा** (ईरणा =संज्ञा)। **समीरण** (=वायु) भी युच् प्रत्ययान्त है—**समीर्ते** इति। अथवा ण्यन्त से नन्द्यादित्व होने से ल्यु। उद् ईर् णिच् का अर्थ ऊँचा उठाना, उच्चारण करना, कहना है—**सर्पो मां दृष्ट्वोदैरयत् फटाम्। उदीरितोऽर्थः पशुनापि गृह्यते** (हितोप० २।४९)।

कृदन्त शब्दों में कहीं-कहीं अण्यन्त ईर् का प्रयोग भी दीखता है—**स्वैरम्। स्वैरिणी। स्वेनाभिप्रायेण ईरोऽस्मिन्निति स्वैरम्। स्वेनाभिप्रायेण ईरितुं गन्तुं शीलमस्या इति स्वैरिणी।**

६१—ईश् धातु से 'से' प्रत्यय को इट् आगम होता है।[1]

६२—ईश्, ईड्, जन्—इनसे परे सार्वधातुक से, ध्वे को इट् आगम होता है।[2]

ईड स्तुतौ (ईड् स्तुति करना) आ०

लट्			लङ्		
१ ईट्टे	ईडाते	ईडते	ऐट्ट	ऐडाताम्	ऐडत
२ ईडिषे	ईडाथे	ईडिध्वे	ऐट्ठाः	ऐडाथाम्	ऐड्ढ्वम्
३ ईडे	ईड्वहे	ईड्महे	ऐडि	ऐड्वहि	ऐड्महि

'ध्वे' 'ध्वम्' की विकृति है। विकृतिग्रहणे प्रकृतेरग्रहणात् इस न्याय से ध्वम् को इट् नहीं होता। ऐड्ढ्वम्।

ईड् ते=ईड् टे (ष्टुत्व)। ईट्टे। 'खरि च' से चर्त्व, ड् को ट्। आ ईड् थाः=ऐड् ठाः (ष्टुत्व)। 'खरि च' से चर्त्व, ड् को ट्।

लोट्			विधिलिङ्		
१ ईट्टाम्	ईडाताम्	ईडताम्	ईडीत	ईडीयाताम्	ईडीरन्
२ ईडिष्व(६१)	ईडाथाम्	ईडिध्वम्(६२)	ईडीथाः	ईडीयाथाम्	ईडीध्वम्
३ ईडै	ईडावहै	ईडामहै	ईडीय	ईडीवहि	ईडीमहि

ईडिष्व—एकदेश विकृत न्याय से 'स्व' को इट् आगम होता है। 'स्व' 'से' की विकृति है। प्रकृतिग्रहणे विकृतेरपि ग्रहणम्। ऐसे ही **ईडिध्वम्** में ध्वम् 'ध्वे' की विकृति है, कारण कि लोट् के टित् होने से टि-भाग को हुए 'ए' आदेश के स्थान में पुनः अम् हो जाता है।

यद्यपि धातुपाठ में ईड् छान्दस है ऐसा नहीं कहा, तो भी इसका प्रयोग वेद में ही देखा जाता है—**अग्निमीळे पुरोहितम्** (ऋ० १।१।१)। **अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत** (ऋ० १।१।१)।

ईश ऐश्वर्ये (ईश्—स्वामी होना)

---

१. ईशः से (७।२।७७)।

२. ईडजनोर्ध्वे च (७।२।७८)।

	लट्			लङ्	
१ **ईष्टे**	**ईशाते**	**ईशते**	**ऐष्ट**	**ऐशाताम्**	**ऐशत**
२ **ईशिषे**(६१)**ईशाथे**		**ईशिध्वे** (६२)	**ऐष्ठाः**	**ऐशाथाम्**	**ऐड्ढ्वम्**
३ **ईशे**	**ईश्वहे**	**ईश्महे**	**ऐशि**	**ऐश्वहि**	**ऐश्महि**

लङ् में धातु के अजादि होने से आट् होकर वृद्धि एकादेश हुआ। विकृति 'ध्वे' का ग्रहण होने से प्रकृति 'ध्वम्' का ग्रहण नहीं हुआ, अतः **ऐड्ढ्वम्** में इडागम नहीं हुआ।

	लोट्			विधिलिङ्	
१ **ईष्टाम्**	**ईशाताम्**	**ईशताम्**	**ईशीत**	**ईशीयाताम्**	**ईशीरन्**
२ **ईशिष्व**	**ईशाथाम्**	**ईशिध्वम्**	**ईशीथाः**	**ईशीयाथाम्**	**ईशीध्वम्**
३ **ईशै**	**ईशावहै**	**ईशामहै**	**ईशीय**	**ईशीवहि**	**ईशीमहि**

अग्नेरीशीतमर्त्यः (ऋ० ४।१५।५)।

६३—धकारादि प्रत्यय परे रहते 'स्' का लोप हो जाता है।[1]

आस उपवेशने (आस्—बैठना) आ०

	लट्			लङ्	
१ **आस्ते**	**आसाते**	**आसते**	**आस्त**	**आसाताम्**	**आसत**
२ **आस्से**	**आसाथे**	**आध्वे**(६३)	**आस्थाः**	**आसाथाम्**	**आध्वम्**
३ **आसे**	**आस्वहे**	**आस्महे**	**आसि**	**आस्वहि**	**आस्महि**

	लोट्			विधिलिङ्	
१ **आस्ताम्**	**आसाताम्**	**आसताम्**	**आसीत**	**आसीयाताम्**	**आसीरन्**
२ **आस्स्व**	**आसाथाम्**	**आध्वम्**(६३)	**आसीथाः**	**आसीयाथाम्**	**आसीध्वम्**
३ **आसै**	**आसावहै**	**आसामहै**	**आसीय**	**आसीवहि**	**आसीमहि**

आस् का प्रयोग उप, परि-उप, अनु, अधि उपसर्गों के साथ अर्थ-विशेष में होता है। सम् के साथ भी प्रयोग होता है, तब अर्थभेद कुछ भी नहीं होता। **मुनयः सन्ध्यामुपासते,** मुनि सन्ध्या समय तक (ईश्वर चिन्तन में) बैठते हैं। **उपैनमाध्वं सुमनस्यमानाः** (ऋ० ७।३३।१४)।

आङः शासु इच्छायाम्। आङ्पूर्वक शास् चाहने अर्थ में आत्मनेपदी। **आशास्ते। आशास्त। आशास्ताम्। आशासीत।** ध्वे, ध्वम् परे रहते **आशाध्वे। आशाध्वम्।** स-लोप।

---

१. धि च (८।२।२५)।

शास् के साथ आङ् उपसर्ग का योग प्रायिक है, **क्योंकि** भवभूति ने **'नमोवाकं प्रशास्महे'** में प्र शब्द का भी प्रयोग किया है। ऐसा भट्टोजिदीक्षित का विचार है। वस्तुतः भवभूति का ऐसा करना व्यवहार का अतिक्रममात्र है। शासु अनुशिष्टौ के साथ तो प्र आदि का योग देखा जाता है, इच्छार्थक शास् के साथ नहीं। **इच्छार्थः शासुस्त्वाङं न व्यभिचरति।**

वस आच्छादने (पहनना, ओढ़ना)। **वस्ते। अवस्त। वस्ताम्। वसीत। वस्से** में स् को 'त्' नहीं होता, कारण कि 'से' सार्वधातुक है। **वध्वे** में स् का लोप हो जाता है। **वसीत चर्म चीरं वा सायं स्नायात्प्रगे तथा** (मनु० ६।६)। **स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते स्वं वस्ते स्वं ददाति च** (मनु० १।११)। **आशावासो वसीमहि** (भर्तृ० वं० वं० श०)। हम दिशारूपी वस्त्र को धारण करें। णिसि चुम्बने (चूमना), णोपदेश। **निंस्ते। अनिंस्त। निंस्ताम्। निंसीत।** इदित् होने से नुम्।

णिजि शुद्धौ (शुद्ध करना)। णोपदेश। इदित्। नुम्। **निङ्क्ते। अनिङ्क्त। निङ्क्ताम्। निञ्जीत।** ध्वे, ध्वम् परे रहते—**निङ्ग्ध्वे। निङ्ग्ध्वम्।** शिजि अव्यक्ते शब्दे (धनुर्गुण का शब्द करना)। **शिङ्क्ते। अशिङ्क्त। शिङ्क्ताम्। शिञ्जीत। शिञ्जनी**=धनुष् की डोरी। उपचार से नूपुर आदि के शब्द में भी शिञ्ज् का प्रयोग होता है—**कूजितं राजहंसानां नेदं नूपुर-शिञ्जितम्** (विक्रम० ४।२४)।

वृजी वर्जने (दूर करना, काटना, नाश करना)। ईदित्। **वृक्ते।** वृजाते। वृजते। **वृक्षे। कुत्व,** षत्व। **अवृक्त। अवृक्थाः**(कुत्व)। **वृजीत।** यह धातु इदित् भी मानी जाती है। नुम्। **वृङ्क्ते। अवृङ्क्त। वृङ्क्ताम्। वृञ्जीत। तन्मे रेतः पिता वृक्ताम्** (मनु० ९।२० में उद्धृत श्रुति)। **वृक्ताम्**=शोधयतु। **बर्हिर्वा यत्स्वपत्याय वृज्यते** (ऋ० १।८३।६, अथर्व० २०।२५।६)। जब कुशा अपतन के हेतुभूत शुभकर्म के लिए काटी जाती है। **चक्षुर्वा भ्रातृव्यस्य वृङ्क्ते,** शत्रु की आँख को काटता है (=निकालता है)। पृची सम्पर्चने (संयोजन, मिलाना)। **पृक्ते। अपृक्त। अपृक्थाः। पृक्ताम्। पृचीत।** पृच् का प्रयोग प्रायः सम् उपसर्ग पूर्वक ही होता है, इसीलिये अर्थ-निर्देश में सम्पूर्वक पृच् का प्रयोग किया है। केवल पृच् का प्रयोग **'मधुपर्क'** में अवश्य मिलता है।

६४—भू तथा सू को तिङ् परे रहते गुण नहीं होता।[1]

---

१. भू-सुवोस्तिङि (७।३।८८)। सूत्र में 'सू' अदादि का ग्रहण है।

षूङ् प्राणिगर्भविमोचने (बच्चा जनना) ।

सूते । असूत । सूताम् । सुवीत । इसी प्रकार **सुवाते । सुवते । सुवै** (लोट् उ० पु०) एक० । आट् आगम के पित् होने से गुण प्राप्त था । गुण का निषेध होने से उवङ् हुआ ।

६५—सार्वधातुक प्रत्यय परे होने पर शीङ् को गुण होता है ।[1] आत्मनेपद प्रत्यय सभी अपित् हैं और (४) से ङित्वत् होते हैं । (५) से गुण का निषेध प्राप्त था । सो यह विधि उस का अपवाद है ।

६६—शीङ् से परे झ-स्थानिक 'अत' को रुट् (र्) आगम होता है ।[2]

शीङ् स्वप्ने (शी—सोना, लेटना) आ०

	लट्			लङ्	
१ **शेते**	**शयाते**	**शेरते**	**अशेत**	**अशयाताम्**	**अशेरत**
२ **शेषे**	**शयाथे**	**शेध्वे**	**अशेथाः**	**अशयाथाम्**	**अशेध्वम्**
३ **शये**	**शेवहे**	**शेमहे**	**अशयि**	**अशेवहि**	**अशेमहि**
	लोट्			विधिलिङ्	
१ **शेताम्**	**शयाताम्**	**शेरताम्**	**शयीत**	**शयीयाताम्**	**शयीरन्**
२ **शेष्व**	**शयाथाम्**	**शेध्वम्**	**शयीथाः**	**शयीयाथाम्**	**शयीध्वम्**
३ **शयै**	**शयावहै**	**शयामहै**	**शयीय**	**शयीवहि**	**शयीमहि**

शी आते=शे आते (गुण)=शय् आते (ए को अय् अच् परे रहते) । शी ऐ=शे ऐ (गुण)=शयै (ए को अय्) ।

उपस्थिते महति भये किमिति सुखं गाढं शेषे ? गतासुमेतमुपशेष एहि (ऋ० १०।१८।८) । इस मृत (पति) के समीप लेट रही हो, आओ । शीङ् का आङ्, अधि, उप, अनु, अति—उपसर्गों के साथ प्रयोग देखा जाता है—**जलाशयो जलाधारः । जलानि आशेरतेऽत्रेति ।** अधिपूर्वक शीङ् सकर्मक होता है—**शय्यामधिशेते ।** अनुपूर्वक का सकर्मकतया तथा अकर्मकतया प्रयोग देखा जाता है—**शयानं चानुशेते हि तिष्ठन्तमनुतिष्ठति । अनुधावति धावन्तं कर्म पूर्वकृतं नरम् ।। अनुशेते** =साथ लगा रहता है । **अनुशयः**=दीर्घ द्वेष, अनुताप । **दत्तमिष्टमपि नान्वशेत सः** (माघ० १४।४५) । वह इष्ट वस्तु के दिए जाने पर पछताता नहीं था । (सकर्मक) । **पुराऽनुशेते तव चञ्चलं मनः**

---

१. शीङः सार्वधातुके गुणः (७।४।२१) ।

२. शीङो रुट् (७।१।६) ।

(किरात० ८।८)। (अकर्मक)। तेरा चञ्चल मन शीघ्र ही अनुतप्त होगा। अतिशी भी सकर्मक है—**पूर्वान्महाभाग तयाऽतिशेषे** (रघु० ५।१४), हे महाभाग, तुम अपने पूर्वजों से उस (भक्ति) के द्वारा बढ़ गए हो।

इङ् अध्ययने (इ—पढ़ना) आ०

	लट्			*लङ्*		
१	**अधीते**	**अधीयाते**	**अधीयते**	**अध्यैत**	**अध्यैयाताम्**	**अध्यैयत**
२	**अधीषे**	**अधीयाथे**	**अधीध्वे**	**अध्यैथाः**	**अध्यैयाथाम्**	**अध्यैध्वम्**
३	**अधीये**	**अधीवहे**	**अधीमहे**	**अध्यैयि**	**अध्यैवहि**	**अध्यैमहि**
	लोट्			*विधिलिङ्*		
१	**अधीताम्**	**अधीयाताम्**	**अधीयताम्**	**अधीयीत**	**अधीयीयाताम्**	**अधीयीरन्**
२	**अधीष्व**	**अधीयाथाम्**	**अधाध्वम्**	**अधीयीथाः**	**अधीयीयाथाम्**	**अधीयीध्वम्**
३	**अध्ययै**	**अध्ययावहै**	**अध्ययामहै**	**अधीयीय**	**अधीयीवहि**	**अधीयीमहि**

इङ् का अधि उपसर्ग के बिना प्रयोग नहीं होता।

अधि इ ते=अधीते (सवर्णदीर्घ)। अधि इ आते। अधि इयङ् आते। यद्यपि **पूर्वं धातुरुपसर्गेण युज्यते** इस मत से अन्तरङ्ग होने से पहले सवर्णदीर्घ प्राप्त होता है पश्चात् इयङ्, तो भी **पूर्वं धातुः साधनेन युज्यते** इस मत का आश्रयण करके पहले इयङ् होता है, पश्चात् सवर्णदीर्घ—अधीयाते। अधि-आट् इ त=अधि ऐ त (११) से वृद्धि एकादेश। यण्। अधि इ आताम्=अधि इयङ् आताम्=अधि आट् इय् आताम्=अधि ऐ य् आताम् (वृद्धि एकादेश)=अध्यैयाताम् (यण्)। इस प्रक्रिया में इयङ् विधायक शास्त्र (६।४।७७) पर है और आट् विधायक (६।४।७२) पूर्व है। अतः इयङ् पहले हुआ ततः आट्, ततः यण्। ऐसे ही अध्यैयि में जानें। अध्ययै (लोट् उ० पु० ए०)। यहाँ गुण, अयादेश होने पर उपसर्ग को यण्। इस क्रम में सूत्र-कार का अपना प्रयोग णेरध्ययने वृत्तम् (७।२।२६) ज्ञापक है। पूर्वं धातुरुप-सर्गेण युज्यते इस मत के अनुसार अधि इ आट् ऐ, यहाँ अधि इ के योग से प्रथम अन्तरङ्ग सवर्णदीर्घ प्राप्त होता है। अधी ऐ=अधे (गुण) ऐ=अधयै —यह अनिष्टरूप प्रसक्त होता है।

अधि इङ् का लौकिक व वैदिक साहित्य में प्रचुरतम प्रयोग है। **यद्यपि बहु नाधीषे तथापि पठ पुत्र व्याकरणम्। अहरहः स्वाध्यायमधीयीत,** प्रतिदिन वेदपाठ करे।

ह्नुङ् अपनयने (ह्नु—दूर करना, छिपाना, इन्कार करना) आ०

	लट्			लङ्	
१ ह्नुते	ह्नुवाते (उवङ्)	ह्नुवते	अह्नुत	अह्नुवाताम्	अह्नुवत
२ ह्नुषे	ह्नुवाथे	ह्नुध्वे	अह्नुथाः	अह्नुवाथाम्	अह्नुध्वम्
३ ह्नुवे	ह्नुवहे	ह्नुमहे	अह्नुवि	अह्नुवहि	अह्नुमहि

	लोट्			विधिलिङ्	
१ ह्नुताम्	ह्नुवाताम्	ह्नुवताम्	ह्नुवीत	ह्नुवीयाताम्	ह्नुवीरन्
२ ह्नुष्व	ह्नुवाथाम्	ह्नुध्वम्	ह्नुवीथाः	ह्नुवीयाथाम्	ह्नुवीध्वम्
३ ह्नवै (गुण)	ह्नवावहै	ह्नवामहै	ह्नुवीय	ह्नुवीवहि	ह्नुवीमहि

ह्नु का प्रयोग प्रायः अप तथा नि पूर्वक होता है। **अपह्नुते। निह्नुते। शतं मे धारयसि, यदि न सहसे दातुम्, मा दाः, अपह्नुषे किम्,** तूने मेरे सौ रुपये देने हैं, यदि नहीं दे सकते हो, मत दो, इन्कार क्यों करते हो? निह्नु का भी ऐसा ही अर्थ है। **ह्नुङ्** का मूल अर्थ **अपनयन** (दूर करना) मनु के निम्नस्थ श्लोक में मिलता है—

तस्यैष व्यभिचारस्य निह्नवः सम्यगुच्यते (९।२१)। **निह्नवः**=शोधनः **प्रायश्चित्तम्** इत्यर्थः।

यहाँ आदादिक आत्मनेपदी धातुएँ समाप्त हुईं।

६७—प्रत्यय का लुक् (जैसे शप् का लुक्) होने पर उकारान्त अङ्ग को वृद्धि होती है हलादि पित् सार्वधातुक परे होने पर। यह वृद्धि अभ्यस्त अङ्ग को नहीं होती।[1]

यु मिश्रणामिश्रणयोः (यु—मिलाना, जुदा करना) प०

	लट्			लङ्	
१ यौति (६७)	युतः	युवन्ति (उवङ्)	अयौत्	अयुताम्	अयुवन्
२ यौषि	युथः	युथ	अयौः	अयुतम्	अयुत
३ यौमि	युवः	युमः	अयवम्	अयुव	अयुम

	लोट्				
१ यौतु-युतात्	युताम्	युवन्तु	युयात्	युयाताम्	युयुः
२ युहि-युतात्	युतम्	युत	युयाः	युयातम्	युयात
३ यवानि	यवाव	यवाम	युयाम्	युयाव	युयाम

१. उतो वृद्धिर्लुकि हलि (७।३।८९)।

अयवम् में अम् पित् है मिप् के स्थानी होने से। पर हलादि नहीं। अतः वृद्धि नहीं हुई, यथाप्राप्त गुण हुआ। **युतात्** में तातङ् हलादि सार्वधातुक तो है पर पित् नहीं, किन्तु ङित् है। अतः वृद्धि नहीं हुई। **युहि** में भी सिप् के स्थान में हुआ 'हि' अपित् माना गया है, अतः वृद्धि की प्राप्ति नहीं। अपित् सार्वधातुक ङित् वत् होता है अतः (५) से गुण का निषेध हो गया। **यवानि** में आट् आगम के पित् होने से अङ्ग 'यु' के 'उ' को गुण हुआ। तब अवादेश।

युयात्—यहाँ यासुट् आगम के ङित् होने से वृद्धि नहीं हुई। ङिच्च पिन्न—इस भाष्यवचन के अनुसार आगमी तिप् के धर्म को लेकर यासुट् पित् नहीं बन सकता। लोक में तिङन्त रूप में 'यु' का प्रयोग दुर्लभ है। कृदन्त रूप में बहुल है—**युत। वियुत। संयुत। श्रीयुत।** वेद में जोड़ने और जुदा करने—इन दोनों अर्थों में प्रचुर प्रयोग मिलता है—**वायो शतं हरीणां युवस्व पोष्याणाम्** (ऋ० ४।४८।५)। यहाँ गण (तुदा०) और पद (आत्मने०) छान्दस हैं। **युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनः** (ऋ०), हमसे कुटिलता तथा पाप को दूर कीजिए। यु को जुहोत्यादि मानकर भी पाणिनीय व्याकरण से 'युयोधि' रूप की सिद्धि दुर्लभ है।

इसी प्रकार णु स्तुतौ (स्तुति करना, णोपदेश), टुक्षु शब्दे (खाँसना, छींकना, टु इत् है), क्ष्णु तेजने (तेज़ करना), ष्णु प्रस्रवणे (टपकना, णोपदेश), द्यु अभिगमने (की ओर बढ़ना), षु प्रसवैश्वर्ययोः (अभ्यनुज्ञा देना, स्वामी होना), कु शब्दे (शब्द करना) के रूप जानें। **नौति। नुतः। नुवन्ति। नुवन्तीदम् इति नवम्**, नया (अक्षरार्थ=जिसकी स्तुति की जाती है)। **प्रणवः**=ओङ्कारः। **प्रणूयतेऽनेनेति। द्विधा-प्रयुक्तेन च वाङ्मयेन सरस्वती तन्मिथुनं नुनाव** (लिट्)—कुमार० ७।९०। द्व्यर्थक वाक्सन्दर्भ से सरस्वती ने उस युगल की स्तुति की। **शस्त्रीं क्ष्णौति**, छुरी को तेज़ करता है। **प्रस्नुतस्तनी गौः**, गौ जिसके स्तन टपक रहे हैं। **गृहात्सम्प्रस्थिते तस्मिन्कश्चिदक्षौत्, ततः स व्यरमत्।** जब वह घर से चला, तब किसी ने छींक मारी और वह ठहर गया।

६८—रु तथा स्तु से परे हलादि सार्वधातुक तिङ् को विकल्प से ईट् आगम होता है।[1]

---

१. तु-रु-स्तु-शम्यमः सार्वधातुके (७।३।९५)।

रु शब्दे (रु—शब्द करना)

लट्			लङ्		
१ रौति- रवीति	रुतः- रवीतः	रुवन्ति	अरौत्- अरवीत्	अरुताम् अरुवीताम्	अरुवन्
२ रौषि- रवीषि	रुथः- रुवीथः	रुथ- रुवीथ	अरौः- अरवीः	अरुतम् अरुवीतम्	अरुत अरुवीत
३ रौमि- रवीमि	रुवः- रुवीवः	रुमः- रुवीमः	अरवम् (गुण)	अरुव अरुवीव	अरुम अरुवीम

उभयपदी धातुएँ

ष्टुञ् स्तुतौ (स्तु—स्तुति करना)

लट् प०			लङ् प०		
१ स्तौति-(६७) स्तवीति (गुण)	स्तुतः स्तुवीतः	स्तुवन्ति (उवङ्)	अस्तौत् अस्तवीत्	अस्तुताम् अस्तुवीताम्	अस्तुवन्
२ स्तौषि- स्तवीषि	स्तुथः- स्तुवीथः	स्तुथ स्तुवीथ	अस्तौः अस्तवीः	अस्तुतम् अस्तुवीतम्	अस्तुत अस्तुवीत
३ स्तौमि- स्तवीमि (गुण)	स्तुवः स्तुवीवः	स्तुमः- स्तुवीमः	अस्तवम्	अस्तुव अस्तुवीव	अस्तुम अस्तुवीम

स्तवीति—ईट् आने से सार्वधातुक प्रत्यय हलादि न रहा, अतः वृद्धि का प्रसङ्ग न होने से यथाप्राप्त गुण हुआ। **स्तुवीतः** में ईट् होकर उवङ् हुआ।

ईट् के लिए हलादि (पित्, अपित्) सार्वधातुक चाहिए, अतः **स्तुवीतः**, **स्तुवीथः**, **अस्तवीत्** (गुण), **अस्तुवीताम्** आदि में ईट् हुआ। **अस्तवम्** में नहीं, कारण कि यहाँ प्रत्यय अजादि (अम्) है। मिप् के स्थान में होने से पित् हैं, अतः गुण हुआ। अस्तो अम्=अस्तवम् (अवादेश)।

लोट्			विधिलिङ्		
१ स्तौतु-स्तवीतु स्तुवीतात्-स्तुतात्	स्तुताम् स्तुवीताम्	स्तुवन्तु (४४)	स्तुयात् स्तुवीयात्	स्तुयाताम् स्तुवीयाताम्	स्तुयुः स्तुवीयुः
२ स्तुहि-स्तुवीहि स्तुवीतात्-स्तुतात्	स्तुतम् स्तुवीतम्	स्तुत स्तुवीत	स्तुयाः स्तुवीयाः	स्तुयातम् स्तुवीयातम्	स्तुयात स्तुवीयात
३ स्तवानि	स्तवाव	स्तवाम	स्तुयाम् स्तुवीयाम्	स्तुयाव स्तुवीयाव	स्तुयाम स्तुवीयाम

लोट् उ० पु० में आट् आगम के पित् होने से सर्वत्र गुण हुआ।

	लट् आ०		लङ् आ०		
१ स्तुते-स्तुवीते	स्तुवाते	स्तुवते	अस्तुत / अस्तुवीत	अस्तुवाताम्	अस्तुवत
२ स्तुषे-स्तुवीषे	स्तुवाथे	स्तुध्वे / स्तुवीध्वे	अस्तुथाः / अस्तुवीथाः	अस्तुवाथाम्	अस्तुध्वम् / अस्तुवीध्वम्
३ स्तुवे	स्तुवहे / स्तुवीवहे	स्तुमहे / स्तुवीमहे	अस्तुवि	अस्तुवहि / अस्तुवीवहि	अस्तुमहि / अस्तुवीमहि

	लोट्		विधिलिङ्		
१ स्तुताम्	स्तुवाताम्(४४)	स्तुवताम्	स्तुवीत	स्तुवीयाताम्	स्तुवीरन्
स्तुवीताम्					
२ स्तुष्व / स्तुवीष्व	स्तुवाथाम्	स्तुध्वम् / स्तुवीध्वम्	स्तुवीथाः	स्तुवीयाथाम्	स्तुवीध्वम्
३ स्तवै	स्तवावहै	स्तवामहै	स्तुवीय	स्तुवीवहि	स्तुवीमहि

स्तुवाते। स्तुवते। अस्तुवाताम् आदि में सार्वधातुक प्रत्यय के अजादि होने से ईट् नहीं हुआ। आत्मनेपद प्रत्यय सभी अपित् हैं, अतः यहाँ कहीं भी वृद्धि का प्रसङ्ग नहीं। **स्तवै। स्तवावहै। स्तवामहै** (लोट् उ० पु०) में आट् के पित् होने से सर्वत्र गुण हुआ है। गुण होकर अवादेश। उपसर्गस्थ निमित्त से स्तु को (२१) से षत्व होता है—**अभिष्टौति। अभिष्टवीति। अभिष्टुते। अभिष्टुवीते**। पर **प्रस्तौति**। उपसर्गस्थ निमित्त (इण्) न होने से।

सु आदि धातुओं को जो (२१) से षत्व होता है वह अट् आगम के व्यवधान होने पर भी होता है (२३)। ऐसा ही सेव् धातु को भी—

अभ्यष्टौत्। अभ्यष्टवीत्।

परिपूर्वक 'स्तु' को अडागम-व्यवधान होने पर षत्व विकल्प से होता है —**पर्यष्टौत्। पर्यस्तौत्।**

६९—ब्रू धातु से परे लट् परस्मै० के पहले पाँच प्रत्ययों के स्थान में णल् अतुस्, उस्, थल्, अथुस् आदेश विकल्प से होते हैं और साथ ही 'ब्रू' को आह् आदेश हो जाता है।[1]

---

१. ब्रुवः पञ्चानामादित आहो ब्रुवः (३।४।८४)।

७०—आह् के ह् को थ् आदेश हो जाता है झल् परे होने पर।[1]

ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि (ब्रू—बोलना)। उ०

लट्

१ आह। आहतुः। आहुः। आत्थ। आहथुः। 'आत्थ'—यहाँ 'थ्' सिप् के स्थान में होने से पित् है, तो भी वक्ष्यमाण (७१) विधि से ईट् नहीं होता, कारण कि ह् को थ् आदेश झल् परे होने पर विधान किया है। यदि ईट् हो जाए तो झल् न रहने से 'थ्' ही न हो सकेगा।

७१—ब्रू से परे हलादि पित् सार्वधातुक को ईट् आगम होता है।[2]

ब्रू परस्मैपदी

१ ब्रवीति	**ब्रूतः**	**ब्रुवन्ति (उवङ्)**	**अब्रवीत्**	**अब्रूताम्**	**अब्रुवन्**
२ ब्रवीषि	**ब्रूथः**	**ब्रूथ**	**अब्रवीः**	**अब्रूतम्**	**अब्रूत**
३ ब्रवीमि	**ब्रूवः**	**ब्रूमः**	**अब्रवम्**	**अब्रूव**	**अब्रूम**

लोट्			*विधिलिङ्*		
१ ब्रवीतु-ब्रूतात्	**ब्रूताम्**	**ब्रुवन्तु**	**ब्रूयात्**	**ब्रूयाताम्**	**ब्रूयुः**
२ ब्रूहि-ब्रूतात्	**ब्रूतम्**	**ब्रूत**	**ब्रूयाः**	**ब्रूयातम्**	**ब्रूयात**
३ ब्रवाणि	**ब्रवाव**	**ब्रवाम**	**ब्रूयाम्**	**ब्रूयाव**	**ब्रूयाम**

ब्रवीति—यहाँ ईट् होकर गुण और अवादेश होकर इष्ट रूप निष्पन्न होता है। **अब्रवम्**—यहाँ अम् के पित् होने पर भी हलादि न होने से ईट् नहीं हुआ। यथाप्राप्त गुण तो हुआ। अवादेश। **ब्रूहि-ब्रूतात्**—यहाँ प्रत्यय के अपित् तथा ङित् होने से ईट् नहीं हुआ और इसीलिए गुण भी नहीं हुआ। **ब्रवाणि** आदि में आट् आगम के पित् होने से गुण हुआ, प्रत्यय के हलादि न होने से ईट् नहीं हुआ। **ब्रूयात्** आदि में यासुट् के ङित् होने से हलादि होने पर भी ईट् नहीं हुआ। ङित् होने से (५) से गुण का निषेध हो गया।

ब्रू आत्मनेपदी

लट्			*लङ्*		
१ ब्रूते	**ब्रुवाते**	**ब्रुवते(४४)**	**अब्रूत**	**अब्रुवाताम्**	**अब्रुवत**
२ ब्रूषे	**ब्रुवाथे**	**ब्रूध्वे**	**अब्रूथाः**	**अब्रुवाथाम्**	**अब्रूध्वम्**
३ ब्रुवे	**ब्रूवहे**	**ब्रूमहे**	**अब्रुवि**	**अब्रूवहि**	**अब्रूमहि**

---

१. आहस्थः (८।२।३५)।

२. ब्रुव ईट् (७।३।९३)।

लोट्			विधिलिङ्		
१ ब्रूताम्	ब्रुवाताम्	ब्रुवताम्	ब्रुवीत	ब्रुवीयाताम्	ब्रुवीरन्
२ ब्रूष्व	ब्रुवाथाम्	ब्रूध्वम्	ब्रुवीथाः	ब्रुवीयाथाम्	ब्रुवीध्वम्
३ ब्रवै	ब्रवावहै	ब्रवामहै	ब्रुवीय	ब्रुवीवहि	ब्रुवीमहि

आत्मनेपद प्रत्यय सभी अपित् हैं अतः ईट् आगम का प्रसङ्ग ही नहीं। अपित् होने से ही कहीं भी गुण की प्राप्ति नहीं। अतः अजादि प्रत्यय परे रहते उवङ् होता है। लोट् उ० पु० में आट् के पित् होने से धातु को गुण (और अवादेश) होकर ब्रवै आदि रूप होते हैं।

७२—ऊर्णुञ् को लुग्विषय में हलादि पित् सार्वधातुक परे होने पर विकल्प से वृद्धि होती है।[1] (६७) से नित्य वृद्धि प्राप्त थी।

७३—ऊर्णुञ् को अपृक्त हलादि पित् सार्वधातुक परे रहते गुण होता है।[2] यह (६७) का अपवाद है।

ऊर्णुञ् आच्छादने (ऊर्णु—ढाँपना) उ०

लट् प०			लङ् प०		
१ ऊर्णौति / ऊर्णोति	ऊर्णुतः	ऊर्णुवन्ति (उवङ्)	और्णोत्	और्णुताम्	और्णुवन्
२ ऊर्णौषि / ऊर्णोषि	ऊर्णुथः	ऊर्णुथ	और्णोः	और्णुतम्	और्णुत
३ ऊर्णौमि / ऊर्णोमि	ऊर्णुवः	ऊर्णुमः	और्णवम्	और्णुव	और्णुम

लोट् प०			विधिलिङ् प०		
१ ऊर्णौतु / ऊर्णोतु / ऊर्णुतात्	ऊर्णुताम्	ऊर्णुवन्तु	ऊर्णुयात्	ऊर्णुयाताम्	ऊर्णुयुः
२ ऊर्णुहि / ऊर्णुतात्	ऊर्णुतम्	ऊर्णुत	ऊर्णुयाः	ऊर्णुयातम्	ऊर्णुयात
३ ऊर्णवानि	ऊर्णवाव	ऊर्णवाम	ऊर्णुयाम्	ऊर्णुयाव	ऊर्णुयाम

और्णोत् आदि में धातु के अजादि होने से आट् आगम होकर वृद्धि एकादेश हुआ। **और्णवम्** में प्रत्यय के पित् होने पर भी हलादि नो हने से

---

१. ऊर्णोतेर्विभाषा (७।३।९०)।

२. गुणोऽपृक्ते (७।३।९१)।

वैकल्पिकी वृद्धि भी नहीं हुई। यथाप्राप्त गुण होकर अवादेश हुआ। ऊर्णुहि में 'हि' के अपित् होने से वैकल्पिकी वृद्धि का प्रसङ्ग ही नहीं। अङ्ग के अदन्त न होने से 'हि' का लुक् न हुआ।

ऊर्णुञ्

	लट् आ०			लङ् आ		
१	**ऊर्णुते**	**ऊर्णुवाते**	**ऊर्णुवते**	**और्णुत**	**और्णुवाताम्**	**और्णुवत**
२	**ऊर्णुषे**	**ऊर्णुवाथे**	**ऊर्णुध्वे**	**और्णुथाः**	**और्णुवाथाम्**	**और्णुध्वम्**
३	**ऊर्णुवे**	**ऊर्णुवहे**	**ऊर्णुमहे**	**और्णुवि**	**और्णुवहि**	**और्णुमहि**

	लोट् आ०			विधिलिङ् आ०		
१	**ऊर्णुताम्**	**ऊर्णुवाताम्**	**ऊर्णुवताम्**	**ऊर्णुवीत**	**ऊर्णुवीयाताम्**	**ऊर्णुवीरन्**
२	**ऊर्णुष्व**	**ऊर्णुवाथाम्**	**ऊर्णुध्वम्**	**ऊर्णुवीथाः**	**ऊर्णुवीयाथाम्**	**ऊर्णुवीध्वम्**
३	**ऊर्णवै**	**ऊर्णवावहै**	**ऊर्णवामहै**	**ऊर्णुवीय**	**ऊर्णुवीवहि**	**ऊर्णुवीमहि**

आत्मनेपद प्रत्यय सभी अपित् हैं अतः वृद्धि का प्रसङ्ग ही नहीं, गुण की भी प्राप्ति नहीं। लोट् उ० पु० में आट् के पित् होने से सर्वत्र गुण हुआ है। अन्यत्र अजादि प्रत्यय परे रहते ऊर्णु के 'उ' को उवङ् हुआ है।

ऊर्णु का प्रायः अप, वि अभि पूर्वक प्रयोग देखा जाता है। **अपोर्णुहि द्वारम्,** दरवाज़ा खोल दो। **अभ्यूर्णोति यन्नग्नम्** (ऋ० ८।७९।२)। जो नंगे को ढाँपता है।

७४—अजादि प्रत्यय परे रहते इण् (इ) को यण् (य्) होता है।[1] यह इयङ् का अपवाद है। गुण, वृद्धि तो **पर** होने से इस यण् विधि के बाधक हैं। यह कार्य इक् (इ) (स्मरण करना) को भी होता है।

इण गतौ (इ—जाना) प०

	लट्			लङ्		
१	**एति**	**इतः**	**यन्ति**	**ऐत्**	**ऐताम्**	**आयन्**
२	**एषि**	**इथः**	**इथ**	**ऐः**	**ऐतम्**	**ऐत**
३	**एमि**	**इवः**	**इमः**	**आयम्**	**ऐव**	**ऐम**

	लोट्			विधिलिङ्		
१	**एतु-इतात्**	**इताम्**	**यन्तु**	**इयात्**	**इयाताम्**	**इयुः**

१. इणो यण् (६।४।८१)। इण्वद् इक इति वक्तव्यम् (वा०)।

२ **इहि-** **इतात्**	**इतम्**	**इत**	**इयाः**	**इयातम्**	**इयात**
३ **अयानि**	**अयाव**	**अयाम**	**इयाम्**	**इयाव**	**इयाम**

ऐत्—यहाँ आट् इ त् इस अवस्था में पर होने से गुण यण् को बाधता है और आटश्च से जो वृद्धि प्राप्त होती है वह वार्ण (वर्ण-सम्बन्धी) कार्य है। वार्ण कार्य से आङ्ग कार्य बलवत्तर होता है (**वार्णादाङ्गं बलीयः**)—यह न्याय है। अतः गुण (इ को ए) होने पर पीछे वृद्धि एकादेश होता है। ऐसे ही **ऐताम्** में जानें। **आयम्** (गुण, अयादेश, वृद्धि एकादेश)। **आयन्**—यहाँ विशेष-विहित यण् होकर **आभीय** होने से उसके असिद्ध होने से आट्। **अयानि** आदि में यण् को बाधकर गुण होता है।

इण् का आङ्, अप, उप, प्र, अति, वि आदि उपसर्गों के साथ योग होता है। **एति। अपैति। उपैति। प्रैति। अत्येति। व्येति।**

वार्तिककार के मत से इक् (इ) स्मरणे (जो नित्य अधिपूर्व ही प्रयुक्त होता है) को इण् के समान कार्य होता है। आर्धधातुकाधिकारोक्त कार्य 'इणो गा लुङि' का अतिदेश करने के लिए यह वचन पढ़ा है, ऐसा कुछ लोग मानते हैं। पर पदमञ्जरीकार हरदत्त ऐसा नहीं मानता। उसके अनुसार भट्टिकाव्य का **ससीतयो राघवयोरधीयन्** यह प्रयोग चिन्त्य है।

इक् (इ) **स्मरणे** (याद करना) प०

अध्येति। अधीतः। अधियन्ति। इत्यादि। **अध्येति शिशुरम्बायाः।**

वी गति-व्याप्ति-प्रजन-कान्त्य् असन-खादनेषु

(**वी**—जाना, व्याप्त करना, गर्भग्रहण करना, चाहना, फेंकना, खाना) प०

लट्			लङ्		
१ **वेति**	**वीतः**	**वियन्ति**(इयङ्)	**अवेत्**(गुण)	**अवीताम्**	**अवियन्**
२ **वेषि**	**वीथः**	**वीथ**	**अवेः**	**अवीतम्**	**अवीत**
३ **वेमि**	**वीवः**	**वीमः**	**अवयम्**(गुण)	**अवीव**	**अवीम**

अवियन्—यहाँ अडागम से परे होने से पहले इयङ् हुआ। दूसरे लोग **कृताकृतप्रसङ्गी विधिर्नित्यः**, इयङ् होने पर भी अट् आगम की निर्बाध प्राप्ति है और इयङ् से पहले भी, अतः अट् नित्य है और नित्य पर से बलवत्तर होता है। अट् होने पर अङ्ग अनेकाच् हो जाता है, अतः यण् होकर 'अव्यन्' ऐसा

रूप होना चाहिए ऐसा मानते हैं। लावस्था में ही अट् हो जाता है इस पक्ष में तो अङ्ग के अनेकाच् होने से यण् की ही प्राप्ति है।

	लोट्			विधिलिङ्	
१ **वेतु-वीतात्**	**वीताम्**	**वियन्तु**	**वीयात्**	**वीयाताम्**	**वीयुः**
२ **वीहि वीतात्**	**वीतम्**	**वीत**	**वीयाः**	**वीयातम्**	**वीयात**
३ **वयानि**	**वयाव**	**वयाम**	**वीयाम्**	**वीयाव**	**वीयाम**

वयानि आदि में आट् के पित् होने से गुण होकर अयादेश हुआ। 'वी' का प्रयोग लोक में नहीं मिलता। यद्यपि यह धातु छान्दस नहीं, तो भी इसका प्रयोग वेद में ही मिलता है। **वीहि मृडीकं सुहवो न एधि** (ऋ० ४।१।५)। **अग्न आयाहि वातये** (साम० १।१)। **हविषः प्रस्थितस्य वीतं हर्यतं जुषेथाम्** (ऋ० १।९३।७)।

'वी' में ईकार का प्रश्लेष मानते हैं और उसे गत्यादि अर्थों में स्वतन्त्र धातु स्वीकार करते हैं—**एति। ईतः। इयन्ति** (इयङ्)। **न हि तरणिरुदीते दिक्पराधीनवृत्तिः**, उदयनाचार्य के इस वाक्य में 'उदीते' यह उद्पूर्वक 'ई' के निष्ठान्तरूप का सप्तम्येकवचन है। निष्ठा भाव में है। **उदीते=उदये।**

७५—आकारान्त अङ्ग से परे लङ्-सम्बन्धी 'झि' को जुस् (उस्) विकल्प से होता है।[1]

या प्रापणे (या—गति करना, जाना)प०

	लट्			लङ्	
१ **याति**	**यातः**	**यान्ति**	**अयात्**	**अयाताम्**	**अयान्-अयुः**
२ **यासि**	**याथः**	**याथ**	**अयाः**	**अयातम्**	**अयात**
३ **यामि**	**यावः**	**यामः**	**अयाम्**	**अयाव**	**अयाम**

	लोट्				
१ **यातु-यातात्**	**याताम्**	**यान्तु**	**यायात्**	**यायाताम्**	**यायुः**
२ **याहि-यातात्**	**यातम्**	**यात**	**यायाः**	**यायातम्**	**यायात**
२ **यानि**	**याव**	**याव**	**यायाम्**	**यायाव**	**यायाम**

'या' का प्रयोग प्र, उप, अप, अनु, आङ्, सम् आदि उपसर्गों के साथ

१. लङः शाकटायनस्यैव (३।४।१११)।

देखा जाता है। सन्—या का अर्थ संक्रमण करना है। **संयात्रा** शब्द समुद्र-यात्रा अर्थ में रूढ है, अत एव **सांयात्रिकः पोतवणिक्**—यह अमर का पाठ है। **सभी गत्यर्थक धातुएँ ज्ञानार्थक भी होती हैं।** महाभारत में प्रयोग भी है—**तथास्य चित्तं ह्यपि संवितर्कयन्नरर्षभस्यास्य न यामि तत्त्वतः** (४।२३४)। **यामि** =जानामि। 'या' की तरह वा गति-गन्धनयोः (चलना, गन्ध देना), भा दीप्तौ (चमकना), ष्णा शौचे (स्ना, स्नान करना), श्रा पाके (पकना, उबलना), द्रा कुत्सायां गतौ (दुर्गत होना), प्सा भक्षणे (खाना), पा रक्षणे (रक्षा करना), रा दाने (देना), ला आदाने (लेना, पकड़ना), दा (प्) लवने (काटना), प्रा पूरणे (पूर्ण करना, भरना), मा माने (समाना)—इन आकारान्त परस्मै० धातुओं के रूप जानें।

'वा' का गति अर्थ प्रसिद्ध है, पर यह गति नियम से वायु-सम्बन्धिनी होती है। **वान्ति पर्णशुषो वाताः। शन्न इषिरो अभि वातु वातः** (ऋ० ७।३५।४)। 'वा' का सकर्मकतया प्रयोग भी देखा जाता है—**यां दिशं वातो वायात्** (श० ब्रा० ११।५।३।११)। **साध्वसाधूंश्चापि वातीह वायुः।** सज्जन और दुर्जन के प्रति वायु (एकसमान बहती है)। 'गन्धन' से यहाँ 'सूचन' विवक्षित है ऐसा भट्टोजिदीक्षित मानते हैं। पर यह ठीक नहीं। गन्धन का गन्ध देना अर्थ है। शतपथ ब्रा० का प्रयोग है—**तस्मात्ते शणाः पूतयो वान्ति** (३।२।१।११)। अतः वे सन सड़कर दुर्गन्ध देने लगते हैं। 'श्रा' अकर्मक है इसमें शृतं पाके (६।१।२७) की वृत्ति में काशिकाकार का **श्रातिरयमकर्मकः कर्मकर्तृविषयस्य पचेरर्थे वर्तते**—यह वचन प्रमाण है। इस विषय में हमारी कृति **वाक्यमुक्तावली** में दिया हुआ वाक्य उदाहरण है—**अपि शृतं क्षीरेण? अङ्ग श्राति पयः।** द्रा का नि-पूर्वक प्रयोग प्रचुर है—निद्राति=सोता है। प्रपूर्वक द्रा का प्रयोग भी देखा जाता है—**प्रद्राणकः**=दुर्गत, दरिद्र। उपनिषद् में प्रयोग भी है—**उषस्ति र्ह चाक्रायण इभ्यग्रामे प्रद्राणक उवास** (छां० १।१०।१)।

प्सा भक्षणे—**यथा वातश्चाग्निश्च वृक्षान्प्सातो वनस्पतीन्** (अथर्व० १०।३।१४)। पा—**प्रजाः प्रजानाथ पितेव पासि** (रघु० २।४८)। रा देने अर्थ में प्रयुक्त होती है—**स्तुवते रासि वाजान्** (ऋ० ७।६५।६), तू स्तुति करने वाले को अन्न देता है। **वयं ते अद्य ररिमा हि कामम्** (ऋ० ३।१४।५)। लोक में 'रा' का विरल प्रयोग है—**स रातु वो दुश्च्यवनो भावुकानां परम्पराम्** (काव्य प्र० ७)। वह इन्द्र तुम्हें कल्याण-परम्परा प्रदान करे। 'रा' का

राति=दान में प्रयोग स्पष्ट दीखता है। **'अराति'** शत्रु को कहते हैं, **न विद्यते रातिर्दानमस्य,** जो पात्र को दान नहीं देता, वह समाज का शत्रु है। 'ला' का भी तिङन्त रूप में प्रयोग दुर्लभ है। अलात (= नञ्+ला+क्त) शब्द में ला धातु स्पष्ट दीखती है। **अलात**=अधजली लकड़ी। **आलान** (नपुं०, गजबन्धनी) शब्द में यह धातु स्पष्ट है। दा (प्)—**दातं बर्हिः**(कटी हुई कुशा)। **'दात्र'** शब्द दा काटना से ष्ट्रन् करके व्युत्पन्न होता है। प्रा—से 'विप्र' शब्द की व्युत्पत्ति की जाती है—**विशेषेण प्राति पूरयति कर्माणीति विप्रः।** वेद में इसका तिङन्त रूप में प्रयोग मिलता है—**आप्रा याव.पृथिवी अन्तरिक्षं सूर्यः** (ऋ०१।११५।१)। मा अकर्मक है। इस का अर्थ 'समाना' है—**तनौ ममुस्तत्र न कैटभद्विषस्तपोधनाभ्यागमसम्भवा मुदः** (माघ १।२३)। **प्रमदामानिव पुरे महीयसि** (माघ १३।२), बहुत बड़े नगर में भी खुशी से न समाता हुआ। उपसर्गयोग से मा सकर्मक हो जाती है—**वेदिं परिमाति मुष्टिना।**

ख्या प्रकथने (कहना, कहानी कहना) प०

यह धातु सार्वधातुक लकारों में प्रयुक्त होती है। **ख्याति। ख्यातः ख्यान्ति** इत्यादि। लिट्, लुट्, लृट् आदि (लिट् के आदेशों की आर्धधातुक संज्ञा होने से, लुट् तथा लृट् के तास्, व स्य प्रत्ययों के आर्धधातुक होने से) में इस का प्रयोग नहीं होता। इस के स्थान में चक्षिङ् का आदेश **ख्शाञ्** अथवा **ख्याञ्** होता है, जिससे इन लकारों में धातु से दोनों पद होते हैं। ख्या प्रयुक्ततम धातुओं में से है। इससे पूर्व आङ्, उपाङ्, समाङ् प्रत्याङ, प्र, अभि आदि उपसर्गों का योग देखा जाता है। **आख्याहि भद्रे प्रियदर्शनस्य न गङ्गदत्तः पुनरेति कूपम्** (पं० त० ४।३२)। **न्यासकार का कहना है कि सम्पूर्वक ख्या का प्रयोग नहीं होता। संचष्टे**=गिनता है, चक्ष् धातु का प्रयोग करके कह सकते हैं, **'संख्याति'** ऐसा नहीं।

वच परिभाषणे (वच्, कहना) प०

धात्वर्थ निर्देश में जो 'परि' पढ़ा है उसका कुछ विशिष्ट अर्थ नहीं। वच् का प्रयोग भी सार्वत्रिक नहीं है। कई लोगों के मत में 'अन्ति' परे रहते इसका प्रयोग नहीं होता—**वक्ति।** (कुत्व)। **वक्तः। वक्षि। वक्थः। वक्थ। वच्मि। वच्वः। वच्मः।** कुछ अन्य लोगों के मत में बहुवचन में प्रयोग नहीं होता। इस मत के अनुसार **वक्थ** और **वच्मः** भी असाधु होंगे। वचन्ति,

वचन्तु, **अवचन्**, सब को अनभिमत हैं। विधिलिङ् में **वच्यात्**। **वच्याताम्**। **वच्युः**। झि परे रहते प्रयोग नहीं होता इस मत के अनुसार '**वच्युः**' भी असाधु होगा। लोट म० पु० ए०—**वग्धि**। हि को धि। कुत्व। जश्त्व। लङ् प्र० पु० ए०—**अवक्**—**ग्**। म० पु० ए०—**अवक्**, **ग्**।

७६—विद् ज्ञाने से परे लट् के स्थान में णल् (अ), अतुस्, उस्, थल् (थ), अथुस्, अ, णल् (अ), व, म विकल्प से आदेश होते हैं।[1]

लट्

१ वेद। विदतुः। विदुः। २ वेत्थ। विदथुः। विद। ३ वेद। विद्व। विद्म।

ये णल् आदि प्रत्यय लट् के आदेश हैं, लिट् के नहीं, अतः यहाँ द्वित्व नहीं होता।

वेद—में प्रत्यय के तिप्-मिप्-स्थानिक होने से गुण हुआ है। **वेत्थ**—में 'थल्' के सिप्-स्थानिक होने से गुण हुआ है। द् को खर् (थ्) परे रहते चर् (त्) हुआ है। अन्यत्र प्रत्ययों के अपित् होने से गुण नहीं हुआ।

७७—धातु के पदान्त 'द्' को सिप् परे होने पर विकल्प से रु (र्) हो जाता है।[2] 'र्' को खर् परे होने पर तथा अवसान में विसर्ग होता है।

७८—अभ्यस्त धातु से सिच् प्रत्यय से तथा विद् से परे झि को जुस् (उस्) आदेश होता है।[3]

विद ज्ञाने (विद् जानना) प०

	लट्			लङ्	
१ वेत्ति	**वित्तः**	**विदन्ति**	**अवेत्-द्**	**अवित्ताम्**	**अविदुः** (७८)
२ वेत्सि	**वित्थः**	**वित्थ**	**अवेः—अवेत्** (७७)	**अवित्तम्**	**अवित्त**
३ वेद्मि	**विद्वः**	**विद्मः**	**अवेदम्**	**अविद्व**	**अविद्म**

	लोट्			विधिलिङ्	
१ वेत्तु-वित्तात्	**वित्ताम्**	**विदन्तु**	**विद्यात्**	**विद्याताम्**	**विद्युः**
२ विद्धि-वित्तात्	**वित्तम्**	**वित्त**	**विद्याः**	**विद्यातम्**	**विद्यात**

१. विदो लटो वा (३।४।८३)।

२. दश्च (८।२।७५)।

३. सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च (३।४।१०९)।

३ वेदानि वेदाव वेदाम विद्याम् विद्याव विद्याम

विद् केवल का तथा सोपसर्गक का बहुल प्रयोग मिलता है। प्रायः प्र तथा सम् उपसर्गों का योग देखा जाता है—**सुखं संवेत्ति**, सुख का अनुभव करता है। **न हि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम्** (=पन्थानम्) ऋ० १०।७१।६। **अष्टौ श्लोकसहस्राणि अष्टौ श्लोकशतानि च। अहं वेद्मि शुको वेत्ति संजयो वेत्ति वा न वा** (भा० आ० १।८१)॥ **रामं दशरथं विद्धि मां विद्धि जनकात्मजाम्। अयोध्यामटवीं विद्धि गच्छ तात यथासुखम्** (रा० २।४०।६)॥ रामको (अपना पिता) दशरथ समझो, जनकात्मजा सीता को मुझे(अपनी मां सुमित्रा)समझो, जंगल को अयोध्या समझो, हे प्यारे पुत्र सुखपूर्वक जाओ।

७६—विद् धातु से लोट् परे होने पर आम् प्रत्यय, गुणाभाव, लोट् का लुक्, लोडन्त कृ का अनुप्रयोग का निपातन किया है। सूत्र में 'विदाङ् कुर्वन्तु' में पुरुष व वचन विवक्षित नहीं हैं। इतिशब्द प्रकारार्थक पढ़ा है।[1]

८०—तन् आदि धातुओं से तथा कृ से कर्तृवाचक सार्वधातुक परे होने पर 'उ' प्रत्यय (विकरण) होता है।[2] यह शप् का अपवाद है। 'उ' आर्धधातुक प्रत्यय है।

८१—उप्रत्ययान्त कृ के (गुण से निष्पन्न हुए) 'अ' को 'उ' आदेश होता है कित्, ङित् सार्वधातुक परे होने पर।[3] तपर करण-सामर्थ्य से इस 'उ' को गुण नहीं होता।

विद्—लोट् (वैकल्पिक रूप)

१ विदाङ्करोतु (८०) **विदाङ्कुरुतात्**	**विदाङ्कुरुताम्** (८१)	**विदाङ्कुर्वन्तु** (यण्)
२ विदाङ्कुरु (१८) **विदाङ्कुरुतात्**	**विदाङ्कुरुतम्**	**विदाङ्कुरुत**
३ विदाङ्करवाणि	**विदाङ्करवाव**	**विदाङ्करवाम**

विदाङ्कुरु—यहाँ **आभीय** होने से 'हि' का लुक् असिद्ध है, अतः 'अ' को 'उ' (आभीय) हो गया। **विदाङ्करवाणि** विदाङ्करवाव विदाङ्करवाम—यहाँ आट् आगम के पित् होने से गुण से निष्पन्न कृ के अ को 'उ' नहीं हुआ। उ प्रत्ययान्त को गुण होकर अवादेश हुआ है।

---

१. विदाङ्कुर्वन्त्वित्यन्यतरस्याम् (३।१।४१)।

२. तनादिकृञ्भ्य उः (३।१।७६)।

३. अत उत्सार्वधातुके (६।४।११०)।

८२—श्नम् (विकरण) के 'अ' का तथा अस् (होना) के 'अ' का कित् ङित् सार्वधातुक प्रत्यय परे होने पर लोप हो जाता है।[६]

८३—घु-संज्ञक धातुओं के अन्त्य अल् को तथा अस् के अन्त्य अल् (स्) को 'ए' हो जाता है 'हि' परे होने पर।[७] 'एत्व' आभीय कार्य है और हि को धि (६।४।१०१) भी आभीय है। एत्व के असिद्ध होने से 'हि' को 'धि' हो जाता है।

८४—विद्यमान सिच् प्रत्यय से तथा अस् धातु से परे अपृक्त हल् को ईट् आगम होता है।[१]

८५—तास् प्रत्यय और अस् धातु के सकार का लोप हो जाता है सकारादि प्रत्यय परे होने पर।[२]

अस भुवि (अस्—होना) प०

लट्			लङ्		
१ अस्ति	स्तः(८२)	सन्ति(८२)	आसीत्	आस्ताम्	आसन्
२ असि(८५)	स्थः	स्थ	आसीः	आस्तम्	आस्त
३ अस्मि	स्वः	स्मः	आसम्	आस्व	आस्म

लोट्			विधिलिङ्		
१ अस्तु-स्तात्	स्ताम्	सन्तु	स्यात्(८२)	स्याताम्	स्युः
२ एधि-स्तात्	स्तम्	स्त	स्याः	स्यातम्	स्यात
३ असानि	असाव	असाम	स्याम्	स्याव	स्याम

आस्ताम् आदि में (८२) से 'अ' का लोप आभीय है। आडागम भी आभीय है। अल्लोप (अ का लोप) के असिद्ध होने से आट् आगम (जो अजादि धातु को होता है) हो गया।

एधि—स्तात्। हि परे होने पर एत्व करने वाले शास्त्र (६।४।११९) से 'हि' को तातङ् करने वाला शास्त्र (७।१।३५) **पर** है। विप्रतिषेधे परं कार्यम् (१।४।२) से 'एत्व' को बाधकर तातङ् हो गया। तातङ् होने पर

---

१. श्नसोरल्लोपः (६।४।१११)।

२. घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च (६।४।११९)।

३. अस्तिसिचोऽपृक्ते (७।३।९६)।

४. तासस्त्योर्लोपः (७।४।५०)।

स्थानिवद्भाव से 'हि' मानकर पुनः एत्व क्यों नहीं होता ? उत्तर—**सकृद्गतौ विप्रतिषेधे यद् बाधितं तद् बाधितमेव,** प्राप्ति होने पर तुल्य-बल-विरोध होने पर जो एक बार बाधित हो जाय वह बाधित ही रहता है, ऐसा न्याय है। अतः तातङ् होने पर पुनः एत्व नहीं होता। एधि—यहाँ (८३) से अस् के स् को 'ए' होने पर (८२) से 'अ' का लोप होता है। 'एत्व' आभीय कार्य है, उसके असिद्ध होने से झलन्त मान कर 'हि' को धि (जो आभीय कार्य है) हो जाता है।

स्यात् आदि में यासुट् के ङित् होने से (८२) से सर्वत्र 'अ' का लोप हो जाता है।

तम आसीत्तमसा गूढमग्रे (ऋ० पृ०१२९।३।)। **आयुष्मानेधि देवदत्ता३। ब्रह्मचार्यसानि** (मैं ब्रह्मचारी होऊँ)।

८६—उपसर्ग के इण् से परे और प्रादुस् (प्रकट, अव्यय) से परे अस् के स् को ष् हो जाता है यकार अथवा अच् परे होने पर।[1]

अभिपूर्वक अस् का अर्थ अभिभव करना अथवा अतिशयित करना है—**पृणन्नापिरपृणन्तमभिष्यात्** (**अभिष्यात्**=अतिशयीत)। ऋ० १०।११७।७॥ देने वाला बन्धु न देने वाले से बढ़ जाता है। **अभ्यहं विश्वाः पृतना असानि** (अथर्व० ६।९७।१)। मैं सब सेनाओं को अभिभूत करूँ। यहाँ उपसर्ग के इण् से परे अस् का स् न होने से षत्व नहीं हुआ। अच् परे होने पर—**निषन्ति। प्रादुस्—मैवं वोचः। एवमुक्ते महदनौदार्यं प्रादुःष्यात्। बालेस्मिन् विलक्षणा अबालगुणाः प्रादुःषन्ति।** इसी प्रकार **विश्वा जातान्यभ्यस्मि मह्ना** (ऋ० ८।१००।४)। यहाँ भी। मह्ना=महिम्ना।

८७—मृज् धातु के इक् को वृद्धि होती है धातु से विहित प्रत्यय परे होने पर।[2] गुण का अपवाद है।

८८—अजादि कित् ङित् प्रत्यय परे होने पर मृज् को वृद्धि विकल्प से होती है।[3]

---

१. उपसर्ग-प्रादुर्भ्यामस्तिर्यच्परः (८।३।८७)।
२. मृजेर्वृद्धिः (७।२।११४)।
३. क्ङित्यजादौ वेष्यते।(वा०)

मृजू शुद्धौ (मृज्—शुद्ध करना) प० (ऊदित्)

	लट्			लङ्		
१	मार्ष्टि	मृष्टः	मृजन्ति / मार्जन्ति	अमार्ट्-ड्	अमृष्टाम्	अमृजन् / अमार्जन्
२	मार्क्षि	मृष्ठः	मृष्ठ	अमार्ट्-ड्	अमृष्टम्	अमृष्ट
३	मार्ज्मि	मृज्वः	मृज्मः	अमार्जम्	अमृज्व	अमृज्म

	लोट्			विधिलिङ्		
१	मार्ष्टु-मृष्टात्	मृष्टाम्	मृजन्तु / मार्जन्तु	मृज्यात्	मृज्याताम्	मृज्युः
२	मृड्ढि-मृष्टात्	मृष्टम्	मृष्ट	मृज्याः	मृज्यातम्	मृज्यात
३	मार्जानि	मार्जाव	मार्जाम	मृज्याम्	मृज्याव	मृज्याम

मार्ष्टि—यहाँ तिप् परे रहते गुण प्राप्त था। (८७) से वृद्धि (रपर आ) मृज् के ज् को झल् परे होने पर (पदान्त में भी) ष् हो जाता है। ति के त् को ष्टुत्व विधि से ट्। **मृष्टः** में प्रत्यय के अपित् होकर ङित् होने से गुण का निषेध हो जाता है। गुण के विषय में वृद्धि का विधान होने से गुण की अप्राप्ति में वृद्धि भी नहीं होती। **मृजन्ति—मार्जन्ति**—यहाँ गुण के अप्रसङ्ग में भी वैकल्पिकी वृद्धि होती है। **मार्क्षि**—यहाँ ज् को ष् होने पर षढोः कः सि (८।२।४१) से ष् को क्। क् ष् के संयोग से क्ष्। लङ् प्र० पु० ए० तथा लङ् म० पु० ए० में (५८) से अपृक्त त्, स् का लोप हुआ। **अमार्ट्-ड्**—यहाँ ज् को ष् होकर जश्त्व से ड् होकर अवसान में (वैकल्पिक) चर्त्व से ट्। संयोगान्त लोप क्यों नहीं हुआ? उत्तर—ऐसा नियम है कि र् से परे संयोगान्त 'स्' का ही लोप होता है। रात्सस्य (८।२।२४)। सो यहाँ 'ट्' का लोप नहीं हुआ। **मृज्यात्** आदि में यासुट् के ङित् होने से गुण का निषेध हो जाने से वृद्धि भी नहीं हुई।

८९—रुद्, स्वप्, श्वस्, अन्, जक्ष्—इन से परे वलादि सार्वधातुक को इट् आगम होता है।[1]

९०—रुद् आदि पाँच धातुओं से परे हलादि पित् अपृक्त सार्वधातुक को ईट् आगम होता है।[2]

---

१. रुदादिभ्यः सार्वधातुके (७।२।७६)।

२. रुदश्च पञ्चभ्यः (७।३।९८)।

६१—गार्ग्य तथा गालव नामक आचार्यों के मत से रुद् आदि पाँच धातुओं से परे हलादि पित् अपृक्त सार्वधातुक को अट् आगम होता है।[1]

६२—उपसर्गस्थ निमित्त से अन् धातु के 'न्' को ण् होता है।[2]

रुदिर् अश्रुविमोचने (रुद्—रोना) प०

	लट्			लङ्	
१ रोदिति (३, ८६)	रुदितः (८६)	रुदन्ति	अरोदीत्, अरोदत्	अरुदिताम्	अरुदन्
२ रोदिषि	रुदिथः	रुदिथ	अरोदीः (६१), अरोदः (६२)	अरुदितम्	अरुदित
३ रोदिमि	रुदिवः	रुदिमः	अरोदम्	अरुदिव	अरुदिम

	लोट्			विधिलिङ्	
१ रोदितु-रुदितात्	रुदिताम्	रुदन्तु	रुद्यात्	रुद्याताम्	रुद्युः
२ रुदिहि-रुदितात्	रुदितम्	रुदित	रुद्याः	रुद्यातम्	रुद्यात
३ रोदानि	रोदाव	रोदाम	रुद्याम्	रुद्याव	रुद्याम

रुदिहि—यहाँ विप्रतिषेधे परं कार्यम् इस शास्त्र से इट्-विधायक पर-शास्त्र की प्रवृत्ति हुई। हि को धि-भाव बाधित हो गया। इट् यद्यपि हि का आगम होने से उसका आद्य अवयव है। अतः 'हि' ही पड़ा है उसे अब 'धि' हो जाना चाहिए। पर नहीं होता, कारण कि जो विप्रतिषेध होने पर एक बार बाधित हो जाता है वह बाधित ही रहता है। **रुद्यात्**—यहाँ रुद् त् इस अवस्था में अट्, ईट् के बह्वपेक्ष होने से बहिरंग होकर असिद्ध होने से अन्तरङ्ग यासुट् हो गया। रुद् अकर्मक है। पर कभी-कभी क्रियान्तर को अन्तर्णीत करके प्रयुक्त हुई यह धातु सकर्मक भी हो जाती है—**मा मृतं रुदती भव** (रा० २।७४।२)।=मृतं राजानमुद्दिश्य मा स्म रुदः, स्वर्यात राजा के निमित्त तू मत रोती रहो।

इसी प्रकार ञिष्वप् (स्वप्) शये (सोना), श्वस प्राणने (श्वस्—सांस

---

१. अड् गार्ग्य-गालवयोः (७।३।६६)।

२. अनितेः (८।४।१६)।

लेना), अन च (सांस लेना), जक्ष भक्षहसनयोः (खाना, हंसना)—इनके रुद् की तरह रूप होते हैं। जक्ष् के रूपों में कुछ विशेष है। वह आगे कहेंगे।

प्र-पूर्वक अन्—**प्राणिति। प्राणितः। प्राणन्ति।**

जक्ष् के विषय में विशेष वक्तव्य है—

९३—जक्ष् आदि छः धातुएँ अभ्यस्त-संज्ञक हैं।[1] जक्ष्, जागृ, दरिद्रा, शास्, दीधीङ्, वेवीङ्, चकास्। सूत्र में 'जक्षित्यादयः' यह अतद्गुण संविज्ञान बहुव्रीहि है। जक्षितिरादिरतिरिक्तानां षण्णां येषां ते जक्षित्यादयः। जक्षिति (जक्ष्) को साथ लेकर कुल धातुएँ सात हैं।

जक्षि-जागृ-दरिद्रा-शास्-दीधीङ्-वेवीङ् चकास्तथा।
अभ्यस्तसंज्ञा विज्ञेया धातवो मुनिभाषिताः॥

९४—अभ्यस्त धातु से परे झ् के स्थान में अत् होता है।[2] झोऽन्तः का अपवाद है।

बहुवचन—**जक्षति। जक्षतु। अजक्षुः** (७८)।

हँसने अर्थ में जक्ष् का प्रयोग वैदिक साहित्य में मिलता है—**त्वमेतान्रुदतो जक्षतश्चायोधयः** (ऋ० १।३३।७)। **उतेव स्त्रीभिः सह मोदमानो जक्षदुत वा भयानि पश्यन्** (श० ब्रा० १४।७।१।१४)।

९५—अजादि जुस् परे होने पर इगन्त अङ्ग को गुण होता है।[3]

जागृ निद्राक्षये (जागृ—जागना) प०

	लट्			लङ्	
१ **जागर्ति**	**जागृतः**	**जाग्रति** (९४)	**अजागः**	**अजागृताम्**	**अजागरुः**
२ **जागर्षि**	**जागृथः**	**जागृथ**	**अजागः**	**अजागृतम्**	**अजागृत**
३ **जागर्मि**	**जागृवः**	**जागृमः**	**अजागरम्**	**अजागृव**	**अजागृम**

	लोट्			विधिलिङ्	
१ **जागर्तु**, **जागृतात्**	**जागृताम्**	**जाग्रतु**	**जागृयात्**	**जागृयाताम्**	**जागृयुः**
२ **जागृहि**, **जागृतात्**	**जागृतम्**	**जागृत**	**जागृयाः**	**जागृयातम्**	**जागृयात**
३ **जागराणि**	**जागराव**	**जागराम**	**जागृयाम्**	**जागृयाव**	**जागृयाम**

अजागः—यहाँ (५८) से अपृक्त प्रत्यय त्, स् का लोप हो जाने पर

१. जक्षित्यादयः षट् (६।१।६)।
२. अदभ्यस्तात् (७।१।४)।
३. जुसि च (७।३।८३)।

अजागर् (ऋ को गुण रपर अ) के र् को विसर्जनीय। **जागृयुः**—अजादि जुस् न होने से (६५) से इगन्त अङ्ग को गुण नहीं हुआ। **जागराव, जागराम** में आट् के पित् होने से गुण हुआ है।

जागृहि में 'हि' के अपित् (ङित्वत्) होने से गुण नहीं हुआ।

९६—दरिद्रा धातु के 'आ' को 'इ' हो जाता है हलादि कित् ङित् सार्वधातुक परे होने पर।[1]

९७—श्ना प्रत्यय और अभ्यस्त धातु के 'आ' का लोप हो जाता है कित् ङित् सार्वधातुक परे होने पर।[2]

दरिद्रा दुर्गतौ (दरिद्रा—दुर्गत=दुर्विध=दरिद्र होना) प०

	लट्			लङ्	
१ दरिद्राति	दरिद्रितः (९६)	दरिद्रति (९७)	अदरिद्रात् (८६)	अदरिद्रिताम्	अदरिद्रुः (७८, ९७)
२ दरिद्रासि	दरिद्रिथः	दरिद्रिथ	अदरिद्राः	अदरिद्रितम्	अदरिद्रित
३ दरिद्रामि	दरिद्रिवः	दरिद्रिमः	अदरिद्राम्	अदरिद्रिव	अदरिद्रिम

	लोट्			विधिलिङ्	
१ दारद्रातु	दरिद्रिताम्	दरिद्रतु (९७)	दरिद्रियात्	दरिद्रियाताम्	दरिद्रियुः
२ दरिद्रिहि	दरिद्रितम्	दरिद्रित	दरिद्रियाः	दरिद्रियातम्	दरिद्रियात
३ दरिद्राणि	दरिद्राव	दरिद्राम	दरिद्रियाम्	दरिद्रियाव	दरिद्रियाम

उपर्युपरि पश्यन्तः सर्व एव दरिद्रति (हितोप०)। उपचार से दुबला होना इस अर्थ में भी दरिद्रा का प्रयोग मिलता है—**मध्यं दरिद्राति च** ( )। **दरिद्रति वियद्द्रुमे कुसुमकान्तयस्तारकाः** (विक्रमाङ्क० ११।७४)।

९८—पदान्त स् को द् होता है तिप् परे होने पर, पर अस् (होना) के स् को द् नहीं होता।[3]

९९—धातु के पदान्त स् को विकल्प से रु (र्) होता है सिप् परे होने पर। पक्ष में द्।[4]

---

१. इद् दरिद्रस्य (६।४।११४)।

२. श्नाभ्यस्तयोरातः (६।४।११२)।

३. तिप्यनस्तेः (८।२।७३)।

४. सिपि धातो रुर्वा (८।२।७४)।

चकासृ दीप्तौ (चकास्—चमकना) प०

लट्			लङ्		
१ **चकास्ति**	**चकास्तः**	**चकासति**	**अचकात्-द्**	**अचकास्ताम्**	**अचकासुः**
२ **चकास्सि**	**चकास्थः**	**चकास्थ**	**अचकाः** / **अचकात्-द्**	**अचकास्तम्**	**अचकास्त**
३ **चकास्मि**	**चकास्वः**	**चकास्मः**	**अचकासम्**	**अचकास्व**	**अचकास्म**

चकास् 'अभ्यस्त' है। अतः **चकासति** में झ् को अत् हुआ। तिप् परे **अचकात्-द्** में स् को द् होकर अवसान में चर्त्व से त्। **अचकासुः** में झि को जुस् (उस्)। सिप् परे पाक्षिक द् होने से **अचकाः, अचकात्**—दो रूप होते हैं।

लोट्			विधिलिङ्		
१ **चकास्तु-चकास्तात्**	**चकास्ताम्**	**चकासतु**	**चकास्यात्**	**चकास्याताम्**	**चकास्युः**
२ **चकाधि** / **चकाद्धि** / **चकास्तात्**	**चकास्तम्**	**चकास्त**	**चकास्याः**	**चकास्यातम्**	**चकास्यात**
३ **चकासानि**	**चकासाव**	**चकासाम**	**चकास्याम्**	**चकास्याव**	**चकास्याम**

चकाधि—यहाँ (६३) से 'स्' का लोप हुआ है। **चकाद्धि**—यहाँ स् का लोप नहीं हुआ, कारण कि कुछ लोग (६३) की प्रवृत्ति सिच् प्रत्यय के विषय में ही मानते हैं, सकारमात्र के विषय में नहीं। स् को जशत्व-विधि से द् हो जाता है।

१००—शास् की उपधा को 'इ' हो जाता है अङ् प्रत्यय परे होने पर तथा हलादि कित् ङित् परे होने पर।[1]

१०१—शास्, वस्, घस् (खाना)—इनके इण्, कु (=कवर्ग) से परे स् को ष् हो जाता है।[2]

१०२—हि परे रहते शास् को 'शा' आदेश हो जाता है।[3]

शासु अनुशिष्टौ (शास्—शिक्षा देना, शासन करना, दण्ड देना) प०

---

१. शास इदङ्हलोः (६।४।३४)।

२. शासि-वसि-घसीनां च (८।३।६०)।

३. शा हौ (६।४।३५)।

	लट्			लङ्	
१ शास्ति	शिष्टः (१००, १०१)	शासति (६४)	अशात्-द्	अशिष्टाम्	अशासुः (७८)
२ शास्सि	शिष्ठः	शिष्ठ	अशाः अशात्-द्	अशिष्टम्	अशिष्ट
३ शास्मि	शिष्वः	शिष्मः	अशासम्	अशिष्व	अशिष्म

	लोट्			विधिलिङ्	
१ शास्तु शिष्टात्	शिष्टाम्	शासतु	शिष्यात्	शिष्याताम्	शिष्युः
२ शाधि शिष्टात्	शिष्टम्	शिष्ट	शिष्याः	शिष्यातम्	शिष्यात
३ शासानि	शासाव	शासाम	शिष्याम्	शिष्याव	शिष्याम

शाधि—शा आदेश आभीय है। इसके असिद्ध होने से झलन्त मानकर आभीय कार्य 'हि' को 'धि' हो जाता है। शास् 'अभ्यस्त' है। लोट् उत्तम पुरुष के प्रत्यय—आनि, आव, आम सभी अजादि पित् हैं अतः उपधा-इत्व का प्रसङ्ग ही नहीं। शिक्षा अर्थ में—**शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्** (गीता), मैं तेरा शिष्य हूँ, मैं तेरी शरण आया हूँ। मुझे शिक्षा दीजिए। **स किंसखा साधु न शास्ति योऽधिपम्** (किरात० १।१५)। **अनन्यशासनामुर्वीं शशासैक-पुरीमिव** (रघु० १।३०)। **ताञ्शिष्याच्चौरदण्डेन धार्मिकः पृथिवीपतिः** (मनु० ४।२६)। **शिष्यात्**=दण्डयेत्।

वश कान्तौ (चाहना)—यह धातुपाठ में छान्दस पढ़ी है। कैयट का कहना है कि वार्तिककार के मत से इसका लोक में भी प्रयोग निर्दोष होगा। **वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः**—इस कारिका में इसका प्रयोग मिलता है। कवि लोग भी कहीं-कहीं इसका प्रयोग करते देखे जाते हैं—**भवनेषु रसाधिकेषु पूर्वं क्षितिरक्षार्थमुशन्ति ये निवासम्** (शाकुन्तल)। **अमी हि वीर्यप्रभवं भवस्य जयाय सेनान्यमुशन्ति देवाः** (कुमार० ३।१५)। **बाणाश्च मे तूणमुखाद् विसृत्य मुहुर्मुहुर्गन्तुमुशन्ति चैव** (भा० ५।१६०६)। अप् प्रत्ययान्त (कृदन्त) वश का इच्छा व शक्ति अर्थ में प्रचुर प्रयोग मिलता है—**क्षत्रियस्य वशे सति** (श० ब्रा० १।३।२।१५), जब क्षत्रिय की इच्छा हो। **यावदस्य वशः स्यात्**

(श० ब्रा० १।३।५।१४), जब तक इसका बस चले। **किंचित्स्ववशात् क्रियते, किंचित्परवशात्,** कुछ काम अपनी इच्छा से किया जाता है और कुछ दूसरों की इच्छा से। **यथावशं नयति दासमार्यः** (ऋ० ५।३४।६)। **यथावशम्**=यथेच्छम्।

वश् को कित् ङित् प्रत्यय परे होने पर सम्प्रसारण (व् को उ) होता है—वष्टि (षत्व, ष्टुत्व)। उष्टः। उशन्ति। **इत्यदादयो लुग्विकरणाः।**

जुहोत्यादिगण (तृतीय गण)

हु दानादनयोः(देना=हविः प्रक्षेप करना, खाना) इस गण की प्रथम धातु है। प्रसन्न करना भी इसका अर्थ है, ऐसा भाष्यकार कहते हैं। इससे श्तिप् प्रत्यय (जो धातु का निर्देश करने के लिए लगाया जाता है) करके और द्विर्वचन करके 'जुहोति' शब्द का उच्चारण कर गण का निर्देश किया है।

१०३—जुहोति अर्थात् हु आदि धातुओं से कर्तृवाचक सार्वधातुक परे रहते शप् को श्लु (जो प्रत्यय-लोप की संज्ञा-विशेष है) होता है।[1]

१०४—शप् को श्लु होने पर धातु को द्वित्व होता है।[2]

१०५—द्विर्वचन=द्वित्व (जो भी षष्ठाध्याय-विहित है) धातु के अवयव प्रथम एकाच् को होता है। धातु अजादि हो तो द्वितीय एकाच् को।[3]

१०६—द्वित्व करने पर (द्वित्व प्रकरण में) जो दो खण्ड हो जाते हैं उनमें से प्रथम खण्ड की 'अभ्यास' संज्ञा है।[4]

१०७—अभ्यास के कवर्ग को तथा ह् को चवर्ग आदेश हो जाता है।[5]

१०८—द्विरुक्त धातु की 'अभ्यस्त' संज्ञा है।[6]

१०९—अभ्यास के झल् को जश् तथा चर् होता है। अर्थात् झश् को जश् और खर् को चर्।[7]

---

१. जुहोत्यादिभ्यः श्लुः(२।४।७५)। प्रत्ययस्य लुक्-श्लु-लुपः (१।१।६१)। लुक्, श्लु, लुप् ये प्रत्यय लोप की संज्ञा हैं।

२. श्लौ (६।१।१०)।

३. एकाचो द्वे प्रथमस्य (६।१।१)। अजादेर्द्वितीयस्य (६।१।२)।

४. पूर्वोऽभ्यासः (६।१।४)।

५. कुहोश्चुः (७।४।६२)।

६. उभे अभ्यस्तम् (६।१।५)।

७. अभ्यासे चर्च (८।४।५४)।

हु प०

	लट्			लङ्		
१	जुहोति	जुहुतः	जुह्वति(६४,१७)	अजुहोत्	अजुहुताम्	अजुहवुः (७८, ६५)
२	जुहोषि	जुहुथः	जुहुथ	अजुहोः	अजुहुतम्	अजुहुत
३	जुहोमि	जुहुवः	जुहुमः	अजुहवम्	अजुहुव	अजुहुम

	लोट्			विधिलिङ्		
१	जुहोतु-जुहुतात्	जुहुताम्	जुह्वतु	जुहुयात्	जुहुयाताम्	जुहुयुः
२	जुहुधि-जुहुतात्	जुहुतम्	जुहुत	जुहुयाः	जुहुयातम्	जुहुयात
३	जुहवानि	जुहवाव	जुहवाम	जुहुयाम्	जुहुयाव	जुहुयाम

जुहोति—यहाँ हु शप् ति=हु श्लु ति=हु ति=हु हु ति=झु हु ति। ह् को चुत्व से सदृशतम आदेश झ् होता है। इस झ् को जश् (ज्) हो जाता है। **जुहुधि**—यहाँ (५२) से 'हि' को 'धि' हुआ। 'हि' अपित् होता है, उसके स्थान में 'धि' भी अपित् ही है अतः गुण नहीं हुआ। **जुहवानि**—यहाँ उवङ् को बाधकर (१७) से यण् प्राप्त होने पर पर होने से (२) से गुण होता है।

अग्निष्टोमेन जुहुयात्स्वर्गकामः। यहाँ विधिवत् अग्नि में हव्यप्रक्षेप अर्थ है। **जटाधरः सञ्जुहुधीह पावकम्**। (किरात० १।४४)। यहाँ प्रीणन, तर्पण अर्थ है। ऐसे ही **अग्निषु हूयमानेषु** (गतः), (मा० धा० वृ०) यहाँ भी।

११०—भी (डरना) से परे हलादि कित् ङित् सार्वधातुक परे होने पर विकल्प से ह्रस्व इकार आदेश होता है।[1] अन्त्य अल् ई के स्थान में इ।

१११—धात्ववयव संयोग पूर्व नहीं है जिस इकार से, तदन्त अनेकाच् अङ्ग को यण् होता है अजादि प्रत्यय परे।[2] अन्त्य अल् (इ) को यण्।

ञिभी भये (भी डरना) प०

१. भियोऽन्यतरस्याम् (६।४।११५)।
२. एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य (६।४।८२)।

	लट्			लङ्		
१	बिभेति	बिभितः / बिभीतः	बिभ्यति (१११)	अबिभेत्	अबिभिताम् / अबिभीताम्	अबिभयुः
२	बिभेषि	बिभिथः / बिभीथः	बिभिथ / बिभीथ	(११०) अबिभेः / अबिभेः	अबिभितम् / अबिभीतम्	अबिभित / अबिभीत
३	बिभेमि	बिभिवः / बिभीवः	बिभिमः / बिभीमः	अबिभयम्	अबिभिव / अबिभीव	अबिभिम / अबिभीम

	लोट्			विधिलिङ्		
१	बिभेतु / बिभितात् / बिभीतात्	बिभिताम् / बिभीताम्	बिभ्यतु	बिभियात् / बिभीयात्	बिभियाताम् / बिभीयाताम्	बिभियुः / बिभीयुः
२	बिभिहि / बिभीहि / बिभितात् / बिभीतात्	बिभितम् / बिभीतम्	बिभित / बिभीत	बिभियाः / बिभीयाः	बिभियातम् / बिभीयातम्	बिभियात / बिभीयात
३	बिभयानि	बिभयाव	बिभयाम	बिभियाम् / बिभीयाम्	बिभियाव / बिभीयाव	बिभियाम / बिभीयाम

बिभितः, बिभिताम्, बिभिहि, बिभियाः इत्यादि में (११०) से भी के ईकार को ह्रस्व इकार आदेश हुआ है। **अबिभेत्, अबिभेः, अबिभयम्** इत्यादि में (२) से गुण हुआ है। **बिभ्यति, बिभ्यतु** में (१११) से यण्। **बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति** (भा० आदि० १।२६८)।

ह्री लज्जायाम् (लज्जित होना) प०

	लट्			लङ्		
१	जिह्रेति	जिह्रीतः	जिह्रियति (४४)	अजिह्रेत्	अजिह्रीताम्	अजिह्रयुः (गुण)
२	जिह्रेषि	जिह्रीथः	जिह्रीथ	अजिह्रेः	अजिह्रीतम्	अजिह्रीत
३	जिह्रेमि	जिह्रीवः	जिह्रीमः	अजिह्रयम् (गुण)	अजिह्रीव	अजिह्रीम

	लोट्			विधिलिङ्		
१	जिह्रेतु / जिह्रीतात्	जिह्रीताम्	जिह्रियतु	जिह्रीयात्	जिह्रीयाताम्	जिह्रीयुः

२ **जिह्वीहि जिह्वीतात्**	**जिह्वीतम्**	**जिह्वीत**	**जिह्वीयाः**	**जिह्वीयातम्**	**जिह्वीयात**
३ **जिह्वयाणि**	**जिह्वयाव**	**जिह्वयाम**	**जिह्वीयाम्**	**जिह्वीयाव**	**जिह्वीयाम**

जिह्रियति—यहाँ जिह्री अङ्ग के अनेकाच् होने से (४४) से 'ई' को इयङ् हुआ है।(१११) से यण् नहीं, काररण कि यहाँ धातु के 'ई' से पूर्व धातु का अवयव ह्र् संयोग पड़ा है। **जिह्वयाणि** आदि में **पर** होने से इयङ् को बाधकर गुण हुआ है।

जिह्रेम्यार्यपुत्त्रेण सह गुरुसमीपं गन्तुम् (शाकुन्तल)। **अन्योऽन्यस्यापि जिह्रीमः किं पुनः सहवासिनाम्** (किरात० १४।५८)।

११२—ऋ धातु तथा पॄ के अभ्यास को इकार अन्तादेश होता है श्लु विषय में।[1] इकार 'रपर' होगा।

११३—अभ्यास का आदि हल् शेष रहता है, अन्य हलों का लोप हो जाता है।[2] (अच् अवस्थित रहता है)। यह सूत्र अभ्यास के अनादि हल् की निवृत्ति करता है।

११४ (क)—अङ्गावयव-भूत जो ओष्ठ्य वर्ण, वह है पूर्व जिस ॠ के, तदन्त अङ्ग को उत् (ह्रस्व उ) होता है।[3] ॠ को रपर उ। **पर** होने से गुण तथा वृद्धि अपने विषय में इसे बाध लेते हैं।

११४ (ख)—रेफ-वकारान्त धातु की उपधा इक् को दीर्घ हो जाता है हल् परे होने पर।[4]

पॄ पालनपूरणयोः (पॄ—रक्षा करना, भरना) प०

	लट्			लङ्	
१ **पिपर्ति** (११२, ११३)	**पिपूर्तः**	**पिपुरति** (११४)	**अपिपः**	**अपिपूर्ताम्**	**अपिपरुः**
२ **पिपर्षि**	**पिपूर्थः** (११४)	**पिपूर्थ**	**अपिपः**	**अपिपूर्तम्**	**अपिपूर्त**
३ **पिपर्मि**	**पिपूर्वः**	**पिपूर्मः**	**अपिपरम्**	**अपिपूर्व**	**अपिपूर्म**

---

१. अर्तिपिपर्त्योश्च (७।४।७७)।

२. हलादिः शेषः (७।४।६०)।

३. उदोष्ठ्यपूर्वस्य (७।१।१०२)।

४. हलि च (८।२।७७)।

लोट्			विधिलिङ्		
१ पिपर्तु पिपूर्तात्	पिपूर्ताम् (११४) ख	पिपुरतु	पिपूर्यात् (११४) ख	पिपूर्याताम्	पिपूर्युः
२ पिपूर्हि पिपूर्तात्	पिपूर्तम्	पिपूर्त	पिपूर्याः	पिपूर्यातम्	पिपूर्यात
३ पिपराणि	पिपराव	पिपराव	पिपूर्याम्	पिपूर्याव	पिपूर्याम

पिपर्ति—यहाँ पॄ शप् ति—पॄ श्लु ति—पॄ ति—पॄ पॄ ति—पिर् पॄ ति—पि पॄ ति—पिपर्ति (२)। अपिपः—यहाँ (तिप्, सिप्, मिप् परे रहते) गुण होकर (अर्थात् ऋ को रपर अ) हो जाने पर (५८) अपृक्त त्, स् का लोप होने पर **प्रत्ययलक्षण** से 'अपिपर्' यह पद ही है। अतः र् को विसर्जनीय हुआ। **पिपराणि** आदि में आट् के पित् होने से परत्व के कारण (११४—क) से प्राप्त उत्व को बाधकर (२) से गुण हुआ। **पिपूर्हि** में ॠ को उत् (रपर उ)। उसे (११४—ख) से दीर्घ। झलन्त न होने से 'हि' को धि नहीं हुआ। **तं जातं तरुणं पिपर्ति माता** (अथर्व० ६।१।५)।

कुछ लोग पृ पालनपूरणयोः पढ़ते हैं। वह अपाणिनीय है। **तं पिपृतं रोदसी सत्यवाचम्** (तै० ब्रा० २।८।४।८)। **पिपृहि माग्ने** (काठक २।१३)। इत्यादि में पृ का प्रयोग छान्दस है, ऐसा समझना चाहिये।

११५—भृञ्, माङ्, ओहाङ्—इन के अभ्यास को इकार अन्तादेश होता है श्लु विषय में।[1]

डुभृञ् धारणपोषणयोः (धारण व पोषण करना) उ०

लट् प०			लङ् प०		
१ बिभर्ति	बिभृतः	बिभ्रति	अबिभः	अबिभृताम्	अबिभरुः
२ बिभर्षि	बिभृथः	बिभृथ	अबिभः	अबिभृतम्	अबिभृत
३ बिभर्मि	बिभृवः	बिभृमः	अबिभरम्	अबिभृव	अबिभृम
लोट्					
१ बिभर्तु- बिभृतात्	बिभृताम्	बिभ्रतु	बिभृयात्	बिभृयाताम्	बिभृयुः
२ बिभृहि- बिभृतात्	बिभृतम्	बिभृत	बिभ्रियाः	बिभृयातम्	बिभृयात

१. भृञामित् (७।४।७६)।

३ **बिभराणि**	**बिभराव**	**बिभराम**	**बिभृयाम्**	**बिभृयाव**	**बिभृयाम**

यहाँ अभ्यास के ऋ को इ (रपर) होता है। तब अभ्यास भिर् के र् का (११३) से लोप हो जाता है। अभ्यास के झश् (भ्) को (१०९) से जश् हो जाता है। **बिभृयात्** में यादि सार्वधातुक होने से धातु के ऋ को रिङ् (रि) नहीं हुआ। वह आर्धधातुक में होता है।

११६—अभ्यास को ह्रस्व होता है।[1]

११७—श्ना तथा अभ्यस्त धातु के 'आ' को 'ई' होता है हलादि कित् ङित् सार्वधातुक परे होने पर, पर यह आदेश घु-संज्ञक दा, धा आदि धातुओं को नहीं होता है।[2]

माङ् माने (मा मापना) आ०

	लट्			*लङ्*	
१ **मिमीते** (११५)	**मिमाते**	**मिमते** (९४, ९७)	**अमिमीत**	**अमिमाताम्**	**अमिमत**
२ **मिमीषे** (११७)	**मिमाथे**	**मिमीध्वे** (११७)	**अमिमीथाः**	**अमिमाथाम्**	**अमिमीध्वम्**
३ **मिमे** (११५)	**मिमीवहे**	**मिमीमहे**	**अमिमि** (९७)	**अमिमीवहि**	**अमिमीमहि**

	लोट्			*विधिलिङ्*	
१ **मिमीताम्**	**मिमाताम्**	**मिमताम्**	**मिमीत**	**मिमीयाताम्**	**मिमीरन्**
२ **मिमीष्व**	**मिमाथाम्**	**मिमीध्वम्**	**मिमीथाः**	**मिमीयाथाम्**	**मिमीध्वम्**
३ **मिमै**	**मिमावहै**	**मिमामहै**	**मिमीय**	**मिमीवहि**	**मिमीमहि**

मिमै—यहाँ आट् के पित् होने से 'मा' के आ का लोप नहीं हुआ। ऐसे ही **मिमावहै, मिमामहै** में।

इसी प्रकार ओहाङ् गतौ(हा, जाना)के रूप होते हैं—**जिहीते**। **अजिहीत**। **जिहीष्व**। **जिहीत**। यहाँ अभ्यास के ह् को चुत्व-विधि से झ् होकर झश् (झ्) को (१०९) से जश् (ज्) होता है।

११८—ओहाक् त्यागे (हा, छोड़ना)—इस धातु के 'आ' को कित् ङित्

---

१. ह्रस्वः (७।४।५९)।

२. ई हल्यघोः (६।४।११३)।

हलादि सार्वधातुक परे रहते विकल्प से 'इ' होता है।[1] पक्षमें (११७)से प्राप्त 'ई'।

११९—'हि' परे रहते हा (त्यागना) धातु को विकल्प से आकार अन्तादेश होता है। पक्ष में इ और ई भी।[2]

१२०—यकारादि सार्वधातुक परे रहते हा (त्यागना) के 'आ' का लोप हो जाता है।[3]

ओहाक् त्यागे (हा—छोड़ना) प०

	लट्			लङ्		
१	जहाति	जहितः जहीतः	जहति (९४, ९७)	अजहात्	अजहिताम्	अजहुः
२	जहासि	जहिथः जहीथः	जहिथ जहीथ	अजहाः	अजहितम् अजहीतम्	अजहित अजहीत
३	जहामि	जहिवः जहीवः	जहिमः जहीमः (११७)	अजहाम्	अजहिव अजहीव	अजहिम अजहीम

	लोट्			विधिलिङ्		
१	जहातु- जहितात् जहीतात्	जहिताम् जहीताम्	जहतु	जह्यात् (१२०)	जह्याताम्	जह्युः
२	जहाहि जहिहि जहीहि जहितात् जहीतात्	जहितम् ११९ जहीतम् ११८	जहित ११७ जहीत	जह्याः	जह्यातम्	जह्यात
३	जहानि	जहाव	जहाम	जह्याम्	जह्याव	जह्याम

अहो रागवती सन्ध्या जहातु स्वयमम्बरम् (रा० ४।३०।४५)।

जहाहि जहिहि जहीहि रामभार्याम् सा स्त्रीस्वभावादसहा भरस्य तयोर्द्वयोरेकतरं जहाति (मुद्रा० ४।१३)। तमु त्वा जहिमो वयम् (अथर्व० ३।२६।२)।

---

१. जहातेश्च (६।४।११६)।

२. आ च हौ (६।४।११७)।

३. लोपो यि (६।४।११८)।

डुदाञ् दाने (दा—देना) उ०

लट् प०			लङ् प०		
१ ददाति (११६)	दत्तः	ददति	अददात्	अदत्ताम्	अददुः
२ ददासि	दत्थः	दत्थ	अददाः	अदत्तम्	अदत्त
३ ददामि	दद्वः	दद्मः	अददाम्	अदद्व	अदद्म

ददाति—अभ्यास 'दा' को ह्रस्व 'द'। दत्त :—यहाँ (९७) से धातु के 'आ' का लोप। दद् तः। इस अवस्था में द् को चर्त्व विधि से त्। घु-संज्ञक होने से (११७) से 'ई' नहीं हुआ।

लोट्			विधिलिङ्		
१ ददातु, दत्तात्	दत्ताम् (९७)	ददतु (९७)	दद्यात् (९७)	दद्याताम्	दद्युः
२ देहि, दत्तात्	दत्तम्	दत्त	दद्याः	दद्यातम्	दद्यात
३ ददानि	ददाव	ददाम	दद्याम्	दद्याव	दद्याम

घु-संज्ञक होने से कहीं भी (११७) की प्रवृत्ति नहीं हुई। (९७) की सर्वत्र (हलादि अहलादि सार्वधातुक परे रहते) निर्बाध प्रवृत्ति हुई है। पर पित् सार्वधातुक इसका विषय नहीं। देहि—यहाँ(८३)से धातु के 'आ' को 'ए' और अभ्यास का लोप होता है।

डुदाञ् दाने (दा-देना)। ञित्। उ०

लट् आ०			लङ् आ०		
१ दत्ते (९७)	ददाते (९७)	ददते (९७)	अदत्त	अददाताम्	अददत (९७)
२ दत्से	ददाथे	दद्ध्वे (९७)	अदत्थाः	अददाथाम्	अदद्ध्वम्
३ ददे	दद्वहे	दद्महे	अददि (९७)	अदद्वहि	अदद्महि

लोट्			विधिलिङ्		
१ दत्ताम्	ददाताम्	ददताम्	ददीत (९७)	ददीयाताम्	ददीरन्

२ दत्स्व	ददाथाम्	दद्ध्वम्	ददीथाः	ददीयाथाम्	ददीध्वम्
३ ददै	ददावहै	ददामहै	ददीय	ददीवहि	ददीमहि

ददै, ददावहै, ददामहै—यहाँ आट् के पित् होने से (९७) की प्रवृत्ति का प्रसङ्ग ही नहीं।

देहि मे ददामि ते, तू मुझे दे, मैं तुझे देता हूँ। **ददाति द्रविणं भूरि दाति दारिद्र्यचर्मार्थिनाम्** (कविरहस्य)। **'दाति'** 'दा (प्) अदादि काटना' का रूप है। 'दा' का अनुज्ञा देना अर्थ में भी प्रयोग होता है—**बाष्पस्तु न ददात्येनां द्रष्टुं चित्रगतामपि** (शाकुन्तल ५।२१)।

१२१—झषन्त धा (दध् रूप) के बश् को भष् हो जाता है त्, थ्, से, ध्वे परे होने पर।[1]

डुधाञ् धारणपोषणयोः (धा—धारण करना, पोषण करना) उ०

लट् प०			लङ् प०		
१ दधाति	धत्तः (१२१)	दधति (९७)	अदधात्	अधत्ताम्	अदधुः
२ दधासि	धत्थः (९७)	धत्थ	अदधाः	अधत्तम्	अधत्त
३ दधामि	दध्वः (९७)	दध्मः	अदधाम्	अदध्व	अदध्म

लोट् प०			विधिलिङ्		
१ दधातु-धत्तात्	धत्ताम्	दधतु	दध्यात्	दध्याताम्	दध्युः
२ धेहि-धत्तात्	धत्तम्	धत्त	दध्याः	दध्यातम्	दध्यात
३ दधानि	दधाव	दधाम	दध्याम्	दध्याव	दध्याम

धत्तः—यहाँ धा धा तः (११६)। ध ध् तः (९७)। द ध् तः (१०९)। ध ध् तः (१२१)। धत्तः। चर्त्व विधि से ध् को त्। (१०९)अभ्यासे चर्च(८।४।५४) से जो जश्त्व हुआ वह बश् विधायक (१२१) दधस्तथोश्च (८।२।३८) की दृष्टि में असिद्ध नहीं होता। यदि ऐसा हो तो बश्-विधान व्यर्थ हो जाय। **वचनसामर्थ्यादभ्यासजश्त्वस्यासिद्धत्वं न।**

डुधाञ्

लट् आ०			लङ् आ०		
१ धत्ते	दधाते	दधते	अधत्त	अदधाताम्	अदधत

[1]. दधस्तथोश्च (८।२।३८)।

२ धत्से(१२१)	दधाथे	धद्ध्वे	अधत्थाः	अदधाथाम्	अधद्ध्वम्
३ दधे	दध्वहे	दध्महे	अदधि	अदध्वहि	अदध्महि

लोट् आ०			विधिलिङ् आ०		
१ धत्ताम्	दधाताम्	दधताम्	दधीत	दधीयाताम्	दधीरन्
२ धत्स्व	दधाथाम्	धद्ध्वम् (१२१)	दधीथाः	दधीयाथाम्	दधीध्वम्
३ दधै	दधावहै	दधामहै	दधीय	दधीवहि	दधीमहि

दधते, दधाथे में (९७) से आ का लोप होने पर झषन्त दध् हो जाने पर भी बश् को भष् नहीं हुआ, कारण कि झषन्त से त, थ, अव्यवहित परे नहीं हैं। प्रत्यय के 'अ' और 'आ' का व्यवधान पड़ा है। लोट् उत्तम पुरुष आट् के पित् होने से (९७) की कहीं भी प्रवृत्ति नहीं होती।

१२२—निज्, विज्, विष्—इन तीन धातुओं के अभ्यास को गुण होता है श्लु-विषय में।[1]

१२३—अजादि पित् सार्वधातुक परे होने पर अभ्यस्त धातु की लघ्वी उपधा को गुण नहीं होता।[2]

णिजिर् शौचपोषणयोः (निज्—पवित्र करना, पुष्ट करना) स्वरितेत्, उ०

लट् प०			लङ् प०		
१ नेनेक्ति (१२२)	नेनिक्तः	नेनिजति (९४)	अनेनेक्-ग्	अनेनिक्ताम्	अनेनिजुः
२ नेनेक्षि	नेनिक्थः	नेनिक्थ	अनेनेक्-ग्	अनेनिक्तम्	अनेनिक्त
३ नेनेज्मि	नेनिज्वः	नेनिज्मः	अनेनिजम् (१२३)	अनेनिज्व	अनेनिज्म

लोट् प०			विधिलिङ् प०		
१ नेनेक्तु, नेनिक्तात्	नेनिक्ताम्	नेनिजतु	नेनिज्यात्	नेनिज्याताम्	नेनिज्युः
२ नेनिग्धि, नेनिक्तात्	नेनिक्तम्	नेनिक्त	नेनिज्याः	नेनिज्यातम्	नेनिज्यात

---

१. निजां त्रयाणां गुणः श्लौ (७।४।७५)।

२. नाभ्यस्तस्याचि पिति सार्वधातुके (७।३।८७)।

३ **नेनिजानि**	**नेनिजाव**	**नेनिजाम**	**नेनिज्याम्**	**नेनिज्याव**	**नेनिज्याम**
		(१२३)			

नेनेक्ति आदि में निज् के ज् को कुत्व विधि से अन्तरतम आदेश ग् होकर चर्त्व विधि से क् हुआ। **अनेनेक्-ग्** में (५८) से अपृक्त त्, स् का लोप होने पर कुत्व होकर चर्त्व विधि से क्।

निज्

	लट् आ०			*लङ् आ०*	
१ **नेनिक्ते** (१२२)	**नेनिजाते**	**नेनिजते** (६४)	**अनेनिक्त**	**अनेनिजाताम्**	**अनेनिजत**
२ **नेनिक्षे**	**नेनिजाथे**	**नेनिग्ध्वे**	**अनेनिक्थाः**	**अनेनिजाथाम्**	**अनेनिग्ध्वम्**
३ **नेनिजे**	**नेनिज्वहे**	**नेनिज्महे**	**अनेनिजि**	**अनेनिज्वहि**	**अनेनिज्महि**

	लोट् आ०			*विधिलिङ् आ०*	
१ **नेनिक्ताम्**	**नेनिजाताम्**	**नेनिजताम्**	**नेनिजीत**	**नेनिजीयाताम्**	**नेनिजीरन्**
२ **नेनिक्ष्व**	**नेनिजाथाम्**	**नेनिग्ध्वम्**	**नेनिजीथाः**	**नेनिजीयाथाम्**	**नेनिजीध्वम्**
३ **नेनिजै**	**नेनिजावहै**	**नेनिजामहै**	**नेनिजीय**	**नेनिजीवहि**	**नेनिजीमहि**

आत्मनेपद प्रत्ययों के अपित् होने से कहीं भी उपधा-गुण नहीं हुआ। अभ्यास को सर्वत्र यथा प्राप्त गुण हुआ है। **नेनिक्ष्व**—यहाँ कुत्व होकर चर्त्व से क् होने पर इण्कोः आदेशप्रत्यययोः (८।३।५७, ८।३।५९) से प्रत्यय सकार को ष् होकर क् ष् के संयोग से क्ष् हुआ।

निज् का प्रायः निर् उपसर्ग सहित प्रयोग होता है—**निर्णेजकः** (धोबी)। **पादनिर्णेजनं जलम्,** पाओं धोने के लिये पानी। णोपदेश होने से णत्व। बिना निर् के भी कभी-कभी प्रयोग होता है—**शाल्मलिफलके श्लक्ष्णे नेनिज्यान्नेजकः शनैः** (मनु० ८।३९६)।

विजिर् पृथग्भावे (विज्—जुदा होना) स्वरितेत्। उ०

	लट् प०			*लङ् प०*	
१ **वेवेक्ति**	**वेविक्तः**	**वेविजति**	**अवेवेक्-ग्**	**अवेविक्ताम्**	**अवेविजुः**
२ **वेवेक्षि**	**वेविक्थः**	**वेविक्थ**	**अवेवेक्-ग्**	**अवेविक्तम्**	**अवेविक्त**
३ **वेवेज्मि**	**वेविज्वः**	**वेविज्मः**	**अवेविजम्**	**अवेविज्व**	**अवेविज्म**

लोट् प०			विधिलिङ् प०		
१ वेवेक्तु / वेविक्तात्	वेविक्ताम्	वेविजतु	वेविज्यात्	वेविज्याताम्	वेविज्युः
२ वेवेग्धि / वेविक्तात्	वेविक्तम्	वेविक्त	वेविज्याः	वेविज्यातम्	वेविज्यात
३ वेविजानि	वेविजाव	वेविजाम	वेविज्याम्	वेविज्याव	वेविज्याम

विज्

लट् आ०			लङ् आ०		
१ वेविक्ते	वेविजाते	वेविजते	अवेविक्त	अवेविजाताम्	अवेविजत
२ वेविक्षे	वेविजाथे	वेविग्ध्वे	अवेविक्थाः	अवेविजाथाम्	अवेविग्ध्वम्
३ वेविजे	वेविज्वहे	वेविज्महे	अवेविजि	अवेविज्वहि	अवेविज्महि

लोट् आ०			विधिलिङ् आ०		
१ वेविक्ताम्	वेविजाताम्	वेविजताम्	वेविजीत	वेविजीयाताम्	वेविजीरन्
२ वेविक्ष्व	वेविजाथाम्	वेविग्ध्वम्	वेविजीथाः	वेविजीयाथाम्	वेविजीध्वम्
३ वेविजै	वेविजावहै	वेविजामहै	वेविजीय	वेविजीवहि	वेविजीमहि

निज् और विज् के रूपों में कुछ भी भेद नहीं।

विष्लृ व्याप्तौ (विष् व्याप्त करना) स्वरितेत्।

वेवेष्टि। (ष्टुत्व)। **वेविष्टे**। **अवेवेट्-ड्**। **अवेवेष्ट**। **वेवेष्टु**। **वेविष्टाम्**। **वेविड्ढि** (हि को धि। ष्टुत्व विधि से ध् को ढ्, ष् को जश्त्व विधि से ड्)। **वेविक्ष्व**।

वेवेष्टि व्याप्नोति सर्वं जगद् इति विष्णुः। परि पूर्व विष् का भोजन परोसना अर्थ है—**ब्राह्मणा भोज्यन्ताम्। माठरकौण्डिन्यौ परिवेविषाताम्**। जब भोज्यमान-वाची कर्म का प्रयोग होता है तो अनुक्त कर्म में द्वितीया और भोजनवाची से तृतीया होती है ऐसा व्यवहार है—**ब्राह्मणान्परिवेष्टुमिच्छामि** (भा०श्रा०३।६७)। **यद्वा अतिथिपतिरतिथीन् परिविष्य**(शौनक संहिता९।६।५३)। **ब्राह्मणानन्नेन परिवेषयेत्** (स्वार्थे णिच्) (भा० गृ० २।६)। **ब्राह्मणानन्नेन परिविष्य** (भा० गृ० १।३)। **आपूर्यमाणपक्षे पुण्ये नक्षत्रे विशेषेण पुंनामधेये युग्मान् ब्राह्मणान् अन्नेन परिविष्य** (आग्निवेश्य गृ० १।१)। इस व्यवहार में हेतु धातु का मूलार्थ 'व्याप्ति' है।

धातुपाठ में ऋ (सृ भी) छान्दस धातुओं के मध्य में पढ़ी है। अर्तिपिपर्त्योश्च (७।४।७७) से ऋ के अभ्यास को इत्व विधान किया है, उस से हम

जानते हैं कि इस का लोक में प्रयोग सूत्रकार को अभिमत है, अन्यथा 'बहुलं छन्दसि' से ही वेद मात्र में दृष्ट इत्त्व का अन्वाख्यान हो जाता। लोक में आज भी इस का आंशिक प्रयोग देखा जाता है। और पहले भी होता था, अतः बोध की परिपूर्णता के लिये इस के रूप यहाँ दिये जाते हैं—

ऋ गतौ (जाना) प०

	लट्			लङ्	
१ **इयर्ति**	**इयृतः**	**इयृति**	**ऐयः**	**ऐयृताम्**	**ऐयरुः**
२ **इयर्षि**	**इयृथः**	**इयृथ**	**ऐयः**	**ऐयृतम्**	**ऐयृत**
३ **इयर्मि**	**इयृवः**	**इयृमः**	**ऐयरम्**	**ऐयृव**	**ऐयृम**
	लोट्			विधिलिङ्	
१ **इयर्तु** / **इयृतात्**	**इयृताम्**	**इयृतु**	**इयृयात्**	**इयृयाताम्**	**इयृयुः**
२ **इयृहि** / **इयृतात्**	**इयृतम्**	**इयृत**	**इयृयाः**	**इयृयातम्**	**इयृयात**
३ **इयराणि**	**इयराव**	**इयराम**	**इयृयाम्**	**इयृयाव**	**इयृयाम**

इयर्ति—ऋ ऋ ति—इर् ऋ ति (अभ्यास को इ रपर)—इ ऋ ति (हलादिशेष से र् का लोप—इय (ङ्) ऋ ति (अभ्यास के 'इ' को इयङ् (इय्) हो जाता है असवर्ण अच् परे रहते)—**इयर्ति** (पित् सार्वधातुक तिप् को मान कर (२) से गुण)। **इयृति**—यहाँ गुण की प्राप्ति न होने से ऋ को यण् (र्) हुआ है। **ऐयः**—यहाँ ऋ ऋ त् इस अवस्था में अभ्यास को इत्त्व, हलादिः शेष, अभ्यास 'इ' को इयङ्, अभ्यासोत्तर खण्ड 'ऋ' को गुण होकर इयर् त् ऐसा रूप होकर हल्ङ्याब्भ्यः—(५८) से अपृक्त त् का लोप होने पर 'र्' को विसर्ग होता है। आट् आगम होने पर वृद्धि एकादेश होकर परिनिष्ठित प्रयोगार्ह रूप ऐयः सिद्ध होता है। प्र० प्र० ए० तथा म० पु० ए० में समान प्रक्रिया है। **ऐयरुः**—यहाँ जुस् (उस्) परे होने पर ( ) से गुण होता है। **इयराणि**—यहाँ आट् के पित् होने पर धातु को गुण होता है। ऐसे ही इयराव, इयराम में भी।

इति जुहोत्यादयः श्लु-विकरणाः।

दिवादिगण (चतुर्थ गण)

१२४—दिव् आदि धातुओं से कर्तृवाची सार्वधातुक परे होने पर **श्यन्** प्रत्यय (विकरण) होता है।[1] यह शप् का अपवाद है। **श्यन्** अपित् सार्वधातुक है, अतः ङित्वत् होने से इसके परे रहते धातु को गुण नहीं होता।

दिवु क्रीडा-विजिगीषा-व्यवहार-द्युति-स्तुति-मोद-मद-स्वप्न-कान्ति - गतिषु (दिव्—खेलना, जुआ खेलना, द्रव्य का क्रयविक्रयादि करना, चमकना, स्तुति करना, प्रसन्न होना, मस्त होना, चाहना, चलना) प०

तत्त्वबोधिनीकार 'विजीगीषा' का अर्थ जीतने की इच्छा समझता है और **'शत्रुं दीव्यति'**—यह उदाहरण देता है। यह ठीक नहीं। सूत्रकार स्वयम् 'विजिगीषा' शब्द को जुआ खेलना अर्थ में प्रयुक्त करते हैं—दिवोऽविजिगीषायाम् (८।२।४९)। यह निष्ठा-नत्व विधायक सूत्र है। इसका उदाहरण **द्यून** (**आद्यून, परिद्यून**) है और प्रत्युदाहरण, **द्यूत**।

	लट्			*लङ्*	
१ **दीव्यति** (११५)	**दीव्यतः**	**दीव्यन्ति** (८)	**अदीव्यत्**	**अदीव्यताम्**	**अदीव्यन्**
२ **दीव्यसि**	**दीव्यथः**	**दीव्यथ**	**अदीव्यः**	**अदीव्यतम्**	**अदीव्यत**
३ **दीव्यामि** (९)	**दीव्यावः**	**दीव्यामः**	**अदीव्यम्** (८)	**अदीव्याव** (९)	**अदीव्याम**

	लोट्			*विधिलिङ्*	
१ **दीव्यतु-दीव्यतात्**	**दीव्यताम्**	**दीव्यन्तु** (८)	**दीव्येत्**	**दीव्येताम्**	**दीव्येयुः**
२ **दीव्य-दीव्यतात्**	**दीव्यतम्**	**दीव्यत**	**दीव्येः**	**दीव्येतम्**	**दीव्येत**
३ **दीव्यानि**	**दीव्याव**	**दीव्याम**	**दीव्येयम्**	**दीव्येव**	**दीव्येम**

लोट् म० ए० **'दीव्य'** में (अदन्त) अङ्ग से परे 'हि' का लुक् हुआ है। ऐसा ही भ्वादिगण की धातुओं से होता है, जहाँ शप् आने से अङ्ग अदन्त बन जाता है। **दीव्येत्** इत्यादि में अङ्ग के अदन्त होने से यास् को इय् होता है, जिसके 'य्' का वल् परे रहते लोप हो जाता है—दिव् यास् त्—दिव् य यास् त्—दीव्य यास् त्—दीव्य इय् त्—दीव्य इ त्=दीव्येत्।

---

१. दिवादिभ्यः **श्यन्** (३।१।६९)।

दिव् का प्रयोग प्रायः केवल (उपसर्ग-रहित) देखा जाता है। प्रतिपूर्वक का क्वाचित्क प्रयोग मिलता है—**शतं शतस्य वा प्रतिदीव्यति** (विभाषोपसर्गे की वृत्ति में)।

इसी प्रकार षिवु तन्तुसन्ताने (सिव् सीना), स्रिवु (गति शोषणयोः (स्रिव्—जाना, सूखना), ष्ठिवु निरसने (ष्ठिव्-थूकना), ष्णुसु अदने, आदानेऽदर्शने वा (स्नुस्—खाना, अथवा लेना, अथवा तिरोभूत होना), ष्णसु निरसने(स्नस्—थूकना, बाहिर को फेंकना), व्युष दाहे(व्युष्—जलना), प्लुष च (प्लुष्—जलना)—इन परस्मैपदी धातुओं के रूप जानें। ष्ठिव् के विषय में इतना विशेष वक्तव्य है कि (१२) से जो ष् को स् प्राप्त होता है उसका वार्तिककार निषेध करते हैं—**सुब्धातु-ष्ठिवु-ष्वष्कतीनां सत्व-प्रतिषेधो वक्तव्यः।** निरसन (थूकना) जैसे बीभत्स है वैसे ही निष्ठीवन शब्द का उच्चारण भी। तो भी गौण व्यवहार में इसका प्रयोग अति सुन्दर माना जाता है। इस विषय में आचार्य दण्डी का वचन है—

निष्ठ्यूतोद्गीर्णवान्तादि गौणवृत्तिव्यपाश्रयम्।
अतिसुन्दरमन्यत्र ग्राम्यकक्षां विगाहते॥ (काव्यादर्श)

निष्ठ्यूतो लाक्षारसः केनचित् (शाकुन्तल४)। यहाँ निष्ठ्यूत का गौण प्रयोग है।

सिव् के साथ जब परि, नि, वि उपसर्गों का योग होता है तो सिव् के स् को ष् हो जाता है। अट् से व्यवहित होने पर यह षत्व विकल्प से होता है—परिषीव्यति। निषीव्यति। विषीव्यति। अट् आगम होने पर पर्यषीव्यत्, पर्यसीव्यत्। न्यषीव्यत्। न्यसीव्यत्। व्यषीव्यत्। व्यसीव्यत्।

नृती गात्रविक्षेपे (नृत्—नाचना) प०

	लट्			लङ्		
१	**नृत्यति**	**नृत्यतः**	**नृत्यन्ति**	**अनृत्यत्**	**अनृत्यताम्**	**अनृत्यन्**
२	**नृत्यसि**	**नृत्यथः**	**नृत्यथ**	**अनृत्यः**	**अनृत्यतम्**	**अनृत्यत**
३	**नृत्यामि**(९)	**नृत्यावः**	**नृत्यामः**	**अनृत्यम्** (८)	**अनृत्याव** (९)	**अनृत्याम**

	लोट्			विधिलिङ्		
१	**नृत्यतु-नृत्यतात्**	**नृत्यताम्**	**नृत्यन्तु** (८)	**नृत्येत्**	**नृत्येताम्**	**नृत्येयुः**

२ नृत्य- नृत्यतम् नृत्यत नृत्येः नृत्येतम् नृत्येत
नृत्यतात्
३ नृत्यानि नृत्याव नृत्याम नृत्येयम् नृत्येव नृत्येम

श्यन् के अपित् सार्वधातुक होने से कहीं भी उपधा-गुण जो (३) से प्राप्त था नहीं होता। सार्वधातुक अपित् ङित् वत् होता है, अतः (५) से गुण का निषेध हो जाता है।

त्रसी उद्वेगे (त्रस्—डरना, घबराना)—त्रस्यति। कुथ पूतीभावे (कुथ्—सड़ना, दुर्गन्ध देना)—कुथ्यति (गुणाभाव)। गुध परिवेष्टने (गुध्—घेरना) —गुध्यति (गुणाभाव)। क्षिप प्रेरणे (क्षिप्—फैंकना)—क्षिप्यति। यह तुदादियों में स्वरितेत् पढ़ी है। पुष्प विकसने। (पुष्प्—खिलना)—पुष्प्यति। **वसन्ते पुष्प्यन्ति वासन्त्यः कुन्दलताः** (काशिका)। **पुष्प्यत्पुष्करवासितस्य पयसः** (विक्रमोर्वशी ३।१६)। तिम ष्टिम ष्टीम आर्द्रीभावे (तिम्, स्तिम्, स्तीम्—गीला होना)—तिम्यति। स्तिम्यति। स्तीम्यति। लौकिक साहित्य में तिम्, स्तिम् का कृदन्त रूप में प्रयोग मिलता है। स्तिमित (क्तान्त) का प्रयोग अधिक मिलता है और वह भी अर्थान्तर में—**क्षुभितमुत्कलिकातरलं मनः पय इव स्तिमितस्य महोदधेः** (मालती० ३।१०)। स्तिमित=प्रशान्त, क्षोभरहित। **वाचस्पतिः सन्नपि सोऽष्टमूर्त्तौ त्वाशास्यचिन्तास्तिमितो बभूव** (कुमार० ७।८७)। **स्तिमितः**=स्तब्धः। व्रीड चोदने लज्जायां च (व्रीड् प्रेरित करना, लज्जित होना) (व्रीड्यति)। इष गतौ (इष्—जाना)। इष्यति। इसका प्रायः प्र-पूर्वक प्रयोग होता है—**प्रेष्यति। प्रैषः।** उत्कृष्ट का अपकृष्ट को कार्य में लगाना। **प्रैष्यः।** (=परिचारकः) अनुपूर्वक इष् का अर्थ ढूँढना है। **न रत्नमन्विष्यति मृग्यते हि तत्** (कुमार० ५।४५)। षह षुह चक्यर्थे। चक्यर्थस्तृप्तिः। (सह्, सुह्—तृप्त होना)। **सह्यति। सुह्यति।** सह् का इस अर्थ में प्रयोग दुर्लभ है। सुह् का भी क्तान्त **'सुहित'** रूप में ही मिलता है। **सुहितः फलानाम्।** सुहित' से भावप्रत्ययान्त **सौहित्य** (नपुं०) (=तृप्ति) भी मिलता है। जॄष् झॄष् वयोहानौ (जॄ, झॄ—बूढ़ा होना, पुराना होना)।

१२५—ॠकारान्त धातु जो अङ्ग उसको इ (त्) (रपर इ) अन्तादेश होता है।[1]

जॄ य ति—जिर् य ति—जीर्यति (१२५, ११४-ख)। झॄ य ति—झिर्-

यति—झीर्यति। जहाँ गुण वृद्धि का प्रसङ्ग होगा वहाँ गुण वृद्धि पर होने से इस सूत्र से विहित इत्व तथा (११४-क) से विहित उत्व को बाध लेंगे।

जीर्यन्ति जीर्यतः केशा दन्ता जीर्यन्ति जीर्यतः।
जीविताशा धनाशा च जीर्यतोपि न जीर्यति॥

दिवा० जॄ अकर्मक है, क्र्यादि सकर्मक है। यह घटादि है अतः णिच् परे रहते—'जरयति' रूप होगा। क्र्यादि का 'जारयति'।

१२६—ओकारान्त धातुओं के 'ओ' का लोप हो जाता है श्यन् परे होने पर।[2]

शो तनूकरणे (शो—तेज़ करना) प०

	लट्			लङ्	
१ श्यति	श्यतः	श्यन्ति	अश्यत्	अश्यताम्	अश्यन्
२ श्यसि	श्यथः	श्यथ	अश्यः	अश्यतम्	अश्यत
३ श्यामि	श्यावः	श्यामः	अश्यम्	अश्याव	अश्याम

	लोट्			विधिलिङ्	
१ श्यतु-श्यतात्	श्यताम्	श्यन्तु	श्येत्	श्येताम्	श्येयुः
२ श्य-श्यतात्	श्यतम्	श्यत	श्येः	श्येतम्	श्येत
३ श्यानि	श्याव	श्याम	श्येयम्	श्येव	श्येम

शो का प्रयोग प्रायः नि-उपसर्गपूर्वक होता है। अर्थ में कुछ भी भेद नहीं। **निशितनिपाता वज्रसाराः शरास्ते** (शाकुन्तल १।१०)। **शातोदरी** = कृशोदरी।

शो की तरह छो छेदने (छो—काटना), षो अन्तकर्मणि (सो—समाप्त करना), दो अवखण्डने (दो—टुकड़ा काटना) के रूप जानें। छो—छात= पतला, दुबला। अमांसो दुर्बलश्छातः (अमर)। सो और दो का अव-पूर्वक प्रयोग होता है—**अवस्यति। अवद्यति।** क्वचित् कृदन्त रूपों में केवल सो, दो का भी प्रयोग दीखता है—**अवस्यति प्राणान् इति सायकः** (ण्वुल्)। **गोदान-विधिः =गावो लोमान्यवदीयन्ते खण्ड्यन्तेऽनेनेति गोदानः** (करणे ल्युट्)।

१२७—ज्ञा तथा जन् धातु को 'जा' आदेश होता है शित्-प्रत्यय परे होने पर।[1]

---

१. ॠत इद्धातोः (७।१।१००)।
२. ओतः श्यनि (७।३।७१)।

जनी प्रादुर्भावे (जन्—प्रकट होना, जन्म लेना) आ०

	लट्			लङ्	
१ **जायते** (१२७)	**जायेते**	**जायन्ते** (१२४, ८)	**अजायत**	**अजायेताम्**	**अजायन्त**
२ **जायसे**	**जायेथे**	**जायध्वे**	**अजायथाः**	**अजायेथाम्**	**अजायध्वम्**
३ **जाये**	**जायावहे** (९)	**जायामहे**	**अजाये**	**अजायावहि**	**अजायामहि**

	लोट्			विधिलिङ्	
१ **जायताम्**	**जायेताम्**	**जायन्ताम्**	**जायेत**	**जायेयाताम्**	**जायेरन्**
२ **जायस्व**	**जायेथाम्**	**जायध्वम्**	**जायेथाः**	**जायेयाथाम्**	**जायेध्वम्**
३ **जायै**	**जायावहै**	**जायामहै**	**जायेय**	**जायेवहि**	**जायेमहि**

जाये—यहाँ जन् श्यन् ए—जा य ए—जाये(८)। **अजाये**—यहाँ अ जन् श्यन् इ=अ जा य इ=अजाये (गुणसन्धि=ए)। **ब्रह्मण इमाः प्रजाः प्रजायन्ते। गोमयाद् वृश्चिको जायते। इदमन्धं तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्। यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते ।।** (काव्यादर्श)। **जायस्व म्रियस्वेत्येवायं संसरति देही।** प्राणी बार-बार जन्मता है, मरता है इस प्रकार नानायोनियों में घूमता रहता है।

दीपी दीप्तौ (दीप्—प्रकाशित होना)। **दीप्यते** (गुणाभाव)। पूरी आप्यायने (पूर्—भरना)। **पूर्यते। जलबिन्दुनिपातेन क्रमशः पूर्यते घटः।** तूरी गति-त्वरण-हिंसनयोः (तूर्—चलना, शीघ्र गति से चलना, हिंसा करना)। **तूर्यते।** धूरी गूरी हिंसागत्योः (धूर् गूर—मारना, जाना)। **गूर् का प्रायः अवपूर्वक प्रयोग होता है।** जूरी हिंसा-वयोहान्योः (जूर्—मारना, बूढ़ा होना)। **जूर्यते।** चूरी दाहे (चूर्—जलाना)। **चूर्यते**=दहति। क्तान्त चूर्ण, जलाने से भस्म बन गया। पत ऐश्वर्ये वा (पत्—ऐश्वर्य=स्वामी होना अर्थ में विकल्प से दिवा० आत्मने० है)। यहाँ जो 'तप ऐश्वर्ये वा' पढ़ा जाता है, वह पाठ-भ्रंश समझना चाहिए, कारण कि तप् का ऐश्वर्य अर्थ में श्यन्प्रत्ययान्त प्रयोग मिलता नहीं, और पत् का प्रचुरतया उपलब्ध होता है— **यः पत्यते वृषभो वृष्ण्यानाम्** (ऋ० ६।२२।१)। **यौ पत्येते अप्रतीतौ** (=अप्रतिनिवृत्तौ, अपराङ्मुखौ) अथर्व ७।२६।१ ।। **आदिन्द्रः सत्रा तविषीरपत्यत** (ऋ० १०।११३।५)। **तविषीः**=बलानि। **अपत्यत**=अभ्यभवत्। **स हव्या** (=हव्यानि) **मानुषाणामिलाकृतानि पत्यते** (ऋ० १।१२८।७)। **इयमासुति-**

आरुर्मदाय पत्यते (=ईश्वरा=समर्था भवति=कल्पते) ऋ० ८।१।२६ ॥ **द्युतद्यामा नियुतः पत्यमानः** (ऋ० ६।४९।४)।

वृतु वरणे (वृत्—वरण करना, चुनना)। **वृत्यते**। भट्टि काव्य का कर्ता पत ऐश्वर्ये वा के 'वा' को इस धातु के साथ पढ़कर 'वावृतु' धातु समझता है—**ततो वावृत्यमानाऽसौ रामशालां न्यविक्षत** (भट्टि ४।२८)। **वावृत्यमाना** =वृण्वाना (जयमङ्गला)। भट्टि ने इतनी बड़ी धातु की कल्पना किस आधार पर की, यह ज्ञात नहीं।

क्लिश उपतापे (क्लिश्—क्लिष्ट होना, दुःखी होना, अकर्मक)। **क्लिश्यते**। **अप्युपदेशग्रहणे नातिक्लिश्यते वः शिष्या** (मालविका), क्या आपकी शिष्या शिक्षा ग्रहण में अतिक्लेश तो नहीं मानती? **त्रयः परार्थे क्लिश्यन्ति साक्षिणः प्रतिभूः कुलम्** (मनु० ८।१६९), तीन दूसरे के निमित्त क्लेश पाते हैं—साक्षी (गवाह), प्रतिभू (ज़ामन), कुल। यहाँ परस्मैपद अपाणिनीय है। **यश्च मूढतमो लोके यश्च बुद्धेः परं गतः। उभौ तौ सुखमेधेते क्लिश्यत्यन्तरितो जनः** (भा०) ॥ जो लोक में अत्यन्त मूढ़ है और जो बुद्धि की पराकाष्ठा को प्राप्त हो गया है, वे दोनों सुखपूर्वक बढ़ते हैं (फलते-फूलते हैं) और बीच का पुरुष क्लेश पाता है। यहाँ भी परस्मैपद अपाणिनीय है। काशृ दीप्तौ (काश्—चमकना)। **काश्यते**। **प्रकाश्यते**। **आकाश्यते**। **संकाश्यते**। वाशृ शब्दे (वाश्—पशु पक्षियों का शब्द करना)। **वाश्यते**। **काको वाश्यते**, कौआ बोलता है। शिवाः (=गीदड़) **तां श्रिताः प्रतिभयं ववाशिरे** (वाश्—लिट्)। रघु० ११।६१ ॥ **न हि काको वाश्यत इत्यार्हीयत्वं निवर्तते** (भाष्य)। **धेनवो वावशानाः** (वश्—यङ्लुक्—शानच्), ऋ० १।७२।३॥ **ववाशिरे च दीप्तायां दिशि गोमायुवायसाः** (भा० ६।६३९)। **कुररीमिव वाशतीम्** (ऋ० ३।२३८१)। **वाशतीम्** =वाश्यमानाम्।

पद गतौ (पद् जाना)। **पद्यते**। पद्यते गच्छतीति पादः (घञ्)। **प्रपद्यते**। **सम्पद्यते**। **विपद्यते**। **आपद्यते**। **उत्पद्यते**। **व्युत्पद्यते**। **निपद्यते** (लेटता है)। यह अर्थ बिना 'नि' के भी होता है—**पन्नगः**। **पन्नः पतितः सन् गच्छतीति पन्नगः सर्पः**। पद् का अर्थ गिरना भी है—**सो अग्नेरन्ते वृषलः पपाद** (ऋ० १०।३४।११)। **गर्तं पद्यते**, गढे में गिरता है। खिद दैन्ये (खिद्—खिन्न होना)। **खिद्यते**। विद सत्तायाम् (विद्—होना)। **विद्यते**=अस्ति। बुध अवगमने (बुध्—जानना, जागता)। **क्षमादमुं नारद इत्यबोधि सः** (माघ० १।३)।

१. ज्ञाजनोर्जा (७।३।७९)।

अबीधिलुङ्। **ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत्** (मनु० ४।९२)। ब्राह्म-मुहूर्त में जागे और धर्म और अर्थ का चिन्तन करे। **यदि बुध्यते हरि-शिशुः स्तनन्धयः** (भा० वि० १।५३)। **ते च प्रापुरुदन्वन्तं बुबुधे** (बुध्—लिट्) **चादिपूरुषः** (रघु० १०।६)। ज्यों ही वे समुद्र तट तक पहुँचे त्यों ही आदि पुरुष विष्णु जाग उठे। युध सम्प्रहारे (युध्—लड़ना)। **युध्यते**। अकर्मक। **न बलीयसाऽरिणा युध्येत**। अतः सकर्मकत्व-लाभार्थ णिच् सहित का प्रयोग होता है—**यद्बलीयांसमरिं योधयति तद्विनाशाय**। अनो रुध कामे (अनुरुध्-चाहना, अनुवर्तन करना, अनुसरण करना)। **मातरमनुरुध्यते**। **पितरमनु-रुध्यते**। **अनुरोध विरोध का प्रतियोगी है**। मन ज्ञाने (मन्—जानना)। **यश्चैनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्। उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते** (गीता २।१९)॥ **मन्** का केवल का प्रयोग अथवा उपसर्ग-सहित का प्रयोग प्रचुरतया उपलब्ध होता है। **मन्यते**। **अवमन्यते**। **योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः**(मनु० २ ११)। **विमन्यते**। **विमतः**। **सम्मतः**। युज समाधौ (युज्—योग-युक्त होना)। **युज्यते**। अकर्मक। उपचार से युक्त= संगत होना अर्थ में भी प्रयोग होता है—**नैसद् युज्यते**। सृज विसर्गे (सृज—विविध सृष्टि का होना—अकर्मक)। **सृज्यते स्वयमेव विश्वं ध्वंसते च स्वय-मेवेति केचित्**। सम्पूर्वक सृज् का अर्थ संसृष्ट=सम्पृक्त होना, मिलना, संसर्ग को प्राप्त होना है—**वृन्ताच्छ्लथं हरति पुष्पमनोकहानां**

संसृज्यते सरसिजैररुणांशुभिन्नैः।(रघु० ५।६९)।

लिश अल्पीभावे (छोटा होना)। **लिश्यते**। लोक में इस का तिङन्त रूप में प्रयोग दुर्लभ है। शतपथ ब्राह्मण में आया है।

षूङ् प्राणिप्रसवे (सू—बच्चा जनना)। **सूयते**। इस का प्रायः 'प्र' उप-सर्गपूर्वक प्रयोग होता है—**प्रसूयते**। यह आदादिक आत्मने० षूङ् प्राणिगर्भविमो-**चने** के साथ समानार्थक है। दिवादि षूङ् का क्तान्त **सून** (प्रपूर्वक **प्रसून**) होता है। अदादि का **सूत** (प्रपूर्वक **प्रसूत**)। दूङ् परितापे (दू—तपना, जलना, दुःखी होना)। **दूयते**। **परिदूयते**। **प्रदूयते**। **न दूये सात्वतीसूनुर्यन्मह्यमपरा-ध्यति**(माघ० २।११)। मुझे इस बात का दुःख नहीं है कि शिशुपाल मेरा द्रोह कर रहा है। जलने अर्थ में औपनिषद प्रयोग है—**तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हाऽस्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते** (छां०उ०५।२४।३)। **दूये विषस्येव रसं हि पीत्वा** (भा०३।१३७१)। **पित्तेन दूने रसने सितापि तिक्तायते हंसकुलावतंस** (नैषध० ३।९४)। दीङ् क्षये(दी—क्षीण होना। **दीयते**। इसका क्तान्त'**दीन**'है। दीन से

भाव प्रत्ययान्त—दैन्य। **मत्स्यं न दीन उदनि क्षियन्तम्** (ऋ० १०।६८।८), क्षीण हुए जल में रहते हुए मत्स्य की तरह। मूल में 'दीन' सप्तम्यन्त है। **उदनि**=उदके। दीङ् का उपपूर्वक प्रयोग भी देखा जाता है। **भाष्य में उपादास्त स्वरोऽस्योपाध्यायस्य**—ऐसा पढ़ा है। **अर्थ है**—इस उपाध्याय का गला बैठ गया है। डीङ् विहायसा गतौ (डी—उड़ना)। **डीयते**। **प्रायेण उद्** पूर्वक प्रयोग होता है—**उड्डीयते। उदडीयत**(लङ्)। धीङ् आधारे (धी—धारण करना)। **शेषो भुवं धीयते** (क्षीरत०)। रामायण (३।१६।३३) में **वनस्थमपि तापस्ये यस्त्वामनुविधीयते** ऐसा पाठ है। यहाँ टीकाकार अनुविपूर्वक धीङ् का प्रयोग समझता है। रूप को देख कर ऐसी ही बुद्धि होती है। अर्थ 'आधार' नहीं है। धातुओं की अनेकार्थता का आश्रयण करना पड़ता है। **अनुविधीयते**=**अनुकरोति**। मीङ् हिंसायाम् (मी—प्राणों से वियुक्त होना, मरना)। **मीयते**। इस का प्रायः प्रपूर्वक प्रयोग होता है। **प्रमीयते। प्रमीतपतिका स्त्री**, जिसका पति मर गया है। **बालाश्च न प्रमीयन्ते विकृतं न च जायते** (मनु० ६।२४७)। यह धातु अकर्मक है, अतः ण्यन्त से ल्युट् करके 'प्रमापण' शब्द का हिंसन (मारना) अर्थ होता है। रीङ् स्रवणे (री—बहना)। **रीयते। अश्मन्वती रीयते संरभध्वमुत्तिष्ठत प्रतरता सखायः** (ऋ० १०।५३।८)। पथरीली नदी बह रही है, जल्दी करो, उठो, हे मित्रो, इसे पार करो। रीङ् से क्तिन् प्रत्यय करके प्रसिद्ध '**रीति**' शब्द सिद्ध होता है। मूल में इस का अर्थ प्रवाह है, ततः परम्परा, रिवाज, निबन्धन-शैली आदि नाना अर्थ होते हैं। **रीति** का पित्तल भी अर्थ है। लीङ् श्लेषणे (ली-लीन होना, साथ लग जाना, जुड़ना, आश्रय लेना)। **लीयते। आलीयतेऽत्रेत्यालयः। निलीयते**=छिप जाता है। **प्रलीयते**=नाश को प्राप्त करता है। **विलीयते**=पिघल जाता है। **सर्पिर्विलीनमाज्यं स्यात्**। पीङ् पाने (पी—पीना)। **पीयते। निपीयते। निपीय यस्य क्षितिरक्षिणः कथाः** (नैषध० १।१)। माङ् माने (मा—मापना)। **मायते**। ईङ् गतौ (ई—जाना)। **ईयते। उदीयते**।=उदित होता है। **उदीयमान**=उदय होता हुआ। ई—क्तिन्=**ईति। अतिवृष्टिरनावृष्टिर्मूषकाः शलभाः शुकाः। अत्यासन्नाश्च राजानः षडेता ईतयः स्मृताः॥** प्रीङ् प्रीतौ (प्री—प्रीतिमान् होना, प्रसन्न होना)। **प्रीयते**। सिद्धान्त कौमुदी में इसे 'सकर्मक' लिखा है। यह ठीक नहीं। प्रीङ् का कहीं भी सकर्मकतया प्रयोग नहीं मिलता। सर्वत्र अकर्मकतया ही प्रयोग उपलब्ध होता है यथा—

तत्र सौधगतः पश्यन्यमुनां चक्रवाकिनीम्।
हेमभक्तिमतीं भूमेः प्रवेणीमिव पिप्रिये॥ (रघु० १५।३०)।

येनैवास्मासु प्रीयते भगवान्भुवनगुरुर्भैरवाचार्यः (हर्ष च० १)। **प्रकाममप्रीयत यज्वनां प्रियः** (माघ १।१७)। **प्रीयामहे भवतां संगमेन** (भा० सभा० ५८।८)। **प्रीतास्मि ते पुत्त्र वरं वृणीष्व** (रघु० २।६३)।

मृष तितिक्षायाम् (मृष्—सहना, क्षमा करना) स्वरितेत् उ०। **मृष्यति-मृष्यते**। परिपूर्व मृष् का परस्मैपद में ही प्रयोग होता है—**परिमृष्यति**। **तत्किमिदमकार्यमनुष्ठितं देवेन—लोको न मृष्यतीति** (उत्तर-रामचरित)। **मृष्यन्तु लवस्य बालिशतां तातपादाः** (उ० रा च० ६)। ई शुचिर् पूतीभावे। पूतीभावः क्लेदः (शुच्—गीला होना, बासा होने से पानी छोड़ना)। स्वरितेत् उ०। **शुच्यति—शुच्यते**। **कालपरिवासेन शुच्यन्ति फलानि, शुक्तानि चाभोज्यानि भवन्ति**। णह बन्धने (नह्—बाँधना)। स्वरितेत् उ०। **नह्यति—नह्यते**। सकर्मक। सम्पूर्वक यह अकर्मक हो जाती है—**युद्धाय संनह्यते**, युद्ध के लिये तैयार होता है। **सन्नद्धः**=कृतवर्मा, कवच पहने हुए, तैयार। शप आक्रोशे (शप्—गाली देना, शाप देना, शपथ लेना)। स्वरितेत् उ०। **शप्यति—शप्यते**।

शेष परस्मैपदी दिवादि धातुएँ

राधोऽकर्मकाद् वृद्धावेव (राध् से दिवादि श्यन् तभी आता है, जब यह अकर्मक हो, जैसे वृद्धि अर्थ में)। यहाँ 'एव' का भिन्न क्रम विवक्षित है। 'एव' का अन्वय 'अकर्मकात्' से है। वृद्धौ=यथा वृद्धौ। **राध्यति**। **राध्यत्योदनः** (भात पक रहा है)। **राध्यति**=सिद्धयति। **एवमाचरन् नरकाय राध्यति**(=सिध्यति, कल्पते)। **देवदत्ताय राध्यति गर्गः**, गर्ग देवदत्त के भाग्य पर विचार कर रहा है। यहाँ कर्म 'दैव' के क्रिया के अर्थ में अन्तर्भूत हो जाने से धातु राध् अकर्मक हो गई है। **न दूये सात्वतीसूनुर्यन्मह्यमपराध्यति** (माघ २।११)। मुझे इस बात का दुःख नहीं कि शिशुपाल मेरे प्रति द्रोह करता है।

अकर्मक राध् से श्यन् होता है, ऐसा कहने से हिंसार्थक अप-राध् से श्यन् नहीं होता, श्नु होता है। **क्रियासमभिहारेण विराध्यन्तं क्षमेत कः** (माघ २। ४३)। यहाँ वि-राध् अपकारार्थक है।

१२८—ग्रह्, ज्या, वय् (वेञ् का आदेश), व्यध्, वश्, व्यच्, व्रश्च्, प्रच्छ्, भ्रस्ज्—इन धातुओं को सम्प्रसारण होता है कित्, ङित् प्रत्यय परे होने पर।[1] यण् के स्थान में इक् आदेश को सम्प्रसारण कहते हैं। य् को इ, व् को उ, र् को ऋ।

---

१. ग्रहि-ज्या-वयि-व्यधि-वष्टि-विचति-वृश्चति-पृच्छति-भृज्जतीनां ङिति च (६।१।१३)। इग्यणः सम्प्रसारणम् (१।१।१६)।

व्यध ताडने (व्यध्—बींधना) प०

	लट्			लङ्	
१ विध्यति	विध्यतः	विध्यन्ति	अविध्यत्	अविध्यताम्	अविध्यन्
२ विध्यसि	विध्यथः	विध्यथ	अविध्यः	अविध्यतम्	अविध्यत
३ विध्यामि	विध्यावः	विध्यामः	अविध्यम्	अविध्याव	अविध्याम

	लोट्			विधिलिङ्	
१ विध्यतु, विध्यतात्	विध्यताम्	विध्यन्तु	विध्येत्	विध्येताम्	विध्येयुः
२ विध्य, विध्यतात्	विध्यतम्	विध्यत	विध्येः	विध्येतम्	विध्येत
३ विध्यानि	विध्याव	विध्याम	विध्येयम्	विध्येव	विध्येम

व्यध् य ति—व् इ अ ध् य ति। य् को सम्प्रसारण इ होने पर शेष 'अ' रहा। सम्प्रसारण से परे अच् हो तो उस अच् और सम्प्रसारण के स्थान में पूर्वरूप एकादेश हो जाता है, अर्थात् परला अच् नहीं रहता। पूर्व-रूप होने पर '**विध्यति**' रूप निष्पन्न होता है। श्यन् अपित् सार्वधातुक है। अपित् ङित्वत् होता है इस विधान के अनुसार ङित् है। श्यन् परे होने पर सर्वत्र सम्प्रसारण होता है। **पादौ विध्यन्ति इति पद्याः शर्कराः**, जो कंकर पाओं को छलनी कर देते हैं उन्हें 'पद्य' कहते हैं। अनु-व्यध् का अर्थ व्याप्त करना, घेरना होता है—**सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यम्** (शाकुन्तल १।१८)। **अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते** (वाक्य० १।१२४)। आङ् पूर्वक विद्ध (व्यध्-क्त) का अर्थ 'कुटिल' होता है और प्रेरित=फैंका हुआ भी—**आविद्धं कुटिलं भुग्नम्** (अमर)। **आविद्धक्षिप्तेरिताः समाः** (अमर)।

पुषादि अवान्तर गण

यहाँ से गण के अन्त तक पुष् आदि परस्मैपदी धातुएँ हैं। पुष पुष्टौ (पुष्—पुष्ट करना)—**पुष्यति। सूर्यापाये न खलु कमलं पुष्यति स्वामभिख्याम्** (मेघ० ७७)। पुष् प्रायः सकर्मक है, पर इसका अकर्मक रूप में भी प्रयोग मिलता है। पुष्यसिद्ध्यौ नक्षत्रे (३।१।११६) सूत्र में '**पुष्यन्त्यर्था अत्र नक्षत्रे इति पुष्यः**' इस व्युतपत्ति के अनुसार आचार्य पुष् को अकर्मक स्वीकार कर रहे हैं यह ज्ञापित होता है। **पुष्यति जले पुष्करं पद्मम्**, यहाँ भी स्पष्ट रूप से

पुष् अकर्मक है। वेद में अकर्मकतया प्रयोग मिलता है—**पुनरेता निवर्तन्तामस्मिन्पुष्यन्तु गोपतौ**(ऋ० १०।१९।३)। अन्यत्र भी—**स्रोतांसि रुधिरादीनां वैषम्याद् विषमं गताः। रुद्ध्वा रोगाय कल्पन्ते पुष्यन्ति च न धातवः** (चरक० चिकित्सा० ८।२७)॥ **स्रोतसा च यथा स्वेन धातुः पुष्यति धातुना** (चरक० चिकित्सा० ८।३७)। **अस्त्रीकोऽसावहं स्त्रीमान् स पुष्यतितरां तव** (भट्टी० ४।२९)।

शुष शोषणे (शुष्—सूखना)। **शुष्यति**। तुष प्रीतौ (तुष्—सन्तुष्ट होना, प्रसन्न होना)। **तुष्यति। येनापत्रपते साधुरसाधुस्तेन तुष्यति**। तुष् का प्रयोग सम्, परि-पूर्वक भी होता है, केवल का भी। दुष वैकृत्ये (दुष् बिगड़ना, दुष्ट होना, दोषवान् होना)—**दुष्यति। पर्युषितं पयो दुष्यति**, बासा दूध बिगड़ता है। **अत्र वाक्ये किं दुष्यति**। इस वाक्य में क्या दोष है। **अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः** (गीता १।४०)। **वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः** (भाष्य)। **दुष्यति**=पापी हो जाता है।

श्लिष आलिङ्गने(श्लिष्—आलिङ्गन करना,चिपकना, जुड़ना)। अकर्मक। आङ् श्लिष्, उपश्लिष्, परिश्लिष्—इत्यादि उपसर्गपूर्वक श्लिष् सकर्मक है। **श्लिष्यति। तपस्विन्निति गुणवान्खल्वयमालापः, अपरिचयात्तु न श्लिष्यति मे मनसि** (स्वप्न० १)। **यथा पुष्करपलाशे आपो न श्लिष्यन्ते** (=श्लिष्यन्ति) (छां० उ०)। जैसे कमलपत्र में पानी नहीं लगता। **श्लिष्यति चुम्बति जलधरकल्पं हरिरुपगत इति तिमिरमनल्पम्**—यहाँ गीतगोविन्द (६) का केवल श्लिष् का सकर्मकतया प्रयोग चिन्त्य है। गत्यर्थाकर्मक-श्लिष—(३।४।७२) की वृत्ति में काशिकाकार का विस्पष्ट वचन है—**श्लिषादयः सोपसर्गाः सकर्मका भवन्ति तदर्थमेषामुपादानम्। उपश्लिष्टो गुरुर्भवता। उपश्लिष्टो गुरुं भवान्**, आप गुरु के पास गए। **संश्लिष्यति जतु काष्ठम्**, लाख काठ को चिपकता है। **आश्लिष्यति पुत्रमम्बा स्नेहात्**। शक विभाषितो मर्षणे (शक् मर्षण, सहना, शक्त होना अर्थ में उभयपदी है)। **शक्यति—ते। अत्रापि यदि शक्यामो नित्यतामस्य विस्पष्टं वक्तुम्** (मी० शा० भा० १।१।१३)। ष्विदा गात्रप्रक्षरणे (स्विद्—पसीना टपकना)। **स्विद्यति**। अकर्मक। **स त्वां पश्यति कम्पते पुलकयत्यानन्दति स्विद्यति** (गी० गो० ११)। क्रुध क्रोधे। **क्रुध्यति। पाठेऽनवहित इति क्रुध्यति गुरुः शिष्याय**। क्षुध बुभुक्षायाम् (क्षुध्—भूखा होना)। **यदि क्षुध्यति ते प्रतिवेशी, देह्यस्मै भोजनम्**। शुध शौचे (शुध्—शुद्ध होना)। **अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति** (मनु० ५।१०९)। षिधु संराद्धौ (सिध्—होना)।

सिद्ध होना, बनना, सफल होना)। **सिध्यन्ति कर्मसु महत्स्वपि यन्नियोज्याः संभावनागुणमवेहि तमीश्वराणाम्** (शाकुन्तल ७।४)। जो सेवक बड़े कार्यों में भी सिद्धि को प्राप्त होते हैं, इसे तू स्वामियों के (सेवकों के प्रति) आदर का प्रभाव जान। **न हि सिध्यन्त्यर्था यत्नमन्तरेण। करतलस्थिताऽपि शुक्तिका मौक्तिकं न मुञ्चति।** रध हिंसा-संराद्ध्योः (रध्—मारना, सिद्ध, वशीभूत होना)। **भ्रातृव्येभ्यो रध्यामो यन्मिथो विप्रियाः स्मः** (तै०सं०६।२।२।१)। हम शत्रुओं के वश में हो जाते हैं जब हम परस्पर विरोधी होते हैं। मारने व वश में करने अर्थ में णिजन्त रध् का प्रयोग होता है—**बर्हिष्मते रन्धयाशासदव्रतान्** (ऋ० १।५१।८)। **रध्यत्योदनः**, भात पक रहा है। इस अर्थ में वर्तमान रध् से णिच् करके **ओदनं रन्धयति**, भात राँधता है, ऐसा कह सकते हैं।

णश अदर्शने (नश्—अदृष्ट हो जाना, गुम हो जाना, भाग निकलना, नष्ट हो जाना)। **नश्यति। विनष्टा मे गौः, तां विचिनोमि**, मेरी गौ गुम हो गई है, उसे ढूंढ रहा हूँ। **सा नष्टा बाणपुरात्तदा** (वह बाणासुर की नगरी से भाग निकली), हरिवंश १००२३। **नष्टो वैश्रवणः स्थानात्तस्य वीर्येण** (रा० १।१४।१८)। **नष्टः**=प्रच्युतः=भ्रष्टः। तृप प्रीणने (तृप्—तृप्त होना)। **नाग्निस्तृप्यति काष्ठानाम्।** तृप् के तृप्ति और तर्पण दोनों अर्थ हैं ऐसा भट्टोजिदीक्षित कहते हैं, कारण कि भट्टि पितॄनताप्सीत् ऐसा प्रयोग करता है। वस्तुतः दिवादि तृप् (एवं स्वादि भी) सर्वत्र अकर्मकतया प्रयुक्त हुई मिलती है। भट्टि की उच्छृङ्खलता मात्र है जो तर्पण अर्थ में इसका प्रयोग करता है। **तस्मिन्हि तत्पुर्देवास्तते यज्ञे** (भा०)। तर्पण अर्थ में सर्वत्र णिच् सहित तृप् का प्रयोग होता है—**न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः**(कठउ०१।१।२७)। दृप हर्षमोहनयोः (दृप्—प्रसन्न होना, गर्वित होना)। **दृप्यति। को न दृप्यति वित्तेन।** द्रुह जिघांसायाम् (द्रुह्—मारने की इच्छा करना, हानि पहुँचाने की इच्छा करना)। **अपरक्ताः प्रजा राज्ञे द्रुह्यन्ति।** मुह वैचित्ये (मुह्—बेसुध होना, अविवेकी होना, संमूढ होना)। **मुह्यत्ययं शिरसि प्रहृतः। विपदि व्यामुह्यति जनः प्रायेण।** ष्णुह उद्गिरणे (स्नुह्—रस आदि का बाहर निकालना)। **स्नुह्यति।** ष्णिह प्रीतौ (स्निह्—प्रेम करना)। **स्निह्यति। स्निह्यति भ्राता भ्रातरि।** स्निह् अकर्मक है।

१२९—शम् आदि आठ धातुओं की उपधा को श्यन् परे दीर्घ होता है।[1]

---

1. शमामष्टानां दीर्घः श्यनि (७।३।७४)।

शम उपशमे (शम्—शान्त होना)। **शाम्यति। प्रशाम्यति। उपशाम्यति। न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति** (मनु० २।९४)। **शाम्येत्प्रत्यपकारेण नोपकारेण दुर्जनः** (कुमार० २।४०)। प्रनि पूर्वक—**प्रणिशाम्यति**। (२६)। तमु काङ्क्षायाम् (तम्—चाहना)। इस अर्थ में तम् का प्रयोग दुर्लभ है। थकना, अशान्त होना, दुःखी होना, क्षीण होना—इन अर्थों में कवि-कृतियों में प्रयोग मिलता है—**ललितशिरीषहननैरपि ताम्यति यत्** (मालती ५।३१)। **गाढोत्कण्ठा ललितलुलितैरङ्गकैस्ताम्यतीव** (=क्षीयत इव)—मालती १।१५।

दमु उपशमे (दम्—शान्त करना, वश में करना)। सकर्मक। **अरीन् दाम्यति इत्यरिन्दमः। शमय चित्तं दाम्य चेन्द्रियाणीति शासति शास्त्राणि।** श्रमु तपसि खेदे च (श्रम्—तपस्या करना, परिश्रम करना, थकना)। **श्राम्यति** =तपस्या करता है, मेहनत करता है। **एत्य श्राम्यन्त्यत्रेत्याश्रमः**, जहाँ आकर तपस्या करते हैं वह आश्रम है। **न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः**(ऋ० ४।३३।११)। जो मेहनत नहीं करता, देवता उसके साथ मित्रता नहीं करते। यहाँ श्रान्तात् के स्थान में 'श्रान्तस्य' यह छान्दस प्रयोग है। **विश्राम्यति**=आराम करता है, ठहर जाता है। भ्रमु अनवस्थाने (भ्रम्—घूमना)। **भ्राम्यति**। शमादियों में परिगणित होने से उपधा-वृद्धि। भ्वादि भ्रम् से वैकल्पिक श्यन् आने पर भी वृद्धि नहीं होती—**भ्रमति। भ्रम्यति। सूर्यो भ्राम्यति नित्यमेव गगने** (भर्तृ० २।९५)। क्षमू सहने (क्षम्—सहना, क्षमा करना)। अकर्मक। **क्षाम्यति। अपराद्धोऽस्मि युष्मासु, तेन क्षमयामि वः**, मैंने आपके प्रति अपराध किया है, अतः आपसे क्षमा चाहता हूँ। **क्षन्तव्यं प्रभुणा नित्यं क्षिपतां कार्यिणां नृणाम्** (मनु० ८।३१२)। यहाँ क्षम् के अकर्मक होने से कार्यिणां नृणाम् में शैषिकी षष्ठी हुई है। माघ (२।४३) में दिवादि क्षम् का सकर्मकतया प्रयोग करता है। वह चिन्त्य है। भ्वादि क्षम् (आ०) सकर्मक है। क्लमु ग्लानौ (क्लम्—थकना)। यह भ्वादिगण में भी पढ़ी है जहाँ इससे शप् के साथ श्यन् का विकल्प कहा है—**क्लामति। क्लाम्यति**। यहाँ शमादियों में इसका पाठ इसलिए किया है कि घिनुण्-प्रत्यय हो सके—**शमी। श्रमी। क्लमी**। मदी हर्षे (मद्—अति प्रसन्न होना, मस्त होना)। **माद्यति। प्रमाद्यति** (प्रमाद करता है)। **उन्माद्यति** (उन्मत्त=पागल होता है)।

यहाँ शमादि आठ धातुएँ समाप्त हुईं।

असु क्षेपणे (अस्—फैंकना)। **अस्यति**। प्रपूर्वक—**प्रास्यति। प्रासः**=

कुन्तः=भाला। परा-अस्—**परास्यति। कन्यां जातां परास्यन्ति।** (कभी ऐसा भी था) कि कन्या को जन्मते ही फैंक देते थे। **उदस्यति**=ऊपर को फैंकता है। **व्यस्यति**=विभक्त करता है। **व्यास चतुरो वेदान् तेन कृष्ण-द्वैपायनो महर्षिर्व्यास उच्यते।** परि-अस्। **पर्यस्यति**, चारों ओर फैंकता है। वि-परिअस्—**विपर्यस्यति**=अन्यथा गृह्णाति। सम् अस्—**समस्यति**, इकट्ठा करता है, संक्षिप्त करता है, समास करता है। अभि-अस्—**अभ्यस्यति वेदम्। वेदाभ्यासः परं तपः। त्रिभिरभ्यस्ताः षड् अष्टादश भवन्ति**, तीन से गुण किए हुए छः अठारह हो जाते हैं।

१३०—केवल (=अनुपसृष्ट=उपसर्गरहित) यस् (यत्न करना) से तथा सम्पूर्वक यस् से श्यन् विकल्प से होता है।[1] **यसति। यस्यति। संयसति। संयस्यति।** परन्तु **प्रयस्यति** (प्रयास करता है)—यहाँ नित्य श्यन् ही होगा। आङ्-यस्—**आयस्यति।** आङ्-यस्—क्त=**आयस्त**=पीड़ित। जसु मोक्षणे (जस्—छोड़ना)। तसु उपक्षये दसु च (तस्, दस्—क्षीण होना)। **तस्यति। दस्यति। उतो रयिः पृणतो नोपदस्यति** (ऋ० १०।११७।१)। दान करने वाले का धन नहीं घटता। प्लुष दाहे (प्लुष्—जलाना)। **प्लुष्यति।** यहाँ पुषादियों में इसका पाठ लुङ् में अङ् के लिए है। कुस संश्लेषणे (कुस्—आलिङ्गन करना)। **कुस्यति।** बुस उत्सर्गे (बुस्—छोड़ना)। **बुस्यते समुत्-सृज्यत इति बुसम्।** भूसा। मुस खण्डने। **मुस्यति। मुस्यति इति मुसलम्।** लुठ विलोडने (लुठ्—लुढ़कना)। **लुठ्यति।** तुदादि भी है—**लुठति।** उच समवाये (उच्—जुड़ना, युक्त होना, अभ्यस्त होना)। **उच्यति।** उच्—क्त=**उचित**=समवेत। यह मुख्यार्थ है। **आत्मैव तातस्य चतुर्भुजस्य जातश्चतुर्दो-रुचितः स्मरोऽपि** (नैषध ७।६५)। उचितः=संयुक्तः। युक्त (=उपपन्न) अर्थ में प्रायः प्रयोग होता है—**दासे कृतागसि भवेदुचितः प्रभूणां पादप्रहार इति सुन्दरि नास्मि दूये** (मल्लि० द्वारा उद्धृत)। **पद्भ्यामनुचिता गन्तुं द्रौपदी समुपा-विशत्**(भा०३।१०९८६)। **गन्तुम् अनुचिता**=अनभ्यस्तगमना। **चन्दनोचितः। महार्हशय्याशयनोचितः। उचितः**=अभ्यस्तः। भृशु भ्रंशु अधः पतने (भृश्, भ्रंश्—नीचे गिरना)। **भृश्यति। भ्रश्यति।** (१३१)। क्तान्त—**भृष्ट। भ्रष्ट।**

१३१—अनिदित् (जिनका 'इ' इत्संज्ञक नहीं) हलन्त धातुओं के उपधा-भूत '**न्**' का लोप हो जाता है कित् ङित् प्रत्यय परे होने पर।[2] श्यन् अपित् सार्वधातुक है। और अपित् ङित्वत् होता है।

---

१. यसोऽनुपसर्गात् (३।१।७१)। संयसश्च (३।१।७२)।
२. अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति (६।४।२४)।

कृश तनूकरणे (कृश्—पतला-दुबला होना)। **कृश्यति**। धातुपाठ का यह अर्थ-निर्देश भ्रमक है। यह धातु अकर्मक है, सकर्मक नहीं। **सप्त मेधान्पशवः पर्यगृह्णन् स एषां ज्योतिष्मां उत यश्चकर्श** (अथर्व० १२।३।१६)। **तस्मादितर आत्मा मेद्यति च कृश्यति च** (ताण्ड्य ब्रा० ५।१।७)। **मांसानि कृश्यतः कृश्यन्ति** (श० ब्रा० ११।१।६।३४)। अतएव दुबला करने अर्थ में कृश् का णिच् सहित प्रयोग होता है—**न यं जरन्ति शरदो न मासा न द्याव इन्द्रमवकर्शयन्ति** (ऋ० ६।२४।७)। **अवकर्शयन्ति**=तनू कुर्वन्ति। **वृत्तिकर्शितः** इत्यादि में णिच् सहित प्रयोग कृश् के अकर्मक होने पर ही उपपन्न होता है। **कृश्यति तनू करोत्याधारमिति कृशानुरग्निः**—यहाँ कृश् का अन्तर्भावितण्यर्थ प्रयोग समझना चाहिए।

ञितृषा पिपासायाम् (तृष्—प्यासा होना)। 'ञि' इत्संज्ञक है (२५)। 'आ' भी इत् है। **तृष्यति**। **यस्तृष्यति देहि तस्मै पानीयम्**। हृष तुष्टौ (हृष्—प्रसन्न होना)। **यो न हृष्यति सम्पत्त्या विपत्त्या च न दुःख्यति। वीतरागभयक्रोधः स वाचां विषयोस्ति नः॥** रुष रिष हिंसायाम् (रुष्, रिष्—हिंसा करना)। वस्तुतः रुष् का अर्थ क्रोध करना, रुष्ट होना है, हाँ क्रोध हिंसा का जनक है, हिंसा उसका परिणाम है। **रुष्यति**=क्रुध्यति। **ततोऽरुष्यदनर्दंच्च** (भट्टि० १०।४०)। **मा मुहो मा रुषोऽधुना** (भट्टि० १५।१६)। रिष् भी अकर्मक है। अर्थ-निर्देश भ्रमक है। **कुर्मस्त आयुरजरं यदग्ने यथा युक्तो जातवेदो न रिष्याः** (ऋ० १०।५२।७)। **धर्तारस्ते मेखले मा रिषाम**(मन्त्रब्राह्मण १।६।२८)। **मा रिषाम**=हम हिंसित मत होवें। **मा वो रिषत् खनिता यस्मै चाहं खनामि वः** (ऋ० १०।९७।२०)। (हे ओषधियो!) तुम्हें खोदने वाला मत नष्ट हो। **न वा उ एतन्म्रियसे न रिष्यसि** (वा० सं० २३।१६)। **एवं ह्यायुर्न रिष्यति** (वसिष्ठ ध० ६।१०)। कुप क्रोधे (कुप्—क्रोध करना)। **कुप्यति शिष्येऽपराद्धे गुरुः**। लुभ गार्ध्ये (लुभ्—लोभ करना, लुब्ध होना, लालची होना)। यह भी अकर्मक है। **असंभवे हेममयस्य जन्तोस्तथापि रामो लुलुभे** (=लुलोभ) **मृगाय। प्रायः समासन्नपराभवाणां धियो विपर्यस्ततरा भवन्ति** (भा० सभा० ७६।५)॥ **य एवं नैव कुप्यन्ते** (=कुप्यन्ति) **न लुभ्यन्ति तृणेष्वपि** (भा० अनु० ५९।२२)। क्षुभ संचलने (क्षुभ्—क्षुभित होना)। **क्षुभ्यति**। **मन्थादिव क्षुभ्यति गाङ्गमम्भः** (उ० रा० च० ७।१६)। यह धातु भ्वादि तथा क्र्यादि में भी पढ़ी है, सर्वत्र अकर्मक है। णभ तुभ हिंसायाम्। ये भ्वादि में भी पढ़ी हैं। **नभ्यति**। **तुभ्यति**। क्लिदू आर्द्रीभावे

(क्लिद्—गीला होना)। **क्लिद्यति। तेन क्लिद्यति हि व्रणः** (सुश्रुत २।२३। १२)। उससे घाव गीला हो जाता है।

१३२—मिद् धातु के इक् को गुण होता है इत्संज्ञक शकारादि प्रत्यय परे होने पर।[1]

ञिमिदा स्नेहने (मिद्—चिकना होना, मोटा होना, स्नेह करना)। **मेद्यति**=चिक्कणो भवति, मेदस्वी भवति, स्निह्यति)। ऋधु वृद्धौ (ऋध्—समृद्ध होना)। **श्रमिण ऋध्यन्ति व्यृध्यन्ति चेतरे,** मेहनती लोग बढ़ते हैं और दूसरे क्षीण होते हैं। गृधु अभिकाङ्क्षायाम् (गृध्—लालच करना)। **गृध्यति।** यहाँ भी अर्थ निर्देश भ्रान्तिजनक है। धातु सकर्मक है ऐसी प्रतीति होती है। पर गृध् कहीं भी सकर्मकतया प्रयुक्त नहीं हुई है। यह सर्वत्र अकर्मक है—**यस्यागृधद्वेदने वाज्यक्षः** (ऋ० १०।३४।४)। **निरामिणो रिपवोऽन्नेषु जागृधुः** (ऋ० २।२३।१६)। **मा गृधः कस्य स्विद् धनम्**(वा० सं० ४०।१)। यहाँ एक-वाक्यता नहीं। मा गृधः (लुब्धो मा स्म भूः)—यह एक वाक्य है। कस्य स्विद् धनम्—यह दूसरा। महाभारत में भी इस श्रुति में वाक्य-भेद स्वीकार किया गया है—**कस्येदमिति कस्य स्वमिति वेदवचस्तथा** (आश्व० ३२।१६)। **मा गृधो नो अजाविषु** (अथर्व० ११।३।२१)। **दुर्णामा तत्र मा गृधत्** (अथर्व० ८।६।१)। महाभारत में अनेकत्र अकर्मक गृध् का प्रयोग मिलता है—**यदा गृध्येत् परभूतौ नृशंसः** (उद्योग० २९।३०)। **परवित्तेषु गृध्यतः** (उद्योग० ७२।१८)। **एष धर्मः परमो यत्स्वकेन राजा तुष्येन्न परस्वेषु गृध्येत्** (वन० ४।७)। **अनित्यं यौवनं रूपं जीवितं रत्नसंचयः। ऐश्वर्यं प्रियसंवासो गृध्येत्तत्र न पण्डितः** (वन० २।४७)॥ **स्नातानुलिप्तगात्रेपि यस्मिन् गृध्यन्ति मक्षिकाः** (चरक० इन्द्रिय० ५।१५)। **अन्योऽन्यमभिगर्जन्तो गोषु गृद्धाः** (=लुब्धाः)। भा० विराट० ३२।२। **ग्रहणे धर्मराजस्य भारद्वाजोपि गृध्यति** (द्रोण० १११। १४)। **गृध्येदेषु न पण्डितः** (स्त्रीपर्व २।२५)। हाँ एक जगह महाभारत में गृध् का सकर्मकतया प्रयोग उपलब्ध होता है—**यो हि मां पुरुषो गृध्येद्यथा ऽन्याः प्राकृताः स्त्रियः** (विराट० ९।३३)। यहाँ माम्प्रति गृध्येत् ऐसा समझना चाहिए।

भ्वादि की तरह दिवादि भी आकृतिगण है। अतः क्षीयते, मृग्यति आदि

---

१. मिदेर्गुणः (७।३।८२)।

प्रयोग साधु होते हैं। **आपस्त्वरमाणा न क्षीयन्ते** (शां० श्रौ० १६।७।७)। **आदित्यस्य गतागतैरहरहः संक्षीयते जीवितम्** (भर्तृ० ३।४)।

इति दिवादयः श्यन्विकरणाः।

स्वादिगण (पञ्चम गण)

१३३—'सु' आदि धातुओं से कर्तृवाची सार्वधातुक परे होने पर श्नु (नु) प्रत्यय आता है।[1] श्नु सार्वधातुक अपित् प्रत्यय है और अपित् सार्वधातुक ङित्वत् होता है, अतः (५) से श्नु परे होने पर धातु के इक् को गुण नहीं होता। 'श्नु' 'शप्' का अपवाद है।

षुञ् अभिषवे (सु—सोम रस निकालना, सुरा निकालना)। ञित् उभयपदी।

	लट् प०			लट् आ०		
१	**सुनोति**	**सुनुतः**	**सुन्वन्ति**	**सुनुते**	**सुन्वाते** (१७)	**सुन्वते** (१७)
२	**सुनोषि**	**सुनुथः**	**सुनुथ**	**सुनुषे**	**सुन्वाथे**	**सुनुध्वे**
३	**सुनोमि**	**सुनुवः**, **सुन्वः**	**सुनुमः**, **सुन्मः**	**सुन्वे**	**सुनुवहे**, **सुन्वहे**	**सुनुमहे**, **सुन्महे**

सुनोति—श्नु प्रत्यय परे रहते 'सु' को गुण नहीं हुआ। श्नु (नु) को तिप् परे रहते गुण हुआ है। **सुन्वन्ति** में गुण की प्राप्ति न होने से (१७) से उवर्णान्त अङ्ग के 'उ' को यण् (व्) हुआ है। **सुनोमि** में (१९) से 'उ' का वैकल्पिक लोप नहीं हुआ, कारण कि गुण विधायक शास्त्र के **पर** होने से प्रथम गुण होता है। तब उकाराभाव के कारण (१९) से प्राप्त लोप नहीं होता। **सुनुवः**। **सुन्वः**—इत्यादि में यह वैकल्पिक लोप निर्बाध होता है। आत्मनेपद प्रत्ययों के अपित् होने से कहीं भी गुण नहीं होता।

	लट् प०			लङ् आ०		
१	**असुनोत्**	**असुनुताम्**	**असुन्वन्**	**असुनुत**	**असुन्वाताम्**	**असुन्वत**
२	**असुनोः**	**असुनुतम्**	**असुनुत**	**असुनुथाः**	**असुन्वाथाम्**	**असुनुध्वम्**
३	**असुनवम्** (गुण, अवादेश)	**असुभुव**, **असुन्व**	**असनुम**, **असुन्म**	**असुन्वि**	**असुनुवहि**, **असुन्वहि**	**असुनुमहि**, **असुन्महि**

---

१. स्वादिभ्यः श्नुः (३।१।७३)।

	लोट् प०			लोट् आ०	
१ **सुनोतु सुनुतात्**	**सुनुताम्**	**सुन्वन्तु** (१७)	**सुनुताम्**	**सुन्वाताम्**	**सुन्वताम्**
२ **सुनु** (१८) **सुनुतात्**	**सुनुतम्**	**सुनुत**	**सुनुष्व**	**सुन्वाथाम्**	**सुनुध्वम्**
३ **सुनवानि**	**सुनवाव**	**सुनवाम**	**सुनवै**	**सुनवावहै**	**सुनवामहै**

सुनुतात्—तातङ् के ङित् होने से श्नु प्रत्ययान्त अङ्ग को गुण नहीं हुआ। लोट् उ० पु० के दोनों पदों में आट् आगम के पित् होने से श्नुप्रत्यया-न्त अङ्ग को गुण हुआ है। पर श्नु (अपित् सार्वधातुक)परे रहते धातु को गुण कहीं भी नहीं होता।

	विधिलिङ् प०			विधिलिङ् आ०	
१ **सुनुयात्**	**सुनुयाताम्**	**सुनुयुः**	**सुन्वीत**(१७)	**सुन्वीयाताम्**	**सुन्वीरन्**
२ **सुनुयाः**	**सुनुयातम्**	**सुनुयात**	**सुन्वीथाः**	**सुन्वीयाथाम्**	**सुन्वीध्वम्**
३ **सुनुयाम्**	**सुनुयाव**	**सुनुयाम**	**सुन्वीय**	**सुन्वीवहि**	**सुन्वीमहि**

विधिलिङ् परस्मै० में यासुट् के ङित् होने से श्नुप्रत्ययान्त को कहीं भी गुण नहीं हुआ। **सुनुयुः**—यहाँ (९५) से अपित् सार्वधातुक-निमित्तक निषेध को बाध कर गुण प्राप्त होता है, पर वह यासुट्-निमित्तक निषेध को नहीं बाधता। ऐसा क्यों होता है? उत्तर—**येन नाप्राप्ते यो विधिरारभ्यते स तस्य बाधको भवति।** उस् अपित् सार्वधातुक के निमित्त से गुण-निषेध प्राप्त होने पर ही 'जुसि च' सूत्र से गुण-विधान किया गया है। यासुट् के विषय में ऐसा नहीं। अजुहवुः (अ-हु-उस्) में यासुट्-निमित्तक गुण निषेध की प्राप्ति ही नहीं थी।

माधव और तदनुसारी दीक्षित षुञ् (सु) के अर्थों में स्नपन (स्नान कराना), व पीडन भी परिगृहीत करते हैं। पर इन अर्थों में साहित्य में प्रयोग अन्वेष्य है। सवन शब्द का स्नान अर्थ होता है यह सर्व-विदित है। पर सुनोति-सुनुते=स्नाति, स्नपयति, पीडयति, ऐसी प्रतीति तो किसी को ही होती होगी।

उपसर्गस्थ निमित्त से (२१) से सु को षत्व हो जाता है—**अभिषुणोति—अभिषुणुते।** अट् का व्यवधान होने पर भी (२३) से षत्व होता है—**अभ्यषुणोत्—अभ्यषुणुत।**

षिञ् बन्धने (सि—बाँधना)। ञित् उभयपदी। **सिनोति। सिनुते।**

असिनोत् । **असिनुत** । **सिनु** (बाँध) । **सिनुष्व** । **सिनुयात्** । **सिन्वीत** । **विसिनोति**=खोलता है । **विसिनोति श्रान्तानश्वान्** । **विषित**=खोला हुआ । यहाँ षत्व होता है । **विषय** शब्द में भी सि को षत्व होता है—**विसिन्वन्ति बध्नन्तीति विषयाः** । शिञ् निशाने (शि—तेज़ करना) । ञित् उ० । **शिनोति—शिनुते** । इस का प्रायः निपूर्वक प्रयोग होता है—**निशिनोति—निशिनुते** । क्तान्त—**शित** । **निशित** । **निशात** । मिञ् प्रक्षेपणे (मि—फैंकना) । ञित् उ० । **मिनोति** । **मिनुते** । प्रपूर्वक मि का अर्थ फैंकना ही है । **प्रमिनोति** । निपूर्वक का गाड़ना अर्थ है—**फलार्थे निमिते वृक्षे यदि फलं न जायेत, छाया तु स्यादेव** । चिञ् चयने (चि—चुनना) । ञित् । उ० । **चिनोति** । **चिनुते** । चि का अव-पूर्वक प्रयोग इसी अर्थ में बहुत होता है—**अवचिनोति कुसुमानि** । वि चि का ढूँढना अर्थ है—**विचिनोति रामः सीताम्** । नाना उपसर्ग-योग से जो इस के नाना अर्थ होते हैं उन्हें धातूपसर्ग योग-प्रकरण में लिखेंगे । स्तृञ् आच्छादने (स्तृ—ढाँपना) । ञित् । उ० । **स्तृणोति** । **स्तृणुते** । आङ्पूर्वक—**आस्तृणोति आस्तृणुते** । **स्तृणु** । **आस्तृणु** । **स्तृणुष्व** । **आस्तृणुष्व** । कृञ् हिंसायाम् (कृ—नष्ट करना) । ञित् । उ० । **कृणोति** । **कृणुते** । **कृणु** । **कृणुष्व** । **दीर्घो न सिध्रमाकृणोत्यध्वा** (ऋ० १।१७३।११) । वृञ् वरणे (वृ—ढाँपना) । ञित् । उ० । **वृणोति—वृणुते** । आङ् पूर्वक—**आवृणोति** । **आवृणुते** । प्र—आङ्—**प्रावृणोति—प्रावृणुते** । धुञ् कम्पने (धु—हिलाना) । ञित् । उ० । **धुनोति-धुनुते** । यह दीर्घान्त भी मानी जाती है—**धूनोति** । **धूनुते** ।

यहाँ उभयपदी धातुएँ समाप्त हुईं ।

टुदु उपतापे (दु—दुःख देना) । टु की इत् संज्ञा है (२५) । **दुनोति** । **दुनुतः** । **दुन्वन्ति** । **दुनु** (लोट् म० पु० ए०) । 'हि' का लुक् । हि गतौ वृद्धौ च (हि—जाना, बढ़ना) । लोक तथा वेद में 'हि' का अन्तर्भावितण्यर्थ में प्रयोग प्रायिक है—**यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै** (श्वेताश्व० ६।१८) । **कार्यार्थे प्रहिणोति प्रैष्यम्**, नौकर को काम पर भेजता है । **येन कृशं वाजयन्ति येन हिन्वन्त्यातुरम्** (अथर्व० ६।१०१) । **हिन्वन्ति**=प्रेरयन्ति । **न वा उ सोमो वृजिनं हिनोति** (ऋ० ७।१०४।१३) । **हिनोति**=प्रेरयति । वृद्धि अर्थ में प्रयोग मृग्य है ।

१३४—उपसर्गस्थ निमित्त से 'हिनु' और 'मीना' के **न्** को **ण्** होता है ।[1]

---

१. हिनुमीना (८।४।१५) ।

विकार होने पर (हिनोति, मीनीतः आदि रूपों में) भी अजादेश के स्थानिवत् होने से णत्व होगा। **हिनोति**। **प्रहिणोति**। स्पृ—प्रीतिपालनयोः (स्पृ—प्रीति करना, रक्षा करना)। **स्पृणोति**। **अस्पृणोत्**। **स्पृणु** (लोट् म० पु० ए०)। **स्पृणुयात्**। वेद में ही इस के प्रयोग मिलते हैं, अतः कोई इसे छान्दस मानते हैं, लौकिक नहीं। **उतालब्धं स्पृणुहि**(=स्पृणु) **जातवेदः** (ऋ० ७।८७।७)। **स्पृणु** (हि)=रक्ष।

आप्लृ व्याप्तौ (आप्—प्राप्त करना)। लृदित्। प०।

	लट्			लङ्		
१	**आप्नोति**	**आप्नुतः**	**आप्नुवन्ति**	**आप्नोत्**	**आप्नुताम्**	**आप्नुवन्**
२	**आप्नोषि**	**आप्नुथः**	**आप्नुथ**	**आप्नोः**	**आप्नुतम्**	**आप्नुत**
३	**आप्नोमि**	**आप्नुवः**	**आप्नुमः**	**आप्नवम्**	**आप्नुव**	**आप्नुम**
	लोट्			विधिलिङ्		
१	**आप्नोतु**	**आप्नुताम्**	**आप्नुवन्तु**	**आप्नुयात्**	**आप्नुयाताम्**	**आप्नुयुः**
२	**आप्नुहि**	**आप्नुतम्**	**आप्नुत**	**आप्नुयाः**	**आप्नुयातम्**	**आप्नुयात**
३	**आप्नवानि**	**आप्नवाव**	**आप्नवाम**	**आप्नुयाम्**	**आप्नुयाव**	**आप्नुयाम**

आप् धातु के रूपों में सु आदि धातुओं के रूपों से यह विशेष है कि उन में जहाँ-जहाँ यण् होता है, इस में वहाँ-वहाँ उवङ् होता है कारण कि यहाँ श्नु के साथ धात्ववयव संयुक्त है अर्थात् 'उ' से पूर्व धात्ववयव का संयोग है, सो (१७) की प्रवृत्ति हो नहीं सकती। (४४) की प्रवृत्ति होती है। इसी प्रकार लोट् म० पु० ए० हि का लुक् नहीं होता, कारण कि श्नु धात्ववयव के साथ संयुक्त होकर 'उ' से पूर्व है, अकेला नहीं। अतः (१८) की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। **आप्नुव-आप्नुम** में भी 'उ' का (१९) से वैकल्पिक लोप नहीं हो सका, कारण कि 'उ' से पूर्व संयोग है। आप् का केवल (उपसर्ग-रहित) का भी प्रचुर प्रयोग मिलता है और वि, प्र, सम्, सम्-प्र, परि-पूर्वक का भी।

इसी प्रकार शक्लृ शक्तौ (शक् शक्त होना, सकना)। लृदित्। प०। राध साध संसिद्धौ (राध्, साध्—सिद्ध होना, सफल होना)। प०। जैसा अर्थ-निर्देश हुआ है राध् अकर्मक है। प्रयोग भी है—**सर्वेषु देवलोकेषु राध्नोति य एवं वेद** (ऐ० ब्रा० ७।७।१२-१३)। आश्वलायन गृह्य ( ) में भी **'रात्स्यत्यसावमुत्र'** ऐसा प्रयोग है। रात्स्यति=राध्—लृट्। साध् तो सक-

र्मकतया ही प्रयुक्त मिलता है—**साध्नोति परकार्याणीति साधुः**। अप-पूर्वक राध् का हिंसा अर्थ है तब यह सकर्मक है। **अपराध्नोति शत्रुम्**। शक् आदि के आप् की तरह रूप होंगे।

अशू व्याप्तौ संघाते च (अश्—व्याप्त करना, इकट्ठा करना)। ऊदित्। आ०। **अश्नुते**। **आश्नुत** (लङ्) आट्। **अश्नुष्व**। सम्पूर्वक—**समश्नुते**। **समाश्नुत**। विपूर्वक—**व्यश्नुते**। **व्याश्नुत**। **व्यश्नुष्व**=व्याप्नुहि। **अर्थज्ञ इत् सकलं भद्रमश्नुते** (निरुक्त)। **उद्यत एव भानुमतो भा युगपद् व्यश्नुते दिशः**।

इससे आगे गण के अन्त तक सब धातुएँ परस्मैपदी हैं।

ञिधृषा प्रागल्भ्ये (धृष्—धृष्टता करना, दलेरी करना)। ञि इत् है। आ भी इत् है। **धृष्णोति गुरूनप्यपवदितुम्**। श्नु प्रत्यय के धातु के अवयव के साथ संयुक्त होने से आप् की तरह रूपावलि होगी। दम्भु दम्भने (दम्भ् दम्भ करना। **दभ्नोति**। वेद में तो यह सकर्मक है। वहाँ दबाना अर्थ है। ऋधु वृद्धौ (ऋध्—समृद्ध होना, बढ़ना)। अकर्मक। **नाऽब्रह्म क्षत्रमृध्नोति नाक्षत्रं ब्रह्म वर्धते**(मनु०९।३२२)। क्षत्रिय जाति ब्राह्मण जाति के बिना नहीं पनपती और ब्राह्मण जाति के बिना क्षत्रिय जाति नहीं बढ़ती। **कः क्षिण्वंस्तान् समृध्नुयात्**(मनु०९।३१५), उन(ब्राह्मणों)को पीडित करता हुआ कौन (राजा) समृद्ध हो सकता है? यहाँ भी ऋध् अकर्मक है। तृप प्रीणने। यहाँ भी अर्थ निर्देश भ्रमक है। धातु अकर्मक है—**स्वाहाकृतस्य समु तृप्णुत ऋभवः** (ऋ० १।११०।१)। यहाँ णत्व छान्दस है। क्षुभ्नाति आदि धातुओं में मानने से लोक में णत्व नहीं होता। **तृप्नोति**। **तृप्नुतः**। **तृप्नुवन्ति**। **तृप्नुहि**=तृप्त हो। श्रीमद्भागवत पुराण में भी **अतृप्नुम क्षुल्लसुखावहानां** (व्रतानाम्) (३।५।१०)। **कस्तृप्नुयात्तीर्थपदोऽभिधानात्** (३।५।११) इत्यादि में स्वादि तृप् का अकर्मकतया प्रयोग उपलब्ध होता है।

इस से आगे कुछ छान्दस (छन्दोमात्र-गोचर) धातुएँ पढ़ी हैं। वे इस पुस्तक का विषय नहीं हैं। अतः उनकी प्रक्रिया एवं व्याक्रिया यहाँ नहीं दी गई॥

इति स्वादयः श्नविकरणाः।

तुदादिगण (षष्ठ गण)

१३४—तुद् आदि धातुओं से श (अ) प्रत्यय आता है कर्तृवाचक सार्व-धातुक परे होने पर। यह शप् का अपवाद है। अपित् सार्वधातुक होने से श परे रहते धातु के इक् को गुण नहीं होता (५)।

तुद व्यथने (तुद्—पीडा देना)। स्वरितेत्। उ०। वस्तुतः तुद व्यधने ऐसा पाठ होना चाहिए। तुद् का अर्थ बींधना, चुभोना है, सामान्य रूप से पीड़ा देना नहीं। यह अर्थ **तोत्त्र, प्रतोद, तुन्नवाय** आदि शब्दों में स्पष्ट है। **स तुन्न इव तीक्ष्णेन प्रतोदेन हयोत्तमः** (रा० २।१४।२३)।

	तुद् लट् प०			तुद् लट् आ०		
१	तुदति (१३४, ५)	तुदतः	तुदन्ति (८)	तुदते	तुदेते	तुदन्ते
२	तुदसि	तुदथः	तुदथ	तुदसे	तुदेथे	तुदध्वे
३	तुदामि (६)	तुदावः	तुदामः	तुदे (८)	तुदावहे (६)	तुदामहे
	लङ् प०			लङ् आ०		
१	अतुदत्	अतुदताम्	अतुदन्	अतुदत	अतुदेताम्	अतुदन्त
२	अतुदः	अतुदतम्	अतुदत	अतुदथाः	अतुदेथाम्	अतुदध्वम्
३	अतुदम् (८)	अतुदाव (६)	अतुदाम	अतुदे (८)	अतुदावहि	अतुदामहि
	लोट् प०			लोट् आ०		
१	तुदतु-तुदतात्	तुदताम्	तुदन्तु	तुदताम्	तुदेताम्	तुदन्ताम्
२	तुद-तुदतात्	तुदतम्	तुदत	तुदस्व	तुदेथाम्	तुदध्वम्
३	तुदानि	तुदाव	तुदाम	तुदै	तुदावहै	तुदामहै
	विधिलिङ् प०			विधिलिङ् आ०		
१	तुदेत्	तुदेताम्	तुदेयुः	तुदेत	तुदेयाताम्	तुदेरन्
२	तुदेः	तुदेतम्	तुदेत	तुदेथाः	तुदेयाथाम्	तुदेध्वम्
३	तुदेयम्	तुदेव	तुदेम	तुदेय	तुदेवहि	तुदेमहि

तुदानि, तुदाव, तुदै, तुदावहै आदि में आट् के पित् होने पर भी धातु से अनन्तर-स्थित श (विकरण) जो अपित् है, के कारण धातु के इक् को कहीं भी गुण नहीं होता।

---

१. तुदादिभ्यः शः (३।१।७७)।

इसी प्रकार णुद प्रेरणे (नुद्—प्रेरणा करना, धक्का देना)। स्वरितेत्। उ०। णोपदेश होने से उपसर्ग-स्थ निमित्त से धातु के न् को ण् हो जाता है—**प्रणुदति। अप्रणोद्योऽतिथिः सायं सूर्योढो गृहमेधिना** (मनु० ३।१०५)। जिस अतिथि (यात्री) को अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँचने से पहले सूर्य अस्त हो गया है, सायंकाल प्राप्त हुए उसे धक्का न दे (किन्तु रात्रि भर ठहरने के लिए वास दे)। दिश अतिसर्जने (दिश्—देना)। स्वरितेत्। उ०। **दिशि-रुच्चारणक्रियः** ऐसा भाष्यकार का वचन है। 'देना' अर्थ में प्र-पूर्वक प्रयोग होता है—**प्रदिशति—प्रदिशते। प्राभृतं तु प्रदेशनम्**—अमर। दिश् का उच्चारण अर्थ **उपदिशति, अपदिशति** (बहाना करता है), **निर्दिशति, उद्दिशति**) (नाम लेता है), **सन्दिशति, आदिशति, प्रत्यादिशति** आदि में स्पष्ट है।

भ्रस्ज पाके (भ्रस्ज्—भूनना)। स्वरितेत्। उ०। **भृज्जति—भृज्जते।** (१२८) से सम्प्रसारण (र् को ऋ)। स् को श्चुत्वविधि से श्। और श् को जश्त्वविधि से ज्। **अभृज्जत्। अभृज्जत। भृज्जतु। भृज्जताम्। भृज्जेत्। भृज्जेत। भ्रस्ज्**—क्तान्त—**भृष्ट। भृष्टा यवाः**, भुने हुए जौ। क्षिप प्रेरणे (क्षिप्—फेंकना)। स्वरितेत्। उ०। **क्षिपति। क्षिपते।** (गुणाभाव)। कृष विलेखने (कृष्—हल चलाना)। स्वरितेत्। उ०। **कृषति—कृषते। कृषति भूमिं हलेन**, भूमि पर हल चलाता है।

यहाँ तुदादि छः स्वरितेत् धातुएँ समाप्त हुईं।

मिल् आदि स्वरितेत् छः धातुएँ

मिल संगमे (मिल्—मिलना, संगत होना)। मिल् अकर्मक है। **मिलति—मिलते। सन्तः सद्भिर्मिलन्ति।**

१३५—मुच् आदि आठ धातुओं को श (प्रत्यय) परे होने पर नुम् (न्) आगम होता है।[1] मित् होने से यह आगम अन्त्य अच् से परे होता है।[2] 'न्' को अनुस्वार होकर पर सवर्ण (ञ, न्, म्) हो जाता है। मुच् आदि आठ धातुएँ ये हैं—

मुञ्चति लुम्पतिश्चैव विदिर्लिम्पतिरेव च।
सिचिः कृतिः खिदिश्चैव पिशिश्चाष्टौ मुचादयः॥

---

१. शे मुचादीनाम् (७।१।५९)।
२. मिदचोऽन्त्यात्परः (१।१।४७)।

मुच्लृ मोक्षणे (मुच्—छोड़ना)। लृदित्। **मुञ्चति—मुञ्चते**। आङ् तथा प्रति पूर्वक मुच् का बाँधना अर्थ होता है। **आमुक्तः प्रतिमुक्तश्च पिनद्धश्चापिनद्धवत्**—अमर। **आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतम्**। मुच् सकर्मक है, पर कभी-कभी अकर्मक भी होती है—**मोक्षते यतिः**=मोक्तुमिच्छति, यति संसारचक्र से छूटना चाहता है। लुप्लृ छेदने (लुप्—काटना)। लृदित्। **बुद्धिं लुम्पति यद् द्रव्यं मदकारि तदुच्यते**—यहाँ लुप् का औपचारिक प्रयोग है। विद्लृ लाभे (विद्—प्राप्त करना)। **त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यृतुमती सती। ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद् विन्देत सदृशं पतिम्** (मनु० ९।९०)॥ परिपूर्वक विद् का बड़े भाई के अविवाहित रहते विवाह करना अर्थ है। **परिवेत्तृ**—छोटा भाई जो ऐसा करता है। **परिवित्ति**—बड़ा भाई जिस के दारपरिग्रह से पूर्व छोटा भाई अपना विवाह करता है। **परिवेत्ताऽनुजोऽनूढे ज्येष्ठे दारपरिग्रहात्। परिवित्तिस्तु तज्ज्यायान्** (अमर)। इस अवस्था में ज्येष्ठ को **परिविन्न** भी कहते हैं। **कन्यां परिविन्दते। कन्या परिवेदनीया भवति**। लिप उपदेहे (लिप्—लीपना)। **लिम्पति। लिम्पते। भूमिं गोमयेन लिम्पति**, भूमि को गोबर से लीपता है। **लिम्पति भालं चन्दनेन। न मां कर्माणि लिम्पन्ति** (कर्म मुझे लीपते नहीं, मुझ में कर्म दोष का लेप नहीं करते)—गीता ४।१४॥ **न कर्म लिप्यते नरे** (वा० सं० ४०।२) =नरः कर्मणा लिप्तो न भवति= नरं न लिम्पते कर्म। **लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः**—यहाँ लिप् का औपचारिक प्रयोग है। षिच क्षरणे (सिच्—जल छोड़ना, जल छोड़कर गीला करना)। क्षरण के स्थान में क्षारण पाठ उचित होगा। **सिञ्चति। सिञ्चते**। उपसर्गस्थ निमित्त से सिच् के स् को ष् हो जाता है—**अभिषिञ्चति**। अट् आगम का व्यवधान होने पर भी यह षत्व होगा—**अभ्यषिञ्चत्। पादपान् सिञ्चति। सिञ्चति वनस्थलीं नवोदकेन मेघः**। जल छोड़ने अर्थ में **सिञ्चत मे तिलोदकम्** (शाकुन्तल) यहाँ प्रयोग हुआ है। गीला करना अर्थ में प्रचुर प्रयोग है। **अभिषेक**=स्नान। **अभिषेकोत्तीर्णो मुनिजनः**, स्नान करके (नदी से) बाहिर आये हुए मुनि लोग।

कृती छेदने (कृत्—काटना)। **कृन्तति**। नुम्। **अवकृन्तति। उत्कृन्तति। मांसावकर्तः**=मांस को काटकर टुकड़े करने वाला। **कृत्ति**—चर्म। खिद परिघाते (खिद्—चोट लगाना)। **खिन्दति। दुरुक्तमशिवं खिन्दति चेतः**, अनिष्ट अमङ्गल वचन हृदय पर आघात पहुँचाता है। पिश अवयवे (पिश्—घड़ना,

बनाना, जोड़ना)। **त्वष्टा रूपाणि पिंशतु** (ऋ० १०।१८४।१)। यहाँ दीपना =चमकाना अर्थ है। इसी धातु से **मांसपेशी, पेशल** आदि शब्द व्युत्पन्न होते हैं। पेशल का मूल अर्थ घटनावान्, घटित है। फिर सुघटित=सुन्दर अर्थ हो गया।

यहाँ मुच् आदि आठ धातुएँ समाप्त हुईं।

जुषी प्रीतिसेवनयोः (जुष्—प्रीतिमान् होना, सेवन करना)। ईदित्। प्रीतिमान् होना—अर्थ में धातु अकर्मक है, सेवन अर्थ में सकर्मक। **न तथैतानि शक्यन्ते संनियन्तुमसेवया। विषयेषु प्रजुष्टानि यथा ज्ञानेन नित्यशः** (मनु० २।९६)॥ **प्रजुष्टानि**=प्रीतिमन्ति=प्रसक्तानि। **जुषन्ते पर्वतश्रेष्ठमृषयः पर्वसन्धिषु** (भारत)। **जुषन्ते**=सेवन्ते=आश्रयन्ते। **जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन्** (गीता ३।२६)। जोषयेत्=सेवयेत्। **समानं जुषते इति सजूः सखा।** ओविजी भयचलनयोः (विज्—डरना, चलना)। ओ इत् है। ई भी इत् है। इसका प्रायः उद् पूर्वक प्रयोग होता है—**संमानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव** (मनु० २।१६२)। **यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः** (गीता)। सम्पूर्वक विज् का भी क्वाचित्क प्रयोग है—**मा भेर्मा संविक्थाः** (वा० सं० १।२३)। भेः=भैषीः। संविक्थाः=संविजिष्ठाः। केवल का भी—**ऊर्ध्वः समुद्रो विजते** (=चलति, ईर्ते)—(श० ब्रा० ७।१।१।१४)। ण्यन्त विज्—**काश्चित्सवत्साः पतिता गावः शीकरवेजिताः** (हरिवं० ३९१५)।

ओलजी ओलस्जी व्रीडायाम् (लज्, लस्ज्—लज्जा अनुभव करना)। ओ और ई दोनों इत् हैं। **लजते। लज्जते।** श्चुत्व विधि से स् को श् होकर जश्त्व विधि से श् को ज् हो जाता है। पृङ् व्यायामे (पृ—सव्यापार होना)। पृ का वि आङ् (दो उपसर्गों) के साथ ही प्रयोग होता है।

१३६—श, यक् (प्रत्यय), यकारादि आर्धधातुक लिङ् परे होने पर ऋ को रिङ् (रि) आदेश होता है।[1]

वि आङ् पृ श ते। व्या पृ अ ते। व्यापि अ ते। व्या प्रिय् अ ते(४४)= **व्याप्रियते। व्याप्रियेते। व्याप्रियन्ते। व्याप्रियत** (लङ्)। व्या अट् पृ अत= व्याप्रियत। व्यापृ+णिच् का प्रयोग प्रचुर है—**कथं व्याप्रियसे। कथमात्मानं व्यापारयसि।**

---

१. रिङ् शयग्लिङ्क्षु (७।४।२८)।

१३७—मृङ् प्राणत्यागे—यह धातु यद्यपि ङित् है तो भी इस से सभी लकारों में आत्मनेपद प्रत्यय नहीं होते। केवल लुङ्, लिङ् में तथा जहाँ इस से श प्रत्यय होना है वहीं आत्मने० होता है, अन्यत्र कहीं नहीं।[1]

म्रियते (मृ के ऋ को रि, तब इ को इयङ्)। **म्रियेते**। **म्रियन्ते**। **अम्रियत**। **म्रियताम्**। **म्रियस्व** (लोट् म० पु० ए०)। **म्रियेत**। **म्रियेयाताम्**। **म्रियेरन्**।

दृङ् आदरे (दृ—आदर करना)। इस का आङ् पूर्वक ही प्रयोग होता है—**आद्रियते**। **आद्रियत** (लङ्)। **आद्रियताम्** (लोट्)। **आद्रियेत**। सर्वत्र (१३६) से ऋ को रिङ् (रि) आदेश और 'इ' को (४४) से इयङ्। **पित्रोर्वचो वेदवच इवाद्रियेत**। धृङ् अवस्थाने (धृ—अवस्थित होना, जीवित होना)। **ध्रियते**। **ध्रियेऽहम्**। (मैं जीता हूँ) **ध्रियमाणे च मयि वीतचिन्तेन त्वया भवितव्यम्**।

यहाँ से आगे गणान्त तक गुरी उद्यमने और कुङ् **शब्दे को छोड़कर सभी धातुएँ परस्मैपदी हैं।**

ऋषी गतौ (ऋष्—जाना)। ईदित्। **ऋषति**। **आर्षत्** (आट्, वृद्धि)। ऋष् का निरुक्त में दर्शन अर्थ भी माना गया है—**ऋषिर्दर्शनात्**। **स्तोमान्ददर्शेत्यौपमन्यवः**। प्रायः वेद में ही प्रयोग देखा जाता है—**नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्** (आट् नहीं किया) वा० सं० ४०।४। इस श्रुति में जाना, पहुँचना ही अर्थ है।

ओव्रश्चू छेदने (व्रश्च्—काटना)। ओ इत् है और ऊ भी। **वृश्चति**। (१२८) से सम्प्रसारण (र् को ऋ)। **अवृश्चत्**। **वृश्चतु**। **वृश्चेत्**। **वृश्चामि तं कुलिशेनेव वृक्षम्** (अथर्व० २।१२।३)। व्यच व्याजीकरणे (व्यच्—बहाना बनाना)। **विचति**। (१२८) से सम्प्रसारण। वेद में इस का अर्थ व्याप्त करना है और यह सकर्मक है—**नाह विव्याच**(लिट्) **पृथिवी चनैनम्** (ऋ० ३।३६।४)। **न त्वा विव्याच** (लिट्) **रज इन्द्र पार्थिवम्** (ऋ० ८।७७। ५)। उछि उञ्छे (उञ्छ्—कण, कण उठाना)। **शिलानप्युञ्छतो नित्यम्** (मनु० ३।१००)। उच्छी विवासे। यह धातु भ्वादि में भी पढ़ी है। यहाँ पाठ से **उच्छती उच्छन्ती** (शत्रन्त से ङीप्)—ये दो रूप होंगे नुम् के विकल्प से। ऋच्छ

---

१. म्रियते र्लुङ्लिङोश्च (१।३।६१)।

गतीन्द्रियप्रलय-मूर्तिभावेषु (ऋच्छ्—जाना, मूर्छित होना, कठिन होना)। **जाग्रत्स्वप्नः संकल्पः पापो यं द्विष्मस्तं स ऋच्छतु** (ऋ० १०।१६४।५)। **ऋच्छतु**=गच्छतु। **स आर्तिमार्च्छत्**=वह रुग्ण हो गया। आट् ऋच्छ् अ त्= आर्च्छत्। **आर्च्छेतां बाहुसंरब्धौ केशाकेशि रथारथि** (भा० विराट० ३२।२०)। **आर्च्छेताम्**=मोहं गतौ। त्वच संवरणे (त्वच् ढाँपना)। ऋच स्तुतौ (ऋच्—स्तुति करना)। **ऋचन्त्यनयेति ऋक्**। जिस मन्त्र से देवता आदि की स्तुति की जाती है उसे ऋक् कहते है। उब्ज आर्जवे (उब्ज्—झुकाना)। **उब्जति**। **इन्द्राग्नी रक्ष उब्जतम्** (ऋ० १।२१।५)। **न्युब्ज**=रोग से झुका हुआ। उज्झ उत्सर्गे (उज्झ्—छोड़ना)। **अद्यापि नोज्झति हरः किल कालकूटम्** (च० पं० ५०)। **ब्रह्मोज्झः**=ब्रह्म वेदः, तम् उज्झतीति। अस्वाध्यायः= निराकृतिः(अमर)। लुभ विमोहने। विमोहनमाकुलीकरणम्(लुभ्—बिखेरना)। इसका प्रायः वि पूर्वक प्रयोग होता है—**विलुभति केशान्,** बालों को बिखेरता है। **विलुभिताः केशाः**। **विलुभितः सीमन्तः**। **विलुभितानि पदानि**=अव्य-वस्थितपादक्रमाः। रिफ कत्थन-युद्ध-निन्दा-हिंसाऽऽदानेषु (रिफ्—अपनी बड़ाई करना, लड़ना, निन्दा करना, मारना, लेना)। **रिफति**। **यमिन्यपर्तुः सा पशून् क्षिणाति रिफती रुशती** (अथर्व० ३।२८।१) **रिफतीति रेफः**। **रवर्णे पुंसि रेफः स्यात्कुत्सिते वाच्यलिङ्गकः** (अमर)। क्षीरस्वामी के अनुसार द्राविड लोग इन्हीं अर्थों में रिह् भी पढ़ते हैं। वेद में प्रयोग भी है—**शिशुं न विप्रा मतिभी रिहन्ति** (१०।१२३।१)। पर यहाँ अर्चन अर्थ है।

१३८—शे तृम्फादीनां नुम्वाच्यः (वा०)—तृम्फ् आदि धातुएँ जो नका-रानुषक्त पढ़ी हैं उनके नकार का (१३१) से लोप होने पर वार्तिककार के मत से पुनः नुम् हो जाता है। तृप तृम्फ तृप्तौ (तृप् तृम्फ्— तृप्त होना)। **तृपति**। **तृम्फति**। तुप तुम्प तुफ तुम्फ हिंसायाम्(तुप्, तुम्प्, तुफ्, तुम्फ्–हिंसा करना)। **तुपति**। **तुम्पति**। **तुफति**। **तुम्फति**। दृप दृम्फ उत्क्लेशे (दृप्, दृम्फ् —पीडित करना)। **दृपति**। **दृम्फति**। ऋफ ऋम्फ हिंसायाम् (ऋफ् ऋम्फ्—हिंसा करना)। **ऋफति**। **ऋम्फति**। **ऋफेत्**। **ऋम्फेत्** (लिङ्)। गुफ गुम्फ ग्रन्थे (गुफ् गुम्फ्—गूँथना)। **गुफति**। **गुम्फति मालाम्**। उभ उम्भ पूरणे (उभ् उम्भ्—भरना)। **केन जलेनोम्भन्त्येनम् इति कुम्भः**। ऋग्वेद में तथा शौनकीय अथर्व में और काठक व मैत्रायणी संहिताओं में उभ् उम्भ् का प्रयोग मिलता है। शुभ शुम्भ शोभार्थे (शुभ्, शुम्भ्—शोभा पाना)। **शुभति**।

शुम्भति ।=शोभते । दृभी ग्रन्थे (दृभ्—ग्रन्थन करना) । **दृभति । सन्दृभति पटुरयं बटुर्वाक्यान्यनवद्यानि । सन्दर्भः**=ग्रन्थः । चृती हिंसाग्रन्थनयोः (चृत्—चीरना, गूँथना) । ईदित् । **चृतति ।** क्तान्त—**चृत्त । उदुत्तमं मुमुग्धि नो वि पाशं मध्यमं चृत । अवाधमानि जीवसे**(ऋ० १।२५।२१)॥ यहाँ **चृत**=कृन्त=छिन्धि । वि तथा अव उपसर्गों का योग हुआ है । **आ त्वा चृतत्वर्यमा पूषा बृहस्पतिः । अहर्जातस्य यन्नाम तेन त्वातिचरामसि** (अथर्व० ५।२८।१२) ॥ यहाँ आङ् व अति उपसर्गों का योग हुआ है । ग्रन्थन अर्थ में प्रयोग मृग्य है । विध विधाने (विध्—करना) । इस का वेद में प्रचुर प्रयोग है और वहाँ पूजा करना अर्थ है । लोक में इस का प्रयोग दुर्लभ है । **कस्मै देवाय हविषा विधेम** (ऋ० १०।१२१।१) । भाष्यकार विधि शब्द को विपूर्वक धाञ् से कि-प्रत्यय करके सिद्ध करते हैं, विध् से औणादिक इन् करके नहीं । समर्थः पदविधिः (२।१।१) में भाष्यकार का वचन है—**विधिरिति कोऽयं शब्दः । विपूर्वाद् धाञः कर्मसाधन इकारे ।** मृड सुखने (मृड्—सुख देना) । **मृडति । उतापृणन्मर्डितारं न विन्दते** (ऋ० १०।११७।१)। पृण प्रीणने(पृण्—प्रसन्न करना) । **लोकं पृणतीति लोकम्पृणः ।** मृण हिंसायाम् (मृण्—मारना) । **मृणति**=मारयति । पुण कर्मणि शुभे (पुण्—शुभ कर्म करना) । **ये पुणन्ति त इमं लोकममुं च जयन्ति ।** शुन गतौ (शुन्—जाना) । **शुनति गच्छतीति शुनकः** श्वा । औणादिक क्वुन् । घुण घूर्ण भ्रमणे(घुण् घूर्ण्—घूमना) । **घुणतीति । घुणो नाम कीटः । त्रस्तेयं शिशुरिति घूर्णतोऽस्या विलोचने ।** कुर शब्दे (कुर्—अव्यक्त ध्वनि करना) । **कुरतीति कुररः** क्रौञ्चः । खुर छेदने(खुर्—काटना) । **खुरति । खुरतीति खुरः । शफं क्लीबे खुरः पुमान्** (अमर) । क्षुर विलेखने(क्षुर्–कुरेदना,काटना)। **क्षुरति केशान् इति क्षुरः । क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया** (कठ उ० १।३।१४) घुर भीमार्थशब्दयोः (घुर—डरावना होना, शब्द करना)। **घुरतीति घोरः पुरुषः शब्दो वा ।** पुर अग्रगमने (पुर्—आगे बढ़ना) । **पुरति ।** तिङन्त रूप में प्रयोग दुर्लभ है । वृहू उद्यमने(वृह्–उखाड़ना, उन्मूलन करना) । वृह् का इस अर्थ में आङ् पूर्वक प्रयोग होता है और उद्-पूर्वक भी । **मूलमस्यावर्हि** (४।४।८८) इस सूत्र में आङ् पूर्वक प्रयोग है । **मूलमस्योद्वृहति वृक्षस्य तक्षा ।** यहाँ उद्-पूर्वक । इष इच्छायाम् (इष्—चाहना) । **इच्छति ।** (२८) से 'छ' अन्तादेश । **ऐच्छत्** (आट्, लङ्) । **इच्छतु । इच्छेत् ।** अनु इष्—**अन्विच्छति**=ढूँढता है । प्रति—इच्छति=**प्रतीच्छति**=ग्रहण करता है । **सत्कारेण प्रतीष्टः सत्कारः प्रीतिं जनयति । बुद्धौ शरणमन्विच्छ**

कृपणाः फलहेतवः (गीता २।४९)। मिष स्पर्धायाम् (मिष्—बराबरी का दम भरना)। **मेषो मेषान्तरेण मिषति**। किल श्वैत्य-क्रीडनयोः (किल्—सफेद होना, खेलना)। किल् से **केलि** (=क्रीडा) शब्द व्युत्पन्न होता है। तिल स्नेह (तल्—चिकना करना)। **तिलतीति तिलम्**। इगुपध से कर्ता अर्थ में 'क' प्रत्यय हुआ है। चिल वसने (चिल्—ढाँपना)। **चिलति वस्ते शरीरमिति चेलम्। तदेव चैलम्।** स्वार्थ में अण्। इल स्वप्नक्षेपणयोः (इल्—सोना, फेंकना)। **इलतीति इला, भूः**। विल संवरणे (विल्—ढाँपना)। **विलति। आ समन्ताद् विलति संवृणोतीति आविलम् मलिनम्**। बिल भेदने (बिल्—फाड़ना)। **बिलति। बिलति भिनत्ति भुवमिति बिलम्**। हिल—सप्रेम क्रीड़ा करना)। **हिलति**। शिल उञ्छे (मञ्जर्याद्यात्मक अनेक कणों को चुनना)। **प्रतिग्रहाच्छिलः श्रेयांस्ततोऽप्युञ्छः प्रशस्यते** (मनु० १०। ११२)। लिख अक्षरविन्यासे (लिख्—लिखना)। लिख् का प्रयोग वि, आ, उद्, परि—पूर्वक होता है और केवल का भी। उल्लिखति और लिखति के अर्थ में कुछ विशेष भेद नहीं। उल्लिखति=उत्कीर्य लिखति। कालिदास ने उद् पूर्वक लिख् का आलिख् के अर्थ में भी प्रयोग किया है—**स्वहस्तोल्लिखितो रहस्युपालभ्यत चन्द्रशेखरः**(कुमार०५।५८)। उद्-पूर्व लिख् का 'सान पर रगड़ना' अर्थ भी है—**संस्कारोल्लिखितो महामणिरिव क्षीणोपि नालक्ष्यते** (शाकुन्तल)। **त्वष्टा विवस्वन्तमिवोल्लिलेख** (किरात०१७।४८)। केवल (उपसर्ग-रहित) लिख् का खरोचने अर्थ में रामायण में प्रयोग है—**नखैर्लिखन्तो दशनैर्दशन्तः** (५।६१।२०)। **ततो वाली विषाणाग्रैर्लिखितो दनुसूनुना** (४।९।७६)।

कुटादि अवान्तर गण

१३९—इङ् के आदेश गाङ् से और कुट् आदि धातुओं से ञित्, णित्-भिन्न प्रत्यय ङित् (ङित् वत्) माना जाता है।[1]

कुट कौटिल्ये (कुट्—कुटिल होना)। **कुटति। अकुटत्। कुटतु। कुटेत्।** लट् आदि लकारों में धातु से परे श (जो अपित् सार्वधातुक होने से

---

1. गाङ् कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित् (१।२।१)।

ङित् है) प्रत्यय आने से गुणाभाव सिद्ध है। (१३९) की प्रवृत्ति की कोई आवश्यकता नहीं, पर लुट्, लृट्, लिट् आदि में तास्, स्य, थ (ल्) प्रत्ययों के ञित्-णित्—भिन्न होने से ङित् वत् हो जाने से (५) से गुण का निषेध हो जायगा—**कुटिता। कुटिष्यति। चुकुटिथ।** पर **चुकोट** (लिट्—णल्) में णल् (अ) प्रत्यय के णित् होने से ङिद्वद्भाव नहीं हुआ, अतः गुण हुआ है। कुट् णिच् से लट् में '**कोटयति**' में गुण होता है। कुछ लोग लिख् को कुटादि मान कर लिखिता, लिखितुम् आदि प्रयोग साधु मानते हैं। यह उनकी भ्रान्ति है। आचार्य का **अपाच्चतुष्पाच्छकुनिष्वालेखने** (६।१।१४२) में ल्युट्-प्रत्ययान्त '**आलेखन**' यह प्रयोग उनके मत के निराकरण के लिये पर्याप्त है। पुट संश्लेषणे (पुट्—जोड़ना, सम्पुट बनाना)। **पुटति। सम्पुटति पत्त्रम्। किसलयसम्पुटः।** कुच संकोचने (कुच्—संकुचित करना)। संकोचन=संकुच्-णिच्—ल्युट्। अर्थ निर्देश से धातु सकर्मक प्रतीत होती है। पर सुश्रुत (१। ३२१।८) में '**संकुचत्यम्बुजं यथा**'—यहाँ अकर्मक प्रयोग है। कौशिक सूत्र (१५) में भी '**उत्कुचतीषु स्नावरज्जुषु**'—यहाँ अकर्मक प्रयोग है। हमें इस की अकर्मकता ही भाती है—**लज्जया संकुचति वधूः श्वशुरस्य संनिधाने।** छुर छेदने (छुर्—काटना)। **छुरति। अच्छुरत्। छुरतु। छुरेत्।** स्फुट विकसने (स्फुट्—खिलना)। **स्फुटति। स्फुटन्ति सुमानि**=फूल खिल रहे हैं। त्रुट छेदने (त्रुट्—काटना)। इस से पक्ष में (२९) से श्यन् भी आता है—**त्रुट्यति।** हमारा विचार है कि श्यन्विकरणक त्रुट् अकर्मक है। कुड बाल्ये(कुड्—बाल अवस्था में होना)। **कुडतीति मुग्धा सा सर्वस्य मनो हरति।** घुट प्रतिघाते(घुट्—टकराना, घोटना)। **घुटति वातामान्।** बादामों को घोटता है। जुड बन्धने(जुड्—बाँधना)। मयूर व्यंसकादियों में '**जहिजोडः**' जो पढ़ा है उस में जुड् धातु का प्रयोग स्पष्ट है। कड मदे (कड्—मस्त होना)। **कडति दन्तीति गण्डाभ्यां स्रवति दानम्।** तुड तोडने। तोडनं भेदः। **तुडति।** स्फुर स्फुरणे (स्फुर्—स्पन्दन करना, फड़कना)। **स्फुरति मे सव्येतरो बाहुः।** स्फुल संचलने। **स्फुलति।**

१४०—निर्, नि, वि उपसर्गों से परे स्फुर्, स्फुल् के स् को विकल्प से ष् हो जाता है[1]—**निः स्फुरति। निः ष्फुरति। निस्फुरति। निष्फुरति।**

---

१. स्फुरति-स्फुलत्यो र्निर्निविभ्यः (८।३।७६)।

विस्फुरति । विष्फुरति । इसी प्रकार स्फुल् के विषय में उदाहरण जानें । णू स्तवने (नू—स्तुति करना) । **नुवति** (उवङ्) । **परिणुवति ।** (१५) से णत्व । धू विधूनने (धू—हिलाना) । **धुवति** (उवङ्) । **निधुवति**=मैथुन-माचरति । गु पुरीषोत्सर्गे (गु—मल त्याग करना, शौच करना) । **गुवति । अत्र गुतव्यमत्र नेत्यजानन्बालो यत्र तत्र गुवति ।** 'गु' अनिट् है । ध्रु गति स्थैर्ययोः (ध्रु—जाना, स्थिर रहना) । **ध्रुवतीति ध्रुवो नक्षत्रम् ।** इगुपध-लक्षण 'क' । उवङ् । **ध्रुवं पश्य, ध्रुवा पत्यौ भव ।** 'ध्रु' के स्थान में 'ध्रुव' भी क्वाचित्क पाठ है ।

गुरी उद्यमने (गुर्—उठाना) आत्मने० । **गुरते । गुरेते । गुरन्ते ।** प्रायः इसका अवपूर्वक प्रयोग होता है । 'मारने के लिए शस्त्र आदि उठाना' अर्थ होता है—**न कदाचिद् द्विजे तस्माद् विद्वानवगुरेदपि** (मनु० ४।१६६) । यहाँ परस्मैपद अपाणिनीय है । इस अर्थ में धातु अकर्मक है, कर्मणो धात्वर्थेनोप-सङ्ग्रहात्, कर्म के धात्वर्थ में ही अन्तर्भूत होने से । अवगुर् के प्रयोग में जिस पर प्रहार करने के लिए शस्त्र उठाया जाता है उसमें चतुर्थी भी देखी जाती है—**ब्राह्मणायावगुर्यैव द्विजातिर्वधकाम्यया ।......नरके परिवर्तते** (मनु० ४।१६५)।। यहाँ क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः (२।३।१४) से गम्यमान प्रहर्तुम् अथवा हन्तुम् के कर्म में चतुर्थी समझनी चाहिए । कूङ् शब्दे (कू—शब्द करना) **कुवते । कुवेते । कुवन्ते ।**(उवङ्)। कैयट आदि इसे दीर्घान्त पढ़ते हैं । न्यासकार ह्रस्वान्त पढ़ता है । लुट् आदि में भेद होगा । दीर्घान्त सेट् है और ह्रस्वान्त अनिट् ।

यहाँ कुटादि धातुएँ समाप्त हुईं ।

तुदादि गण की अवशिष्ट परस्मैपदी धातुएँ

रि पि गतौ (रि, पि—जाना) । **रियति । पियति ।** इयङ् । धि धारणे (धि—धारण करना) । **धर्मं धियं धियति ।** इयङ् । क्षि निवासगत्योः (क्षि—निवास करना, जाना) । **क्षियन्ति निवसन्त्यस्याम् इति क्षितिर्भूमिः ।** क्षि के 'इ' को इयङ् । गति अर्थ में वेद में प्रयोग है—**सर्वान्पथो अनृणा आक्षियेम** (अथर्व० ६।११७।३) । **पथः सर्वां अनुक्षिय** (अथर्व० ६।१२१।४) । लोक में गति अर्थ में प्रयोग मृग्य है । **विषं पीत्वा क्षयं गतः,** जल पीकर घर गया, अथवा विष पीकर क्षय (नाश) को प्राप्त हुआ । क्षयो निवासे (६।१।२०१)

से निवासार्थक क्षय (घ-प्रत्ययान्त होने से प्रत्ययस्वर प्राप्त था) शब्द आद्युदात्त होता है। वेद में प्रयोग भी है—**क्षयं बृहन्तं परिभूषति द्युभिः** (ऋ० ३।३।२)। षू प्रेरणे (सू—प्रेरणा करना)। **सुवति**। उवङ्। **सुवति लोकं कर्मणीति सविता सूर्यः**, सूर्य लोक को कर्म में प्रेरित करता है, अतः उसे 'सवितृ' कहते हैं। षू(सू) का प्रयोग आङ्, परा उपसर्गों के साथ बहुत देखा जाता है—**विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव। यद्भद्रं तन्न आसुव** (ऋ० ५।८२।५)। हे सवितृ देव! जो भी अनिष्ट है उस सबको परे फेंक दो और जो भी इष्ट है उसे इधर प्रेरित करो। कॄ विक्षेपे (कॄ—बिखेरना)। **किरति**। **विकिरति**। **आकिरति**। **प्रकिरति**। **संकिरति** (मिला-जुला देता है)। कॄ—अ ति=किर् अ ति=किरति। ॠ को 'इ' (रपर इर्)।

(१४१) ॠकारान्त धातु के ॠ को 'इ' (रपर=इर्) आदेश होता है।[1] गुण का प्रसङ्ग हो तो विप्रतिषेध से **पर** गुण ही होगा, इर् (उर्) नहीं।

१४२—काटने अर्थ में उप-पूर्वक कॄ को सुट् (स्) आगम होता है।[2]

१४३—अट् तथा अभ्यास-कृत व्यवधान होने पर भी कॄ को सुट् होता है।[3]

१४४—सुट् क् से पूर्व होता है।[4]

१४५—हिंसा अर्थ में उप-प्रति-पूर्वक कॄ को सुट् आगम होता है।[5] **उपस्किरति सस्यम्**, अनाज को काटता है। **उपस्कारं** (णमुलन्त) **काश्मीरका लुनन्ति**, कश्मीरी पौधे को लिटाकर काटते हैं। यहाँ लवन विषय में कॄ को सुट् हुआ है। उपास्किरत् (लङ्)। **उपस्किरति**। **प्रतिस्किरति**=हिनस्ति। **प्रत्यस्किरत्**। **उरोविदारं प्रतिचस्करे नखैः** (माघ० १।४७)। **प्रतिचस्करे**—प्रतिपूर्वक कॄ से कर्म में लिट्।

१४६—गॄ के रेफ को ल् हो जाता है विकल्प से अजादि प्रत्यय परे होने पर।[6]

---

१. ॠत इद्धातोः (७।१।१००)।
२. किरतौ लवने (६।१।१४०)।
३. अडभ्यासव्यवायेऽपि (६।१।१३५)।
४. सुट् कात्पूर्वः (वा०)।
५. हिंसायां प्रतेश्च (६।१।१४१)।
६. अचि विभाषा (८।२।२१)।

गॄ निगरणे (गॄ निगलना)। **निगिरति**। (१४१) **निगिलति**। (१४६) इस अर्थ में गॄ निपूर्वक ही प्रयुक्त होता है। निगॄ—**न्यगिरत्**। **न्यगिलत्**। (लङ्)

प्रच्छ ज्ञीप्सायाम् (प्रच्छ्—पूछना)। **पृच्छति**। (१२८) से 'र्' को सम्प्रसारण ऋ। कॄ, गॄ, दृङ्, धृङ् (इन दो को यहाँ आत्मनेपदियों के साथ पढ़ा है) और प्रच्छ् **'किरादि'** कही जाती हैं।

सृज विसर्गे (सृज्—उत्पन्न करना, सृष्टि करना)। **सृजति**। **विसृजति** (छोड़ता है, भेजता है)। सम् सृज्—**संसृजति**, मिलाता है। **उत्सृजति** (छोड़ता है)। टुमस्जो शुद्धौ (मस्ज्—स्नान करना, डुबकी लगाना)। मस्ज् अ ति=मश् ज् अ ति (श्चुत्व)। **मज्जति** (जश्त्व)। **मज्जन्ति यतयः सरित्सु**, यति लोग नदियों में स्नान करते हैं। इसका निपूर्वक प्रयोग प्रायिक है। **यथा प्लवेनौपलेन निमज्जत्युदके तरन्** (मनु० ४।१९४)। जैसे पत्थर की नौका से नदी पार करना चाहता हुआ डूब जाता है। नि के बिना भी डूबना अर्थ होता है—**अम्भस्यश्मप्लवेनेव सह तेनैव मज्जति** (मनु० ४।१९०)। **मज्जन्ति पदानि पुलिनेषु**, नदीतटों पर पैर धस जाते हैं।

रुजो भङ्गे (रुज्—तोड़ना)। ओदित्। **रुजति**। कूलमुद्रुजतीति कूलमुद्रुजो नदीरयः। **याः सीमानं विरुजन्ति** (अथर्व० ९।८।१३)। **रुजति शरीरमिति रोगः**। **रुजन्ति चेतः प्रसभं ममाधयः** (किरात० १।३७)। मनोवेदना मेरे मन को ज़ोर से तोड़ फोड़ रही है। भुजो कौटिल्ये (भुज्—टेढ़ा करना)। **मूलानि विभुजति कुटिली करोतीति मूलविभुजो रथः**। **भुजः कुटिलः सन्गच्छतीति भुजगः, भुजङ्गः, भुजङ्गमः**। रुश रिश हिंसायाम् (रुश्, रिश्—हिंसा करना)। **रुशति**। **रिशति**। सकर्मक। मारता है। **रुशती वागकल्याणी** (अमर)। लिश गतौ (लिश्—जाना)। लिशति। दिवादियों में लिश अल्पीभावे आ० पढ़ी है। स्पृश संस्पर्शने (स्पृश्—छूना)। **स्पृशति**। **संस्पृशति**। **उपस्पृशति**=आचमन करता है, स्नान करता है। **मर्माणि स्पृशति तुदतीति मर्मस्पृक्**। विच्छ गतौ (विच्छ्—जाना)। (३४) से स्वार्थ में 'आय' प्रत्यय होता है—**विच्छायति**=गच्छति। तुदादि गण में पाठ के कारण आय-प्रत्ययान्त विच्छ् से भी 'श' प्रत्यय होता है, शप् नहीं। अतः **विच्छायती, विच्छायन्ती**—यहां नुम्-विकल्प सिद्ध होता है। विश प्रवेशने (विश्—प्रवेश करना)। **विशति**। **प्रविशति**। **उपविशति** = बैठता है। **उपोप-**

विशति=पास बैठता है। **संविशति**=सोता है, लेटता है। इस अर्थ में कभी-कभी संविश् सकर्मक भी होती है—**तस्माद्युग्मासु पुत्रार्थी संविशेदार्तवे स्त्रियम्** (मनु० ३।४८)। **आविशति**=व्याप्नोति। **भीरुमेव भयमाविशति नाभीरुम्। निर् विशति**=भुङ्क्ते=अनुभवति। **क्रीडारसं निर्विशतीव बाल्ये** (कुमार०१।२९)। **निविशते**=गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है, विवाह करता है। **कदा निवेक्ष्यसे। कालोऽयं द्वितीयमाश्रममुपसंक्रमितुम्। दौःष्यन्तिमप्रतिरथं तनयं निवेश्य** (शाकुन्तल ४), अप्रतिद्वन्द्वी दुःष्यन्त के पुत्र का विवाह करके। मृश आमर्शने (मृश्—स्पर्श करना)। **मृशति। विमृशति**=सोचता है। **आङ् मृश्**=छीनना। **आमृष्टं नः परैः पदम्** (कुमार० २।३१)। **परामृश्**=दूषित करना। **परामृशति परदारान्**=उपसेवते (परस्त्रियां मैथुन्यमाचरति)। इस अर्थ में अभिपूर्व मृश् का भी प्रयोग होता है। **परामृश्** का मन से चिन्तन करना अर्थ भी है—**इष्टदेवतां परामृशति। प्रत्यवमृश्**—संकेत करना-**सर्वनाम्नाऽभिधेयं प्रत्यवमृशति**। षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु भ्वादियों में पढ़ी है। उसे यहाँ **सीदती। सीदन्ती**—यहाँ (सद्—शतृ—ङीप्) नुम्-विकल्प के लिये पढ़ा है।

इति तुदादयः श-विकरणाः।

रुधादि गण (सप्तम गण)

१४७—रुध् आदि धातुओं से कर्तृवाचक सार्वधातुक परे होने पर श्नम् (न) प्रत्यय आता है।[1] यह शप् का अपवाद है। मित् होने से यह धातु के अन्त्य अच् से परे होता है। प्रत्यय होने से इसका परे होना प्राप्त था। लशक्वतद्धिते (१।३।८) से श् की इत्संज्ञा है। यह इत्संज्ञक श् सार्वधातुक संज्ञा करने के लिए नहीं लगाया गया, जिससे अपित् होने से इसके कारण गुण का निषेध हो, क्योंकि श्नम् से पूर्व इगन्त अंग नहीं मिलता।

रुधिर् आवरणे (रुध्—ढाँपना, रोकना)। ढाँपना, छिपाना अर्थ में रामायण में प्रयोग है—**मा रौत्सीर्मा च कार्षीस्त्वं देवि संपरिशोषणम्** (२।१०।३२)। **मा रौत्सीः**=स्वाभिप्रायं मा गोपीः।

रुध् आदि नौ स्वरितेत् (उभयपदी) इरित् धातुएँ—

रुधिर् आवरणे। रु श्नम् ध् ति। रु न ध् ति। रु ध् ति इस अवस्था

१. रुधादिभ्यः श्नम् (३।१।७८)।

में ही पित् सार्वधातुक तिप् को आश्रित करके गुण प्राप्त होता है, पर श्नम् नित्य है। गुण होने पर भी प्राप्त है, न होने पर भी। नित्य पर को बाधता है। गुण विधायक शास्त्र (७।३।७८) पर शास्त्र है। अतः पहले श्नम् हुआ। श्नम् होने पर उसके प्रति 'रु' इगन्त अंग नहीं। अतः गुण का प्रसंग ही नहीं। रु न ध् ति=रु ण ध् ति=**रुणद्धि**। णत्व। झष् से परे त् को ध् और जश्त्व होने पर पूर्व ध् को द्।

पूर्वत्रासिद्धम् (८।२।१)—सपाद सप्त=सवा सात अध्यायों के प्रति अष्टाध्यायी के अन्त के तीन पाद असिद्ध हैं, असिद्धवत् हैं, सिद्ध सूत्रों की तरह कार्य नहीं करते। अन्त के तीन पादों में भी पूर्व-पूर्व सूत्र के प्रति अगला-अगला सूत्र असिद्ध होता है।

यह सूत्र भगवान् पाणिनि की क्रान्तदर्शनता का प्रमाण है, उनकी पर-पारदृश्वरी बुद्धि का परिचायक है कि जब वे अष्टाध्यायी के पहले सवा सात अध्याय निर्माण कर चुके, जिन की सूत्र संख्या ३६८६ है तब वे यह व्यवस्था करते हैं कि जिन सूत्रों का संनिवेश हम अवशिष्ट तीन पादों में करेंगे, जिनकी संख्या २६५ है, वे सभी पूर्वगत सवा सात अध्यायों के सूत्रों के प्रति असिद्ध अर्थात् असिद्धवत् हैं। यदि वे प्रवृत्त नहीं हुए, क्योंकि वे असिद्ध हैं तो सवा सात अध्यायों के सूत्र पहले प्रवृत्त होंगे, और यदि उनकी प्रवृत्ति हो चुकी है तो भी उन्हें अप्रवृत्त मान कर सवा सात अध्यायों के सूत्र अवकाश न पाकर स्वयं प्रवृत्त न होंगे। इतना ही नहीं। तीन पादों के सूत्रों में भी ऐसा क्रम रखा गया है कि उन में जो-जो पूर्व सूत्र है उस-उसके प्रति, उस-उस की दृष्टि में अगला-अगला सूत्र असिद्ध है, वह सिद्ध सूत्र की तरह कार्य नहीं करता, अर्थात् पहले प्रवृत्त नहीं होता और यदि प्रसङ्ग होने से प्रवृत्त हो भी चुका है तो भी पूर्व सूत्रों की दृष्टि में अप्रवृत्त होने से स्वयम् अप्रसक्त होकर वे भी प्रवृत्त नहीं होते। सूत्रकार पहले विप्रतिषेधे परं कार्यम् (१।४।२) ऐसी व्यवस्था कर चुके हैं। इस के अनुसार विप्रतिषेध=तुल्य-बल-विरोध होने पर पूर्व शास्त्र (सूत्र) को बाध कर पर शास्त्र प्रवृत्त होता है। पर यहाँ पर शास्त्र को पूर्वापेक्षया असिद्ध ठहराने से विप्रतिषेध ही नहीं। अतः पूर्व की गई व्यवस्था से यह व्यवस्था सुतराम् भिन्न है। इस महान् शास्त्रौघ (सूत्र-समुदाय) की प्रवृत्ति के विषय में ऐसी व्यवस्था करना निश्चय अतिमानुष कर्म है। अहो दिव्या दृक् सूत्रकारस्य!

रु न् ध् तः। यहाँ (८२) से श्नम् (न) के 'अ' का लोप हो जाता है। इस अवस्था में (८।४।१) से णत्व प्राप्त होता है और (८।३।२४) से अपदान्त न् को झल् परे होने पर अनुस्वार प्राप्त होता है। णत्व विधायक शास्त्र त्रैपादिक है और अनुस्वार-विधायक भी। पर णत्व विधायक **पर** शास्त्र है अतः अनुस्वारविधायक शास्त्र की दृष्टि में असिद्ध है। जो असिद्ध है वह कैसे प्रवृत्त हो। अतः अनुस्वार-विधायक शास्त्र प्रवृत्त हुआ। अनुस्वार को (८।४।५८) से परसवर्ण (न्) हुआ। इस पर-सवर्ण से बने 'न्' को (८।४।१) से णत्व क्यों नहीं होता ? इसलिये कि णत्वविधायक शास्त्र की दृष्टि में पर-सवर्ण-विधायक शास्त्र असिद्ध है, प्रवृत्त ही नहीं हुआ, जिस कारण अभी अनुस्वार ही पड़ा है, न् नहीं, वह णत्व किस को करे, अतः वह स्वयम् प्रवृत्त नहीं होता। रु न्द् धः। झष् से परे त् को ध्[1] और पूर्व ध् को जश्त्व विधि से द्। श्नम् के 'अ' का लोप। अनुस्वार व परसवर्ण की कर्तव्यता में स्थानिवत् नहीं होता (१।१।५८)।

रुधिर् आवरणे (रुध्—रोकना, घेरना) प०

	लट् प०			लङ् प०		
१	**रुणद्धि**	**रुन्द्धः**	**रुन्धन्ति**	**अरुणत्-द्**	**अरुन्द्धाम्**	**अरुन्धन्**
२	**रुणत्सि**	**रुन्द्धः**	**रुन्द्ध**	**अरुणः-त्-द्**	**अरुन्द्धम्**	**अरुन्द्ध**
३	**रुणध्मि**	**रुन्ध्वः**	**रुन्ध्मः**	**अरुणधम्**	**अरुन्ध्व**	**अरुन्ध्म**

	लोट् प०			विधिलिङ् प०		
१	**रुणद्धु** / **रुन्द्धात्**	**रुन्द्धाम्**	**रुन्धन्तु**	**रुन्ध्यात्**	**रुन्ध्याताम्**	**रुन्ध्युः**
२	**रुन्द्धि** / **रुन्द्धात्**	**रुन्द्धम्**	**रुन्द्ध**	**रुन्ध्याः**	**रुन्ध्यातम्**	**रुन्ध्यात**
३	**रुणधानि**	**रुणधाव**	**रुणधाम**	**रुन्ध्याम्**	**रुन्ध्याव**	**रुन्ध्याम**

रुणत्सि में (खरि च ८।४।५५) से ध् को चर्त्व-विधि से 'त्' हो जाता है। **रुन्द्धः**, **रुन्द्धाम्**, **रुन्द्धि** आदि में झरो झरि सवर्णे (८।४।६५) से हल् से परे झर् का झर् परे होने पर वैकल्पिक लोप हो जाने से **रुन्धः**, **रुन्धाम्**, **रुन्धि** आदि दकार रहित रूप होंगे। **रुन्ध्यात्** आदि में झर् से परे झर् न होने से झर् (ध्) का लोप नहीं होता। **रुणधानि** आदि में आट् के पित् होने

---

[1] झषस्तथोर्धोऽधः (८।२।४०) झष् से परे त्, थ् को ध् होता है, पर धा धातु के विषय में ऐसा नहीं होता।

से (८२) से श्नम् के 'अ' के लोप का प्रसङ्ग ही नहीं। **अरुणत्—द्**—यहाँ (५८) से अपृक्त 'त्' का लोप होने पर पदान्त ध् को जश्त्व-विधि से द् और इस द् को चर्त्व-विधि से त्। **अरुणः**—यहाँ अपृक्त स् का लोप होने पर पदान्त ध् को जश्त्व-विधि से द्। इस 'द्' को (७७) से वैकल्पिक रु (र्) और उसे विसर्ग। लोट् म० पु० ए० **रुन्धि** में (५२) से 'हि' को 'धि' हुआ है।

	लट् आ०			*लङ् आ०*	
१ **रुन्धे**	**रुन्धाते**	**रुन्धते**	**अरुन्ध**	**अरुन्धाताम्**	**अरुन्धत**
२ **रुन्त्से**	**रुन्धाथे**	**रुन्ध्वे**	**अरुन्धाः**	**अरुन्धाथाम्**	**अरुन्ध्वम्**
३ **रुन्धे**	**रुन्ध्वे**	**रुन्ध्महे**	**अरुन्धि**	**अरुन्ध्वहि**	**अरुन्ध्महि**

	लोट् आ०			*विधिलिङ् आ०*	
१ **रुन्धाम्**	**रुन्धाताम्**	**रुन्धताम्**	**रुन्धीत**	**रुन्धीयाताम्**	**रुन्धीरन्**
२ **रुन्त्स्व**	**रुन्धाथाम्**	**रुन्ध्वम्**	**रुन्धीथाः**	**रुन्धीयाथाम्**	**रुन्धीरन्**
३ **रुणधै**	**रुणधावहै**	**रुणधामहै**	**रुन्धीय**	**रुन्धीवहि**	**रुन्धीमहि**

इन आत्मनेपदी रूपों में सर्वत्र श्नम् के 'अ' का लोप हुआ है, सभी प्रत्ययों के अपित् होने से। केवल लोट् उ० पु० में आट् के पित् होने से यह लोप नहीं हुआ। णत्व हुआ है। '**रुन्त्स्व**' में चर्त्व विधि से ध् को त् हुआ है।

भिदिर् विदारणे (भद्—फाड़ना)। **भिनत्ति** (भि न द् ति)। चर्त्व विधि से धातु के द् को त्। **भिन्तः** (श्नम् के अ का लोप)। **भिन्दन्ति**। **भिनत्सि**। **भिन्थः**। **भिन्थ**। **भिनद्मि**। पित् होने से अल्लोप नहीं हुआ। **भिन्द्वः**। **भिन्द्मः**। **अभिनत्-द्**। **अभिनः-त्-द्**। **भिनत्तु**। **भिन्तात्**। **भिन्धि**। **भिनदानि**। आट् के पित् होने से अल्लोप नहीं हुआ। **भिन्द्यात्**। आत्मनेपद में—**भिन्ते**। **भिन्दाते**। **भिन्दते**। **अभिन्त**। **भिन्त्स्व**। **भिनदै**। आट् के पित् होने से अल्लोप नहीं हुआ। **भिन्दीत**। छिदिर् द्वैधी करणे (छिद्—दो टुकड़े करना)। **छिनत्ति**। **छिन्ते**। **अच्छिनत्**। **अच्छिनः-त्-द्**। **अच्छिन्त**। **छिनत्तु-छिन्तात्**। **छिन्ताम्**। **छिन्द्यात्**। **छिन्दीत**। रिचिर् विरेचने (रिच्—खाली करना)। **रिणक्ति**। कुत्व। **रिङ्क्ते**। अल्लोप। कुत्व। अनुस्वार, परसवर्ण। **अरिणक्-ग्**। **अरिङ्क्त**। **अरिणक्-ग्**। तिप्, सिप् के त्, स् का लोप। कुत्व। **अरि-**

ङ्क्थाः । अरिङ्ग्ध्वम् (जश्त्व) । **अरिणचम् । अरिञ्चि** (अल्लोप, अनुस्वार,परसवर्ण) । **रिणक्तु । रिङ्क्तात् । रिङ्क्ताम् । रिङ्ग्धि । रिङ्क्तात् । रिङ्क्ष्व । रिणचानि । रिणचै । रिञ्च्यात् । रिञ्चीत** । विचिर् पृथग्भावे (विच्—जुदा करना) । इसका विपूर्वक प्रयोग होता है । **विविनक्ति । विविङ्क्ते । व्यविनक् । व्यविङ्क्त । विविनक्तु । विविङ्क्तात् । विविङ्क्ताम् । विविङ्ग्धि विविङ्क्तात् । विविङ्क्ष्व । विविनचानि । विविनचै । विविञ्च्यात् । विविञ्चीत** । क्षुदिर् सम्पेषणे (क्षुद्—चूर्ण करना) । **क्षुणत्ति** । (णत्व, चर्त्व) । **क्षुन्ते** । (अल्लोप, चर्त्व से द् को त्)। **अक्षुणत्-द् । अक्षुन्त । अक्षुणः—अक्षुणत्** (द् को पाक्षिक रु) । **अक्षुन्थाः । क्षुणत्तु-क्षुन्तात् । क्षुन्ताम् । क्षुन्धि-क्षुन्तात् । क्षुन्त्स्व** (अल्लोप, चर्त्व-विधि से द् को त्) । **क्षुणदानि । क्षुणदै । क्षुन्द्यात् । क्षुन्दीत** (अल्लोप) । युजिर् योगे (युज्—जोड़ना, युक्त करना) । **युनक्ति** । (कुत्व, चर्त्व)। **युङ्क्ते** ।(अल्लोप, अनुस्वार, परसवर्ण । **अयुनक्-ग् । अयुङ्क्त । अयुनक्-ग् । अयुङ्क्थाः । युनक्तु-युङ्क्तात् । युङ्क्ताम् । युङ्ग्धि** (हि को धि) । **युङ्क्ष्व । युनजानि । युनजै । युञ्ज्यात् । युञ्जीत** । उच्छृदिर् दीप्तिदेवनयोः(छृद्—चमकना, खेलना)। 'उ' भी इत् है । **छृणत्ति । छृन्ते । अच्छृणत्-द् । अच्छृन्त । छृणत्तु-छृन्तात् । छृन्ताम् । छृन्द्यात् । छृन्दीत** । उतृदिर् हिंसानादरयोः (तृद्—काटना, छेद करना, अनादर करना) । 'उ' भी इत् है । **तृणत्ति । तृन्तः । तृन्दन्ति । तृन्ते । तृन्दाते । तृन्दते । अतृणत्-द् । अतृन्त । अतृणः-अतृणत् । अतृन्थाः । तृणत्तु-तृन्तात् । तृन्ताम् । तृन्धि-तृन्तात् । तृन्त्स्व । तृणदानि । तृणदै । तृन्द्यात् । तृन्दीत** ।

इन धातुओं के विषय में विशेष वक्तव्य—

रुध् का उपसर्ग-रहित प्रयोग भी बहुत है और उपसर्ग-सहित भी **रुन्धन्तु वारणघटा नगरं मदीयाः** (मुद्रा० ४।१७) । मेरे हाथियों के समूह नगर (पाटलिपुत्र) को घेर लें । **अरुणद्यवनः साकेतम्** (भाष्य) । यवन ने साकेत (अयोध्या) के इर्द गिर्द घेरा डाल दिया । विरुणद्धि=विरोध करता है । इस अर्थ में यह धातु सकर्मक भी है और अकर्मक भी । **न बलवताऽरिणा विरुन्ध्यात् । न बलवन्तमरिं विरुन्ध्यात् । अनुरुणद्धि**=अनुसरति । **अवरुणद्धि**=अन्ता रुणद्धि । **अवरुणद्धि गां व्रजे । अवरोधः**=शुद्धान्तः, रणिवास । भिद् का सम्पूर्वक प्रायः जोड़ना, मिलाना अर्थ होता है । **संभिनत्ति**=संयुनक्ति=

संमिश्रयति । **गङ्गायमुनयोः संभेदः**=संगमः । **संभिन्नबुद्धिः**=संमिश्रितबुद्धिः पुण्यपापयोरविवेकिमनाः=नास्तिकः । **प्रभिन्नो द्विरदः**, हस्ती जिसके गण्डस्थल से मद रस फूट कर बह रहा है । छिद् द्वैधीकरण अर्थ में पढ़ी है, सामान्य रूप से काटने, कम करने अथवा नाश करने अर्थ में भी प्रयुक्त होती है—**तृष्णां छिन्धि** । उद् छिद् का अर्थ समूल नाश करना है—**अहो मूलोच्छेदि पाण्डित्यम्! अविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्ति-धर्मा** (बृह० उ० ४।५।१४) । इस आत्मा का उच्छेद नहीं होता । **अनेकसंशयोच्छेदि शास्त्रम्** । आङ् छिद् का अर्थ छीनना होता है—**मिषतामाच्छिनत्ति नः** (कुमार) । हमारे देखते-देखते छीन लेता है । रिच् का प्रायः विपूर्वक प्रयोग होता है और धातु का मूलार्थ अवस्थित रहता है—**कीटानुविद्धाः पूना इति वा विरिञ्चन्ति कौपीरपो ग्रामीणाः** । कीड़ों से भर गया है अथवा सड़ गया है, अतः कूएँ के जल को ग्रामीण लोग खाली कर रहे हैं । **विरिक्तो वा वान्तो वा भूत्वा कल्यो भवति**, विरेचन वा वमन हो जाने से स्वस्थ हो जाता है । अतिरिच् का कर्मकर्तरि प्रयोग में बढ़ जाना अर्थ होता है—**कदाचिद् यत्नादतिरिच्यते फलम्, तत्र दैवानुग्रहः कारणम्** । वि अति पूर्वक रिच् का भी यही अर्थ है । **व्यतिरेक आधिक्यं भेदश्च** । अतिपूर्वक ण्यन्त रिच् का भी बढ़कर करना, विहित कर्म से अधिक करना अर्थ होता है—**यदस्य कर्मणोऽत्यरीरिचम्** (आप० श्रौ० ३।१२।१), जो मैंने इस (विहित) कर्म से अधिक किया । विच् का अर्थ जुदा करना है, जुदा होना नहीं । धातु सकर्मक है । धातुपाठ का अर्थ-निर्देश व्यामोहक है । जैसे हमने पहले कहा है इस धातु का प्रयोग 'वि' उपसर्ग के बिना नहीं होता । बुद्धि, शरीर, स्थान से पृथक् करना अभिप्रेत है—**सत्यासत्ये विविञ्चीत**, सत्य और असत्य का विवेक करे । **हृदयं तद् विविङ्क्ते यद्भावमन्यच्चलं पलम्** । **शतैकीयाः सहृदया गण्यन्ते कथमन्यथा** (क्षीरस्वामी) ।। **कण्डितेभ्यो व्रीहिभ्यो विविनक्ति तुषान्गृही**, गृहस्थ कूटे हुए धान से तुष को जुदा करता है । **अविवेकि कुचद्वयम्**=अपृथग्भूतस्तनद्वयम् । **विविक्तं सेवते**=एकान्ते तिष्ठति । **मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्** (मनु० २।२१५) । क्षुद्—सम्पूर्वक—**संक्षुणत्ति** । अर्थ में भेद नहीं । **क्षोदः, संक्षोदः**=चूर्णं । युज्—यह सकर्मक है । **अश्वं रथे युनक्ति । रथं वाऽश्वेन युनक्ति । तमर्थमिव भारत्या सुतया योक्तुमर्हसि** (कुमार० ६।७६) । सम् पूर्वक युज् परस्मैपदी है । विपूर्वक युज् का अर्थ छोड़ना है—**अविमृश्यकारिणं वियुञ्जते सम्पदः** । प्र-युज्—व्यवहार करना । **शब्दं प्रयुङ्क्ष्व माऽपशब्दं**

प्रयुङ्क्थाः । उप-युज्, उपयोग करना, बरतना । **स्वागतं धनं साधूपयुङ्क्ते,** अच्छी तरह कमाए हुए धन का सदुपयोग करता है । वि-नि-युज् । **भुक्तशिष्टमर्थं धर्मे विनियुङ्क्ते ।** धर्म=यज्ञ दानादि । **विनियुङ्क्ते**=लगाता है । अनु-युज्=पूछना । **किं कर्म किमकर्मेति भवन्तमनुयुञ्जे ।** तृद् का प्रयोग प्रायः वैदिक वाङ्मय में पाया जाता है । **य आतृणत्त्यवितथेन कर्णावदुःखं कुर्वन्नमृतं संप्रयच्छन्** (निरुक्त २।४) । **ऋतस्य श्लोको बधिरा** (=बधिरौ) **ततर्द कर्णा** (=कर्णौ) । ऋ० ४।२३।८ ॥ **ततर्द तरसा विष्णुर्बाणैः......सैन्यानि देवराजस्य** (हरिवं० ७६२१) । **सन्तृण्णं पत्त्रजातम्**=एकसाथ बींधे हुए पत्ते । **तृण्ण**—तृद्—क्त ।

यहाँ रुध् आदि नौ इरित् स्वरितेत् धातुएँ समाप्त हुईं ।

तीन आत्मनेपदी धातुएँ—ञिइन्धी दीप्तौ (इन्ध्—जलाना) । इसका प्रयोग वेद में ही देखा जाता है ।

१४८—श्नम् से परे न् का लोप हो जाता है ।[1]

इन्ध् ते=इ श्नम् न्ध् ते । इ न् न्ध्ते । इन्ध्ते । **इन्धे ।** झष् से परे त् को(पृ०१५७ के टिप्पण के अनुसार)ध् और सवर्ण झर्(ध्)परे होने पर पूर्व झर् (ध्) का वैकल्पिक लोप । **इन्धाते । इन्धते । ऐन्ध । ऐन्धाताम् । ऐन्धत । इन्त्स्व । इनधै । इन्धीत ।** लोक में कृदन्त रूप **भ्राष्ट्रमिन्ध**(भाड़ झोखने व.ला) मिलता है । खिद दैन्ये (खिद्—दीन, दुःखी होना) । **खिन्ते । खिन्दाते । खिन्दते । अखिन्त । खिन्ताम् । खिन्त्स्व । खिनदै । खिन्दीत ।** विद विचारणे (विद्—विचार करना) । **विन्ते । विन्दाते । विन्दते । अविन्त । विन्त्स्व । विनदै । विन्दीत । वेदार्थं विन्ते विप्रः ।** ब्राह्मण वेदार्थ पर विचार करता है ।

शिष्ट परस्मैपदी धातुएँ—

कृती वेष्टने (कृत्—कातना, तकले पर लपेटना) । **कृणत्ति । कृन्तः । कृन्तन्ति । अकृणत् । अकृन्ताम् । अकृन्तन् । अकृणः ।** सिप् के स् का लोप होकर जश्त्व से बने द् को पाक्षिक रु (र्) । **अकृणत्-द् । कृणत्तु । कृन्तात् । कृन्धि । कृन्तात् । कृणतानि । कृणताव । कृणताम । कृन्त्यात् ।**

शिष्लृ विशेषणे (शिष्—बढ़ाना, विशिष्ट करना) । प्रायः इसका वि-

---

१. श्नान्नलोपः (६।४।२३) ।

पूर्वक प्रयोग होता है—**पुनरकाण्डविवर्तनदारुणो विधिरहो विशिनष्टि मनोरुजम्** (मालती० ४।७)। अचानक परिवर्तन से क्रूर दैव मेरी मनोवेदना को बढ़ा रहा है। **विशेषको वा विशिशेष**(शिष्—लिट्)**यस्याः श्रियं त्रिलोकीतिलकः स एव** (माघ ३।६३)।

शिष्लृ विशेषणे (शिष्—विशिष्ट करना) प०

लट्			लङ्		
१ शिनष्टि	शिंष्टः	शिंषन्ति	अशिनट्-ड्	अशिंष्टाम्	अशिंषन्
२ शिनक्षि	शिंष्ठः	शिंष्ठ	अशिनट्-ड्	अशिंष्टम्	अशिंष्ट
३ शिनष्मि	शिंष्वः	शिंष्मः	अशिनषम्	अशिंष्व	अशिंष्म

लोट्			विधिलिङ्		
१ शिनष्टु, शिंष्टात्	शिंष्टाम्	शिंषन्तु	शिंष्यात्	शिंष्याताम्	शिंष्युः
२ शिण्ढि, शिण्ड्ढि, शिंष्टात्	शिंष्टम्	शिंष्ट	शिंष्याः	शिंष्यातम्	शिंष्यात
३ शिनषाणि	शिनषाव	शिनषाम	शिंष्याम्	शिंष्याव	शिंष्याम

शिष्—ति। शि न ष् ति। **शिनष्टि**। ष्टुत्व। **शिंष्टः**। **शिंषन्ति**—अल्लोप। अनुस्वार। परसवर्ण। **शिनक्षि**—शि न ष् सि, षढोः कः सि(८।२।४१) से 'स' परे होने पर ष् को क्। क् से परे 'आदेश प्रत्यययोः' से प्रत्यय स् को ष्। क्ष् के संयोग से क्ष्। **अशिनट्**—तिप्, सिप् के त्, स् का लोप हो जाने पर जश्त्व-विधि से ष् को ड् और उसे वैकल्पिक चर्त्व से ट्। **शिण्ड्ढि**—**शिण्ढि**—झरो झरि सवर्णे (८।४।६५) से विकल्प से पूर्व झर् 'ड्' का लोप। **शिनषाणि** आदि में आट् आगम के पित् होने से कहीं भी अल्लोप नहीं हुआ। **शिनषाणि** में ष् के निमित्त से णत्व हुआ है। **शिंष्यात्** आदि में सर्वत्र अल्लोप, न् को अनुस्वर। पिष्लृ संचूर्णने (पिष्—पीसना)। **पिनष्टि**। **पिंष्टः**। **पिंषन्ति**। **अपिनट्**। **पिण्ढि**। **पिण्ड्ढि**। **पिंष्टात्**। सभी रूप शिष् की तरह। **तिष्ठ रे जाल्म, एष पिनष्मि ते शिरः**, ठहर हे हत्यारे, अभी तेरे सिर को चूर्ण-चूर्ण करता हूँ। भञ्जो आमर्दने (भञ्ज्—मसलना, तोड़ना)। **भनक्ति**। **भङ्क्तः**। **भञ्जन्ति**। **अभनक्-ग्** (कुत्व)। **अभनक्-ग्**। **भनक्तु**। **भङ्क्तात्**।

भङ्‌ग्धि। हि को धि। कुत्व। जश्त्व(ग्)। अनुस्वार। परसवर्ण। **भङ्क्तात्। भञ्ज्यात्**। अल्लोप। अनुस्वार। परसवर्ण। **शाङ्करं महद् धनुः सहेलं भनक्ति रामः। अनयेन नियुध्यमानो मल्लो मल्लस्य भनक्ति बाहुम्**। भुज पालनाभ्यवहारयोः(भुज्—पालना, रक्षा करना, खाना)। पालन अर्थ में ही यह परस्मैपदी है, अर्थान्तर में आत्मनेपदी है। **राज्यं न्यासमिवाभुनक्** (रघु० १२।१८)। **एकः कृत्स्नां (धरित्रीं) नगरपरिघप्रांशुबाहुर्भुनक्ति** (शाकुन्तल)। खाना, अनुभव करना अर्थ में आत्मनेपदी—**वृद्धो नरो दुःखशतानि भुङ्क्ते। गजपुङ्गवस्तु धीरं विलोकयति चाटुशतैश्च भुङ्क्ते** (हितोप०)। तृह हिसि हिंसायाम् (तृह्, हिंस्—हिंसा करना)।

१४६—तृह् से श्नम् करने के पश्चात् इम् (इ) आगम होता है हलादि पित् सार्वधातुक परे होने पर।[1] मित् आगम होने से अन्त्य अच् से परे होगा। तृह् ति। तृनह् ति। तृ न इ ह् ति। तृणेह् ति। तृणेढ् ति (हो ढः ८।२।३१) तृणेढ्ढि (झष् से परे त् को ध्। ष्टुत्व से ध् को ढ्)। ढ् का ढ् परे रहते लोप हो जाता है। **तृणेढि**। तृ न ह् तः। तृ न ढ् तः (हो ढः)। तृनढ्ढः। तृनढः। तृण्ढः। अल्लोप। अनुस्वार। परसवर्ण।

तृह् (मारना) प०

	लट्			लङ्	
१	तृणेढि	तृण्ढः	तृंहन्ति	अतृणेट्-ड्	अतृण्ढाम्	अतृंहन्
२	तृणेक्षि	तृण्ढः	तृण्ढ	अतृणेट्-ड्	अतृण्ढम्	अतृण्ढ
३	तृणेह्मि	तृंह्वः	तृंह्मः	अतृणहम्	अतृंह्व	अतृंह्म

	लोट्			विधिलिङ्		
१	तृणेढु, तृण्ढात्	तृण्ढाम्	तृंहन्तु	तृंह्यात्	तृंह्याताम्	तृंह्युः
२	तृण्ढि, तृण्ढात्	तृण्ढम्	तृण्ढ	तृंह्याः	तृंह्यातम्	तृंह्यात
३	तृणहानि	तृणहाव	तृणहाम	तृंह्याम्	तृंह्याव	तृंह्याम

तृणहानि आदि में आट् के पित् होने पर भी प्रत्यय हलादि नहीं है, अतः इम् आगम नहीं हुआ। **देवचक्रे यजमानस्य पाप्मानं तृंहती परिप्लवेते** (श० ब्रा० १२।२।२।२)।

---

1. तृणह इम् (७।३।९२)।

हिसि हिंसायाम्

	लट्			लङ्		
१	हिनस्ति	हिंस्तः	हिंसन्ति	अहिनत्-द्	अहिंस्ताम्	अहिंसन्
२	हिनस्सि	हिंस्थः	हिंस्थ	अहिनः अहिनत्-द्	अहिंस्तम्	अहिंस्त
३	हिनस्मि	हिंस्वः	हिंस्मः	अहिनसम्	अहिंस्व	अहिंस्म

	लोट्			विधिलिङ्		
१	हिनस्तु हिंस्तात्	हिंस्ताम्	हिंसन्तु	हिंस्यात्	हिंस्याताम्	हिंस्युः
२	हिन्धि हिंस्तात्	हिंस्तम्	हिंस्त	हिंस्याः	हिंस्यातम्	हिंस्यात
३	हिनसानि	हिनसाव	हिनसाम	हिंस्याम्	हिंस्याव	हिंस्याम

हिसि इदित् धातु है अतः इत्संज्ञक 'इ' का लोप हो जाने पर (३९) से नुम् आगम होता है और धातु हि न् स् रूप में परिणत हो जाती है। हिन्स् ति। हि श्नम् न् स् ति। हिन स् ति(१४८)। श्नम् से परे न् का लोप। **हिनस्ति। अहिनत्-द्**—(९८) से 'स्' को 'द्'। **अहिनः—अहिनत्**—(९८) से स् को रु, पक्ष में द्। **हिन्धि** में (५२) से हि को धि। अल्लोप (८२)। न्-लोप (१४८)। अनुस्वार। परसवर्ण। **न हिंस्यात् सर्वा** (=सर्वाणि) **भूतानि** (ब्राह्मण)। प्राण-वियोग से अन्यत्र भी लोप, भ्रंश आदि अर्थों में इस धातु का बहुल प्रयोग होता है—**कामाद्धि स्कन्दयन्रेतो हिनस्ति व्रतमात्मनः** (मनु० २।१८०)।

उन्दी क्लेदने (उन्द्—गीला करना)। सकर्मक। **उनत्ति** (१४८)। **उन्तः। उन्दन्ति। औनत्—द्।** आ उ न त्। (१०, ११)। **औनः—औनत्** (७७)। **उन्धि**—(५२) से हि को धि। **उनदानि। उनदाव। उनदाम। उन्द्यात्** में (८२) से अल्लोप। (१४८) से श्नम् से परे न् का लोप। **असाविमां वृष्ट्याऽभ्युनत्ति** (ऐ० ब्रा० १।७)। अञ्जू व्यक्ति-म्रक्षण-कान्ति-गतिषु (अञ्ज्—स्पष्ट करना, चिकना करना, चमकाना, जाना)। धातु ऊदित् है। अञ्ज् में ञ् नकार से बना है, सो धातु 'अन्ज्' ऐसी समझनी चाहिये। इस न् का श्नम् से परे होने पर सर्वत्र लोप हो जाता है। **अनक्ति**। कुत्व। **अङ्क्तः**।

अल्लोप। कुत्व। अनुस्वार। परसवर्ण। **अञ्जन्ति। अनक्षि। अङ्क्थः। अङ्क्थ। अनज्मि। अञ्ज्वः। अञ्ज्मः। आनक्-ग** (आट्)। **अङ्ग्धि। अङ्क्तात्। अनजानि। अञ्ज्यात्।** अञ्ज् का वि, अभि उपसर्गों के साथ प्रचुर प्रयोग होता है—**अकिञ्चनत्वं मखजं व्यनक्ति,**(रघु०५।१६)। **अभ्यनक्ति शिरस्तैलेन,** तेल से सिर की मालिश करता है। **अभ्यङ्गः**=मालिश। **अभिव्यनक्ति भाष्यग्रन्थं प्रदीपकारः। व्यक्तिं भजन्त्यापगाः** (शाकुन्तल), नदियां स्पष्ट दीखने लगी हैं। तञ्च् संकोचने (तञ्च्—सिकोड़ना, संघात बनाना, जमाना)। **तनक्ति। तङ्क्तः। तञ्चन्ति।** अञ्ज् की तरह रूप चलते है, कुछ भी विशेष नहीं। (लुङ् में भेद होगा)। इस का आङ् प्रपूर्वक प्रयोग प्रचुर है—**दध्नाऽऽतनक्ति पयः,** दूध में जामन लगाता है। **इन्द्रस्य त्वा भागं सोमेनातनच्मि** (वा०सं० १।४)। इसी प्रकार ओ विजी भयचलनयोः (विज्—डरना, चलना)। ओदित्। ईदित्। **विनक्ति। अविनक्। विनक्तु। विञ्ज्यात्।** तञ्च् की तरह सभी शेष रूप जानो। (वलादि आर्धधातुक प्रत्यय परे होने पर धातु के सेट् होने से इडागम होने पर गुणाभाव होगा, वही विशेष है)। वृजी वर्जने (वृज्—वर्जन करना, जुदा करना)। **वृणक्ति। वृङ्क्तः। वृञ्जन्ति। अवृणक्। वृणक्तु। वृङ्ग्धि। वृणजानि। वृञ्ज्यात्। वर्गोऽसि पाप्मानं मे वृङ्घि** (कौषी० उ० २।७)। पृची सम्पर्के (पृच्—मिलाना, जोड़ना)। इसका प्रयोग प्रायः सम्पूर्वक ही होता है। कृदन्त रूपों में कहीं-कहीं बिना सम् के प्रयोग देखा जाता है—**पृक्तस्तुषारैर्गिरिनिर्झराणाम्** (रघु० २।१३)॥ **पृक्तयेन्दुकरैरह्नः पर्यन्त इव सन्ध्यया**(किरात० ११।३)। मधुपर्क—यहाँ भी। वृज् की तरह सभी रूप होते हैं। **निसर्गत एव वागर्थसम्पृक्ता भवति न तु कश्चिद्द वाचमर्थेन सम्पृणक्ति। इति रुधादयः श्नम्विकरणाः।**

तनादिगण (अष्टम गण)

तन् आदि धातुओं से तथा कृ से कर्तृवाचक सार्वधातुक परे होने पर 'उ' प्रत्यय (विकरण) आता है। यह पूर्व (८०) में कह आये हैं। 'उ' शप् का अपवाद है और धात्वधिकारोक्त होकर तिङ्—शित्—भिन्न होने से आर्धधातुक है।

तनादि सात स्वरितेत् धातुएँ

तनु विस्तारे (तन्—फैलाना)। उ०।

	लट् प०			*लट् आ०*	
१ **तनोति**	**तनुतः**	**तन्वन्ति**	**तनुते**	**तन्वाते**	**तन्वते**

२ तनोषि	**तनुथः**	**तनुथ**	**तनुथ**	**तन्वाथे**	**तनुध्वे**
३ तनोमि	**तनुवः** / **तन्वः**	**तनुमः** / **तन्मः**	**तन्वे**	**तनुवहे** / **तन्वहे**	**तनुमहे** / **तन्महे**

परस्मैपद में तिप्, सिप्, मिप् में यथाप्राप्त उ प्रत्ययान्त अङ्ग 'तनु' को गुण हुआ है अन्यत्र परस्मैपद प्रत्ययों तथा आत्मनेपद प्रत्ययों के अपित् होने से (५) से गुण का निषेध हो गया है। **तनोषि, तनुषे** में आदेश-प्रत्यययोः (८।३।५९) से प्रत्यय के स् को ष् हुआ है। **तन्वन्ति** तन्वाते, तन्वते आदि में 'उ' के प्रत्यय होने से धातु का 'उ' न होने से (४४) से उवङ् की प्राप्ति ही नहीं। अतः साधारण सन्धि-विधि से इक् के स्थान में यण् होने से 'उ' को 'व्' हुआ है। **तनुवः। तन्वः। तनुवहे। तन्वहे** आदि में (१९) से उ प्रत्यय का विकल्प से लोप हुआ।

लङ् प०			*लङ् आ०*		
१ अतनोत्	**अतनुताम्**	**अतन्वन्**	**अतनुत**	**अतन्वाताम्**	**अतन्वत**
२ अतनोः	**अतनुतम्**	**अतनुत**	**अतनुथाः**	**अतन्वाथाम्**	**अतनुध्वम्**
३ अतनवम्	**अतनुव** / **अतन्व**	**अतनुम** / **अतन्म**	**अतन्वि**	**अतनुवहि** / **अतन्वहि**	**अतनुमहि** / **अतन्महि**

इन रूपों में कुछ वक्तव्य नहीं।

लोट् प०			*लोट् आ०*		
१ तनोतु	**तनुताम्**	**तन्वन्तु**	**तनुताम्**	**तन्वाताम्**	**तन्वताम्**
२ तनु / **तनुतात्**	**तनुतम्**	**तनुत**	**तनुष्व**	**तन्वाथाम्**	**तनुध्वम्**
३ तनवानि	**तनवाव**	**तनवाम**	**तनवै**	**तनवावहै**	**तनवामहै**

तनु (लोट् म० पु० ए०) में (१८) से 'हि' का लुक्। **तनवानि, तनवै** आदि में आट् आगम के पित् होने से उवर्णान्त अंग को गुण (ओ) और उस 'ओ' को अव् आदेश।

विधिलिङ् प०			*विधिलिङ् आ०*		
१ तनुयात्	**तनुयाताम्**	**तनुयुः**	**तन्वीत**	**तन्वीयाताम्**	**तन्वीरन्**
२ तनुयाः	**तनुयातम्**	**तनुयात**	**तन्वीथाः**	**तन्वीयाथाम्**	**तन्वीध्वम्**
३ तनुयाम्	**तनुयाव**	**तनुयाम**	**तन्वीय**	**तन्वीवहि**	**तन्वीमहि**

यहाँ यासुट् के ङित् होने से और आत्मनेपद प्रत्ययों के अपित् होने से कहीं भी गुण नहीं हुआ। आत्मनेपद में सर्वत्र 'उ' को यण् (व्) हुआ।

षणु दाने (सन्—देना)। **सनोति-सनुते**। धातु नकारान्त है। 'ण्' लाक्षणिक है। ष् के कारण बना है। इस ष् को (१२) से 'स्' हो जाता है। तब निमित्त के न रहने से नैमित्तिक ण् भी चला जाता है।

सन् का तिङन्त रूप में प्रयोग लोक में दुर्लभ है। **साति**=दानार्थक इसी धातु से क्तिन्प्रत्ययान्त निष्पन्न हुआ है। अवसानार्थ में '**साति**' अमर पढ़ता है **सातिर्दानावसानयोः**, और उसे षो अन्तकर्मणि से क्तिन्नन्त समझता है, पर क्तिन्नन्त रूप **सिति**' होगा, अव-पूर्वक **अवसिति**। क्षणु हिंसायाम् (क्षण्—नाश करना, क्षति करना, घाव करना)। **क्षणोति-क्षणुते**। इसी से **क्षत, क्षति क्षण** आदि शब्द निष्पन्न होते हैं। **इमां हृदि व्यायतपातमक्षणोत्** (कुमार० ५।५४)। (धनुः) **त्वं किलानमितपूर्वमक्षणोः** (रघु० ११।७२)। यहाँ **अक्षणोः**=अभनक्=तोड़ा। क्षिणु भी इसी अर्थ में। **शस्त्रेण रक्ष्यं यदशक्य-रक्षं न तद्यशः शस्त्रभृतां क्षिणोति** (रघु० २।४०)। क्षिणु—ति—यहाँ उ प्रत्यय परे लघूपध गुण प्राप्त होता है, पर **संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः** इस परिभाषा से नहीं होता, ऐसा आत्रेय आदि वैयाकरण मानते हैं। इगन्त अङ्ग को तिप् परे रहते गुण होकर 'क्षिणोति' ऐसा रूप सिद्ध होता है। दूसरे वैया-करण लघूपध गुण होता है ऐसा मानते हैं—क्षेणोति। ऐसा ही मतद्वैध अगली तीन धातुओं के विषय में समझें। **इमे सार्वधातुके सन्दिग्धगुणाः**— क्षीरस्वा-मी। ऋणु गतौ (ऋण्—जाना)। **ऋणोति**। **अर्णोति**। **ऋणुते**। इसी धातु से जलवाची **अर्णस्**(नपुं०)। व्युत्पन्न होता है। **अर्णांसि सन्त्यत्रेत्यर्णवः**। समुद्र। घृणु दीप्तौ (घृण्—चमकना)। **घृणोति**। **घर्णोति** (गुण)। **घृणुते**। **घृणि** नाम रश्मि का है—**किरणोस्र-मयूखांशु-गभस्ति-घृणि-रश्मयः** (अमर)। तृणु अदने (तृण्—खाना)—**तृणोति**। **तर्णोति**। **तृणं** घासः।

डुकृञ् करणे (कृ—करना) ञित्। उ०।

कृ उ ति(८०)=करोति। पहले उ प्रत्यय-निमित्तक कृ के ऋ को गुण हुआ, तब उ प्रत्ययान्त 'करु' को तिप् प्रत्यय-निमित्तक गुण हुआ। कुरुतः—यहाँ कर् उ तस् ऐसी अवस्था में(८१) से कर् के 'अ' को उ हुआ है। तस् अपित् सार्वधातुक है अतः इससे पूर्व उप्रत्ययान्त अङ्ग को गुण नहीं हुआ।

सूत्र में अकार के स्थाने में विहित 'उ' तपर पढ़ा है। तपर करने का प्रयोजन यह है कि इसे विकार न हो, अर्थात् प्राप्त उपधा-गुण न हो। सो उपधा गुण, कुर् के 'उ' को गुण नहीं हुआ। कृ उ अन्ति—कर् उ अन्ति= कु र् उ अन्ति(८१)। **कुर्वन्ति**। यहाँ यण् होकर धातु हलन्त (वकारान्त), रकारोपध बन जाती है, जिस की उपधा (रकार) से पूर्व इक् (उ) है, अतः (३७) से इक् को दीर्घ प्राप्त होता है। उस का शास्त्रकार निषेध करते हैं—

१५०—भसंज्ञक, कुर्, छुर् की उपधा को दीर्घ नहीं होता है[1]। **कुर्वन्ति**। (१६) से म्, व् परे होने पर प्रत्यय के 'उ' का विकल्प से लोप विधान किया है। कृ के विषय में सूत्र है—

१५१—कृ धातु से परे प्रत्यय के 'उ' का नित्य लोप होता है म्, व् परे रहते[2]। **कुर्वः। कुर्मः। कुर्वहे। कुर्महे।**

१५२—यकारादि प्रत्यय परे होने पर कृ से परे आये 'उ' प्रत्यय का लोप हो जाता है[3]—कृ उ यात्=कर् उ यात् (गुण)=कुर् उ यात्(८१)। **कुर्यात्** (१५२)।

कृ			कृ		
लट् प०			लट् आ०		
१ करोति	**कुरुतः**	**कुर्वन्ति**	**कुरुते** (८१)	**कुर्वाते**	**कुर्वते**
२ करोषि	**कुरुथः**	**कुरुथ**	**कुरुषे**	**कुर्वाथे**	**कुरुध्वे**
३ करोमि	**कुर्वः**	**कुर्मः**	**कुर्वे**	**कुर्वहे**	**कुर्महे**
लङ् प०			लङ् आ०		
१ अकरोत्	**अकुरुताम्**	**अकुर्वन्**	**अकुरुत**	**अकुर्वाताम्**	**अकुर्वत**
२ अकरोः	**अकुरुतम्**	**अकुरुत**	**अकुरुथाः**	**अकुर्वाथाम्**	**अकुरुध्वम्**
३ अकरवम् (गुण, अवादेश)	**अकुर्व**	**अकुर्म**	**अकुर्वि**	**अकुर्वहि**	**अकुर्महि**

---

१. न भ-कुर्-छुराम् (८।२।७९)।

२. नित्यं करोतेः (६।४।१०८)।

३. ये च (६।४।१०९)।

	लोट् प०			लोट् आ०	
१ करोतु, कुरुतात्	कुरुताम्	कुर्वन्तु	कुरुताम्	कुर्वाताम्	कुर्वताम्
२ कुरु, कुरुतात्	कुरुतम्	कुरुत	कुरुष्व	कुर्वाथाम्	कुरुध्वम्
३ करवाणि	करवाव	करवाम	करवै	करवावहै	करवामहै

'कुरु' में हि लुक् (जो ६।४।१०६ से होता है) आभीय है। कृ के 'अ' को 'उ' विधान करने वाला शास्त्र (६।४।११०) भी आभीय है। हि लुक् जो हो चुका है, उसके असिद्ध होने से कर् के 'अ' को सार्वधातुक अपित् (ङित्) प्रत्यय (हि) परे रहते 'उ' निर्बाध होता है।

करवाणि, करवै—आदि में आट् के पित् होने से उत्व का प्रसङ्ग ही नहीं। गुण होकर अवादेश होता है।

	विधिलिङ् प०			विधिलिङ् आ०	
१ कुर्यात्(१५२)	कुर्याताम्	कुर्युः	कुर्वीत	कुर्वीयाताम्	कुर्वीरन्
२ कुर्याः	कुर्यातम्	कुर्यात	कुर्वीथाः	कुर्वीयाथाम्	कुर्वीध्वम्
३ कुर्याम्	कुर्याव	कुर्याम	कुर्वीय	कुर्वीवहि	कुर्वीमहि

आत्मनेपद प्रत्ययों के अपित् होने से सर्वत्र (८१) से कर् के 'अ' को 'उ'। यण् विधि से उ को व्।

१५३—(क) परि, नि, वि—इन उपसर्गों से परे सेव्, सित, सय, सिव्, सह्, सुट् (आगम), स्तु, स्वञ्ज् के स् को ष् होता है। (ख) अट् आगम-कृत व्यवधान होने पर सिव् आदि के स् को ष् विकल्प से होता है। सूत्र में पढ़ी **सेव्** धातु के स् को तो नित्य ही ष् होता है। **पर्यषेवत**।

१५४—सम्, परि-पूर्वक कृ को सुट् (स्) आगम होता है भूषण=अलङ्करण तथा समवाय(एकत्र करना)अर्थ में।[२] सम्पूर्वक कृ को कहीं-कहीं अभू-

---

१. परिनिविभ्यः सेव-सित-सय-सिवु-सह-सुट्-स्तु-स्वञ्जाम् (८।३।७०) सिवादीनां वाड्व्यवायेपि (८।३।७१)।

२. सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे (६।१।१३७)। समवाये च (६।१।१३८)।

षण अर्थ में भी सुट् देखा जाता है । सूत्रकार ने 'संस्कृतं भक्षाः' सूत्र में पकाने अर्थ में भी सम्-स्कृ का प्रयोग किया है ।

सम् सुट् करोति=सँरु स् करोति । यहाँ समः सुटि (८।३।५) से बने म् के स्थान में रु (र्) को पाक्षिक विसर्जनीय न होकर नित्य ही स् होता है। रु(र्)या तो सानुनासिक होता है या इससे पर्व वर्ण को अनुस्वार आगम होता है—**सँस्स्करोति । संस्स्करोति** । ऐसा मत भी है कि सम् के म् का सुट् परे परे रहते लोप हो जाय । चूँकि यह लोप रुत्व-प्रकरण में ही कहा है अतः लोप होने पर पाक्षिक अनुनासिक व अनुस्वार होंगे—**सँस्करोति । संस्करोति । परि सुट् कृ उ ति=परिष्करोति** । अट् होने पर भी वैकल्पिक षत्व होगा—**पर्यस्करोत् । पर्यष्करोत् ।** सम् अट् सुट् करोत्=**समस्करोत्** । सुट् क् से पूर्व होता है ऐसा नियम है । अट्-कृत व्यवधान होने से सम् से परे सुट् नहीं रहा, अतः सम् को रु नहीं हुआ ।

१५५—उप उपसर्ग से परे कृ को सुट् आगम होता है प्रतियत्न (गुणाधान), वैकृत (विकार), वाक्याध्याहार (आकाङ्क्षित एकादेश की पूर्ति), तथा पूर्वोक्त भूषण और समवाय अर्थों में [1]। **एधो दकस्योपस्कुरुते**=ईंधन जल में नया गुण (उष्णता) लाता है । **उपस्कृतं भुङ्क्ते**=विकृत अन्न को खाता है । **उपस्कृतं ब्रूते**, आकाङ्क्षित वाक्यांश को पूर्ण कर के व्याख्यान करता है । **उपस्कृता कन्या**=अलङ्कृता कन्या । **उपस्कृता ब्राह्मणाः**=समवेताः=एकत्र हुए ।

अट् के व्यवधान होने पर भी सुट् क् से पूर्व होगा—**उपास्कुरुत कन्याम् अम्बा** । सुट् (१४४) । **इति तनादय उ-विकरणाः ।**

क्र्यादिगण (नवम गण)

१५३—क्री आदि धातुओं से कर्तृवाचक सार्वधातुक परे होने पर श्ना (ना) प्रत्यय आता है [2]। यह शप् का अपवाद है । श्ना अपित् सार्वधातुक है । अतः इस से पूर्व धातु को गुण नहीं होता ।

क्री श्ना ति=**क्रीणाति** । गुणाभाव । णत्व । **क्रीणीतः**(११७) । श्ना के आ को ई । क्री ना भि—यहाँ(झोऽन्तः)से झ् को अन्त आदेश पहले हो जाता है । (११७) से 'ई' पहले नहीं होता, कारण कि झ् को अन्त् आदेश-विधान

१. उपात्प्रतियत्न-वैकृत-वाक्याध्याहारेषु च (६।१।१३९) ।
२. क्र्यादिभ्यः श्ना (३।१।८१) ।

करने वाला शास्त्र (७।१।३) **पर** है और ई-विधायक (६।४।११३) पूर्व है। पूर्व की अपेक्षा पर शास्त्र बलवत्तर होता है। झोऽन्तः नित्य भी है। श्ना होने पर भी इसका प्रसङ्ग है और न होने पर भी। अल्पापेक्ष अन्तरङ्ग होता है और बह्वपेक्ष बहिरङ्ग। (७।१।३) केवल प्रत्यय के अवयव झ् को अन्त् आदेश विधान करता है, इसे कुछ भी अपेक्षित नहीं। (६।४।११३) को हलादि कित्, ङित् सार्वधातुक की अपेक्षा है, अतः यह बहिरङ्ग है। **असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे**, बहिरङ्ग के असिद्ध होने से अन्तरङ्ग शास्त्र प्रवृत्त होता है—क्रीणा अन्ति= **क्रीणन्ति** (९७)।

डुक्रीञ् द्रव्यविनिमये (क्री खरीदना)। ञित्। उ०।

	क्री लट् प०			क्री लट् आ०		
१	क्रीणाति	क्रीणीतः	क्रीणन्ति	क्रीणीते (९७)	क्रीणाते (९७)	क्रीणते (९७)
२	क्रीणासि	क्रीणीथः	क्रीणीथ	क्रीणीषे	क्रीणाथे	क्रीणीध्वे (११८)
३	क्रीणामि	क्रीणीवः (११७)	क्रीणीमः	क्रीणे (९७)	क्रीणीवहे	क्रीणीमहे

	लङ् प०			लङ् आ०		
१	अक्रीणात्	अक्रीणीताम्	अक्रीणन्	अक्रीणीत	अक्रीणाताम् (९७)	अक्रीणत (९७)
२	अक्रीणाः	अक्रीणीतम्	अक्रीणीत	अक्रीणीथाः	अक्रीणाथाम्	अक्रीणी-ध्वम्
३	अक्रीणाम्	अक्रीणीव	अक्रीणीम	अक्रीणि (९७)	अक्रीणीवहि	अक्री-णीमहि

	लोट् प०			लोट् आ०		
१	क्रीणातु	क्रीणीताम्	क्रीणन्तु	क्रीणीताम्	क्रीणाताम्	क्रीणताम्
२	क्रीणीहि, क्रीणीतात् (९७)	क्रीणीतम्	क्रीणीत	क्रीणीष्व	क्रीणाथाम्	क्रीणी-ध्वम्
३	क्रीणानि	क्रीणाव	क्रीणाम	क्रीणै	क्रीणावहै	क्रीणामहै

विधिलिङ् प०			विधिलिङ् आ०		
१ क्रीणीयात्	क्रीणीयाताम्	क्रीणीयुः	क्रीणीत	क्रीणीयाताम्	क्रीणीरन्
२ क्रणीयाः	क्रीणीयातम्	क्रीणीयात	क्रीणीथाः	क्रीणीयाथाम्	क्रीणीध्वम्
३ क्रीणीयाम्	क्रीणीयाव	क्रीणीयाम	क्रीणीय	क्रीणीवहि	क्रीणीमहि

क्रीणानि, क्रीणै आदि में आट् के पित् होने से और प्रत्यय के अजादि होने से ईत्व का प्रसङ्ग ही नहीं, और आट् के पित् होने से आलोप का भी प्रसङ्ग नहीं। **क्रीणीयात्, क्रीणीत** आदि में यथाप्राप्त ईत्व हुआ है।

प्रीञ् तर्पणे कान्तौ च (प्री—प्रसन्न करना, चाहना)। ञित्। उ०। **प्रीणाति—प्रीणीते। प्रीणाति यः सुचरितैः पितरं स पुत्रः।** (भर्तृ० २।६८) कान्ति (कामना) अर्थ में प्रयोग दुर्लभ है। यह धातु सकर्मक है। श्रीञ् पाके (श्री—पकाना)। ञित्। उ० **श्रीणाति—श्रीणीते। गोभिः श्रीणीत मत्सरम्** (ऋ० ९।४६।४)। गव्य दुग्ध के साथ सोम को उबाले। मीञ् हिंसायाम् (मी—मारना)। ञित्। उ०। **प्रमीणाति** (१३४)। **मीनाति—मीनीते**। मी का प्रयोग प्रायः प्रपूर्वक होता है—**प्रमिनती मनुष्या युगानि** (ऋ० १।९२। ११)। वेद में मी को ह्रस्व होता है, लोक में नहीं। षिञ् बन्धने (सि—बांधना)। ञित्। उ० **सिनाति—सिनीते**। विपूर्वक—**विसिनाति–विसिनीते** (खोलता है)। स्कुञ् आप्रवणे (स्कु—ऊपर को छलांग लगाना, उछलना)। ञित्। उ०। **स्कुनाति—स्कुनीते**। इससे श्नु प्रत्यय भी आता है—**स्कुनोति—स्कुनुते**। युञ् बन्धने (यु—बाँधना)। ञित्। उ०। **युनाति—युनीते**।

प्वादि (पूआदि) अवान्तर गण

१५७—पू आदि धातुओं को शित् प्रत्यय परे रहते ह्रस्व होता है [१]। पू श्ना ति=**पुनाति**। पू श्ना ते=**पुनीते**। **अपुनात्**। **पुनातु**। **पुनीतात्**। **पुनीताम्**। **पुनीयात्**। **पुनीत**। येन पुनाति तत् पवित्रम्, जिसे छानता है, उसे 'पवित्र' कहते हैं। **पाप्मभ्यश्च पुनातु वर्धयतु च श्रेयांसि सेयं कथा**(उ०रा० च ७।२०)। **वस्त्रपूतं जलं पिबेत्** (मनु० ६।४६)। लूञ् छेदने (लू—काटना)। ञित्। उ०। **लुनाति—लुनीते। सस्यं लुनातीति सस्यलावः। शरासनज्यामलुनाद्बिडौजसः** (रघु० ३।५९)। **पुरीमवस्कन्द लुनीहि नन्दनम्** (माघ १।५१)। स्तृञ्

१. प्वादीनां ह्रस्वः (७।३।८०)।

आच्छादने (स्तॄ—ढाँपना)। उ०। **स्तृणाति—स्तृणीते**। स्तॄ का प्रयोग प्रायः आङ्, अव, वि आदि के साथ होता है—**आस्तृणाति**। **अवस्तृणाति**। **विस्तृणाति**। **आस्तरणम्** =प्रच्छदपटः। **क्व शय्याऽऽस्तीर्णा**,शय्या कहाँ बिछाई गई है? **मेघैः सान्द्रैरवस्तीर्णं नभोमण्डलम्**। कॄञ् हिंसायाम् (कॄ—नाश करना)। ञित्। उ०। **कृणाति—कृणीते**। भा० १२।१२८।४ में **आशाकृतः =आशया कृतः**=हतः(नीलकण्ठ)। कॄ हिंसायाम् इत्यस्य रूपम् (नीलकण्ठ)। यह भ्रान्ति है। कॄ का क्तान्त 'कीर्ण' होता है, 'कृत' नहीं। स्वादि कृञ् से तो क्तान्त 'कृत' साधु होगा। वॄञ् वरणे (वॄ—ढाँपना। ञित्। उ०। **वृणाति**। **वृणीते**। **आवृणाति**। **आवृणीते**। **प्रावृणाति**। **प्रावृणीते**। धूञ् कम्पने (धू—हिलाना)। ञित्। उ०। **धुनाति**। **धुनीते**। **आधुनाति**। **आधुनीते**। **अवधुनाति**। **अवधुनीते**।

यहाँ से आगे वृङ्, ग्रह् को छोड़कर गणान्त तक सभी धातुएँ परस्मैपदी हैं।

शॄ हिंसायाम् (शॄ—नष्ट करना)। उपसर्ग-रहित यह धातु सकर्मक है। **शृणाति हिनस्तीति** शरुः। **शृणातीत्येवंशीलः** शरारुः, घातुकः। **शृणाति हिनस्ति (विरोधिनम्, प्रतिकूलवेदनीयम्) इति शरणम्**। बाहुलकात् (३।३।११३)। कर्तरि ल्युट्। **त्वामहं प्रपद्ये शरणम्**=त्रातारम्। पर विपूर्वक इसका अकर्मकतया प्रयोग बहुत उपलब्ध होता है—**अनेन दण्डकारण्ये विशीर्णमिह पक्षिणा** (रा० ३।६८।२०)। **विशरारोर्जटाकलापस्य** (हर्ष० उ० १)—**विशरारोः**=विस्रंसमानस्य। **शृणातु**। **शृणीतात्**। **शृणीहि**। **शृणीतात्**। **शृणानि**। **शृणाव**। पॄ पालनपूरणयोः (पॄ—रक्षा करना, पूर्ण करना)। **पृणाति**। **पृणीते**। भॄ भर्त्सने भरणेप्येके (भॄ—झिड़कना, भरना)। **भृणाति**। मॄ हिंसायाम् (मॄ—मारना)। मृणाति। **तेनारभस्व त्वं शत्रून् प्र मृणीहि दुरस्यतः** (अथर्व० १०।३।१)। दॄ विदारणे (दॄ—फाड़ना)। **दृणाति**। यह धातु सकर्मक है। **न दीर्यें कठिनाः खलु स्त्रियः**। (कुमार ४।)। **कथमेवं प्रलपतां वः सहस्रधा न दीर्णमनया जिह्वया** (विक्रमो० ३)—यहाँ अकर्मकतया प्रयोग हुआ है। अथवा दिवादि आकृतिगण है ऐसा मानने से दिवादियों में पाठ होने से अकर्मक हो जाती है। जॄ वयोहानौ (जॄ—जीर्ण होना, बूढ़ा होना)। **जृणाति**=जीर्यति (दिवा०)। माधव के अनुसार श्नाविकरणक जॄ धातु नहीं है। नॄ नये (नॄ—ले जाना)। **नृणातीति नरः** (नेता)। ॠ गतौ

(ऋ—जाना) । **ऋणाति । आर्णात् ।** लङ् । **आर्णीताम् ।** आट् । वृद्धि । गॄ शब्दे (गॄ—बोलना, कहना, उपदेश करना) **गृणातीति गुरुः ।** गॄ—क्विप्=गिर्=वाणी । **अव-पूर्वक इसका प्रयोग नहीं होता ऐसा भाष्यकार का कहना है । नित्यः शब्द इति संगृणते वैयाकरणाः ।** वैयाकरणों की प्रतिज्ञा है कि शब्द नित्य है । सम्पूर्वक गॄ प्रतिज्ञा अर्थ में आत्मनेपदी है । ज्या वयोहानौ । अर्थ निर्देश के अनुसार यह धातु अकर्मक होनी चाहिए, पर इसका प्रयोग प्रायः वेद में ही मिलता है और वहाँ यह सर्वत्र सकर्मक है और हिंसा अर्थ है ।

१५८—अङ्गावयव-भूत जो हल् उससे परे जो सम्प्रसारण उसे दीर्घ हो जाता है ।[1] ज्या श्ना ति=जिनाति (सम्प्रसारण तथा पूर्वरूप)=जीनाति (१५८)=**जिनाति** (१५७) । **जिनीतः । जिनन्ति । यदा वै राजा कामयतेऽथ ब्राह्मणं जिनाति पापीयांस्तु भवति ।** (श० ब्रा० १३।१।५।८) । **न तं जिनन्ति बहवो न दभ्राः** (ऋ० ४।२५।५) । **राजापारां विशं प्रावसायाप्येकवेश्मनैव जिनाति** (श० ब्रा० १।३।२।१४) । **अपेन्द्र द्विषतो मनोऽप जिज्यासतो वधम् ।** ...**वरीयो यावया वधम्** (अथर्व० १।२१।४) ।। इस धातु की सकर्मकता में प्रमाणान्तर भी है—'सर्वत्र प्रसारणिभ्यो डः' इस वार्तिक का कौमुदीस्थ उदाहरण है—**ब्रह्मज्यः**, जिसका विग्रह है—**ब्रह्म जिनातीति ।** री गतिरेषणयोः (री—जाना, भेड़िये का शब्द करना) । **रिणाति । अरिणात् । रिणीहि ।** ऐसा धातुविषयक निष्कर्ष है कि जब एक धातु दिवादि भी है और गणान्तर-पठित भी है और अर्थ भी समान है तब दिवादि अकर्मक होती है और गणान्तर-पठित सकर्मक । रीङ् गत्यर्थक दिवादि अकर्मक है, उसका बहना अर्थ है । अतः यह श्नाविकरणक री सकर्मक है, इसका बहाना अर्थ है—**अहन्नहिमरिणात् सप्त सिन्धून्** (ऋ० १०।६७।१२) । ली श्लेषणे ली—जोड़ना) । सकर्मक । लीङ् श्लेषणे दिवादि अकर्मक है । **लिनाति । अलिनात् । लिनातु । लिनीहि ।** विपूर्वक इसका अर्थ पिघलाना होता है—**विलिनाति घृतम् ।** व्ली वरणे (व्ली—पसन्द करना, चाहना) । **य एवं विद्वान् व्यावृत्य दक्षिणां प्रतिगृह्णाति, नैनं दक्षिणा व्लीनाति** (तै० ब्रा० २।२।५।१) । यहाँ ह्रस्वाभाव छान्दस है । शतपथ (१।६।३।३१) में व्लिनाति पाठ है । प्ली गतौ (प्ली—जाना) । **प्लिनाति ।**

---

१. हलः (६।४।२) ।

यहाँ ल्वादि (लू आदि) धातुएँ समाप्त हुईं। कई लोगों के मत में प्वादि भी समाप्त हुईं। अतः अगली तीन धातुओं को उनके मत में ह्रस्व नहीं होता—व्री वरणे—**व्रीणाति।** **व्रिणाति।** भ्री भये। भरण इत्येके—**भ्रिणाति।** **भ्रीणाति।** क्षीष् हिंसायाम् (क्षी—नष्ट करना)। **क्षीणाति।** **क्षिणाति।** ज्ञा अवबोधने। इसे (१२७) से 'जा' आदेश होता है। दीर्घ निर्देश (जा) के सामर्थ्य से (१५७) ह्रस्व नहीं होता—**जानाति।** **जानीतः।** **जानन्ति।** **अजानात्।** **अजानीताम्।** **अजानन्।** **अजानाः।** **अजानीतम्।** **अजानीत।** **अजानाम्।** **अजानीव।** **अजानीम।** **जानातु।** **जानीतात्।** **जानीहि।** **जानीतात्।** **जानीयात्** इत्यादि। **विजानाति,** विशेष रूप से जानता है। **तथा तथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते** (दीप्यते) मनु० ४।२०। **अवजानाति,** अवज्ञा, तिरस्कार करता है। **अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्** (गीता)। **संजानाति मातरम्,** माता को उत्सुकता से स्मरण करता है। **अनुजानीहि मां गमनाय,** मुझे जाने की अनुमति दीजिए।

यहाँ प्वादि धातुएँ समाप्त हुईं।

१५९—हल् से परे श्ना को शानच् (आन) आदेश होता है 'हि' परे होने पर[1]।

बन्ध बन्धने (बन्ध्—बाँधना) पा०

	लट्			लङ्	
१ बध्नाति (१३१)	बध्नीतः	बध्नन्ति	अबध्नात्	अबध्नीताम्	अबध्नन्
२ बध्नासि	बध्नीथः	बध्नीथ	अबध्नाः	अबध्नीतम्	अबध्नीत
३ बध्नामि	बध्नीवः	बध्नीमः	अबध्नाम्	अबध्नीव	अबध्नीम

	लोट्			विधिलिङ्	
१ बध्नातु	बध्नीताम्	बध्नन्तु	बध्नीयात्	बध्नीयाताम्	बध्नीयुः
२ बधान (१५९)	बध्नीतम्	बध्नीत	बध्नीयाः	बध्नीयातम्	बध्नीयात
३ बध्नानि (१३१)	बध्नाव	बध्नाम	बध्नीयाम्	बध्नीयाव	बध्नीयाम

---

१. हलः श्नः शानज्झौ (३।१।८३)।

बधान—यहाँ बन्ध् हि। बन्ध् ना हि। बध्ना हि, (१३१)से उपधा **न्** का लोप। बध् आन हि (१५६)=बधान। अदन्त अङ्ग से परे 'हि' का लुक्। अनुबन्ध्–पीछा करना, बार-बार पूछना=**अनुबध्यमाना सा स्वं वृत्तं लेशतोऽब्रूत।** निर् बन्ध्—हठ करना। **वार्यमाणोप्येष युवा निर्बध्नाति, वामाऽस्य चेतसो वृत्तिः। सानुबन्धाः कथं न स्युः सम्पदो मे निरापदः** (रघु० १।६४)। **सानु-बन्धाः**=निरन्तराः। **प्रबन्धः=अनुबन्धः।** संस्कृत में इसका ऐसा अर्थ है, बन्दोबस्त करना अर्थ कहीं भी नहीं। श्रन्थ विमोचनप्रतिहर्षयोः (श्रन्थ्—खोलना गाँठ आदि का, पुनः पुनः प्रसन्न करना)। **श्रथ्नाति। अश्रथ्नात्। श्रथ्नातु। श्रथान। श्रथ्नीयात्।** मन्थ बिलोडने (मन्थ्—बिलोना)। **मथ्नाति। मथ्नीतः। मथ्नन्ति। अमथ्नात्। मथान। मथ्नीयात्। दधि नवनीतं मथ्नाति।** दही को मथकर मक्खन निकालता है। **क्षीराम्बुधिं सुधां मथ्नन्ति सुरासुराः।** मृद क्षोदे (मृद्—मसलना, सूक्ष्म करना)। **लोष्टं मृद्नाति। इममश्मानं मृदान शक्नोषि चेत्।** मृड सुखे। **मृड्णाति**=सुखयति, सुख देता है। गुध रोषे (गुध्—क्रोध करना)। **गुध्नाति**=रुष्यति। कुष निष्कर्षे (कुष्—अन्तःस्थित आँतडी आदि को बाहिर निकालना)। प्रायः इसका निर्-पूर्वक प्रयोग देखा जाता है—**कुष्णाति। जीवन्तमेव कुष्णाति वृकीव कुटुम्बिनी** (क० स० सा० २३।२७)। **निष्कुष्णाति। कुषाण। निष्कुषाण।**

क्षुभ संचलने (क्षुभ्—हिलना, क्षुभित, अशान्त होना)। **क्षुभ्नाति मारुता-हतो गभीरोपि समुद्रः।** क्षुभ्नाति में णत्व क्यों नहीं हुआ ? उत्तर—

१६०—'क्षुभ्ना' इत्यादि में निमित्त होने पर भी 'न्' को ण् नहीं होता।[1]

नृनमनः। गिरिनगरम्। नरीनृत्यते। तृप्नोति। आचार्यभोगीनः। आ-चार्यानी।

क्षुभ्नाति। क्षुभ्नीतः। क्षुभ्नन्ति। क्षुभाण (लोट० म० पु० एक०)। णभ तुभ हिंसायाम्। **नभ्नाति। तुभ्नाति। नभते। तोभते** (शप् परे)। **नभ्यति। तुभ्यति** (श्यन् परे होने पर)। क्लिशू विबाधने (क्लिश्—पीड़ित करना) ऊदित्। **क्लिश्नाति।** शात् (८।४।४४) से 'श्' से परे श्चुत्व विधि से **न्** को ञ् नहीं होता। **एवमाराध्यमानोपि क्लिश्नाति भुवनत्रयम्** (कुमार० २।४०)। अश भोजने (अश्—खाना)। **अश्नाति। अश्नीतः। अश्नन्ति। आश्नात्**

१. क्षुभ्नादिषु च (८।४।३९)।

(आट्, वृद्धि)। **अश्नातु**। **अश्नीतात्**। **अशान**। **अपोऽशान, तृष्यसि चेत्**, यदि प्यास है तो पानी पी लो। **तिष्ठतु दध्यशान त्वं शाकेन,** दही रहने दो, तुम शाक से खा लो। इष आभीक्ष्ण्ये (इष् बार-बार करना)। विवक्षित क्रिया-विशेष का प्रकरणादि से बोध होगा—**पुर इष्णासि पुरुहूत पूर्वीः** (ऋ० १।६३।२)। आसुरीणां पुरां हननादिरर्थो गम्यत इति भाष्यम्। विष विप्रयोगे (विष्—जुदा करना)। **विष्णाति**। प्रुष प्लुष स्नेहन-सेवन-पूरणेषु (प्रुष्, प्लुष्—चिकना करना, सेवन करना, पूर्ण करना)। **प्रुष्णाति**। **प्लुष्णाति**। पुष पुष्टौ (पुष्—पुष्ट करना)। सकर्मक। **पुष्णाति**। **अपुष्णात्**। **पुष्णातु**। **पुष्णीतात्**। **पुषाण**। **पुष्णीतात्**। **पुष्णीयात्**। **न हीश्वरव्याहृतयः कदाचित्पुष्णन्ति लोके विपरीतमर्थम्**(कुमार० ३।६३)। मुष स्तेये(मुष्, चुराना, छीनना)। **मुष्णाति**। **अमुष्णात्**। **मुष्णातु**। **मुष्णीतात्**। **मुषाण**। **मुष्णीतात्**। **मुष्णीयात्**। खच भूतप्रादुर्भावे (खच्—अतिक्रान्त का पुनर्जन्म, प्रकट होना)। **खच्ञाति**। श्चुत्व विधि से 'न्' को 'ञ्'। खव भूतप्रादुर्भावे ऐसा भी पाठ है। खव् ना ति=ख ऊ ना ति=**खौनाति**। यहाँ वक्ष्यमाण शास्त्र से व् को ऊठ्।

१६१—सतुक्क (तुक्-सहित) छ् को श् और व् को ऊठ् (ऊ) हो जाता है झलादि कित् ङित्, क्विप् प्रत्यय तथा अनुनासिक परे होने पर[1]—खव् ना ति=ख ऊ ना ति=**खौनाति**। ऊठ् परे रहते पूर्व 'अ' तथा 'ऊ' के स्थान में वृद्धि एकादेश होता है। खव् श्ना हि। शानच्-विधायक शास्त्र (३।१।८३) से ऊठ्-विधायक शास्त्र (६।४।१९) परे है अतः पहले ऊठ् होगा। उठ् हो जाने से अङ्ग के हलन्त न रहने से 'हि' को शानच् आदेश की प्राप्ति ही नहीं रहती। **खौनीहि**।

यहाँ गणपठित परस्मैपदी धातुएँ समाप्त हुईं।

वृङ् संभक्तौ (वृ—वरना, वर लेना)। ङित्। आ०

वृणीते। **वृणाते**। **वृणते**। **अवृणीत**। **अवृणाताम्**। **अवृणत**। **वृणीष्व**। **वृणीत**। **वृणीयाताम्**। **वृणते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः** (किरात० १।३०)।

---

१. च्छ्वोः शूडनुनासिके च (६।४।१९)।

ग्रह उपादाने (ग्रह्—ग्रहण करना, लेना, पकड़ा) । स्वरितेत् । उ० ।

	लट् प०			*लङ् प०*	
१ गृह्णाति (१२८)	गृह्णीतः	गृह्णन्ति	अगृह्णात्	अगृह्णीताम्	अगृह्णन्
२ गृह्णासि	गृह्णीथः	गृह्णीथ	अगृह्णाः	अगृह्णीतम्	अगृह्णीत
३ गृह्णामि	गृह्णीवः	गृह्णीमः	अगृह्णाम्	अगृह्णीव	अगृह्णीम

	लोट् प०			*विधिलिङ् प०*	
१ गृह्णातु, गृह्णीतात्	गृह्णीताम्	गृह्णन्तु	गृह्णीयात्	गृह्णीयाताम्	गृह्णीयुः
२ गृहाण, गृह्णीतात्	गृह्णीतम्	गृह्णीत	गृह्णीयाः	गृह्णीयातम्	गृह्णीयात
३ गृह्णानि	गृह्णाव	गृह्णाम	गृह्णीयाम्	गृह्णीयाव	गृह्णीयाम

	लट् आ०			*लङ् आ०*	
१ गृह्णीते	गृह्णाते	गृह्णते	अगृह्णीत	अगृह्णाताम्	अगृह्णत
२ गृह्णीषे	गृह्णाथे	गृह्णीध्वे	अगृह्णीथाः	अगृह्णाथाम्	अगृह्णीध्वम्
३ गृह्णे	गृह्णीवहे	गृह्णीमहे	अगृह्णि	अगृह्णीवहि	अगृह्णीमहि

	लोट् आ०			*विधिलिङ् आ०*	
१ गृह्णीताम्	गृह्णाताम्	गृह्णताम्	गृह्णीत	गृह्णीयाताम्	गृह्णीरन्
२ गृह्णीष्व	गृह्णाथाम्	गृह्णीध्वम्	गृह्णीथाः	गृह्णीयाथाम्	गृह्णीध्वम्
३ गृह्णै	गृह्णावहै	गृह्णामहै	गृह्णीय	गृह्णीवहि	गृह्णीमहि

अन्यथा गृह्णात्यर्थमन्यथा च व्याख्याति । दृष्टिपूतं न्यसेत् पादमित्यत्र न्यसेः श्यन्कुतो नेति चेत् । गणकार्यमनित्यमिति गृहाण । प्रकृतिं प्रत्ययतोऽवगृह्णाति विप्रः, (जुदा करता है) । **राज्ञः प्रतिग्रहोऽयमिति न परिगृह्णाति विप्रः,** यह राजा की ओर से दान है, अतः ब्राह्मण इसे स्वीकार नहीं करता । **परिगृहाण गते सहकारतां त्वमतिमुक्तलताचरितं मयि** (मालविका) । **शिलातलैकदेशमनुगृह्णातु वयस्यः** (शाकुन्तल), वयस्य (सखे) आप इस शिलातल के एकभाग पर बैठने की कृपा करें । **अनुगृहीतोऽहमनया मघवतः संभावनया** (शाकुन्तल ६), मैं महेन्द्र के इस सत्कार से अनुगृहीत हूँ । **बलवताऽरिणा न विगृह्णीयात् । यदि शताब्दीति समासं यथाशास्त्रं विगृह्णासि, पारितोषिकं ते ददामि । अर्था अनर्थसंश्रया इति नातिसंगृह्णीयादमून् ।**

यहाँ गण-पठित धातुएँ समाप्त हुईं ।

सौत्र धातुएँ—

१६२—स्तन्भु, स्तुन्भु, स्कन्भु, स्कुन्भु तथा स्कुञ् से शप् के स्थान में श्ना होता है और श्नु भी।[1] इनमें पहली चार सौत्र हैं। ये चारों उदित् परस्मैपदी हैं। इन सबका 'रोकना' अर्थ है ऐसा कुछ लोगों का मत है। माधव तो प्रथम व तृतीय का स्तम्भन (रोधन) अर्थ मानता है, द्वितीय का निष्कोषण (बहिर्निःसारण) और चतुर्थ का धारण अर्थ मानता है। **स्तभ्नाति। स्तभ्नोति। स्तुभ्नाति। स्तुभ्नोति। स्कभ्नाति। स्कभ्नोति। स्कुभ्नाति। स्कुभ्नोति।** इन सबमें (१३१) से उपधा-भूत 'न्' का लोप हुआ है।

१६३—स्तन्भु के स् को मूर्धन्य (ष्) हो जाता है उपसर्गस्थ निमित्त होने पर[2]—**प्रतिष्टभ्नाति। प्रतिष्टभ्नोति। बाहुप्रतिष्टम्भः**=बाँह का जकड़े जाना।

१६४—आलम्बन (सहारा लेना) तथा आविदूर्य (सामीप्य) अर्थों के गम्यमान होने पर अव-पूर्वक स्तन्भु के स् को भी ष् हो जाता है[3]—**अवष्टभ्यास्ते।** सहारा लेकर बैठता है। **प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः** (गीता ९।८)। **अवष्टभ्य तिष्ठति। अवष्टब्धा सेना**=अदूरे वर्तमाना।

१६५—वि-पूर्वक स्कन्भु धातु के स् को नित्य षत्व होता है[4]—**विष्कभ्नाति। विष्कभ्नोति। विष्कम्भोऽर्गलं न ना** (अमर)।

इति क्र्यादयः श्नाविकरणाः।

चुरादिगण (दशम गण)

१६६—चुरादि धातुओं से णिच् (इ) प्रत्यय आता है।[5] जिस प्रत्यय का विधान करते समय अर्थ-निर्देश न किया हो वह स्वार्थ में होता है, प्रकृति के अपने अर्थ में होता है, वहां प्रत्यय का अपना कुछ अर्थ नहीं होता। **अनिर्दिष्टार्थाश्च प्रत्ययाः स्वार्थे।** धातु से णिच् आने पर णिजन्त (ण्यन्त) भी एक नई

१. स्तन्भु-स्तुन्भु-स्कन्भु-स्कुन्भु-स्कुञ्भ्यः श्नुश्च (३।१।८२)।
२. स्तन्भेः (८।३।६७)।
३. अवाच्चावलम्बनाविदूर्ययोः (८।३।६८)।
४. वेः स्कभ्नातेर्नित्यम् (८।३।७७)।
५. ......चुरादिभ्यो णिच् (३।१।२५)।

धातु बन जाती है। ऐसे और भी प्रत्यय हैं जिनके आने पर प्रत्ययान्त की धातु-संज्ञा होती है। वे आगे दिए जाते हैं—

१६७—सन् आदि प्रत्ययान्त शब्दों की धातु संज्ञा है।[1] वे सन् आदि ये हैं—

सन्क्यच्-काम्यच्-क्यङ्-क्यषोऽथाचारक्विप्-णिज्यङौ तथा।
यगाय ईयङ् णिङ् चेति द्वादशामी सनादयः॥

सन्, क्यच्, काम्यच्, क्यङ्, क्यष्, क्विप् (आचार अर्थ में), **णिच्, यङ्,** यक् (कण्डु आदि से), ईयङ्, णिङ्—ये बारह सनादि प्रत्यय हैं।

णिच् में ण् इत् है, यह वृद्ध्यर्थ अनुबन्ध है। च् भी इत् है। यह स्वर के लिये है। चितः (६।१।१६३) से चित्प्रत्ययान्त अन्तोदात्त होता है।

१६८—अजन्त अङ्ग को ञित्, णित् प्रत्यय परे होने पर वृद्धि होती है।[2]

१६९—अङ्ग की उपधा 'अ' को वृद्धि होती है ञित्, णित् प्रत्यय परे रहते।[3]

१७०—णिजन्त धातु से क्रियाफल के कर्तृ-गामी होने पर आत्मनेपद प्रत्यय आते हैं[4], अन्यथा शेषात्कर्तरि परस्मैपदम् (१।३।७८) से परस्मैपद।

चुर स्तेये (चुर्—चुराना, सकर्मक)। चुर् णिच्=चुर् इ=चोरि। गुण (३)। चोरि—यह (१६७) से धातु है। चोरि शप् (अ) ति (७)। चोरे अ ति (गुण, २)=**चोरयति**। आत्मनेपद में **चोरयते** (१७०)।

चुर स्तेये (चुर्—चुराना)

	लट् प०			लट् आ०		
१	**चोरयति**	**चोरयतः**	**चोरयन्ति**(८)	**चोरयते**	**चोरयेते**	**चोरयन्ते**
१	**चोरयसि**	**चोरयथः**	**चोरयथ**	**चोरयसे**	**चोरयेथे**	**चोरयध्वे**
३	**चोरयामि**(९)	**चोरयावः**	**चोरयामः**	**चोरये**	**चोरयावहे**	**चोरयामहे**

१. सनाद्यन्ता धातवः (३।१।३२)।
२. अचो ञ्णिति (७।२।११५)।
३. अत उपधायाः (७।२।११६)।
४. णिचश्च (१।३।७४)।

	लङ् प०			लङ् आ०	
१ अचोरयत्	अचोरयताम्	अचोरयन्	अचोरयत	अचोरयेताम्	अचोरयन्त
२ अचोरयः	अचोरयतम्	अचोरयत	अचोरयथाः	अचोरयेथाम्	अचोरयध्वम्
३ अचोरयम्	अचोरयाव	अचोरयाम	अचोरये	अचोरयावहि	अचोरयामहि

	लोट् प०			लोट् आ०	
१ चोरयतु, चोरयतात्	चोरयताम्	चोरयन्तु	चोरयताम्	चोरयेताम्	चोरयन्ताम्
२ चोरय, चोरयतात्	चोरयतम्	चोरयत	चोरयस्व	चोरयेथाम्	चोरयध्वम्
३ चोरयाणि	चोरयाव	चोरयाम	चोरयै	चोरयावहै	चोरयामहै

	विधिलिङ् प०			विधिलिङ् आ०	
१ चोरयेत्	चोरयेताम्	चोरयेयुः	चोरयेत	चोरयेयाताम्	चोरयेरन्
२ चोरयेः	चोरयेतम्	चोरयेत	चोरयेथाः	चोरयेयाथाम्	चोरयेध्वम्
३ चोरयेयम्	चोरयेव	चोरयेम	चोरयेय	चोरयेवहि	चोरयेमहि

णिजन्त धातु से परे शप् आने से तिप् आदि प्रत्ययों से पूर्व अंग अदन्त (ह्रस्वाकारान्त) बन जाता है, जिससे आताम्, आथाम् आदि प्रत्ययों में वही परिवर्तन होते हैं जो भ्वादिगणीय धातुओं से परे होते हैं।

सामान्यतः स्वार्थ-णिजन्त चुरादिगणीय धातुओं की वैसी ही तिङन्त-रूप-रचना होती है जैसी शप्-विकरणक भ्वादिगणीय धातुओं की।

चिति स्मृत्याम् (चित्—स्मरण करना, चिन्तन करना)। धातु इदित् है अतः णिच् आने से पहले ही उपदेशावस्था में ही नुम् हो जाता है। इदित् करने से यह ज्ञापित होता है कि इससे णिच् विकल्प से आता है। अन्यथा चिन्त स्मृत्याम् ऐसा ही पढ़ देते। णिच् के नित्य होने से इससे परे कित् ङित् प्रत्यय मिलना ही न था, जिससे (१३१) से उपधा-न् का लोप नहीं होना था। तो इदित् किस लिये पढ़ा? इसलिए कि इदित् न पढ़ने पर (अर्थात् चिन्त् पढ़ने पर) और णिच् न होने पर न्-लोप हो जाता। **चिन्तयति—चिन्तयते। चिन्तति।** यहाँ आत्मनेपद-निमित्त के अभाव में परस्मैपद ही आता है। यत्रि (यन्त्र्) संकोचे (यन्त्र्—नियम में रखना,

वश में रखना)। **यन्त्रयति—यन्त्रयते**। यहाँ इदित्-करण व्यर्थ है। ज्ञापनार्थ नहीं है, क्योंकि यन्त्र संकोचे ऐसा पढ़ने से भी (१३१) से न्-लोप नहीं हो सकता है, न् के उपधा न होने से। ऐसा ही वक्ष्यमाण तत्रि, मत्रि धातुओं के विषय में जानें। लक्ष दर्शनाङ्कनयोः (लक्ष्—देखना, अङ्क लगाना)। **लक्षयति—लक्षयते**। उपधा 'अ' न होने से (१६६) की प्रवृत्ति नहीं होती। **अलक्षयत्—अलक्षयत**। **लक्षयतु—लक्षयताम्**। **लक्षयेत्—लक्षयेत**। जल अपवारणे (जल्—परे हटाना)। **जालयति—जालयते** (१६८)। पीड अवगाहने (पीड्—भीतर घुस कर पीड़ा देना)। अवगाहन का अन्यत्र नीचे जाना, डुबकी लगाना आदि अर्थ होता है, पर पीड् का ऐसा अर्थ होता नहीं, अतः ऐसा व्याख्यान किया है। **पीडयति—पीडयते**। उपधा दीर्घ होने से गुण नहीं हुआ। पीड् का आङ्, निस्, उप-पूर्वक प्रयोग देखा जाता है। **निष्पीडयति स्नानीयां शाटिकामाप्लुतः**, स्नान करके धोती को निचोड़ता है। **उपपीडयन्ति जनपदं दस्यवः**, डाकू देहात को पीड़ित करते हैं। नट अवस्यन्दने (नट्—नाचना)। **नाटयति-नाटयते** (१६६)। इस का अभिनय करना भी अर्थ है—**क्रोधं नाटयति**। श्रथ प्रयत्ने (श्रथ्—यत्न करना)। **श्राथयति —श्राथयते**। बध संयमने (बध्—बाँधना)। **बाधयति—बाधयते**। पॄ पूरणे (पॄ—पूर्ण करना)। पॄ णिच् =पारि। (१६८) से वृद्धि। पारि अ ति =पारे अति (२)। **पारयति**। दीर्घ (पॄ) पाठ-सामर्थ्य से यह ज्ञापित होता है कि इससे णिच् पाक्षिक होता है, नित्य नहीं। नित्य णिच् होता तो पृ (ह्रस्व) पढ़ने पर भी वृद्धि होकर इष्टरूपसिद्धि हो जाती, पर तास् प्रत्यय परे रहते इडागम न हो सकता। परिता, परीता रूप न बनते। अतः णिच् के अभाव में शप् होकर **परति, परतः, परन्ति** आदि रूप होंगे। ऊर्ज बल-प्राणनयोः (ऊर्ज्—पुष्ट करना, पुष्ट होना, जीना)। **ऊर्जयति—ऊर्जयते**। **और्जयत्**। **और्जयत** (लङ्)। आट्। वृद्धि एकादेश। पक्ष परिग्रहे(पक्ष्—अपनाना)। **पक्षयति—पक्षयते**। **मां पक्षयन्ति भवन्त इति महान्मय्यनुग्रहः**। प्रथ प्रख्याने (प्रथ्—प्रसिद्ध करना)। **दयादाक्षिण्यादयो गुणाः प्राथयन्ति तं लोके**। प्रथ् भ्वादियों के अवान्तर गण घटादियों में पढ़ी है पर स्वार्थ-णिच् परे होने पर वक्ष्यमाण ज्ञप् आदि पाँच धातुओं को छोड़कर कोई भी धातु मित् नहीं होती। अतः **प्राथयति** में ह्रस्व न हुआ। पृथ प्रक्षेपे (पृथ्—फैंकना)। णिच् परे रहते उपधा-गुण होकर **पर्थयति—पर्थयते** रूप होगा। भक्ष अदने (भक्ष्—खाना)। **भक्षयति—भक्षयते**। कुट्ट छेदन—भर्त्सनयोः (कुट्ट्—टुकड़े करना, झिड़कना)। **कुट्टयति**। **कुट्टयते**। अट्ट अना-

दरे (अद्द्—अनादर करना, विडम्बना करना)। **अट्टयति । अट्टयते ।** लुण्ठ स्तेये (लुण्ठ्—चुराना) । **लुण्ठयति । लुण्ठयते ।** उपधा 'उ' न होने से गुण नहीं हुआ । शठ श्वठ असंस्कार-गत्योः (शठ् श्वठ्—१ संस्कारहीन, अविनीत, दुर्विनीत होना, २. जाना)। **शाठयति । शाठयते । श्वाठयति । श्वाठयते ।** तुजि पिजि हिंसा-बलादान-निकेतनेषु (तुञ्ज्, पिञ्ज्—मारना, बलात् ग्रहण करना, निवास करना)। **तुञ्जयति—तुञ्जयते । पिञ्जयति—पिञ्जयते ।** इदित्करण से णिच् नहीं भी होगा—**तुञ्जति । पिञ्जति ।** इत्यादि भ्वादि धातुओं की तरह । कुछ लोग तुज्, पिज् पढ़ते हैं—**तोजयति-ते । पेजयति-ते ।** पिस गतौ (पिस्—जाना) । **पेसयति—पेसयते । पेस्वर**=गत्वर, जाने वाला । षान्त्व सामप्रयोगे (सान्त्व्—अति मधुर वाणी के प्रयोग से शान्त करना) । **विग्रहस्यासहो नृपतिरुपसान्त्वयेच्छत्रुं प्रयत्नतः ।** पथि गतौ (पन्थ्—जाना) । इदित्करणसामर्थ्य से णिच् का विकल्प । **पन्थयति-पन्थयते । पन्थति ।** छदि संवरणे (छन्द्—ढाँपना) । **छन्दयति-ते । छन्दति । यदेभिरात्मानमाच्छदयन्देवा मृत्योर्बिभ्यतः, तच्छन्दसां छन्दस्त्वम् इति विज्ञायते ।** श्रण दाने (श्रण्—देना । प्रायः इसका विपूर्वक प्रयोग होता है—**शक्योऽस्य मन्युर्भवता विनेतुं विश्राणनादन्यपयस्विनीनाम्** (रघु० २।४९) । तड आघाते (तड्—ताड़ना) । **ताडयति** । ताडयते । **लालयेत्पञ्च वर्षाणि दश वर्षाणि ताडयेत् ।** खड खडि कडि भेदने (खड्, खण्ड्, कण्ड्—तोड़ना) । **खाडयति-ते । खण्डयति-ते ।** कण्डयति-ते । **पर्वतान् आखण्डयति कुलिशेनेत्याखण्डल इन्द्रः । अजानताऽर्थं तत् सर्वं** (अध्ययनं) **तुषाणां कण्डनं यथा ।** गुठि वेष्टने (गुण्ठ्—लपेटना) । **अवगुण्ठयति-ते** । श्वशुरसंनिधाववगुण्ठयति मुखमङ्गना । वटि विभाजने (वण्ट्—बाँटना) । **वण्टयति-ते ।** मडि भूषायां हर्षे च (मण्ड्—अलंकृत करना, प्रसन्न होना) । **विद्वत्सभां मण्डयति मण्डनमिश्रो मीमांसकाचार्यः । मण्डयन्ति हृष्यन्ति प्रावृषीति मण्डूकाः ।** छर्द वमने (छर्द्—वमन करना) । **छर्दयति**=वमति । चुद संचोदने (चुद्—प्रेरित करना) । **चोदयति-ते । प्रचोदयति । धियो यो नः प्रचोदयात्** (=प्रचोदयेत्) । **चोदयाश्वान्** (शाकुन्तल) । 'पूछना' अर्थ में भी इसका प्रयोग होता है—**अहमपीदमचोद्यं चोद्ये** (भाष्य) । क्षल शौचकर्मणि (क्षल्—धोना) । **क्षालयति-ते ।** उपधा-वृद्धि । **ऋते रवेः क्षालयितुं क्षमेत कः क्षपातमस्काण्डमलीमसं नभः** (माघ १।३८) । **प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम् ।** (हितोप०) । तल प्रतिष्ठायाम् (तल्—प्रतिष्ठित होना या करना) । **तालयति-ते ।** तुल उन्माने (तुल्—

तोलना)। **तोलयति-ते**। उपधा गुण। **धान्यं तोलयति विक्रीणानः**। जो **तुलयति** (तुल्य होता है) प्रयोग मिलता है वह तुला शब्द से तत्करोति अर्थ में णिच् करके सिद्ध होता है। दुल उत्क्षेपे (दुल्—ऊपर की ओर फेंकना)। **दोलयति—ते**। **दोला**=झूला। मूल रोहणे (मूल्—उगना)। **मूलयति-ते**। उद्-पूर्वक का उखाड़ना अर्थ है—**सस्यार्थे क्षेत्रे स्वयं प्ररूढानि तृणान्युन्मूलयति क्षेत्रिकः**। कल विल क्षेपे (कल्, विल्—फेंकना)। **कालयति-ते**। **वेलयति-ते**। **कालयति क्षिपति संहरति भूतानीति कालः**। पाल रक्षणे। **पालयति-ते**। **पालयतीति पालः**=पशुपालः। शुल्ब माने (शुल्ब्—मापना, निर्माण करना)। **शुल्बयति वेदिम्**। शुल्क अतिस्पर्शने (शुल्क्—देना)। **शुल्कयति-ते**। ज्ञप मिच्च। इसका जानना, जतलाना दोनों अर्थ हैं।

१७१—ज्ञप् आदि पाँच धातुओं को छोड़ कर और कोई स्वार्थ-णिजन्त धातु मित् नहीं [1]।

१७२—जो धातु मित् होती है उसकी उपधा को ह्रस्व हो जाता है णिच् परे होने पर।[2] ज्ञप् णिच्=ज्ञापि=ज्ञपि।(ह्रस्व)। **ज्ञपयति**। यम परिवेषणे (यम्—घेरा डालना)। **यमयति चन्द्रम् परिवेष्टयते**। चह परिकल्कने (चह्—शठता करना, धोखा देना)। **चहयति—ते**। रह त्यागे (रह्—छोड़ना)। **रहयति—ते**। बल प्राणने (बल्—जीना)। **बलयति—ते**।

१७३—चि, स्फुर् को णिच् परे रहते विकल्प से आत्व (धातु के इ, उ को आ) होता है।[3]

१७४—ऋ, ह्री, व्ली, री, क्नूय्, आकारान्त (प्रतिपदोक्त अथवा लाक्षणिक) को पुक् (प्) आगम होता है णिच् परे होने पर।[4]

चिञ् चयने —णिच्=चायि=चयि। (मित् होने से ह्रस्व)। चयि अ

---

१. नान्ये मितोऽहेतौ (ग० सू०)।
२. मितां ह्रस्वः (६।४।९२)।
३. चि-स्फुरोर्णौ (६।१।५४)।
४. अर्ति-ह्री-व्ली-री-क्नूयी-क्ष्माय्यातां पुग्णौ (७।३।३६)।

ति—चये अति=**चययति**। पक्षिक आत्व होने पर पुक् आगम होने से चापि। मित् होने से ह्रस्व—चपि। **चपयति**। **चपयते**।

घट्ट चलने (घट्ट—चलाना, हिलाना)। चलन=चल् णिच् ल्युट्। कम्पने चलिः (ग० सू०) से कम्पन अर्थ में चल् मित्संज्ञक है। अतः चलाना, हिलाना अर्थ है। **दर्वीव्यग्रकरेण धूममलिनेनायासखिन्नेन च। भीमेनातिबलेन मत्स्यभवने सूदा न किं घट्टिताः** (तन्त्राख्यायिका)॥ **अरं जलं घट्टयतीति अरघट्टः**=रहट। चूर्ण संकोचने (चूर्ण्—सूक्ष्म करना)। **चूर्णयति गन्धान्**। पूज पूजायाम्। **पूजयति—ते**। अर्क स्तवने (अर्क्—स्तुति करना)। **अर्कयन्ति देवतामृषयः**। शुठि शोषणे (शुण्ठ्—सुखाना)। **शुण्ठयति—ते**। इदित्करण से णिज्-विकल्प—**शुण्ठति**। घृ स्रावणे (बहाना, पिघलाना)। घारयति। **घारयति घृतमवशीनं तापेन**। पचि विस्तारवचने (पञ्च्—विस्तार से कहना)। **पञ्चयति—ते**। इदित्करण से णिज्विकल्प होने से '**पञ्चति**' ऐसा भी। तिज निशाने (तिज्—तेज़ करना)। **तेजयति क्षुरम्**।

१७५—धातु के उपधा—भूत ऋ को इ (इर्) आदेश होता है।[1] रपर इकार= इर्। कॄत संशब्दने (कॄत्—कहना, कीर्तन करना)। कॄत् णिच्= किर्त् णिच्=कीर्त् इ (३७) =कीर्ति। **कीर्तयति—ते**। **कृपणस्य प्रातर्दर्शनममङ्गलं भवति, कीर्तनमपि तथा**। **न दत्त्वा प्रकीर्तयेत्**, देकर कहे नहीं। वर्ध छेदनपूरणयोः (वर्ध्—काटना, भरना)। **वर्धयति—ते**। **प्राङ् नाभिवर्धनात्पुंसो जातकर्म विधीयते** (मनु० २।२९)। वर्धनात् =कर्तनात्। **पाणिभ्यां तूपसंगृह्य स्वयमन्नस्य वर्धितम्** (मनु० ३।२२४)। **वर्धितम्**=पूर्णम्। काटने अर्थ में वर्ध् का प्रयोग 'वर्धकि' (बढ़ई) शब्द में भी स्पष्ट दीखता है। कुबि आच्छादने (कुम्ब्—ढाँपना)। **कुम्बयति—ते**। **कुम्बा** (स्त्री०) = गाढ़ा लँहगा। इल प्रेरणे (इल्—प्रेरित करना)। **एलयति—ते**। म्रक्ष म्लेच्छने (म्रक्ष्—अव्यक्त शब्द उच्चारण करना)। म्रक्ष् का तैलादि मल कर चमकाना अर्थ भी है। म्रक्ष् का यह अर्थ अञ्ज् धातु के अर्थों में पढ़े हुए 'म्रक्षण' शब्द में स्पष्ट है। **म्रक्षयति—ते**। गर्ज गर्द शब्दे। **गर्जयति—ते**। **गर्दयति—ते**। ईड स्तुतौ (ईड्—स्तुति करना)। **ईडयति—ते**। जसु हिंसायाम् (जस्—नष्ट करना)। **जासयति—ते**। **उज्जासयति**=उजाड़ता है। पिडि संघाते (पिण्ड्—इकट्ठा करना, जोड़ना)। **पिण्डयति—ते**। **दश च पञ्च च सम्पिण्डिताः**

---

१. उपधायाश्च (७।१।१०१)।

पञ्चदश भवन्ति । पिण्डः=संघातः । एकान्तविध्वंसिषु मद्विधानां पिण्डेष्व-नास्था खलु भौतिकेषु (रघु० २।५७) ।

आत्मनेपदी धातुएँ

वक्ष्यमाण धातुएँ क्रिया-फल के अकर्तृ-गामी होने पर भी आत्मनेपदी हैं । चित संचेतने (चित्—अनुभव करना) । **चेतयते । स्थावरा वृक्षादयो प्यन्तःसंज्ञा भवन्तीति सुखदुःखे चेतयन्ते** । दशि दंशने (दंश्—काटना) । हमारे विचार में चुरादि दंश् का अर्थ 'कवच बाँधना' है । अतः अमर का पाठ है—**संनद्धो वर्मितः सज्जो दंशितो व्यूढकङ्कटः** । इदित्करणसामर्थ्य से पक्ष में **दंशति** भी होगा । चित् आदि धातुओं से णिच्संनियोग से ही आत्मनेपद का विधान है, अतः 'दंशति' यहाँ परस्मैपद ही होता है । दसि दर्शन-संदशनयोः (दंस्—देखना, बाँधना) । **दंसयति –ते । दंसति** । तत्रि कुटुम्बधारणे (तन्त्र्—प्रबन्ध करना, पालन-पोषण करना) । **प्रजाः प्रजाः स्वा इव तन्त्रयित्वा** (शाकुन्तल) । मत्रि गुप्तपरिभाषणे (मन्त्र्—गुप्त विचार करना) । **द्वौ संनिषद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद् वेद वरुणस्तृतीयः** (अथर्व० ४।१६।२) । **मन्त्रयेतेह कार्याणि सहाप्तेन विपश्चिता** (का० नी० सा० १२।४) । स्पश ग्रहण-संश्लेषणयोः (स्पश्—पकड़ना, जोड़ना, संग्रन्थन करना) । **स्पाशयति—ते** । तर्ज भर्त्स तर्जने (तर्ज्, भर्त्स्—झिड़कना)। **तर्जयते । भर्त्सयते । अनपराद्धोहमिति किं मां वृथा भर्त्सयसे ?** बस्त गन्ध अर्दने (बस्त्, गन्ध्—पीड़ित करना) । गन्धनावक्षेपण—(१।३।३२) सूत्र में गन्धनम्=हिंसाप्रयुक्तं सूचनम् । लल ईप्सायाम् (लल्—प्राप्त करने की इच्छा करना)। **लालयते । कुं पृथिवीं मृदं लालयत इति कुलालः** । कूण संकोचने(कूण्—संकुचित करना)। **आकूणयते नेत्रे**, आँखें मीचता है । तूण पूरणे (तूण्—भरना) । **तूणयन्त्येनमिषुभिरिति तूणः । तूणोपासङ्गतूणीर-निषङ्गाः** (अमर) । यक्ष पूजायाम् (यक्ष्—पूजना) । **यक्षयते** । गूर उद्यमने (गूर्–उठाना)। **अवगोरयते शस्त्रम्** । शम लक्ष आलोचने(शम्, लक्ष्—देखना)। **शामयते । लक्षयते**=पश्यति । **निशामयते** । अमन्त होने पर भी नान्ये मितोऽहेतौ (ग० सू०) से शम् मित् नहीं, अतः ह्रस्व नहीं हुआ । कुत्स अवक्षेपणे (कुत्स्—निन्दा करना) । **कुत्सयते । पूजयेदशनं नित्यमद्याच्चैतदकुत्सयन्** (मनु० २।५४) । यहाँ शतृ प्रत्यय आर्ष है । गल स्रवणे (गल्—बहना) । गालयते । **गालयते गजस्य गण्डः** । भल आभण्डने (भल्—देखना) । **निभालयते**

=आलोकते । कुट्ट प्रतापे (कुट्ट्—तपाना) । **कुट्टयते ।** वञ्चु प्रलम्भने (वञ्च्—धोखा देना)। **वञ्चयते ।** धातु सकर्मक है । बचना, अपने को बचाना, परे रहना—इस अर्थ में भी वञ्च् का प्रयोग होता है, तब भी यह धातु सकर्मक है पर तब आत्मनेपद का नियम नहीं—**अहिं वञ्चयति**=लङ्घयति । **राधेयो भीमसेनमवञ्चयत्** (भा० ७।५६७) । **तदस्माभिरिमं पापं तं च पापं सुयोधनम् । वञ्चयद्भिर्निवस्तव्यं छन्नावासं क्वचित्क्वचित्** (भा०१।५७६४)। वृष शक्तिबन्धने (वृष्—प्रजनसामर्थ्य को रोकना) । **वर्षयते प्रतिबध्नन्ति शक्तिं वीर्यमिति वर्षः ।** पचाद्यच् । स चासौ वरश्चेति वर्षवरः षण्ढः । मद तृप्तियोगे (मद्—तृप्त होना) । **मादयते ।** दिव परिकूजने (दिव्—विलाप करना) । इस का परि-पूर्वक प्रयोग होता है । **परिदेवयते ।** धातु अकर्मक है । **ये दीव्यन्ति ते परिदेवयन्ते,** जो जुआ खेलते हैं वे विलाप करते हैं । **पञ्चभिर्निर्मिते देहे पञ्चत्वं च पुनर्गते । स्वां स्वां योनिमनुप्राप्ते तत्र का परिदेवना** (हितोप०४।७१) ॥ विद चेतनाख्यान-निवासेषु (विद्—अनुभव करना, कहना, रहना) । **वेदयते । सर्वो हि सेन्द्रियः पदार्थः सुखदुःखे वेदयते यावन्न विचेती भवति,** सभी सेन्द्रिय पदार्थ (सचेतन) सुख दुःख का संवेदन करते हैं, जब तक कि संज्ञारहित नहीं हो जाते । **वेदये न च संयुक्ताञ् शब्दस्पर्शरसानहम्** (रा०२।६४।६७)। मान स्तम्भे (मान्—अकड़ना) । **मानयते । यथा यथाऽनुनये यत्नः क्रियते तथा तथेयं मानयते । अहो वामता प्रकृतेः ।** कुस्म धातु से अथवा प्रातिपदिक कुस्म से धात्वर्थ में णिच्[1] और णिजन्त से आत्मनेपद होता है । **कुत्सितं स्मयते=कुस्मयते ।**

यहाँ आकुस्मीय आत्मनेपदी धातुएँ समाप्त हुईं ।

चर्च अध्ययने (चर्च् पढ़ना)। चर्चयति—ते । **चर्चयति वेदम् । न हि चर्चापदानि व्याख्या भवति** (भाष्य) । बुक्क भषणे (बुक्क्—भौंकना) । **बुक्कयति-ते ।** शब्द उपसर्गादाविष्कारे च, भषणे च(प्रति उपसर्ग सहित शब्द—प्रतिशब्द करना, गूँजना, उपसर्गरहित 'शब्द' भी इसी अर्थ में, तथा भषण=भौंकना अर्थ में) । **शब्दयति-ते ।** कण निमीलने (कण्—आँख बन्द करना) । **काणयति । रजोविक्षिपो वाति वात इति चक्षुष्काणयति यात्रिकः,** धूल उड़ाता हुआ वायु चल रहा है, इसलिये यात्री आँख मूँद लेता है । जभि नाशने (जम्भ्—जबड़ों में लेकर चबा जाना) । **जम्भयति मृगीं वृकः ।** सूद क्षरणे (सूद्—बाहिर को

१. कुस्म नाम्नो वा (ग० सू०) ।

बहाना, पकाना, मारना) । **सूदयति—ते** । **मधुं सूदयतीति मधुसूदनो विष्णुः** । जसु ताडने (जस्—ताड़ना) । **जासयति—ते** । पश बन्धने (पश्—बाँधना) । **पाशयति—ते** । **अपराद्धान् अवश्यं पाशयति बध्नातीति पाशी वरुणः** । अम रोगे (अम्—रुग्ण होना) । **आमयति—ते** । (नान्ये मितोऽहेतौ १७१) । **येऽपथ्यं सेवन्ते त आमयन्ते,** जो अपथ्य का सेवन करते हैं वे रुग्ण हो जाते हैं। घट संघाते (घट्—इकट्ठा करना) । **घाटयति** । **उद्घाटयति** । **रविरश्मय उद्यन्त एव कमलान्युद् घाटयन्ति** । अर्ज प्रतियत्ने (अर्ज्—गुणाधान करना) । **अर्जयति—ते** । यह अर्थान्तर में भी प्रयुक्त होती है—**द्रव्यमर्जयति**, धन कमाता है । घुषिर् विशब्दने (घुष्—घोषणा करना, प्रतिज्ञा करना । **घोषयति-ते** । आङः क्रन्द सातत्ये(क्रन्द्—बार-बार बुलाना, रोना) । **आक्रन्दयति** । तसि भूष अलंकरणे (तंस्, भूष्—अलङ्कृत करना) । तंस् का प्रायः अवपूर्वक प्रयोग होता है । **अवतंसयति कुलं सुचरितेन कुमारः** । मोक्ष असने (मोक्ष्—फेंकना) । **मोक्षयति बाणान्** । अर्ह पूजायाम् (अर्ह्—पूजा करना) । **स्रग्विणं तल्प आसीनमर्हयेत्प्रथमं गवा** (मनु० ३।३) । ज्ञा नियोगे (ज्ञा—आज्ञा देना) । **आज्ञापयति**-ते । पुक् (१७४) । **किमाज्ञापयति देवः**, महाराज की क्या आज्ञा है ? भज विश्राणने (भज्—देना) । **भाजयति-ते** । यत निकारोपस्कारयोः (निकार=खिन्न करना,अवमानित करना, उपस्कार=शोधन करना)। निकारः खेदनम् । **यातयत्यरीन्** । **यातना तीव्रवेदना** । **यातयति राजच्छिद्रम्** । आच्छादयतीत्यर्थ इति क्षीरस्वामी । **उपस्कार** =शोधन, ऋण, वैर आदि का शोधन, निर्यातन— उष ऋणेव यातय (ऋ० १०।१२७।७) । **एवा हि त्वामृतुथा यातयन्तं मघा विप्रेभ्यो ददतं शृणोमि** (ऋ० ५।३२।१२) । **यातयन्तम्**= कर्मफलानि वितरन्तम् । **प्रतियातयति**=प्रतिबिम्बति (क्षीरस्वामी) । **योऽपगुरातै शतेन यातयात्** (तै० सं० २।६।१०।२) । जो मारने को शस्त्र उठाये वह सौ देकर उस (पाप) का शोधन करे ।

लिगि चित्रीकरणे (लिङ्ग्—चित्र बनाना) । **लिङ्गयति-ते** । मुद संसर्गे (मुद्—मिलाना) । **मोदयति सक्तून् घृतेन** । वस स्नेह-छेदाऽपहरणेषु (वस्—काटना, स्निग्ध करना, अपहरण करना) । **वासयति** । **लिङ्गं वा सवृषणं परिवास्य** (=छित्त्वा)—बौ० ध० सू० २।१।१४) । छेद से अभिप्राय नाशन मात्र का भी है । **प्रवासनं परासनं निसूदनं निहिंसनम्**(अमर)। यहाँ **प्रवासन**= निहिंसन । निर्पूर्वक वस् का अपहरण (दूरीकरण) अर्थ है—**दुष्कृतं द्विजन्मानं कामं निर्वासयेन्न जातु प्राणैर्वियोजयेत्** । चर संशये (चर्—सन्देह-

पूर्वक विचार करना)। **शास्त्रार्थं विचारयति**। भुवोऽवकल्कने। अवकल्कन=मिश्रीकरण अथवा चिन्तन। **भेषजं बीजपूरकरसेन भावयति**। (=मिश्रयति)।

देवान्भावयताऽनेन ते देवा भावयन्तु वः (गीता ३।११)। यहाँ **भावयन्तु** =वर्धयन्तु। भावयत तथा भावयन्तु—ये दोनों हेतुमण्ण्यन्त भू के **प्रयोग हैं**। चौरादिक भू के नहीं।

वक्ष्यमाण स्वद्-पर्यन्त धातुओं से कर्म के होने पर ही णिच् आता है। ग्रस ग्रहणे (ग्रस्—लेना, पकड़ना)। **ग्रासयति फलानि ग्रसिष्य इति**, खाऊँगा इसलिए फलों को ग्रहण करता है। पुष धारणे (पुष्—धारण करना, पहनाना)। **पोषयत्याभरणम्**, भूषण पहनता है। दल विदारणे (दल्—फाड़ना)। **दालयति-ते**। हेतुमण्ण्यन्त का तो मित् संज्ञा होने से **दलयति** रूप होगा। पट आदि ३१ धातुएँ मैत्रेय ने दण्डक में पढ़ी हैं, माधव और दीक्षित भी तदनुसार पाठ करते हैं। इन सबका या तो भाषा (बोलना) अर्थ माना जाता है या भासन (चमकना)। पर इनमें से एक का भी इन दोनों अर्थों में से एक अर्थ में भी प्रयोग दुर्लभ है। न जाने इन अर्थों में इनका कहाँ प्रयोग हुआ है। इनमें से कुछ यहाँ दी जाती हैं—धूप्—**धूपयति**। विच्छ्—**विच्छयति**। लोकृ लोचृ—**लोकयति-ते**। **लोचयति-ते**। ये दोनों ऋदित् हैं। तर्क् का अर्थ ऊह करना भी है ऐसा मैत्रेय मानते हैं और लोक में यह अर्थ प्रसिद्ध है। इस दण्डक में वृतु वृधु भी पढ़ी हैं। उदित् होने से णिज्विकल्प ज्ञापित होता है। नित्य णिच् होने पर तो उदित् करना व्यर्थ होगा। **वर्तयति-ते**। **वर्धयति-ते**। णिजभाव में **वर्तति**। **वर्धति**। आगे एक और दण्डक में १५ धातुएँ पढ़ी हैं। इन्हें क्षीरस्वामी और काश्यप पढ़ते हैं और माधव भी उनका अनुसरण करता है। इन सबका भाषा अर्थ दिया गया है, जो अत्यन्त अप्रसिद्ध है। इनमें कुछ दी जाती हैं—रघि (रङ्घ्)—**रङ्घयति-ते**। लघि (लङ्घ्)—**लङ्घयति-ते**। अहि (अंह्)—**अंहयति-ते**। रहि (रंह्)—**रंहयति-ते**। महि (मंह्)—**मंहयति-ते**। पूरी—आप्यायने (पूर्—बढ़ाना)। **पूरयति-ते**। ईदित्करणसामर्थ्य से णिज्विकल्प—**पूरति**। रुज **हिंसायाम्** (रुज्—मारना, क्षति करना)। **रोजयति-ते**। ष्वद आस्वादने (स्वद्—आस्वादन करना, चखना)। **स्वादयति-ते**।

१७६—वक्ष्यमाण धृष्-पर्यन्त धातुओं से स्वार्थ में णिच् विकल्प से आता है।[1]

युज पृच संयमने (युज्, पृच्—जोड़ना)। **योजयति-ते**। **योजति** (शप्)। **पर्चयति-ते**। **पर्चति**। अर्च पूजायाम् (अर्च्—पूजना)। **अर्चयति-ते**। **अर्चति**। **अर्चन्त्यर्कमर्किणः** (ऋ० १।१०।१)। **अर्चत प्रार्चत प्रियमेधासो अर्चत** (ऋ० ८।६९।८)। षह मर्षणे। **साहयति-ते**। णिजभाव में **सहति**। प्रयोग भी है—**स एवायं नागः सहति कलभेभ्यः परिभवम्**। ईर क्षेपे (ईर्—फेंकना)। **ईरयति-ते**। **ईरति**। ली द्रवीकरणे (पिघलाना)। **लाययति घृतम्**। **लयति**। वृजी वर्जने (वृज्—त्यागना)। **वर्जयेन्मधु मांसं च गन्धं माल्यं रसान् स्त्रियः** (मनु० २।१७७)। **वर्जति दुर्जनैः सङ्गम्**। वृञ् आवरणे (वृ—ढाँपना)। **वारयति-ते**। **वरति**। जॄ वयोहानौ (बूढ़ा होना)। **जारयति-ते**। **जरति**। रिच वियोजनसंपर्चनयोः (रिच्—जुदा करना, मिलाना)। **रेचयति-ते**। **रेचति**। शिष असर्वोपयोगे (शिष्—शेष छोड़ना)। **अस्तं गतो रविरिति शेषयति कृत्यम्**। **ऋणशेषं न शेषयेत्**। विपूर्वक शिष् का अतिशायन (परापेक्षया बढ़ जाना, आगे निकल जाना) अर्थ है—**व्रतचारिणो गृहिणोऽपि विशेषयन्ति मुनीन्**। **अस्य काव्यस्य कवयो न समर्था विशेषणे** (भा० आ० १।७३)। तप दाहे (तप्—जलाना)। **तापयति-ते**। **तपति**। **तपति लोकं चण्डरश्मिर्निदाघे**। तृप सन्दीपने। **तर्पयति-ते**। **तर्पयति होमवह्निमाज्येन**। दृभी भये (दृभ्—डरना)। **दर्भयति-ते**। दर्भति। दृभ सन्दर्भे। **दर्भयति कटम्**। श्रथ मोक्षणे हिंसायामित्येके। **श्राथयति-ते**। **श्रथति**। ग्रन्थ बन्धने। **ग्रन्थयति-ते**। **ग्रन्थति**। अर्द हिंसायाम् (अर्द्—मारना, पीड़ित करना)। यह स्वरितेत् मानी जाती है। **अर्दयति-ते**। **अर्दति-ते**। **जनो जन्म तद् अर्दयति हिनस्तीति जनार्दनः**। **जनाः समुद्रस्थदैत्यभेदास्तान् अर्दयति नाशयतीति वा जनार्दनः**। हिसि-हिंसायाम् (हिंस्—हिंसा करना)। **हिंसयति-ते**। **हिंसति**। अर्ह पूजायाम् (अर्ह्—पूजना)। **अर्हयति-ते**। **अर्हति**। आङः षद पद्यर्थे (आङ् पूर्वक सद्—जाना, पहुँचना, पीछे से आ मिलना)। **आसादयति-ते**। **आसीदति**। (२०)। **अनेन रथवेगेन पूर्वप्रस्थितं वैनतेयमप्यासादयेयम्** (शाकुन्तल)। शुन्ध शौचकर्मणि (शुद्ध करना)। **शुन्धयति-ते**। **शुन्धति**। **चरित्रांस्ते शुन्धामि**

---

१. आ धृषाद्वा (ग० सू०)।

(वा० सं० ६।१४) । **चरित्र**=चरण । जुष परितर्कणे । परितर्कणमूहो हिंसा च (जुष्—बूझना, मारना) । दूसरे लोग जुष परितर्पणे ऐसा पढ़ते हैं । **जोषयति-ते । जोषति** ।

१७७—धूञ्, प्रीञ् को नुक् आगम होता है णिच् परे होने पर। (वा०) ।[1] कई लोगों का ऐसा मत है कि यहाँ वार्तिक का स्वरूप धूञ्-प्रीणोर्नुक् वक्तव्यः यह है, जहाँ श्नाविकरणक प्री के साहचर्य से श्नाविकरणक धूञ् को ही नुक् (न्) आगम होता है विकरणान्तरवाली धातु को नहीं। तदनुसार स्वादि, तुदादि धू से **धावयति-ते** ही होगा, अन्यत्र **धूनयति । धवति** । स्वादि में धातु ह्रस्व पढ़ी है । **कवि-रहस्य** में इस धातु के नाना विकरणों वाले प्रयोग इस प्रकार दिए हैं—

धूनोति चम्पकवनानि धुनोत्यशोकं चूतं धुनाति धुवति स्फुटितातिमुक्तम् ।
वायुर्विधूनयति चम्पकपुष्परेणून्यत्कानने धवति चन्दनमञ्जरीश्च ॥

प्रीञ् तर्पणे (प्री—प्रसन्न करना) । **प्रीणयति । प्राययति । प्रयति । प्रयते** । आप्लृ लम्भने (आप्—प्राप्त कराना) । **आपयति-ते । आपति** । (शप्) । तनु श्रद्धोपकरणयोः (तन्—श्रद्धा करना, सहायता करना) । **तानयति-ते । तनति** । विपूर्वक तन्—फैलाना । **वितानयति वितानम्**=चन्दोए को फैलाता है । **वितान**=चन्द्रोदय=चन्दोआ । **अस्त्री वितान-मुल्लोचः** (अमर) । वद सन्देशवचने (वद्—सन्देश देना) । स्वरितेत् । **वादयति—ते । वदति-ते** । वच परिभाषणे (वच्—पढ़ कर सुनाना) । **वाचयति-ते । वचति । यो रामायणीं कथां वाचयति लोकेभ्यः स श्रेयसा महीयसाऽऽत्मानं संयोजयति । पूर्वमनुवाचय लेखं पश्चाद्वाचय मदर्थानि चेत्सन्देशाक्षराणि तत्र स्युः**, पहले आप इस पत्र को स्वयं पढ़ लें पश्चात् यदि मेरे लिए कुछ सन्देश हो तो मुझे पढ़ कर सुना दें । मान पूजायाम् । **मानयति-ते । मानति** । भू प्राप्तावात्मनेपदी । प्राप्ति अर्थ में भू से विकल्प से णिच् आता है और इस अर्थ में इससे आत्मनेपद होता है । **भावयते । भवते** । कई लोगों का मत है कि णिच्-संनियोग से ही आत्मनेपद विहित है, णिच् के अभाव में नहीं । उनके अनुसार '**भवति**' (=प्राप्नोति) रूप होगा । इससे '**ते सुराष्ट्रमभवन्**' यह प्रयोग समर्थित होता है । पर कैयट का ऐसा मत नहीं है । वह वर्षाभ्वश्च (६।४।८४) पर लिखता है—**वर्षासु भवति वर्षा वा भवते**

(=प्राप्नोति) **इति वर्षाभूः** । गर्ह विनिन्दने । **गर्हयति-ते** । **गर्हति** । मार्ग अन्वेषणे । **मार्गयति-ते** । **मार्गति** । **उत्साहसम्पन्नमदीर्घसूत्रं क्रियाविधिज्ञं व्यसनेष्वसक्तम् । शूरं कृतज्ञं दृढसौहृदं च लक्ष्मीः स्वयं मार्गति वासहेतोः** (पञ्च० २)॥ कठि शोके । उत्पूर्व=उत्कण्ठित होना । **उत्कण्ठयति-ते** । **उत्कण्ठति** । मृजू शौचालङ्कारयोः (मृज्—शुद्ध करना, अलंकृत करना) । **मार्जयति-ते** । **मार्जति** (८७) । मृष तितिक्षायाम् । स्वरितेत् । **मर्षयति-ते** । **मर्षति-ते** । **गुरो मर्षय मेऽपराधम् प्रथमम्** । **मर्षय मर्षय, भगवन्नभूमिरेषा शापस्य** । धृष प्रसहने । प्रसहनमभिभवः । **धर्षयति-ते** । **धर्षति** । **अधृष्यश्चाभिगम्यश्च यादोरत्नैरिवार्णवः** (रघु० १।१६) । यहाँ णिज्-रहित धृष् से क्यप् प्रत्यय हुआ है । **धृष्ट एषः, गुरूनपि धर्षयति**=अवमन्यते,अभिभवति,आह्वयते ।

यहाँ आधृषीय विकल्पित णिच् वाली धातुएँ समाप्त हुईं ।

गणान्त तक वक्ष्यमाण धातुएँ अदन्त हैं ।

कथ वाक्यप्रबन्धे (कथ्—कहानी कहना) । मूलार्थ ऐसा है । गौणार्थ 'कहना' है । धातु का अन्त्य 'अ' इत्संज्ञक नहीं, उच्चारण-सौकर्य के लिये भी नहीं, किन्तु धातु प्रयोजन-विशेष के लिए अदन्त (ह्रस्वाकारान्त) पढ़ी है । कथ णिच्=कथ् इ (४१) । इस अवस्था में (१६६) से उपधा (अ) को वृद्धि प्राप्त हुई । यह वृद्धि (४२) से अ-लोप के स्थानिवद्भाव होने से रुक जाती है क्योंकि उपधा 'थ्' बन जाती है । अतः 'कथि' यह वृद्धिरहित ण्यन्त धातु बनी । तब कथि शप् ति=कथि अ ति=कथे अति (२)=**कथयति** (ए को अय्) । **कथयतः** । **कथयन्ति** । वर ईप्सायाम् (प्राप्त करने की इच्छा करना, चुनना) । **वरयति-ते** । **कन्या वरयते रूपं माता वित्तं पिता कुलम्** । गण संख्याने (गिनना) । **गणयति-ते** । **मनस्वी कार्यार्थी न गणयति दुःखं न च सुखम्** । अव-पूर्वक गण् का अर्थ अनादर करना है । **अवगणयति लोको मूर्खम्** । वि-पूर्वक गण् का ऋणादि शोधन करना अर्थ है । **शक्तोपि न ऋणं विगणयत्येष ऋणिकः** । स्तन-गदी देवशब्दे (मेघ का गर्जन) । दोनों धातु अदन्त हैं । इक् से धातु-निर्देश किया है । स्तनगदी यह द्विवचनान्त है । **स्तनयन्ति गदयन्ति मेघाः । ये स्तनयन्ति ते स्तनयित्नव उच्यन्ते** । पत गतौ वा (ग० सू०) । गति अर्थ में अदन्त पत् से णिच् विकल्प से होता है अथवा एतदर्थक पत् विकल्प से अदन्त होती है । **पतयति** । **पतति** । पक्षान्नर में

पातयति। **वि मे पुरुत्रा पतयन्ति कामाः** (ऋ० ३।५५।३)। **वयो ये भूत्वा पतयन्ति नक्तभिः** (अथर्व० ८।१४।८)। वयः=पक्षिणः। 'वि' का प्र० बहु०। रह त्यागे। **अविवेकिनं रहयन्ति सम्पदः**। स्वर आक्षेपे। **स्वरयति**। रच प्रतियत्ने। **साधु वाक्यानि रचयति न च स्खलति क्वचित्**। **पुष्पाणां प्रकरः स्मितेन रचितो नो कुन्दजात्यादिभिः** (अमरु० ४०)। **माधुर्यं मधुबिन्दुना रचयितुं क्षाराम्बुधेरीहते** (भर्तृ० २।६)। कल गतौ संख्याने च। **कलयति-कलयते**=संचष्टे=गिनता है। **धन्यः कोऽपि न विक्रियां कलयति प्राप्ते नवे यौवने** (भर्तृ० १।७२)। **कलयति**=गच्छति। **कालः कलयतामहम्** (गीता)। चह परिकल्कने। परिकल्कनं दम्भः शाठ्यं च। दम्भ करना (लोकरञ्जनार्थ शुभ कर्म करना), शठता करना। **चहयति**। मह पूजायाम्। **महयति**=पूजयति। **गोप्तारं न निधीनां महयन्ति महेश्वरं विबुधाः**। स्पृह ईप्सायाम् (चाहना)। **स्पृहयामि खलु दुर्ललितायास्मै** (शाकुन्तल ७)। **न वयमापातरमणीयेभ्यः परिणतिविरसेभ्यो विषयेभ्यः स्पृहयामः**। भाम क्रोधे। **भामयति-ते**। सूच पैशुन्ये (चुगली करना)। **सूचयति-ते**। **परिवादं त्यजेद्विप्रोऽसवर्णेषु च सूचनम्** (कृत्यकल्पतरु में उद्धृत हारीत का वचन)। गौणार्थ—बताना, पता देना, निर्भिन्न करना आदि में इस का प्रचुर प्रयोग देखा जाता है—**सारङ्गास्ते जललवमुचः सूचयिष्यन्ति मार्गम्** (मेघ० १।२१)। **स (मन्त्रः) जातु सेव्यमानोऽपि गुप्तद्वारो न सूच्यते** (रघु० १७।५०)। **न सूच्यते**=न निर्भिद्यते। अनेकाच् होने से सूच् षोपदेश नहीं है। देखो (१२) की व्याख्या। गोम उपलेपने। **गोमयति वेदिं गोमयेन**। कुमार क्रीडायाम्। **पाठेऽनवहिताः सततं कुमारयन्तीमे कुमाराः**। शील उपधारणे। उपधारणमभ्यासः। **संस्कृतेन भाषणं शीलय लोकस्य प्रियोऽहं स्यामिति चेत्कामस्ते**। यदि तेरी इच्छा है कि मैं लोक का प्यारा बन जाऊँ तो संस्कृत में बोलने का अभ्यास कर। वात गति-सुख-सेवनेषु। **मन्दमन्दं वातयति वात उपनदीतीहैव कंचित्कालमास्महे**। गवेष मार्गणे। **बहुपुष्पफले कानने क्रमेलकाः कण्टकजालमेव गवेषयन्ते**। **किमत्र ते नष्टं यद् गवेषयसे? प्रत्नतत्त्वरत्नानि गवेष्यन्तेऽभियुक्तैः**। वास उपसेवायाम् (सुगन्धित करना)। **तत्तद्वासनाभिर्वासितान्तःकरणा विपश्चितोऽपि क्व चिद्वर्त्मनि दर्शने वाऽभिनिविशन्ते**, उस-उस वासना से वासित अन्तः करण वाले विद्वान् भी किसी एक मार्ग अथवा दर्शन में हठ करते हैं। **पुष्पवर्षाणि मुञ्चन्तो नगा पवनताडिताः। शैलं तं वासयन्तीव मधुमाधवगन्धिनः** ॥ रा० ७।२६।१०॥ **अञ्जलिस्थानि पुष्पाणि वासयन्ति**

करद्वयम् । अञ्जलि में धरे हुए पुष्प दोनों हाथों को सुगन्धित करते हैं। निवास आच्छादने । **आकल्पप्रिया अधुनातना उल्बणैर्वासोभिर्निवासयन्ति तनूम्** । भाज पृथक्कर्मणि (जुदा करना) । **भाजयति-ते** । सभाज प्रीतिदर्शनयोः । सभाज का काव्यनाटकों में आदर-सत्कार करना, अभिनन्दन करना, आलिङ्गन आदि से प्रसन्न करना—इत्यादि अर्थों में प्रयोग देखा जाता है— **स यथोचितं जनसभाजनोचितः प्रसभोद्धृतासुरसभोऽसभाजयत्** (माघ १३। १४) । आलिङ्गनादिभिरभिनन्दयामास (मल्लि०) । **सभाजनायोपगतान्स दिव्यान्मुनीन्** (रघु० १४।१८) । ऊन परिहाणे (कम करना, छोड़ देना) । **ऊनयति** । **ऊनयति सत्त्वं महतोऽवमानना बलवतोपि** । ध्वन शब्दे । **ध्वनयति रामधनुषि सहसा भीराविशति चेतांसि रिपूणाम्** । केत निमन्त्रणे (केत् बुलाना) । **केतयति** । **निकेतयति** । **केतितस्तु यथान्यायं हव्यकव्ये द्विजोत्तमः** (मनु० ३।१९०) । कूण संकोचने । **कूणयति नेत्रे** । स्तेन चौर्ये । **वाच्यर्था नियताः सर्वे वाङ्मूला वाग्विनिःसृताः । तां तु यः स्तेनयेद्वाचं स सर्वस्तेयकृन्नरः** (मनु० ४।२५६) ॥

वक्ष्यमाण गर्व-पर्यन्त १० अदन्त धातुएँ आत्मनेपदी हैं। पद गतौ । **पदयते** । गृह ग्रहणे । **गृहयते** । **गृहयत इत्येवंशीलो गृहयालुः** । मृग अन्वेषणे (ढूँढना) । **मृगयते** । **कस्यार्थः कलशेन को मृगयते वासो यथावाञ्छितम्** (स्वप्न० १) । **एतावदेव मृगये प्रतिपक्षहेतोः** (मालविका०) । **सविषं काण्डमादाय मृगयामास वै मृगम्** (भा० १३।२६५) । खेटं जगामेत्यर्थः । कुह विस्मापने (धोखा देना) । **कुहयते** । **कुहकः=शठः=धूर्तः** । शूर वीर विक्रान्तौ । **शूरयते** । **वीरयते** । **शूरयन्ते योद्धार आयोधनेषु** । स्थूल परिबृंहणे । **स्निग्धैर्भोज्यैः स्थूलयते** । सत्र सन्तानक्रियायाम् (लगातार यज्ञ आदि करना) । **ये दीर्घकालं सत्रयन्ते ते सत्त्रिण उच्यन्ते** । अर्थ उपयाच्ञायाम् । **अर्थयते** । **प्रार्थयते** । **सम्प्रार्थयते** । **अभ्यर्थयते** । **योऽयं धनिकं धनमर्थयते स मानाद्धीयते** । जो यह धनी से धन माँगता है इससे मान खो बैठता है। **कामितेऽस्मिन्नर्थे महतामाशीर्वचांस्येवाभ्यर्थयामहे** । गर्व माने (अभिमान करना) । **गर्वयते** । **अहो बह्वजानन्नपि गर्वयसे** ।

यहाँ आगर्वीय धातुएँ समाप्त हुईं ।

अवशिष्ट अदन्त धातुएँ—सूत्र वेष्टने (लपेटना)। **सूत्रयति-ते। सूत्रयति तर्कुटिम्,** तकले पर सूत लपेटता है। मूत्र प्रस्रवणे (मूत्र करना)। **आवसथाद्दूरान्मूत्रयेत्।** रूक्ष पारुष्ये (रूखा व्यवहार करना)। **रूक्षयति-ते। नात्मनो हितमिच्छन्बन्धुषु रूक्षयेत्।** पार तीर कर्मसमाप्तौ। (आरब्ध कार्य को पूरा करना, पार जाना)। **पारयति-ते। तीरयति-ते। ते चानसूयवः स्वाभिः स्त्रीभिः सत्रमपारयन्** (समापयन्) भाग० पु० १०।२३।३३॥ पुट संसर्गे। **पुटयति त्रिफलां बीजपूरकरसेन। पुटयति**=संसृजति=भावयति, मिलाता है। चित्र चित्रीकरणे (चित्र खींचना)। अद्भुत का दर्शन करना ऐसा भी अर्थ माना जाता है। **अद्भुतं चित्रयत्ययं चित्रकारः। कदाचिदकृतप्रयत्ना अपि समृध्यन्तीति चित्रयामः** (=अद्भुतं पश्यामः)। संग्राम युद्धे। यह धातु अनुदात्तेत् है। धातु के अन्त्य 'अ' में एक अनुदात्त 'अ' प्रश्लिष्ट है जो अनुबन्ध है। **संग्रामयते**=युध्यते। लङ्—**असंग्रामयत। सोपसर्गक संग्राम से अट् आगम होता है। ऐसा यहीं** होता है, अन्यत्र कहीं नहीं। **ये संशप्य सङ्ग्रामयन्ते न च निवर्तन्ते ते संशप्तकाः।** स्तोम श्लाघायाम्। **स्तोमयन्ति भूभुजं भृत्याः।** छिद्र कर्णभेदने (कान छेदना)। **छिद्रयति कर्णेऽवतंसमत्र करिष्यामीति।** कर्ण स्वतन्त्र धातु है ऐसा भी पक्ष है। इसका नित्य आङ्-पूर्वक ही प्रयोग होता है—**आकर्णय मे गिरम्। अस्ति मे किमप्युपदेष्टव्यं ते।** मेरी बात सुनिये, मुझे तुम्हें कुछ उपदेश करना है। वर्ण वर्णक्रिया-विस्तार-गुणवचनेषु (रंगना, विस्तार से कहना, स्तुति करना)। **सुवर्णं वर्णयति** (सोने को रंगता है)। **यथा हि भरतो वर्णैर्वर्णयत्यात्मनस्तनुम्,** जिस प्रकार नट अपने अंगों को अनेक रंगों से रंगता है। **कथां वर्णयति**= विस्तृणाति। शब्द-विषयक विस्तार से अन्यत्र खोलने, फैलाने अर्थ में भी वर्ण् का प्रयोग देखा जाता है—**मायूरजीर्णपर्णानां वस्त्रं तस्याश्च वर्णितम्** (=विस्तारितम्—नील० भा० १२।६८१७)। **सूत्रार्थं वर्णयति**=विस्तरेण व्याचष्टे। **राजानं वर्णयति**=स्तौति। अन्ध दृष्ट्युपघाते (अन्धा करना)। **रोगोऽन्धयति शिशुम्।** दण्ड दण्डनिपातने (दण्ड देना, जुर्माना लेना)। **अदण्ड्यान्दण्डयन्राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन्। अयशो महदाप्नोति——** (मनु० ८।१२८)॥ **गर्गाञ्शतं दण्डयति,** गर्ग नामक ज्योतिषियों से सौ जुर्माना लेता है। अङ्क पदे लक्षणे च (अङ्कित करना)। **गामङ्कयति स्वेयमिति यथा प्रज्ञायेत।** सुख दुःख तत्क्रियायाम् (सुख देना)। **सुतो वश्यो मेधावी चेति सुखयति गृहिणम्। सुतोऽनियन्त्रणोऽमेधाश्चेति दुःखयति।** छद अपवारणे, (ढाँपना)। **छदयति।** व्रण गात्रविचूर्णने (अंग-भङ्ग करना)। **कश्चिद्**

धूर्तः सुजनं गर्ते निपात्य व्रणयति (=गात्रमस्य भनक्ति) ।

१७८—अभी तक पढ़ी हुई अदन्त धातुएं निदर्शनमात्र हैं ।[1] और भी (अपठित) अदन्त धातुएँ हैं—पर्ण हरितभावे (हरा होना) । **शुचौ शुष्कतां गतास्तरवो वर्षासु पर्णयन्ति** । क्षप प्रेरणे (परे करना) । **ममापि च क्षपयतु नीललोहितः पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः** (शाकुन्तल ७।३५) । प्रेङ्खोल—**प्रेङ्खोलयति** । आन्दोल—**आन्दोलयति** । विडम्ब **विडम्बयति** । अवधीर—**अवधीरयति**=तिरस्करोति ।

सर्वे नवगण्यां पठिता धातवः स्वार्थे णिचं लभन्तेऽपठिताश्च केचन ।

यहाँ चुरादिगण में दो गणसूत्र पढ़े हैं—**हन्त्यर्थाश्च । बहुलमेतन्निदर्शनम्,** जिनके आधार पर ऐसा माना जाता है कि नौ गणों में पठित सभी धातुओं से स्वार्थ में णिच् आता है और कुछेक अपठितों से भी—**न कालेन विना पार्थो वैकर्तनमजीघतत्** (शिवभा० ८।६९) । अजीघतत्—हन् णिच् लुङ् । =**अवधीत्** । **वैकर्तनः**=कर्णः । **पञ्चैतान् महायज्ञान्न हापयति शक्तितः** (मनु० ३।७१) । **हापयति**=जहाति । **सुसूक्ष्मजट-केशेन सुलभाजिनवाससा । पुत्री पर्वतराजस्य कुतो हेतोर्विवाहिता** (काशिका) ॥ **विवाहिता**=व्यूढा । **रञ्जितास्तेजसा त्वापः शरीरस्थेन देहिनाम् । अव्यापन्नाः प्रसन्नेन रक्त-मित्यभिधीयते** (सुश्रुत १।१३।१५) ॥ **रञ्जिताः**=रक्ताः । **न पादौ धावयेत् कांस्ये कदाचिदपि भाजने** (मनु० ४।६५) । **धावयेत्**=धावेत् । **न च रक्तो विरावयेत्** (मनु० ४।६४) । **रक्तः**=सानुरागः । **विरावयेत्**=विरुयात् । **उपानहौ च वासश्च धृतमन्यैर्न धारयेत्** (मनु० ४।६६) । **धारयेत्**=धरेत् । **परिवृत्तं किरीटं तद्यमयन्** (भा० ७।१२६९) । **यमयन्** =यच्छन् । **मूर्धजान् यमयस्व** (भा० ९।१८७६) । **बन्धे स्रंसिनि चैकहस्तयमिताः पर्याकुला मूर्धजाः** (शकुन्तला) । **दश वर्षसहस्राणि रामो राज्यमचीकरत्** । **अचीकरत्**=अकार्षीत् ॥

इति स्वार्थणिजन्ताश्चुरादयः ।

इति दशगण्यां लड्-लोड्-लङ्-लिङां निरूपणं समाप्तम् ॥

लुट् आदि निरूपण-प्रकरण

लट् आदि चार लकारों का निरूपण हो चुका। अब हम लुट् आदि शेष लकारों का निरूपण करने चले हैं। लडाद्यन्त (लट् आदि अन्त) रूपों की प्रक्रिया में धातु किस गण की है, इसका विचार किया जाता है और लट् आदि के आदेश-भूत तिङ् के कर्तृवाचक होने पर उसके परे रहते धातु से शप् अथवा शप् के अपवाद श्यन् आदि प्रत्यय लगाये जाते हैं, जिन्हें विकरण कहते हैं। अब जिन लुट् आदि लकारों का निरूपण करना है, उनमें कुछ तो ऐसे हैं जिनके आदेश-भूत तिङ् से पूर्व शप् आदि नहीं आते, किन्तु उन के अपवाद तास् आदि प्रत्यय आते हैं, जैसे लुट् में तास्, लृट् में स्य, लृङ् में स्य, लुङ् में सिच् आदि। ये प्रत्यय धात्वधिकारोक्त हैं, पर तिङ् और शित् से भिन्न होने से आर्धधातुक हैं। कुछेक लकारों के आदेश-भूत तिङ् की आर्धधातुक संज्ञा कर दी गई है, जैसे लिट् तथा आशीर्लिङ् के तिङ् की। ऐसा होने से शप् आदि की वहाँ प्राप्ति ही नहीं रहती, कारण कि शप् आदि कर्तृवाची सार्वधातुक प्रत्यय परे होने पर आते हैं। इस से स्पष्ट है कि लुडादि-प्रक्रिया में धातु किस गण की है, इस का कोई विचार नहीं। लुडादि को तास् आदि के आर्धधातुक होने से अथवा तिङ् प्रत्यय के ही आर्धधातुक होने से आर्धधातुक लकार कह दिया जाता है।

लुट् आदि लकारों में क्रिया-पदों की रूपरचना के लिए यह जानना आवश्यक है कि कौनसी धातु सेट् है और कौनसी अनिट् है। जिन धातुओं से परे वलादि आर्धधातुक प्रत्यय को इट् (इ) का आगम होता है जो उसका आदि अवयव बन जाता है, उन्हें सेट् कहते हैं, जिनसे इट् नहीं आता उन्हें अनिट् कहते हैं। जिनसे विकल्प से इट् आता है उन्हें वेट्। जैसा लुट् में होता है वैसा ही **प्रायः** लृट् आदि में भी होता है।

१७७—शास्त्रकार धातुमात्र से परे वलादि आर्धधातुक को इट् आगम का विधान करते हैं।[1]

---

१. आर्धधातुकस्येड् वलादेः (७।२।३५)।

१७८—जो धातुएँ अनुदात्त एकाच् पढ़ी हैं उनसे इट् का निषेध करते हैं।[1]

अजन्त सेट् धातुएँ

ऊकारान्त, ॠकारान्त, यु, जोड़ना, जुदा करना, अदा० प०, रु शब्द करना, अदा० प०, क्ष्णु तेज करना, अदा० प०, नु स्तुति करना, अदा० प०, क्षु छींकना, खाँसना, अदा० प०, श्वि जाना, बढ़ना, भ्वा० प०, शी लेटना, सोना, अदा० आ०, डी उड़ना, भ्वा०, दिवा० आ०, श्रि आश्रय लेना, भ्वा० उभय०, वृङ्, चुनना, स्वा० आ०, वृञ् ढाँपना, स्वा० उ०—ये सेट् हैं।

ये एकाच् हैं पर उदात्त पढ़ी हैं। इनके अच् को आचार्य ने उदात्त उच्चारण किया है। इनके अतिरिक्त सभी एकाच् (एकाक्षर वाली) धातुएँ अनिट् हैं। कारण कि वे अनुदात्त पढ़ी हैं। इ (ण्), इ (क्), इ (ङ्), चि, जि, ब्रू, स्तु, द्रु, स्रु, श्रु, कृ, सृ, भृ, हृ इत्यादि। जागृ, चकास्, दरिद्रा आदि अनेकाच् होने से सेट् हैं। स्मरण रहे कि सब अनेकाच् धातुएँ सेट् होती हैं। अतः ण्यन्त, सन्नन्त, क्यजन्त (क्यच्+अन्त) आदि नामधातु तथा यङन्त धातुएँ सेट् हैं। इस सारे कथन को एक कारिका में इस प्रकार संगृहीत किया गया है—

ऊदॄदन्तैर्यौति-रु-क्ष्णु-शीङ्-स्नु-नु-क्षु-श्वि-डीङ्-श्रिभिः।
वृङ्-वृञ्भ्यां च विनैकाचोऽजन्तेषु निहताः स्मृताः॥

हलन्त अनिट् धातुएँ

पिछले प्रकरण में धातुएँ सानुबन्धक पढ़ी हैं जैसा कि आचार्य ने उन्हें पढ़ा है, अब प्रक्रियोपयोगी निरनुबन्धक रूप में पढ़ी जाती हैं।

शक्[2]	समर्थ होना, स्वादि परस्मैपदी	**मुच्**	छोड़ना, तुदा० उ०
पच्	पकाना, भ्वा० उभयपदी	**रिच्**	खाली करना, रुधा० उ०

---

१. एकाच उपदेशेऽनुदात्तात् (७।२।१०)। नेड् वशि कृति (७।२।८) से यहाँ 'न' की अनुवृत्ति आ रही है। इडागम निषेध का प्रकरण सूत्रकार पहले प्रारम्भ करते हैं, पीछे आगम विधान का।

२. अनिट्कारिकाओं में शक्लृ लृदित् स्वादि शक् का ग्रहण है। दिवादि शक् (उभयपदी) सेट् है ऐसा किन्हीं का मत है।

वच् (ब्रू) बोलना, अदा० उ०
विच् विवेक करना, जुदा करना, रुधा० उ०
सिच् सींचना, तुदा० उ०
प्रच्छ् पूछना, तुदा० प०
त्यज् छोड़ना, भ्वा० प०
निज् धोना, शुद्ध करना, जुहो० उ०
भज् सेवा करना, भ्वा० उ०
भञ्ज्[1] तोड़ना, रुधा० प०
भुज् भोगना, खाना, रुधा० आ०
पालना ,, प०
भ्रस्ज् पकाना, भूनना, तुदा० उ०
मस्ज् नहाना, डुबकी लगाना, डूबना, तुदा० प०
यज् पूजा करना, देना, भ्वा० उ०
युज् जोड़ना, रुधा० उ०
युज् जुड़ना, योग करना, दिवा० आ०
रञ्ज् रंगना, भ्वा० उ०
दिवा० उ०
रुज् तोड़ना, तुदा० प०
सञ्ज् लगना, लगाना, भ्वा० प०
सृज उत्पन्न करना, छोड़ना, तुदा० प०, दिवा० आ०
स्वञ्ज् लिपटना, आलिंगन करना, भ्वा० आ०
अद् खाना, अदा० प०
क्षुद् चूर्ण करना, रुधा० उ०
छिद् काटना, रुधा० उ०
तुद् चुभोना, कष्ट देना, तुदा० उ०
नुद् प्रेरणा करना, धकेलना, तुदा० उ०
पद् जाना, दिवा० आ०
भिद् फाड़ना, फोड़ना, रुधा० उ०
विद् होना, विद्यमान होना, दिवा० आ०
विद्[2] विचार करना, रुधा० आ०
शद् गिरना, क्षीण होना, नष्ट होना, जाना, भ्वा० आ०[3]

---

१. भञ्ज्, रञ्ज्, सञ्ज्, स्वञ्ज्, दंश् आदि धातुओं में जो अनुस्वार अथवा अनुनासिक दीखते हैं वे नकारज हैं, अर्थात् मूल में नकार ही हैं—

नकारजावनुस्वारपञ्चमौ झलि धातुषु ।
सकारजः शकारश्चर्षाट्टवर्गस्तवर्गजः ॥

झल् परे रहते सकार से शकार बना है, र् ष् से परे टवर्ग भी तवर्ग से बना है ।

२. विद् जानना तथा विद् प्राप्त करना दोनों व्याघ्रभूति के मत से सेट् हैं । विद् प्राप्त करना भाष्यादि मत से अनिट् है ।

३. शित् प्रत्यय के विषय में (अर्थात् लट्, लोट्, लङ्, विधिलिङ् में) ।

सद् जाना, क्षीण होना भ्वा०, तुदा० प०

स्कन्द् जाना, (अव-आङ्-पूर्वक धावा करना), गिरना, सूखना, भ्वा० प०

हद् मलत्याग करना, भ्वा० आ०

क्रुध् क्रोध करना, दिवा० प०

क्षुध् भूखा होना, दिवा० प०

बन्ध् बाँधना, क्र्या० प०

बुध् जानना, जागना, दिवा० आ०

युध् लड़ना, दिवा० आ०

राध्, सिद्ध करना स्वा० प०[1]

साध् " "

रुध् रोकना, घेरा डालना रुधा० उ०

व्यध् बींधना, दिवा० प०

शुध् शुद्ध होना, दिवा० प०

मन् जानना, दिवा० आ०

हन् मारना, अदा० प०

आप् प्राप्त करना, स्वा० प०

क्षिप् फेंकना, दिवा० प०, तुदा० उ०

तप् तपना, तपाना, भ्वा० प०

तृप्[2] तृप्त होना, दिवा० प०

त्रप् लजाना, भ्वा० आ०

दृप् घमंड करना, दिवा० प०

लिप् लीपना, तुदा० उ०

लुप् काटना, तुदा० उ०

शप् शाप देना, गाली देना, शपथ लेना, भ्वा० उ०, शपथ अर्थ में आ० । दिवा० उ०

सृप् सरकना, भ्वा० प०

स्वप् सोना, अदा० प०

यभ् मैथुन करना, भ्वा० प०

रभ् शुरू करना, भ्वा० आ०

लभ् प्राप्त करना, भ्वा० आ०

गम् जाना, भ्वा० प०

नम् झुकना, नमस्कार करना, भ्वा० प०

यम् रोकना, नियम में रखना, भ्वा० प०

रम् खेलना, आनन्द मनाना, भ्वा० आ०

क्रुश् पुकारना, रोना, भ्वा० प०

दंश् काटना, डसना, भ्वा० प०

दिश् देना, कहना, तुदा० उ०

दृश् देखना, भ्वा० प०

मृश् छूना, विपूर्वक — विचार करना, तुदा० प०

रिश् हिंसा करना, तुदा० प०

---

१. राध् बढ़ना, समृद्ध होना, दैवपर्यालोचन करना आदि अर्थों में दिवादिगणी अकर्मक धातु है ।

२. तृप्, दृप् का अनुदात्तत्व अम् आगम के लिए ही है । इनका रधादि धातुओं में ग्रहण होने से इनसे विकल्प से इट् आता है ।

रुश्	हिंसा करना, तुदा० प०
लिश्	दुर्बल होना, दिवा० आ०
,,	जाना, तुदा० प०
विश्	अन्दर जाना, तुदा० प०
स्पृश्	छूना, तुदा० प०
कृष्	खींचना, हल चलाना, भ्वा० प०, तुदा० उ०
त्विष्	जलना, चमकना, भ्वा० उ०
दुष्	बिगड़ना, दिवा० प०
द्विष्	द्वेष करना, अदा० उ०
पिष्	पीसना, रुधा० प०
पुष्[1]	पुष्ट करना, दिवा० प०
विष्	व्याप्त करना, जुहो० उ०
शिष्	विशिष्ट करना, बढ़ाना, रुधा० प०
शुष्	सूखना, दिवा० प०
श्लिष्	चिपकना, दिवा० प०
घस्[2]	खाना, भ्वा० प०
वस्	रहना, भ्वा० प०
दह्	जलाना, भ्वा० प०
दिह्	लीपना, अदा० उ०
दुह्	दोहना, अदा० उ०
नह्	बाँधना, दिवा० उ०
मिह्	मूत्र करना, भ्वा० प०
रुह्	उगना, भ्वा० प०
लिह्	चाटना, अदा० उ०
वह्	लेजाना, ढोना, उठाना, भ्वा० उ०

अनिट् कारिकाः

आचार्य व्याघ्रभूति ने अनिट् कारिकाओं का अतिरुचिर निबन्धन किया है। काशिकावृत्ति में इन कारिकाओं को पढ़ा है। हम यहाँ इन्हें विद्यार्थियों के स्मरण-सौकर्य के लिए काशिका से उद्धृत करते हैं—

वंशस्थं वृत्तम्

अनिट् स्वरान्तो भवतीति दृश्यतामिमांस्तु सेटः प्रवदन्ति तद्विदः।
अदन्तमृदन्तमृतां च वृङ्वृञौ श्विडीङिवर्णेष्वथ शीङ् श्रिञावपि ॥
गणस्थमूदन्तमुतां च रुस्नुवौ क्षुवन्तथोर्णोतिमथो युणुक्ष्णवः।
इति स्वरान्ता निपुणं समुच्चितास्ततो हलन्तानपि सन्निबोधत ॥

अजन्त एकाच् धातुएँ अनिट् होती हैं पर वक्ष्यमाण धातुएँ सेट् हैं—अदन्त जैसे हन् का आदेश वध। ॠदन्त, जैसे तॄ। ॠदन्तों में वृङ्, वृञ्।

---

१. पुष् भ्वादि, पुष् क्र्यादि—दोनों सेट् हैं।

२. घस् स्वतन्त्र धातु है, पर यह सार्वत्रिक नहीं।

इवर्णान्तों में श्वि, डी, श्रि। गण में पढ़ी हुई ऊदन्त, जैसे भू, लू, पू। ह्रस्व उकारान्तों में रु, स्नु, क्षु, ऊर्णु, यु, णु, क्ष्णु। ऊर्णु को णुवद्भाव कहा है, जिससे यह एकाच् समझी जाती है, अतः इसे उदात्त उच्चारण किया है।

इति स्वरान्ता निपुणं समुच्चितास्ततो हलन्तानपि सन्निबोधत।
शकिस्तु कान्तेष्वनिडेक इष्यते घसिश्च सान्तेषु वसिः प्रसारणी॥

ककारान्त धातुओं में केवल एक शक् अनिट् है। सान्तों में घस् जो स्वतन्त्र धातु है और वस् भ्वा० जिसे सम्प्रसारण होता है, अनिट् हैं। आदादिक वस् जिसे सम्प्रसारण नहीं होता अनिट् नहीं। वसिता वस्त्राणाम्। 'शकि' आदि में सर्वत्र इक् धातु निर्देश में किया है।

रभिस्तु भान्तेष्वथ मैथुने यभिस्ततस्तृतीयो लभिरेव नेतरे।
यमिर्यमन्तेष्वनिडेक इष्यते रमिश्च यश्च श्यनि पठ्यते मनिः॥
नमिश्चतुर्थो हनिरेव पञ्चमो गमिश्च षष्ठः प्रतिषेधवाचिनाम्॥

भकारान्तों में रभ्, यभ्, लभ् यही तीन अनिट् हैं। अनुनासिकान्तों में यम्, रम्, मन् (श्यन्विकरण), नम्, हन् और गम्—ये छः अनिट् हैं। उविकरणक मन् सेट् है। किं स्विद् वक्ष्यामि किमु नू मनिष्ये (ऋ० ६।६।६)।

दिहिर्दुहिर्मेहतिरोहती वहिर्नहिस्तु षष्ठो दहतिस्तथा लिहिः।
इमेऽनिटोऽष्टाविह मुक्तसंशया गणेषु हान्ताः प्रविभज्य कीर्तिताः॥

गणों में पढ़ी हुई दिह्, दुह्, मिह्, रुह्, वह्, नह्, दह्, लिह्—ये आठ हकारान्त धातुएँ अनिट् हैं। सह् तकारादि प्रत्यय परे होने पर तथा मुह् रधादियों में पढ़ी जाने से विकल्प से सेट् हैं।

दिशिं दृशिं दंशिमथो मृशिं स्पृशिं रिशिं रुशिं क्रोशतिमष्टमं विशिम्।
लिशिं च शान्ताननिटः पुराणगाः पठन्ति पाठेषु दशैव नेतरान्॥

शकारान्त धातुओं में दिश्, दृश्, दंश्, मृश्, स्पृश्, रिश्, रुश्, क्रुश्, विश्, और लिश्—ये १० अनिट् हैं।

रुधिः सराधिर्युधिबन्धिसाधयः क्रुधिक्षुधी शुध्यतिबुध्यती व्यधिः।
इमे तु धान्ता दश येऽनिटो मतास्ततः परं सिध्यतिरेव नेतरे॥

धान्तों में रुध्, राध्, युध्, बन्ध्, साध्, क्रुध्, क्षुध्, शुध्, बुध् (दिवा०), व्यध्, सिध्—(दिवा०) ये ११ धातुएँ अनिट् हैं।

शिषिं पिषिं शुष्यतिपुष्यती त्विषिं विषिं श्लिषिं तुष्यतिदुष्यती द्विषिम् ।
इमान्दशैवोपदिशन्त्यनिड्विधौ गरोषु षान्तान्कृषिकर्षती तथा ।।

षान्तों में शिष्, पिष्, शुष् दिवा०, पुष् (दिवा०), त्विष्, विष्, श्लिष्, तुष्, दुष्, द्विष्—ये १० धातुएँ अनिट् हैं। कृष् तुदा०, कृष् भ्वादि—ये भी दोनों अनिट् हैं।

तपिं तिपिं चापिमथो वपिं स्वपिं लिपिं लुपिं तृप्यतिदृप्यती सृपिम् ।
स्वरेण नीचेन शपिं छुपिं क्षिपिं प्रतीहि पान्तान्पठितांस्त्रयोदश ।।

पान्तों में तप्, तिप्, आप्, वप्, स्वप्, लिप्, लुप्, तृप् दिवा०, दृप् दिवा०, सृप्, शप्, छुप् (स्पर्श करना तुदादि), क्षिप्—ये तेरह धातुएँ अनिट् हैं। तृप्, दृप् का अनुदात्तत्व केवल अम् आगम के लिए है। रधादि होने से इनसे इट् का विकल्प होता है। क्षिप् दिवा०, क्षिप् तुदा० दोनों का ग्रहण है।

अदिं हदिं स्कन्दिभिदिच्छिदिक्षुदीन् शदिं सदिं स्विद्यतिपद्यती खिदिम् ।
तुदिं नुदिं विद्यतिविन्त इत्यपि प्रतीहि दान्तान्दश पञ्च चानिटः ।।

दान्तों में अद्, हद् (पुरीषोत्सर्ग करना), स्कन्द्, भिद्, छिद्, क्षुद्, शद्, सद्, स्विद् (दिवा०), पद्, खिद् (दिवा० तुदा०, रुधा०), तुद्, नुद्, विद् (दिवा०), विद् (रुधा०)—ये पन्द्रह अनिट् हैं।

कारिका में स्विद् का श्यन् से निर्देश किया है, अतः भ्वा० स्विद् सेट् है। विद् का भी श्यन् तथा श्नम् से निर्देश किया है, इससे अन्यविकरण वाली अन्य विद् सेट् ही हैं—वेदिता व्याकरणस्य (ज्ञातेत्यर्थः)। वेदिता धनस्य (प्राप्तेत्यर्थः)।

पचिं वचिं विचि-रिचि-रञ्जि-पृच्छतीन्
निजिं सिचिं मुचि-भजि-भञ्जिभृज्जतीन् ।
त्यजिं यजिं युजि-रुजि-सञ्जि-मज्जतीन्
भुजिं स्वजिं सृजिमृजि विद्ध्यनिट् स्वरान् ।। (रुचिरा वृत्तम्)

मृज् ऊदित् पढ़ी है, अतः इससे विकल्प से इट् होता है। इसे अमागम भी नहीं होता। अनिट् कारिकाओं में इसके पाठ का प्रयोजन चिन्त्य है।

इति व्याघ्रभूतिविरचिता अनिट्कारिका वृत्ताः ।

———

लुट्

१७९—अनद्यतन भविष्यत् की क्रिया को कहने वाली धातु से लुट् का प्रयोग होता है।[1] **नाद्य शक्ष्यामि गन्तुम्। श्वो गन्तास्मि।**

लुट् के परस्मैपद प्रत्यय			लुट् के आत्मनेपद प्रत्यय		
१ ता	तारौ	तारः	ता	तारौ	तारः
२ तासि	तास्थः	तास्थ	तासे	तासाथे	ताध्वे
३ तास्मि	तास्वः	तास्मः	ताहे	तास्वहे	तास्महे

१८०—लुट् प्रथमपुरुष के स्थान में दोनों पदों में डा (आ) एक०, रौ (द्वि०), रस् (बहु०) आदेश होते हैं।[2] टित् लकार होने से शेष प्रत्यय वे ही हैं जो लट् के हैं।

१८१—लुडादेश डा रौ, रस् आदि प्रत्ययों के होने पर धातु से परे तास् प्रत्यय होता है और लृट् व लृङ् के आदेश-भूत प्रत्ययों के परे रहते 'स्य' प्रत्यय होता है।[3] सूत्र में 'लृ' लृट् और लृङ् दोनों का ग्राहक है।

डा को डित् करने का यही प्रयोजन है कि इस के परे रहते अ-भ-संज्ञक (जो भ-संज्ञक नहीं) तास् के 'टि' (=आस्) का लोप हो जाय। (८५) से सादि प्रत्यय परे होने पर तास् के स् का लोप हो जाता है। रि च (७।४।५१) से रकारादि प्रत्यय परे होने पर भी तास् के स् का लोप विधान किया है। (६३) मे धकारादि प्रत्यय परे रहते स् (प्रकृत में तास् के स्) का लोप हो जाता है। उत्तमपुरुष एकवचन (ए) परे रहते तास् के स् को ह् होता है।[4] इस प्रकार दोनों पदों के प्रत्यय निष्पन्न होते हैं जिन्हें तास्प्रत्यय सहित ऊपर दिया है।

तास् वलादि आर्धधातुक है और कर्तृवाची लुट् प्रत्यय डा आदि परे होने पर शप् आदि का अपवाद है। भाव-कर्म-वाची लुट् प्रत्यय परे होने पर यक् का अपवाद है।

वलादि आर्धधातुक होने से तास् से पूर्व सेट् धातुओं से इट् आता है। जो

---

१. अनद्यतने लुट् (३।३।१५)।
२. लुटः प्रथमस्य डारौरसः (२।४।८५)।
३. स्यतासी लृलुटोः (३।१।३३)।
४. ह एति (७।४।५२)।

अनुदात्त होने से अनिट् हैं उन से इट् नहीं आता। तास् से पूर्व धातु को गुण होता हैं अपवाद विषय को छोड़कर। लट् आदि लकारों में शप् आदि सार्व-धातुक प्रत्यय परे होने पर जो आदेश होते हैं, जैसे पा को पिब, वे यहाँ तास् के आर्धधातुक होने से नहीं होते।

गम् (परस्मैपदी अनिट्)

१ **गन्ता**	**गन्तारौ**	**गन्तारः**
२ **गन्तासि**	**गन्तास्थः**	**गन्तास्थ**
३ **गन्तास्मि**	**गन्तास्वः**	**गन्तास्मः**

गम् ता। गं ता। अपदान्त म् को झल् परे होने पर अनुस्वार। गन्ता। अपदान्त अनुस्वार को नित्य परसवर्ण (प्रकृत में न्)।

हन् (परस्मैपदी अनिट्)

१ हन्ता	हन्तारौ	हन्तारः
२ हन्तासि	हन्तास्थः	हन्तास्थ
३ हन्तास्मि	हन्तास्वः	हन्तास्मः

भू (परस्मैपदी सेट्)

प्र० पु०	**भविता**	**भवितारौ**	**भवितारः**
म० पु०	**भवितासि**	**भवितास्थः**	**भवितास्थ**
उ० पु०	**भवितास्मि**	**भवितास्वः**	**भवितास्मः**

भू इ तास् डा (=आ)। भू इ त् आ। यहाँ डा प्रत्यय के लिये भू इ त् अङ्ग है जो लघूपध है (इ उपधा होने से)। अतः (३) से गुण प्राप्त होता है। पर यह 'इ' इट् है और इट् को गुण का निषेध किया है। दीधीवेवीटाम् (१।१।६)।

सम्-गम् (अकर्मक आत्मनेपदी)

प्र० पु०	**संगन्ता**[1]	**संगन्तारौ**	**संगन्तारः**
म० पु०	**संगन्तासे**	**संगन्तासाथे**	**संगन्ताध्वे**
उ० पु०	**संगन्ताहे**	**संगन्तास्वहे**	**संगन्तास्महे**

---

१. सम् पूर्वक अकर्मक गम् आत्मनेपदी है। सम् को अनुस्वार करके संगन्ता आदि रूप होंगे। पदान्त अनुस्वार को वैकल्पिक परसवर्ण करके सङ्-गन्ता आदि।

शी (सेट् आत्मनेपदी)

प्र० पु०	शयिता[1]	शयितारौ	शयितारः
म० पु०	शयितासे	शयितासाथे	शयिताध्वे
उ० पु०	शयिताहे	शयितास्वहे	शयितास्महे

लृट्

सामान्य भविष्यत् काल में होने वाली क्रिया को कहने वाली धातु से लृट् (प्रत्यय) का प्रयोग होता है। लृट् टित् लकार है, अतः लट् के जो आदेश-भूत प्रत्यय कहे हैं वे ही लृट् के हैं। हाँ इन प्रत्ययों से पूर्व 'शप्' आदि के स्थान में 'स्य' प्रत्यय होता है (१८१)। स्य वलादि आर्धधातुक है और शप् आदि तथा भाव-कर्म वाची लृट् परे रहते यक् का अपवाद है। अतः सेट् धातुओं से 'स्य' से पूर्व इट् (आगम) होता है। 'स्य' से पूर्व धातु के अन्त्य इक् को (२, ३) से गुण होता है अपवाद विषय को छोड़कर। ऐसे ही लघु उपधा इक् को भी गुण होता है। कुछेक धातुओं को आर्धधातुक प्रत्यय (प्रकृत में स्य) परे रहते आदेश हो जाता है जैसे अस् (होना) को भू, ब्रू को वच्, चक्षिङ् (चक्ष्) को ख्या (ञ्) हो जाता है। सार्वधातुक शप् आदि प्रत्ययों के परे रहते धातु को जो आदेश विधान किये हैं वे यहाँ 'स्य' के आर्धधातुक होने से नहीं होते जैसे दृश् को पश्य्, पा को पिब, घ्रा को जिघ्र्, स्था को तिष्ठ् इत्यादि।

भू (परस्मैपदी सेट्)

प्र० पु०	भविष्यति	भविष्यतः	भविष्यन्ति
म० पु०	भविष्यसि	भविष्यथः	भविष्यथ
उ० पु०	भविष्यामि	भविष्यावः	भविष्यामः

इट् से परे प्रत्यय 'स्य' के स् को आदेश—(८।३।५९) से ष् हो जाता है। भू ति। भू स्य ति। भू इ स्य ति। भो इ स्य ति। भव् इ स्य ति। भवि-ष्यति।

शीङ् (आत्मने० सेट्)

प्र० पु०	शयिष्यते (गुण, अय् आदेश)	शयिष्येते	शयिष्यन्ते
म० पु०	शयिष्यसे	शयिष्येथे	शयिष्यध्वे
उ० पु०	शयिष्ये	शयिष्यावहे(९)	शयिष्यामहे

---

१. यहाँ गुण होकर अय् आदेश होता है।

सम् गम् (अकर्मक होने पर) आत्मने०[1] अनिट्

प्र० पु०	**संगंस्यते** (संगत होगा)	**संगंस्येते**	**संगंस्यन्ते**
म० पु०	**संगंस्यसे**	**संगंस्येथे**	**संगंस्यध्वे**
उ० पु०	**संगंस्ये**	**संगंस्यावहे**	**संगंस्यामहे**

१८२—गम् से परे 'स्य' प्रत्यय को इट् होता है परस्मैपद प्रत्यय परे होने पर।[2] गम् के एकाच् अनुदात्त होने से इट्-निषेध प्राप्त था, सो यह विशेष विधान किया है।

गम् (परस्मैपदी)

१ **गमिष्यति**	**गमिष्यतः**	**गमिष्यन्ति**
२ **गमिष्यसि**	**गमिष्यथः**	**गमिष्यथ**
३ **गमिष्यामि**	**गमिष्यावः**	**गमिष्यामः**

१८३—ऋकारान्त धातुओं से तथा हन् से परे सकारादि आर्धधातुक को इट् होता है।[3] यह इट् निर्विशेष रूप से दोनों पदों में होता है। वृङ् वृञ् को छोड़कर सभी एकाच् ह्रस्व ऋकारान्त धातुएँ अनिट् हैं। यह इट् का विशेष विधान है।

ऋ (जाना)			**कृ**		
१ **अरिष्यति**	**अरिष्यतः**	**अरिष्यन्ति**	**करिष्यति**	**करिष्यतः**	**करिष्यन्ति**
२ **अरिष्यसि**	**अरिष्यथः**	**अरिष्यथ**	**करिष्यसि**	**करिष्यथः**	**करिष्यथ**
३ **अरिष्यामि**	**अरिष्यावः**	**अरिष्यामः**	**करिष्यामि**	**करिष्यावः**	**करिष्यामः**

---

१. समो गम्यृच्छिभ्याम् (वा०) से अकर्मक सम्पूर्वक गम् से आत्मनेपद होता है।

२. गमेरिट् परस्मैपदेषु (७।२।५८)। केवल गम् से जब भाव व कर्म वाच्य होने पर आत्मनेपद होगा तब भी इट् नहीं होगा—मया गंस्यते। जहाँ परस्मैपद प्रत्यय का लुक् हुआ है अथवा कृत् प्रत्यय है वहाँ भी वलादि आर्धधातुक को इट् होगा, केवल आत्मनेपद श्रूयमाण होने पर इट् नहीं—जिगमिषत्वम्। संजिगमिषिता। अधिजिगमिषिता व्याकरणस्य।

३. ऋद्धनोः स्ये (७।१।७०)।

४. आङ् पूर्वक हन् जब अकर्मक हो अथवा स्वाङ्ग-कर्मक हो तब इस से आत्मनेपद आता है।

हृ (लृट् परस्मै०)			हृ (लृट् आत्मने०)		
१ हरिष्यति	हरिष्यतः	हरिष्यन्ति	हरिष्यते	हरिष्येते	हरिष्यन्ते
२ हरिष्यसि	हरिष्यथः	हरिष्यथ	हरिष्यसे	हरिष्येथे	हरिष्यध्वे
३ हरिष्यामि	हरिष्यावः	हरिष्यामः	हरिष्ये	हरिष्यावहे	हरिष्यामहे
हन् (परस्मै०)			आङ् हन् (आ०)		
१ हनिष्यति	हनिष्यतः	हनिष्यन्ति	आहनिष्यते	आहनिष्येते	आहनिष्यन्ते
२ हनिष्यसि	हनिष्यथः	हनिष्यथ	आहनिष्यसे	आहनिष्येथे	आहनिष्यध्वे

लृङ्

१८४—भूत काल की (कहीं-कहीं भविष्यत् काल की भी) ऐसी क्रिया को कहने के लिये धातु मात्र से लृङ् लकार आता है जहाँ दो वाक्यों में भिन्न-भिन्न क्रियाएँ कही हों, जहाँ पूर्व वाक्यार्थ हेतु-भूत क्रिया हो और उत्तर-वाक्यार्थ हेतुमती क्रिया हो, जैसे कि लिङ् में होता है (हेतु-हेतुमतो लिङ्)। इस के प्रयोग के लिये यह भी आवश्यक है कि किसी कारण से पूर्ववाक्य की क्रिया न हो सकी हो जिससे उसके आश्रय से होने वाली परिणाम-रूप उत्तरवाक्य की क्रिया भी न हो सकी हो, ऐसा स्पष्ट हो।[1] यह लिङ् से लृङ् का प्रयोग-विषयक भेद है।

ङित् लकार होने से जो लङ् के आदेश-भूत प्रत्यय हैं वही लृङ् के हैं। केवल इन प्रत्ययों से पूर्व 'स्य' प्रत्यय आता है जो कर्तृवाची लृङ् परे होने पर शप् श्यन् आदि का अपवाद है और भाव कर्म-वाची लृङ् परे रहते यक् का अपवाद है। **देवश्चेदवर्षिष्यत् सुभिक्षमभविष्यत्**, यदि बादल बरसता तो सुभिक्ष (बह्वन्न) होता। यहाँ यह स्पष्ट है कि किसी कारण से बादल नहीं बरसा जिससे सुभिक्ष भी नहीं हुआ। पूर्ववाक्य में कही हुई वर्षण क्रिया उत्तरवाक्य में कही हुई सुभिक्ष की सत्ता का हेतु है पर वह वर्षण क्रिया हुई ही नहीं, जिससे सुभिक्ष भी न हुआ। **दक्षिणेन चेदयास्यन्न शकटं पर्याभविष्यत्**, यदि छकड़ा दाईं ओर से जाता तो न उलटता।

भविष्यत् लृङ् का उदाहरण—**यदि वर्षसहस्रमजीविष्यं तदा पुत्रशतमजनयिष्यम्**, यदि मैं सहस्र वर्ष जीऊँ (जिसकी संभावना नहीं, तो सौ पुत्र उत्पादन करूँ)।

---

१. लिङ्निमित्ते लृङ् क्रियातिपत्तौ (३।३।१३९)।

१८५—लुङ् तथा लृङ् परे रहते इङ् को विकल्प से गा (ङ्) आदेश होता है।[1]

१८६—घु-संज्ञक धातुओं के तथा मा, स्था, गा, पा, हा, सा के आ को ई हो जाता है हलादि कित् ङित् प्रत्यय परे होने पर।[2] गा-मा-दा-ग्रहणेष्वविशेषः, इस वचन के अनुसार गा से गै शब्दे, गाङ् गतौ, गा स्तुतौ, इङ् का आदेश गाङ्—सभी लिये जाते हैं। मा से मा (अदा०) तथा माङ् (जुहो०) दोनों। सूत्र में पा से वह धातु ली जाती है जिसे पिब आदेश होता है। हा त्यागार्थक ली जाती है, गत्यर्थक नहीं। सा=सो दिवा०।

भू (सेट् परस्मैपदी)

लृङ्

प्र० पु०	**अभविष्यत्**	**अभविष्यताम्**	**अभविष्यन्**
म० पु०	**अभविष्यः**	**अभविष्यतम्**	**अभविष्यत**
उ० पु०	**अभविष्यम्**	**अभविष्याव**	**अभविष्याम**

लङ् व लुङ् की तरह लृङ् परे होने पर भी धातु से पूर्व अट् वा आट् आगम होता है (१०)।

शी (सेट् आ०) लृङ्

प्र० पु०	**अशयिष्यत**	**अशयिष्येताम्**	**अशयिष्यन्त**
म० पु०	**अशयिष्याः**	**अशयिष्येथाम्**	**अशयिष्यध्वम्**
उ० पु०	**अशयिष्ये**	**अशयिष्यावहि**	**अशयिष्यामहि**

अधि इङ् (अनिट् आ०) लृङ्

१ **अध्यैष्यत**	**अध्यैष्येताम्**	**अध्यैष्यन्त**
२ **अध्यैष्यथाः**	**अध्यैष्येथाम्**	**अध्यैष्यध्वम्**
३ **अध्यैष्ये**	**अध्यैष्यावहि**	**अध्यैष्यामहि**

प्रक्रिया के लिये लङ् लकार का निरूपण देखें।

१ **अध्यगीष्यत**	**अध्यगीष्येताम्**	**अध्यगीष्यन्त**
२ **अध्यगीष्यथाः**	**अध्यगीष्येथाम्**	**अध्यगीष्यध्वम्**
३ **अध्यगीष्ये**	**अध्यगीष्यावहि**	**अध्यगीष्यामहि**

१८७—उपदेश (आद्योच्चारण) में एजन्त (एच् अन्त) धातु को आकार अन्तादेश होता है पर यह आदेश शित् प्रत्यय परे होने पर नहीं होता। यह

---

१. विभाषा लुङ् लृङोः (२।४।५०)।

२. घु-मा-स्था-गा-पा-जहाति-सां हलि (६।४।६६)।

आदेश अनैमित्तिक है। प्रत्यय के आने से पहले ही हो जाता है।[1]

१८८—मी (ञ्), मि (ञ्), दी (ङ्)—इन्हें एज्विषय में (जहाँ गुण होकर इनकी एकारान्तता सम्पन्न हो जाती है) तथा ल्यप् परे होने पर आकार अन्तादेश हो जाता है।[2] पूर्व सूत्र से औपदेशिक एच् को आकार विधान किया था, लाक्षणिक (लक्षण, सूत्र की प्रवृत्ति से बने) एच् को यह आदेश अप्राप्त था, सो यह इन धातुओं के विषय में विधान कर दिया।

१८९—लीङ् दिवा०, ली (क्र्या०) के 'ई' को एज्विषय में तथा ल्यप् परे होने पर विकल्प से'आ'हो जाता है।[3] यह व्यवस्थित विभाषा है। णिच् परे होने पर प्रलम्भन (धोखा देना) तथा शालीनीकरण (अभिभूत करना) अर्थों में आत्व नित्य होता है।

१९०—स्वृ, सू (अदा०), सू (दिवा०), धूञ् तथा ऊदित् धातुओं से वलादि आर्धधातुक को इट् आगम विकल्प से होता है।[4] स्वृ, सू (अदा०), सू (दिवा०)—ये तीनों अनुदात्त हैं, इनसे नित्य निषेध प्राप्त था। धूञ् उदात्त है इससे नित्य इट् प्राप्त था। सानुबन्धक धू का ग्रहण है, निरनुबन्धक धू विधूनने का नहीं। स्वृ से परे स्य को इट् होगा। इस विकल्प को ऋद्धनोः स्ये (७।२।७०) यह विशेष विधि बाध लेगी। कित् प्रत्यय परे होने पर श्र्युकः किति (७।२।११) से पूर्वविप्रतिषेध से यह विकल्प बाधित हो जाएगा—स्वृत्वा।

१९१—रध् आदि आठ धातुएँ, रध्, नश्, तृप्, दृप्, द्रुह्, मुह्, स्नुह्, स्निह् जो दिवा० में पढ़ी हैं उनसे परे वलादि आर्धधातुक को इट् विकल्प से आता है।[5] अनिट् कारिकाओं में तृप्, दृप् का पाठ केवल वैकल्पिक अम् आगम करने के लिए है। ये सब धातुएँ आचार्य ने उदात्त पढ़ी हैं, अतः इनसे नित्य इट् प्राप्त था।

१९२—निर् पूर्वक कुष् (जो सेट् है) से वलादि आर्धधातुक को इट् विकल्प से होता है।[6]

---

१. आदेच उपदेशेऽशिति (६।१।४५)।
२. मीनाति-मिनोति-दीङां ल्यपि च (६।१।५०)।
३. विभाषा लीयतेः (६।१।५१)।
४. स्वरति-सूति-सूयति-धूञूदितो वा (७।२।४४)।
५. रधादिभ्यश्च (७।२।४५)।
६. निरः कुषः (७।२।४६)।

१९३—ग्रह् धातु से परे वलादि आर्धधातुक को जो इट् होता है उसे दीर्घ हो जाता है, पर लिट्-सम्बन्धी वलादि आर्धधातुक के इट् को दीर्घ नहीं होता।[1]

१९४—वृङ्, वृञ् तथा ॠकारान्त धातुओं से परे वलादि आर्धधातुक के इट् को विकल्प से दीर्घ हो जाता है।[2]

१९५—विज् से परे इडादि आर्धधातुक प्रत्यय ङित्वत् होता है, जिससे गुण का निषेध हो जाता है।[3]

१९६—ऊर्णु (ञ्) धातु से परे इडादि आर्धधातुक प्रत्यय विकल्प से ङित्वत् होता है। इससे धातु को ङित् पक्ष में गुण नहीं होता।[4] गुणाभाव में 'उ' को उवङ् होगा।

१९७—तकारादि आर्धधातुक प्रत्यय को इष्, सह्, लुभ्, रुष्, रिष् से परे इट् आगम विकल्प से होता है।[5] इष् आदि सभी धातुएँ उदात्त (सेट्) हैं, अतः नित्य इट् प्राप्त था। इष् से यहाँ तुदादि इष् का ग्रहण इष्ट है।

१९८—सिच्-भिन्न सकारादि आर्धधातुक प्रत्यय परे होने पर कृत्, चृत्, छृद्, तृद्, नृत् से परे इट् विकल्प से होता है।[6]

१९९—स्नु, क्रम् से वलादि आर्धधातुक प्रत्यय को इट् तभी होता है जब धातु आत्मनेपद का निमित्त न हो।[7] दोनों धातु सेट् हैं, सर्वत्र इट् सिद्ध था। यहाँ नियम कर दिया है। स्नु व क्रम् वहाँ आत्मनेपद के निमित्त होते हैं जहाँ आत्मनेपद इनके आश्रित होता है अर्थात् जब भाव-कर्म, कर्म-कर्तृ, कर्म-व्यतिहार विषयभूत हों और क्रम् का वृत्ति आदि अर्थों में प्रयोग हो। आत्मने-पद होने पर ही इट् का निषेध है, आत्मनेपद के अभाव में नहीं। सो इस सूत्र का इट् प्रतिषेध में तात्पर्य है। परस्मैपद श्रूयमाण हो चाहे न हो इट् होगा, आत्मनेपद में ही निषेध होगा।

---

१. ग्रहोऽलिटि दीर्घः (७।२।३७)।
२. वृतो वा (७।२।३८)।
३. विज इट् (१।२।२)।
४. विभाषोर्णोः (१।२।३)।
५. तीष-सह-लुभ-रुष-रिषः (७।२।४८)।
६. सेऽसिचि कृत-चृद-च्छृद-तृद-नृतः (७।२।५७)।
७. स्नु-क्रमोरनात्मनेपदनिमित्ते (७।२।३६)।

२००—वृत्, वृध्, शृध्, स्यन्द् से परे सादि आर्धधातुक को इट् नहीं होता परस्मैपद परे होने पर। परस्मैपद से यहाँ तङ् और शानच् का अभाव विवक्षित है। स्यन्द् ऊदित् है। इससे इट् का विकल्प प्राप्त था। इस विकल्प को भी यह प्रतिषेध बाधता है। क्लृप् को तास् और सकारादि प्रत्यय परे होने पर इट् नहीं होता तङ् और आन के अभाव में।[1]

२०१—वृत्, वृध्, शृध्, स्यन्द् तथा क्लृप् से स्य व सन् प्रत्यय से परे विकल्प से परस्मैपद प्रत्यय आते हैं।[2]

२०२—क्लृप् से लुट् होने पर भी परस्मैपद विकल्प से होता है।[3]

२०३—ब्रू को आर्धधातुक प्रत्यय परे होने पर वच् आदेश होता है।[4]

२०४—चक्षिङ् (चक्ष्) को ख्याञ् आदेश होता है आर्धधातुक परे होने पर।[5] ख्याञ् ञित् है अतः इससे दोनों पद होंगे।

२०५—अस् को भू आदेश होता है आर्धधातुक प्रत्यय होने पर।[6]

२०६—सृज् व दृश् को अ (म्) आगम होता है झलादि अकित् प्रत्यय परे होने पर। मित् होने से यह आगम (अ) अन्त्य अच् (ऋ) से परे होता है।[7]

२०७—उपदेश में अनुदात्त ऋदुपध (ह्रस्व ऋ उपधा वाली) धातु को अम् आगम विकल्प से होता है झलादि अकित् प्रत्यय परे होने पर।[8]

२०८—भ्रस्ज् धातु के रेफ (र्) और उपधा (स्) के स्थान में रम् (र्) आगम होता है आर्धधातुक प्रत्यय परे होने पर।[9] आगम होने पर भी स्थान-

---

१. न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः (७।२।५९)। तासि च क्लृपः (७।२।६०)।
२. वृद्भ्यः स्य-सनोः (१।३।९२)।
३. लुटि च क्लृपः (१।३।९३)।
४. ब्रुवो वचिः (२।४।५३)।
५. चक्षिङः ख्याञ् (२।४।५५)।
६. अस्तेर्भूः (२।४।५२)।
७. सृजि-दृशोर्झल्यमकिति (६।१।५८)।
८. अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्यतरस्याम् (६।१।५९)।
९. भ्रस्जो रोपधयो रमन्यतरस्याम् (६।४।४७)।

षष्ठी (रोपधयोः) के निर्देश के कारण र् तथा उपधा की निवृत्ति हो जाती है ।

२०९—रध् तथा जभी (जभ्) को नुम् (न्) आगम होता है अच् परे होने पर ।[1]

२१०—इडादि प्रत्यय होने पर रध् को नुम् नहीं होता, लिट् में तो होता है ।[2] पूर्व सूत्र से प्राप्त था ।

२११—सकारान्त अङ्ग के स् को त् होता है सकारादि आर्धधातुक परे होने पर । [3]

२१२—दरिद्रा धातु के 'आ' का लोप हो जाता है आर्धधातुक प्रत्यय की विवक्षा होते ही ।[4]

२१३—गुप् आदि धातुओं से स्वार्थ में विहित आय आदि प्रत्यय आर्ध-धातुक प्रत्यय परे रहते विकल्प से होते हैं ।[5]

कुछेक प्रसिद्ध धातुओं के लुट् उ० पु० एक०, लृट् उ० पु० एक०, और लृङ् उ० पु० एक० में रूप दिए जाते हैं ।

धातु	लुट् उ० पु०	लृट् उ० पु०	लृङ् उ० पु०
इ (क्) (स्मरण करना)	**अध्येतास्मि**	**अध्येष्यामि**	**अध्यैष्यम्**
इ (ङ्)	**अध्येताहे**	**अध्येष्ये**	**अध्यैष्ये** / **अध्यगीष्ये** } (**१८५**) **१८६**, **१३९**,
इ (ण्)	**एतास्मि**	**एष्यामि**	**ऐष्यम्**
श्वि	**श्वयितास्मि**	**श्वयिष्यामि**	**अश्वयिष्यम्**
डी	**डयिताहे**	**डयिष्ये**	**अडयिष्ये**
क्षु	**क्षवितास्मि**	**क्षविष्यामि**	**अक्षविष्यम्**
क्ष्णु	**क्ष्णवितास्मि**	**क्ष्णविष्यामि**	**अक्ष्णविष्यम्**

---

१. रधिजभोरचि (७।१।६१) ।

२. नेट्यलिटि रधेः (७।१।६२) ।

३. सः स्यार्धधातुके (७।४।४९) ।

४. दरिद्रातेरार्धधातुके विवक्षिते आलोपो वाच्यः (वा०) ।

५. आयादय आर्धधातुके वा (३।१।३१) । आयादयः=आय, ईयङ्, णिङ् ।

नु	नवितास्मि	नविष्यामि	अनविष्यम्
यु	यवितास्मि	यविष्यामि	अयविष्यम्
रु	रवितास्मि	रविष्यामि	अरविष्यम्
स्नु	स्नवितास्मि	स्नविष्यामि	अस्नविष्यम्
ऊर्णु	ऊर्णवितास्मि ऊर्णुवितास्मि	ऊर्णविष्यामि (१९६) ऊर्णुविष्यामि	और्णविष्यम् और्णुविष्यम्
घ्रा	घ्रातास्मि	घ्रास्यामि	अघ्रास्यम्
दा	दातास्मि दाताहे	दास्यामि दास्ये	अदास्यम् अदास्ये
दा (प्) काटना	दास्यामि	दातास्मि	अदास्यम्
दरिद्रा	दरिद्रितास्मि	दरिद्रिष्यामि	अदरिद्रिष्यम्
धा	धातास्मि धाताहे	धास्यामि धास्ये	अधास्यम् अधास्ये
ध्मा	ध्मातास्मि	ध्मास्यामि	अध्मास्यम्
पा (पीना)	पातास्मि	पास्यामि	अपास्यम्
पा (रक्षा करना)	पातास्मि	पास्यामि	अपास्यम्
मा (अदा० समाना)	मातास्मि	मास्यामि	अमास्यम्
मा (ङ्) मापना, जुहो०	माताहे	मास्ये	अमास्ये
म्ना[1]	म्नातास्मि	म्नास्यामि	अम्नास्यम्
स्था	स्थातास्मि	स्थास्यामि	अस्थास्यम्
प्र-स्था	प्रस्थाताहे	प्रस्थास्ये	प्रास्थास्ये
हा (त्यागना)	हातास्मि	हास्यामि	अहास्यम्
हा (ङ्) [जाना]	हाताहे	हास्ये	अहास्ये
चि	चेतास्मि चेताहे	चेष्यामि चेष्ये	अचेष्यम् अचेष्ये

१. 'म्ना' का प्रयोग 'आङ्' उपसर्गपूर्वक ही होता है।

जि	जेतास्मि	जेष्यामि	अजेष्यम्
वि—जि[1]	विजेताहे	विजेष्ये	व्यजेष्ये
परा—जि	पराजेताहे	पराजेष्ये	पराजेष्ये
मि (ञ्)	मातास्मि (१८८)	मास्यामि	अमास्यम्
	माताहे	मास्ये	अमास्ये
श्रि[2]	श्रयितास्मि	श्रयिष्यामि	अश्रयिष्यम्
	श्रयिताहे	श्रयिष्ये	अश्रयिष्ये
स्मि	स्मेताहे	स्मेष्ये	अस्मेष्ये
हि[3]	प्रहेतास्मि	प्रहेष्यामि	प्राहेष्यम्
क्री	क्रेतास्मि क्रेताहे	क्रेष्यामि क्रेष्ये	अक्रेष्यम् अक्रेष्ये
डी[4]	उड्डयिताहे	उड्डयिष्ये	उदड्डयिष्ये
दी[5] (क्षीण होना)	उपदाताहे (१८८)	उपदास्ये	उपादास्ये
नी	नेतास्मि नेताहे	नेष्यामि नेष्ये	अनेष्यम् अनेष्ये
पी (ङ्) दिवा०	पेताहे	पेष्ये	अपेष्ये
भी	भेतास्मि	भेष्यामि	अभेष्यम्
मी (ञ्)	मातास्मि माताहे (१८८)	मास्यामि मास्ये	अमास्यम् अमास्ये

---

१. वि अथवा परा पूर्वक जि से आत्मनेपद प्रत्यय आते हैं। देखो आत्मनेपद प्रक्रिया।

२. श्रि सेट् है। धातु को गुण होकर 'श्रे इ तास्मि' इस अवस्था में 'ए' को 'अय्' होकर 'श्रयितास्मि' रूप सिद्ध होता है।

३. हि (स्वा०) का 'प्र' उपसर्ग के बिना प्रयोग लौकिक साहित्य में नहीं मिलता है। वेद में तो मिलता है—'**नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु** (ऋ० १०। ७१।५)।

४. डी (ङ्) भ्वा०, दिवा०, प्रायः उद् पूर्वक ही प्रयुक्त होती है केवल नहीं। सम् आदि दूसरे उपसर्गों का भी योग होता है।

५. भाष्य में 'उपादास्त' प्रयोग होने से उप-पूर्वक दीङ् के रूप दिए हैं।

ली	लातास्मि लेतास्मि	लास्यामि लेष्यामि	अलास्यम् अलेष्यम्
लीङ्	लाताहे लेताहे (१८६)	लास्ये लेष्ये	अलास्ये अलेष्ये
स्वृ (भ्वा०	स्वर्तास्मि स्वरितास्मि (१६०)	स्वरिष्यामि (१८३)	अस्वरिष्यम्
सू (अदा०)	प्रसोताहे प्रसविताहे	प्रसोष्ये प्रसविष्ये	प्रासोष्ये प्रासविष्ये
सू (दिवा०)	सोताहे सविताहे	सोष्ये सविष्ये	असोष्ये असविष्ये
सू (तुदा०)	सवितास्मि परासवितास्मि	सविष्यामि परासविष्यामि	असविष्यम् परासविष्यम्
धू (ञ्)	धोतास्मि धवितास्मि (१६०) धोताहे धविताहे	धोष्यामि धविष्यामि धोष्ये धविष्ये	अधोष्यम् अधविष्यम् अधोष्ये अधविष्ये
धू (कुटा०)	धुवितास्मि (१३६)	धुविष्यामि	अधुविष्यम्
नि—धू	निधुवितास्मि	निधुविष्यामि	न्यधुविष्यम्
ब्रू	वक्तास्मि वक्ताहे (२०३)	वक्ष्यामि वक्ष्ये	अवक्ष्यम् अवक्ष्ये
लू	लवितास्मि लविताहे	लविष्यामि लविष्ये	अलविष्यम् अलविष्ये
श्रु	श्रोतास्मि	श्रोष्यामि	अश्रोष्यम्
स्तु	स्तोतास्मि स्तोताहे	स्तोष्यामि स्तोष्ये	अस्तोष्यम् अस्तोष्ये
हु	होतास्मि	होष्यामि	अहोष्यम्
कृ	कर्तास्मि कर्ताहे	करिष्यामि करिष्ये	अकरिष्यम् अकरिष्ये

जागृ	जागरितास्मि	जागरिष्यामि	अजागरिष्यम्
आदृ	आदर्ताहे	आदरिष्ये	आदरिष्ये
मृ	मर्तास्मि[1]	मरिष्यामि	अमरिष्यम्
सृ	सर्तास्मि	सरिष्यामि	असरिष्यम्
हृ	हर्तास्मि, हर्ताहे	हरिष्यामि, हरिष्ये	अहरिष्यम्, अहरिष्ये
वृ (ङ्)	वरिताहे, वरीताहे	वरिष्ये, वरीष्ये	अवरिष्ये, अवरीष्ये
वृ (ञ्)	वरितास्मि, वरीतास्मि, वरिताहे, वरीताहे	वरिष्यामि, वरीष्यामि, वरिष्ये, वरीष्ये	अवरिष्यम्, अवरीष्यम्, अवरिष्ये, अवरीष्ये
कॄ	करितास्मि, करीतास्मि	करिष्यामि, करीष्यामि	अकरिष्यम्, अकरीष्यम्
तॄ	तरितास्मि, तरीतास्मि	तरिष्यामि, तरीष्यामि	अतरिष्यम्, अतरीष्यम्
ह्वे	ह्वातास्मि, ह्वाताहे	ह्वास्यामि, ह्वास्ये	अह्वास्यम्, अह्वास्ये
दे (ङ्)(रक्षा करना)	दाताहे (१८७)	दास्ये	अदास्ये
धे (ट्) (पीना, चूसना)	धातास्मि (१८७)	धास्यामि	अधास्यम्
दो (काटना)[2]	अवदातास्मि	अवदास्यामि	अवादास्यम्
छो	छातास्मि (१८७)	छास्यामि	अच्छास्यम्
शो[3]	निशातास्मि(१८७)	निशास्यामि	न्यशास्यम्
सो[4]	सातास्मि	(१८७)सास्यामि	असास्यम्
अव—सो	अवसातास्मि	अवसास्यामि	अवासास्यम्

१. मृङ् यद्यपि ङित् है तथापि शित् प्रत्यय के विषय में तथा लिङ् व लुङ् में ही आत्मनेपदी है। "म्रियतेर्लुङ्लिङोश्च" (१।३।६१)।

२. 'दो' धातु का प्रयोग प्रायः 'अव' पूर्वक होता है।

३. 'शो' का प्रयोग प्रायः 'नि' पूर्वक होता है।

४. 'सो' का प्रयोग प्रायः 'अव' पूर्वक होता है।

गै	गातास्मि (१८७)	गास्यामि	अगास्यम्
दै (प्)[1]	अवदातास्मि (१८७)	अवदास्यामि	अवादास्यम्
ध्यै	ध्यातास्मि (१८७)	ध्यास्यामि	अध्यास्यम्
शक् (स्वा०)	शक्तास्मि	शक्ष्यामि	अशक्ष्यम्
शक् (दिवा०)	शकितास्मि	शकिष्यामि	अशकिष्यम्
	शकिताहे	शकिष्ये	अशकिष्ये
ईक्ष्	ईक्षिताहे	ईक्षिष्ये	ऐक्षिष्ये
चक्ष् (ख्याञ्)	ख्यातास्मि	ख्यास्यामि	अख्यास्यम्
	ख्याताहे	ख्यास्ये	अख्यास्ये
तक्ष् (ऊदित्)	तक्षितास्मि	तक्षिष्यामि	अतक्षिष्यम्
	तष्टास्मि	तक्ष्यामि	अतक्ष्यम्
त्वक्ष् (ऊदित्)	त्वक्षितास्मि	त्वक्षिष्यामि	अत्वक्षिष्यम्
	त्वष्टास्मि	त्वक्ष्यामि	अत्वक्ष्यम्
पच्	पक्तास्मि	पक्ष्यामि	अपक्ष्यम्
	पक्ताहे	पक्ष्ये	अपक्ष्ये
मुच्	मोक्तास्मि	मोक्ष्यामि	अमोक्ष्यम्
	मोक्ताहे	मोक्ष्ये	अमोक्ष्ये
रच् (णिच्)	रचयितास्मि	रचयिष्यामि	अरचयिष्यम्
	रचयिताहे	रचयिष्ये	अरचयिष्ये
रिच्	रेक्तास्मि	रेक्ष्यामि	अरेक्ष्यम्
	रेक्ताहे	रेक्ष्ये	अरेक्ष्ये
रुच्	रोचिताहे	रोचिष्ये	अरोचिष्ये
विच्	वेक्तास्मि	वेक्ष्यामि	अवेक्ष्यम्
	वेक्ताहे	वेक्ष्ये	अवेक्ष्ये
वि-विच्[2]	विवेक्तास्मि	विवेक्ष्यामि	व्यवेक्ष्यम्
	विवेक्ताहे	विवेक्ष्ये	व्यवेक्ष्ये
विच्छ्	विच्छितास्मि	विच्छिष्यामि	अविच्छिष्यम्
	विच्छायितास्मि	विच्छायिष्यामि	अविच्छायिष्यम्
व्रश्च् (ऊदित्)	व्रष्टास्मि (१९०)	व्रक्ष्यामि	अव्रक्ष्यम्
	व्रश्चितास्मि	व्रश्चिष्यामि	अव्रश्चिष्यम्

१. 'दै (प्)' का प्रयोग प्रायः 'अव' पूर्वक होता है।

२. 'विच्' रुधा० उ० का प्रयोग प्रायः 'वि' पूर्वक देखा जाता है।

सिच्	सेक्तास्मि सेक्ताहे		सेक्ष्यामि सेक्ष्ये	असेक्ष्यम् असेक्ष्ये
प्रच्छ्	प्रष्टास्मि[1]		प्रक्ष्यामि	अप्रक्ष्यम्
अञ्ज् (ऊदित्)	अङ्क्तास्मि अञ्जितास्मि	(१९०)	अङ्क्ष्यामि अञ्जिष्यामि	आङ्क्ष्यम् आञ्जिष्यम्
त्यज्	त्यक्तास्मि		त्यक्ष्यामि	अत्यक्ष्यम्
भञ्ज्	भङ्क्तास्मि		भङ्क्ष्यामि	अभङ्क्ष्यम्
भुज्	भोक्तास्मि भोक्ताहे		भोक्ष्यामि भोक्ष्ये	अभोक्ष्यम् अभोक्ष्ये
भ्रस्ज्	भ्रष्टास्मि भ्रष्टाहे भर्ष्टास्मि भर्ष्टाहे	(२०८)	भ्रक्ष्यामि भ्रक्ष्ये भर्क्ष्यामि भर्क्ष्ये	अभ्रक्ष्यम् अभ्रक्ष्ये अभर्क्ष्यम् अभर्क्ष्ये
मस्ज्	मङ्क्तास्मि[2]		मङ्क्ष्यामि	अमङ्क्ष्यम्
मृज् (ऊदित्)	मार्ष्टास्मि मार्जितास्मि	(८७)	मार्क्ष्यामि मार्जिष्यामि	अमार्क्ष्यम् अमार्जिष्यम्
यज्	यष्टास्मि यष्टाहे		यक्ष्यामि यक्ष्ये	अयक्ष्यम् अयक्ष्ये
युज्	योक्तास्मि योक्ताहे		योक्ष्यामि योक्ष्ये	अयोक्ष्यम् अयोक्ष्ये
रञ्ज्	रङ्क्तास्मि रङ्क्ताहे		रङ्क्ष्यामि रङ्क्ष्ये	अरङ्क्ष्यम् अरङ्क्ष्ये
रुज्	रोक्तास्मि		रोक्ष्यामि	अरोक्ष्यम्
उद्-विज्	उद्विजिताहे	(१९५)	उद्विजिष्ये	उदविजिष्ये

---

१. 'प्रच्छ्' के 'च्छ्' को 'ष्' हो जाता है। 'स्' परे होने पर 'ष्' को 'क्' हो जाता है।

२. मस्जि-नशोर्झलि (७।१।६०)—यह सूत्र मस्ज् तथा नश् को नुम् (न्) आगम विधान करता है। मित् होने से नुम् अन्त्य अच् से परे होना चाहिए, पर 'मस्ज्' के अन्त्य वर्ण 'ज्' से पूर्व 'नुम् (न्)' आगम होता है, जिसे अनुस्वार होकर परसवर्ण 'ङ्' हो जाता है। 'मस्जेरन्त्यात्पूर्वो नुम्वाच्यः' (वा०)। संयोग (स् न्) जो झल्परक है, उसके आदि स् का लोप हो जाता है—स्कोः संयोगाद्योरन्ते च (८।२।२९)।

सञ्ज्	सङ्क्तास्मि	सङ्क्ष्यामि	असङ्क्ष्यम्
सृज्	स्रष्टास्मि (२०६)	स्रक्ष्यामि	अस्रक्ष्यम्
ऋत्	अर्तितास्मि ऋतीयिताहे [1]	अर्तिष्यामि ऋतीयिष्ये	आर्तिष्यम् आर्तीयिष्ये
कृत् (काटना कातना, लपेटना)	कर्तितास्मि	कर्तिष्यामि कर्त्स्यामि (१९८)	अकर्तिष्यम् अकर्त्स्यम्
स्वञ्ज्	स्वङ्क्ताहे	स्वङ्क्ष्ये	अस्वङ्क्ष्ये
पण्	पणिताहे (व्यवहार अर्थ में)	पणिष्ये	अपणिष्ये
(स्तुति में)	पणिताहे पणायितास्मि	पणिष्ये पणायिष्यामि	अपणिष्ये अपणायिष्यम्
चृत् (चीरना)	चर्तितास्मि	चर्त्स्यामि चर्तिष्यामि (१९८)	अचर्त्स्यम् अचर्तिष्यम्
वृत्	वर्तिताहे	वर्तिष्ये वर्त्स्यामि (२००)	अवर्तिष्ये अवर्त्स्यम्
कथ्	कथयितास्मि कथयिताहे	कथयिष्यामि कथयिष्ये	अकथयिष्यम् अकथयिष्ये
क्लिद् (ऊदित्)	क्लेदितास्मि क्लेत्तास्मि	क्लेदिष्यामि क्लेत्स्यामि	अक्लेदिष्यम् अक्लेत्स्यम्
छिद्	छेत्तास्मि छेत्ताहे	छेत्स्यामि छेत्स्ये	अच्छेत्स्यम् अच्छेत्स्ये
छृद्	छर्दितास्मि	छर्त्स्यामि छर्दिष्यामि (१९८)	अच्छर्त्स्यम् अच्छर्दिष्यम्
तुद्	तोत्तास्मि तोत्ताहे	तोत्स्यामि तोत्स्ये	अतोत्स्यम् अतोत्स्ये
तृद्	तर्दितास्मि	तर्त्स्यामि तर्दिष्यामि	अतर्त्स्यम् अतर्दिष्यम्
नुद्	नोत्तास्मि नोत्ताहे	नोत्स्यामि नोत्स्ये	अनोत्स्यम् अनोत्स्ये
पद्	पत्ताहे	पत्स्ये	अपत्स्ये

---

१. आर्धधातुक प्रत्यय परे रहते ईयङ् विकल्प से होता है। (२१३)। तास्, स्य आर्धधातुक हैं। ईयङ् के अभाव में यथाप्राप्त परस्मैपद होता है।

भिद्	भेत्तास्मि भेत्ताहे	भेत्स्यामि भेत्स्ये	अभेत्स्यम् अभेत्स्ये
विद् (जानना)	वेदितास्मि	वेदिष्यामि	अवेदिष्यम्
विद् (प्राप्त करना)	वेदितास्मि वेत्तास्मि	वेदिष्यामि वेत्स्यामि	अवेदिष्यम् अवेत्स्यम्
विद् (होना, विचार करना)	वेत्ताहे	वेत्स्ये	अवेत्स्ये
शद्	शत्तास्मि	शत्स्यामि	अशत्स्यम्
सद्	सत्तास्मि	सत्स्यामि	असत्स्यम्
स्कन्द्	स्कन्तास्मि	स्कन्त्स्यामि	अस्कन्त्स्यम्
स्यन्द् (ऊदित्)	स्यन्ताहे स्यन्दिताहे	स्यन्त्स्यामि स्यन्दिष्ये	अस्यन्त्स्यम् अस्यन्दिष्ये
स्विद् (दिवा०)	स्वेत्तास्मि	स्वेत्स्यामि	अस्वेत्स्यम्
क्रुध्	क्रोद्धास्मि	क्रोत्स्यामि	अक्रोत्स्यम्
बन्ध्	बन्द्धास्मि	भन्त्स्यामि	अभन्त्स्यम्
बुध् (दिवा०)	बोद्धाहे	भोत्स्ये	अभोत्स्ये
बुध् (भ्वा०)	बोधितास्मि बोधिताहे	बोधिष्यामि बोधिष्ये	अबोधिष्यम् अबोधिष्ये
युध्	योद्धाहे	योत्स्ये	अयोत्स्ये
रध्	रद्धास्मि रधितास्मि (१६१)	रत्स्यामि रधिष्यामि (१६१)	अरत्स्यम् अरधिष्यम्
रुध्	रोद्धास्मि रोद्धाहे	रोत्स्यामि रोत्स्ये	अरोत्स्यम् अरोत्स्ये
वृध्	वर्धिताहे	वर्धिष्ये वर्त्स्यामि	अवर्धिष्ये अवर्त्स्यम्
व्यध्	व्यद्धास्मि	व्यत्स्यामि	अव्यत्स्यम्
शृध्	शर्धिताहे	शर्धिष्ये शर्त्स्यामि (२०१)	अशर्धिष्ये अशर्त्स्यम्
तन्	तनितास्मि तनिताहे	तनिष्यामि तनिष्ये	अतनिष्यम् अतनिष्ये

पन्	पनिताहे (२१३) पनायितास्मि	पनिष्ये पनायिष्यामि	अपनिष्ये अपनायिष्यम्

आय-प्रत्ययान्त से आत्मनेपद नहीं होता। केवल से आत्मनेपद चरितार्थ हो चुका है।

मन्(दिवा०)	मन्ताहे	मंस्ये	अमंस्ये
मन् (तना०)	मनिताहे	मनिष्ये	अमनिष्ये
हन्	हन्तास्मि	हनिष्यामि (१८३)	अहनिष्यम्
कृप्(ऊदित्) क्लृप्	कल्प्तास्मि कल्पिताहे (२००, २०१, २०२)	कल्प्स्यामि कल्पिष्ये	अकल्प्स्यम् अकल्पिष्ये
आप्	आप्तास्मि	आप्स्यामि	आप्स्यम्
गुप् (ऊदित्)	गोप्तास्मि गोपितास्मि गोपायितास्मि	गोप्स्यामि गोपिष्यामि गोपायिष्यामि (१००) (२१३)	अगोप्स्यम् अगोपिष्यम् अगोपायिष्यम्
तृप्[1]	तर्प्तास्मि त्रप्तास्मि तर्पितास्मि	तर्प्स्यामि त्रप्स्यामि तर्पिष्यामि	अतर्प्स्यम् अत्रप्स्यम् अतर्पिष्यम्
त्रप् (ऊदित्)	त्रपिताहे त्रप्ताहे	त्रपिष्ये त्रप्स्ये	अत्रपिष्ये अत्रप्स्ये
धूप्	धूपितास्मि धूपायितास्मि (२१३)	धूपिष्यामि धूपायिष्यामि	अधूपिष्यम् अधूपायिष्यम्
लिप्	लेप्तास्मि लेप्ताहे	लेप्स्यामि लेप्स्ये	अलेप्स्यम् अलेप्स्ये
लुप्	लोप्तास्मि लोप्ताहे	लोप्स्यामि लोप्स्ये	अलोप्स्यम् अलोप्स्ये
स्वप्	स्वप्तास्मि	स्वप्स्यामि	अस्वप्स्यम्
जभ् (भ्वा० आ०)	जम्भिताहे (२०६)	जम्भिष्ये	अजम्भिष्ये

---

१. ठीक इसी प्रकार दृप् के रूप जानो।

रभ्[1] (आङ् पूर्वक)	आरब्धाहे	आरप्स्ये	आरप्स्ये
लभ्	लब्धाहे	लप्स्ये	अलप्स्ये
लुभ्	लोब्धास्मि लोभितास्मि	लोभिष्यामि (१९७)	अलोभिष्यम्
कम्	कमिताहे कामयिताहे (२१३)	कमिष्ये कामयिष्ये	अकमिष्ये अकामयिष्ये
क्रम्	क्रमितास्मि प्रक्रन्ताहे (१९९)	क्रमिष्यामि प्रक्रंस्ये (१९९)	अक्रमिष्यम् प्राक्रंस्ये
क्लम्	क्लमितास्मि	क्लमिष्यामि	अक्लमिष्यम्
क्षम् (ऊदित्)	क्षमितास्मि क्षन्तास्मि क्षमिताहे क्षन्ताहे	क्षमिष्यामि क्षंस्यामि क्षमिष्ये क्षंस्ये	अक्षमिष्यम् अक्षंस्यम् अक्षमिष्ये अक्षंस्ये
तम्	तमितास्मि	तमिष्यामि	अतमिष्यम्
दम्	दमितास्मि	दमिष्यामि	अदमिष्यम्
नम्	नन्तास्मि	नंस्यामि	अनंस्यम्
भ्रम्	भ्रमितास्मि	भ्रमिष्यामि	अभ्रमिष्यम्
रम्	रन्ताहे	रंस्ये	अरंस्ये
वि रम् (परस्मै०)	विरन्तास्मि	विरंस्यामि	व्यरंस्यम्
शम्	शमितास्मि	शमिष्यामि	अशमिष्यम्
श्रम्	श्रमितास्मि	श्रमिष्यामि	अश्रमिष्यम्
दिव् (दिवा०)	देवितास्मि	देविष्यामि	अदेविष्यम्
दिव् (चुरा०)	देवयिताहे	देवयिष्ये	अदेवयिष्ये
परि-दिव्	परिदेवयिताहे	परिदेवयिष्ये	पर्यदेवयिष्ये
दंश्	दंष्टास्मि	दङ्क्ष्यामि	अदङ्क्ष्यम्

---

१. 'रभ्' का प्रयोग प्रायः 'आङ्' के बिना नहीं होता। प्र+आङ् का भी प्रयोग होता है। सम्, परि आदि उपसर्ग भी देखे जाते हैं।

दिश्	देष्टास्मि देष्टाहे	देक्ष्यामि देक्ष्ये	अदेक्ष्यम् अदेक्ष्ये
दृश्	द्रष्टास्मि[1]	द्रक्ष्यामि	अद्रक्ष्यम्
नश्	नशितास्मि नंष्टास्मि [2]	नशिष्यामि नङ्क्ष्यामि	अनशिष्यम् अनङ्क्ष्यम्
इष् (तुदा०)	एषितास्मि एष्टास्मि	एषिष्यामि	ऐषिष्यम्
इष् (दिवा०) प्र-इष्	एषितास्मि प्रेषितास्मि	एषिष्यामि प्रेषिष्यामि	ऐषिष्यम् प्रैषिष्यम्
इष्(क्र्यादि)	एषितास्मि	एषिष्यामि	ऐषिष्यम्
कुष् निर् कुष्(२०७)	कोषितास्मि निष्कोषितास्मि निष्कोष्टास्मि (१९२)	कोषिष्यामि निष्कोषिष्यामि निष्कोक्ष्यामि	अकोषिष्यम् निरकोषिष्यम् निरकोक्ष्यम्
कृष् (भ्वा० तुदा०)	कर्ष्टास्मि क्रष्टास्मि	कर्क्ष्यामि क्रक्ष्यामि	अकर्क्ष्यम् अक्रक्ष्यम्
तुष्	तोष्टास्मि	तोक्ष्यामि	अतोक्ष्यम्
पिष्	पेष्टास्मि	पेक्ष्यामि	अपेक्ष्यम्
पुष् (दिवा०)	पोष्टास्मि	पोक्ष्यामि	अपोक्ष्यम्
पुष् (भ्वा०)	पोषितास्मि	पोषिष्यामि	अपोषिष्यम्
पुष्(क्र्यादि०)	पोषितास्मि	पोषिष्यामि	अपोषिष्यम्
पूष्	पूषितास्मि	पूषिष्यामि	अपूषिष्यम्
मुष्	मोषितास्मि	मोषिष्यामि	अमोषिष्यम्
मूष् (भ्वा०)	मूषितास्मि	मूषिष्यामि	अमूषिष्यम्

१. 'सृज्' की तरह यहाँ भी धातु की ऋ से परे अम् (अ) आगम होता है (२०६)। "सृजिदृशोर्झल्यमकिति"।

२. 'मस्ज्' की तरह यहाँ भी नश् के बीच में 'न' से परे नुम् '(न्)' आगम होता है, जब नश् से परे झल् हो। इस 'न्' को अनुस्वार होकर पर-सवर्ण हो जाता है। मस्जि-नशो र्झलि (७।१।६०)।

रिष् (भ्वा०, दिवा०)	रेषितास्मि रेष्टास्मि	रेषिष्यामि	अरेषिष्यम्
रुष्	रोषितास्मि रोष्टास्मि	रोषिष्यामि	अरोषिष्यम्
रिश् (तुदा०)	रेष्टास्मि	रेक्ष्यामि	अरेक्ष्यम्
रुश् (तुदा०)	रोष्टास्मि	रोक्ष्यामि	अरोक्ष्यम्
मृश्	मर्ष्टास्मि म्रष्टास्मि (२०७)	म्रक्ष्यामि मर्क्ष्यामि	अम्रक्ष्यम् अमर्क्ष्यम्
अस् (दिवा०)	असितास्मि	असिष्यामि	आसिष्यम् (आट् आगम)
अस् (अदादि०)	भवितास्मि	भविष्यामि	अभविष्यम्
घस् (भ्वा०)	घस्तास्मि	घत्स्यामि	अघत्स्यम्
वस् (भ्वा०)	वस्तास्मि	वत्स्यामि	अवत्स्यम्
वस् (अदा०)	वसिताहे	वसिष्ये	अवसिष्ये
शास्	शासितास्मि	शासिष्यामि	अशासिष्यम्
गुह् (ऊदित्)	गूहितास्मि गोढास्मि गूहिताहे गोढाहे	गूहिष्यामि घोक्ष्यामि गूहिष्ये घोक्ष्ये	अगूहिष्यम् अघोक्ष्यम् अगूहिष्ये अघोक्ष्ये
ग्रह्	ग्रहीतास्मि ग्रहीताहे	ग्रहीष्यामि ग्रहीष्ये	अग्रहीष्यम् अग्रहीष्ये
तृह् (तुदा० ऊदित्०)	तर्हितास्मि तर्ढास्मि	तर्हिष्यामि तर्क्ष्यामि	अतर्हिष्यम् अतर्क्ष्यम्
तृह् (रुधा०)	तर्हितास्मि	तर्हिष्यामि	अतर्हिष्यम्
दह्	दग्धास्मि	धक्ष्यामि	अधक्ष्यम्
दिह्	देग्धास्मि देग्धाहे	धेक्ष्यामि धेक्ष्ये	अधेक्ष्यम् अधेक्ष्ये
दुह्	दोग्धास्मि दोग्धाहे	धोक्ष्यामि धोक्ष्ये	अधोक्ष्यम् अधोक्ष्ये
द्रुह्	द्रोग्धास्मि द्रोढास्मि द्रोहितास्मि	ध्रोक्ष्यामि द्रोहिष्यामि	अध्रोक्ष्यम् अद्रोहिष्यम्

नह्	नद्धास्मि	नत्स्यामि	अनत्स्यम्
	नद्धाहे	नत्स्ये	अनत्स्ये
मिह्	मेढास्मि	मेक्ष्यामि	अमेक्ष्यम्
मुह्	मोग्धास्मि	मोक्ष्यामि	अमोक्ष्यम्
	मोढास्मि	मोक्ष्यामि	अमोक्ष्यम्
	मोहितास्मि	(१८१) मोहिष्यामि	अमोहिष्यम्
रुह्	रोढास्मि	रोक्ष्यामि	अरोक्ष्यम्
वह्	वोढास्मि[1]	वक्ष्यामि	अवक्ष्यम्
	वोढाहे	वक्ष्ये	अवक्ष्ये
सह् (सेट्)	सहिताहे (१९७)	सहिष्ये	असहिष्ये
	सोढाहे		
स्निह्	स्नेढास्मि	(१९१) स्नेक्ष्यामि	अस्नेक्ष्यम्
	स्नेग्धास्मि	स्नेहिष्यामि	अस्नेहिष्यम्
	स्नेहितास्मि		
स्नुह्	स्नोढास्मि	स्नोक्ष्यामि	अस्नोक्ष्यम्
	स्नोग्धास्मि	स्नोहिष्यामि	अस्नोहिष्यम्
	स्नोहितास्मि		

तुदादि धातुओं के अन्तर्गत कुछेक कुटादि धातुएँ पढ़ी गई हैं। उनसे परे ञित्-णित्-भिन्न[2] प्रत्यय को ङित् वत् समझा जाता है जिससे धातु को गुण नहीं होता। उनके लुट्, लृट्, लृङ् में रूप दिये जाते हैं—

	लुट् उ०पु०ए०	लृट् उ०पु०ए०	लृङ् उ०पु०ए०
कुट् (कुटिल चलना)	कुटितास्मि	कुटिष्यामि	अकुटिष्यम्
गुड् (रक्षा करना)	गुडितास्मि	गुडिष्यामि	अगुडिष्यम्
कुच् (संकुचित होना, करना)	संकुचितास्मि	संकुचिष्यामि	समकुचिष्यम्
छुर् (काटना)	छुरितास्मि	छुरिष्यामि	अच्छुरिष्यम्
स्फुट् (खिलना)	स्फुटितास्मि	स्फुटिष्यामि	अस्फुटिष्यम्

---

१. ह् को ढ्। त् को ध्। ष्टुत्व। ढ्-लोप। अवर्ण को ओ। सहिवहोरोदवर्णस्य (६।३।११२)।

२. ञित् णित् प्रत्यय परे होने पर गुण होगा—संकोचः (घञ्)। संचुकोच (लिट्, णल्)। संकोचयति (णिच्)।

त्रुट् (काटना)	त्रुटितास्मि	त्रुटिष्यामि	अत्रुटिष्यम्
स्फुर् (फड़कना)	स्फुरितास्मि	स्फुरिष्यामि	अस्फुरिष्यम्
स्फुल् (फड़कना)	स्फुलितास्मि	स्फुलिष्यामि	अस्फुलिष्यम्
व्रुड् (ढाँपना)	व्रुडितास्मि	व्रुडिष्यामि	अव्रुडिष्यम्
गुर् अव-पूर्वक	अवगुरिताहे	अवगुरिष्ये	अवागुरिष्ये
गु (टट्टी करना)	गुतास्मि	गुष्यामि	अगुष्यम्
णू (नू) (स्तुति करना)	नुवितास्मि	नुविष्यामि	अनुविष्यम्
धू (हिलाना)	धुवितास्मि	धुविष्यामि	अधुविष्यम्

प्रयोगमाला

१. यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया (शाकुन्तल ४।६)
२. किंवाऽभविष्यदरुणस्तमसां विभेत्ता तं चेत्सहस्रकिरणो धुरि नाकरिष्यत् (शाकुन्तल ७।४)
३. अवश्यं यातारश्चिरतरमुषित्वापि विषयाः (भर्तृ०)
४. अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः (गीता)।
५. यर्हि वाव[1] वो मयार्थो भविता तर्ह्येव वोऽहं पुनरागन्तास्मि (ऐ० ब्रा० १।२७)
६. अङ्ग कूज वृषल इदानीं ज्ञास्यसि जाल्म (काशिका)।
७. यद्यनारतं ग्रन्थेषु पर्यश्रमिष्यस्तदा नियतं परीष्टि[2]मुदतरिष्यः।
८. अद्य कारकाणि विम्रक्ष्यामः[3], श्वस्तिङन्तान्विमर्ष्टास्मः[4]।
९. यदि खलैः स्वं सम्पर्चिष्यसे[5], नरकं पत्स्यसे।[6]
१०. यो नोऽवस्कन्त्स्यति तं वयमिक्षुभेदं भेत्स्यामः।
११. अद्य कृतः प्रोक्ताः। श्वस्तद्धितान् प्रवक्तास्मः।
१२. तिष्ठ रे जाल्म! एषोहं ते रोक्ष्यामि[7] जानू, भङ्क्ष्यामि चोरू।

---

१. वाव—यह निश्चय-द्योतक निपात है। इसका वैदिक साहित्य में ही प्रयोग मिलता है। २. परीष्टि=परीक्षा। ३. वि-मृश्-लृट्। ४. वि मृश्—लुट्। अमागम के अभाव में रूप। ५. सम्—पृच् अदा०—लृट्। ६. पद् दिवा० आ०—लृट्। ७. रुज् तुदा०—लृट्।

१३. श्रीणीहि पयः, अभृतं ह्यचिराद् दोक्ष्यति[1] ।

१४. यदि च्छात्रः सन्नुलबणं वासो वसिष्यसे[2] तदाऽऽत्मानं हास्यतां नेष्यसे ।

१५. मा स्म कातरो भूः । अचिरात्ते संरोक्ष्यन्ति[3] व्रणाः ।

१६. फलानि शातयिष्यामीति तरोरस्य शाखां धुविष्यामि[4] ।

१७. एतेन मे सुचरितेन प्रसत्स्यति गुरुर्भूयश्च मयि स्नेक्ष्यति[5] ।

१८. दुर्जनैश्चेत् संस्रक्ष्यसे[6] क्षिप्रं विपत्स्यसे ।

१९. यदि मे सुहृन्मां मार्गं नादेक्ष्यन्महदनिष्टं प्रासङ्क्ष्यत्[7] ।

२०. मन्ये शास्त्रवचांसि मन्वानो यमान्नियमांश्च जुषमाणः क्षिप्रमहं तरीतास्मि शोकमहार्णवम् ।

---

१. दुष् दिवा०—लृट् । २. वस् अदा० आ० पहनना—लृट् । ३. सम्पूर्वक रुह्—लृट् । घाव भर जायेंगे । ४. धू तुदा० कुटादि, हिलाना—लृट् । ५. स्निह् दिवा० अकर्मक—लृट् । ६. सम्पूर्वक सृज् दिवा० आ० अकर्मक —लृट् । ७. प्रपूर्वक सञ्ज् भ्वा० प०—लृङ् ।

लुङ्-निरूपण

२१४—सामान्य भूतकाल तथा अद्यतन भूत (आज का अतीत काल) की क्रिया को कहने के लिये धातु से लुङ् (लकार) आता है।[१] दोनों पदों में लुङ् के वेही प्रत्यय हैं जो लङ् के। लुङ् में लावस्था में ही लङ् की तरह धातु से पूर्व अ (ट्) आगम होता है। यदि धातु अजादि (स्वरादि) हो तो आ (ट्)। लुङ्-लङ्-लृङ् क्ष्वड्डुदात्तः (६।४।७१)। आडजादीनाम् (६।४।७२)।

२१५—माङ् निषेधवाचक उपपद होने पर अट् आट् नहीं होते।[२] कर्तृवाची लुङ् परे होने पर धातु से परे अपने-अपने गण का विकरण नहीं आता। कारण कि लुङ् को तिङ् आदेश होने से पहले ही अङ्, सिच्, चङ्, आदि प्रत्यय धातु से परे आते हैं और ये आर्धधातुक हैं। शप् (अ) आदि विकरण तो कर्तृवाची सार्वधातुक प्रत्यय परे होने पर आते हैं।

२१६—सूत्रकार लुङ् परे रहते धातुमात्र से 'च्लि' प्रत्यय का विधान करते हैं।[3] अङ् सिच् आदि च्लि के ही आदेश हैं। हम यहाँ पहले उन धातुओं को लेंगे जिनसे अ (ङ्) प्रत्यय आता है।

दिवादिगण के अन्तर्गत पुषादिगण है। यह गण दिवादि के अन्त तक चलता है।

२१७—पुष् आदि धातुओं से परस्मैपद लुङ् में अङ् (अ) प्रत्यय आता है।[४] पुष् से पहले पढ़ी हुई दिव्, सिव्, ष्ठिव्, राध्, व्यध्, आदि धातुओं से सिच् प्रत्यय आता है। पुषादि धातुओं के अतिरिक्त द्युत् आदि धातुओं से तथा लृदित् (लृ जिनका इत् है) से भी अङ् आता है।

२१८—इरित् (इर् जिन का इत् है) धातुओं से विकल्प से अङ् आता है।[५] अङ् परे रहते धातु को गुण नहीं होता (५) और अनिदित् धातु के

---

१. लुङ् (३।२।११०)।

२. न माङ्योगे (६।४।७४)।

३. च्लि लुङि (३।१।४१)।

४. पुषादि-द्युताद्यलृदितः परस्मैपदेषु (३।१।५५)।

५. इरितो वा (३।१।५७)।

बीच के (उपधा-भूत) न्, म् और अनुस्वार का लोप हो जाता है (१३१)।

२१९—लुङ् तथा सन् प्रत्यय परे होने पर अद् (खाना) को घस्लृ (घस्) आदेश होता है।[1]

२२०—अङ् प्रत्यय परे रहते पत् धातु को पुम् (प्) आगम होता है।[2] मित् होने से यह आगम अन्त्य अच् (पकारोत्तरवर्ती अकार) से परे आता है और धातु का अंग बन जाता हैं।

२२१—आकारान्त धातु के 'आ' का लोप हो जाता है कित् ङित् अजादि आर्धधातुक तथा इडादि आर्धधातुक प्रत्यय परे होने पर।[3]

२२२—लिप्, सिच्, ह्वे—इन से लुङ् परे रहते अङ् प्रत्यय आता है।[4]

२२३—अस् (दिवा०), ब्रू का आदेश वच्, चक्ष् का आदेश ख्या (ञ्)—इनसे लुङ् परे रहते अङ् प्रत्यय आता है।[5] ब्रू तथा ख्या से दोनों पदों में यह प्रत्यय होता हैं। उपसर्ग-पूर्वक अस् से आत्मनेपद होने पर भी अङ् होगा। पुषादि होने से ही परस्मैपद में अङ् सिद्ध था।

२२४—अस् (दिवा०) को थुक् (थ्) आगम होता है अङ् प्रत्यय परे होने पर।[6]

२२५—ब्रू के आदेश वच् को उम् (उ)आगम होता है अङ् परे रहते।[7] मित् होने से यह आगम अन्त्य अच् (वकारोत्तरवर्ती अकार) से परे होता है।

२२६—सृ (जुहो०), शासु (शास्), ऋ (जुहो०) से लुङ् परे रहते अङ् प्रत्यय आता है।[8]

२२७—ऋकारान्त धातु तथा दृश् को अङ् परे रहते गुण होता है।[9] अङ् के ङित् होने से गुण का(५) से निषेध प्राप्त था।

---

१. लुङ्-सनोर्घस्लृ (२।४।३७)।
२. पतः पुम् (७।४।१९)।
३. आतो लोप इटि च (६।४।६४)।
४. लिपि-सिचि-ह्वश्च (३।१।५३)।
५. अस्यति-वक्ति-ख्यातिभ्योऽङ् (३।१।५२)।
६. अस्यतेस्थुक् (७।४।१७)।
७. वच उम् (७।४।२०)।
८. सर्ति-शास्त्यर्तिभ्यश्च (३।१।५६)।
९. ऋ-दृशोऽङि गुणः (७।४।१६)।

अङ् प्रत्यय

पुष् पुष्ट करना दिवा० प०

	अपुष् अ त्	अपुष् अ ताम्	अपुष् अ अन्
प्र० पु०	**अपुषत्**	**अपुषताम्**	**अपुषन्**
	अपुष् अ स्	अपुष् अ तम्	अपुष् अ त
म० पु०	**अपुषः**	**अपुषतम्**	**अपुषत**
	अपुष् अ अम्	अपुष् अ व	अपुष् अ म
उ० पु०	**अपुषम्** (८)	**अपुषाव** (६)	**अपुषाम**

धातु	गण	लुङ् प्र० पु० एक०			
शुष्	दिवा०	**अशुषत्**	द्रुह्	,,	**अद्रुहत्**
तुष्	,,	**अतुषत्**	मुह्	,,	**अमुहत्**
श्लिष्	,,	**अश्लिषत्**[1]	ष्णुह्	,,	**अस्नुहत्**
कुप्	,,	**अकुपत्**	ष्णिह्	,,	**अस्निहत्**
क्रुध्	,,	**अक्रुधत्**	रध्	,,	**अरधत्**[2]
क्षुध्	,,	**अक्षुधत्**	सिध्	,,	**असिधत्**
शुध्	,,	**अशुधत्**	स्विद्	,,	**अस्विदत्**
नश्	,,	**अनशत्**	मिद्	,,	**अमिदत्**
तृप्	,,	**अतृपत्**	तम्	,,	**अतमत्**
दृप्	,,	**अदृपत्**	दम्	,,	**अदमत्**
तृष्	,,	**अतृषत्**	शम्	,,	**अशमत्**
मद्	,,	**अमदत्**	श्रम्	,,	**अश्रमत्**
			भ्रम्	,,	**अभ्रमत्**

---

१. आलिङ्गन अर्थ में ही च्लि को क्स होता है, अतः समाश्लिषज्जतु काष्ठम् (लाख लकड़ी को चिपक गई)—यहाँ पुषादि होने से अङ् होता है।

२. रध् (सिद्ध होना, बनना) दिवादि अकर्मक धातु है। अजादि प्रत्यय परे होने पर इसे नुम् (न्) आगम होता है (२०६) अर्थात् धातु 'रन्ध्' इस रूप वाली हो जाती है। अङ् अजादि प्रत्यय है अतः यहाँ रध् को नुम् आगम होगा। पर इस नुम् (न्) का कित् ङित् प्रत्यय परे होने पर लोप हो जाता है। अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति (६।४।२४)। विधि सं० १३१।

क्लम् ,, अक्लमत्
क्षम् ,, अक्षमत्
भृश् ,, अभृशत्
भ्रंश् ,, अभ्रशत्(१३१)
कृश् ,, अकृशत्
हृष् ,, अहृषत्
रुष् ,, अरुषत्
प्लुष् ,, अप्लुषत्
ऋध् ,, आर्धत्
(आट्, वृद्धि)
गृध् ,, अगृधत्
कुस् ,, अकुसत्
यस् ,, अयसत्
तस् ,, अतसत्
दस् ,, अदसत्
लुभ् ,, अलुभत्
क्षुभ् ,, अक्षुभत्

लृदित्

आप् स्वा० आपत्
गम् भ्वा० अगमत्
सृप् ,, असृपत्
घस्(अद् का आदेश) अघसत्
पत् ,, अपप्तत्
पिष् रुधा० अपिषत्

विष् जुहो० अविषत्
मुच् तुदा० अमुचत्
लुप् ,, अलुपत्
विद् ,, अविदत्
शक् स्वा० अशकत्
शद् भ्वा० अशदत्
सद् ,, असदत्
लिप् तुदा० अलिपत्
सिच् ,, असिचत्
अस् दिवा० आस्थत्[1]
ब्रू (वच्) अदा० अवोचत्
चक्ष् ,, अख्यत्
सृ जुहो० असरत्
शास् अदा० अशिषत्
ऋ जुहो० आरत् (आट्)
ह्वे भ्वा० अह्वत (२२१)

इरित्

दृश् भ्वा० अदर्शत्
बुध् ,, अबुधत्
शुच् दिवा० (उ०) अशुचत्
रुद् अदा० अरुदत्
रुध् रुधा० अरुधत्
छिद् ,, अच्छिदत्[2]

---

१. अस्, ब्रू, ख्या से आत्मनेपद में भी अङ् होगा—पर्यास्थत। पर्यास्थेताम्। पर्यास्थन्त। अवोचत। अवोचेताम्। अवोचन्त। आङ्-पूर्वक ख्या—आख्यत। आख्येताम्। आख्यन्त। उपसर्ग-पूर्वक अस् से विकल्प से आत्मनेपद प्रत्यय होते हैं।

२. यहाँ 'छे च' (६।१।७३) से ह्रस्व 'अ' को तुक् (त्) आगम होता है। श्चुत्व विधि से त् को च्।

भिद्	,,	**अभिदत्**	**विच्**	,,	**अविचत्**
क्षुद्	,,	**अक्षुदत्**	**स्कन्द्**	भ्वा०	**अस्कदत्**
तृद्	,,	**अतृदत्**	**श्चुत्**	भ्वा० प०	**अश्चुतत्**
युज्	,,	**अयुजत्**	**श्च्युत्**	,,	**अश्च्युतत्**
रिच्	,,	**अरिचत्**	**च्युत्**	,,	**अच्युतत्**

स्मरण रहे इरित् धातुओं से अङ् परस्मैपद लुङ् में ही आता है, और वह भी विकल्प से। आत्मनेपद में यथाप्राप्त सिच् होगा।

२२८—जॄ, स्तम्भ्, म्रुच्, म्लुच्, ग्रुच्, ग्लुच्, ग्लुञ्च्, श्वि—इनसे च्लि को अङ् आदेश विकल्प से होता है, पक्ष में सिच् होगा [1]—

२२९—अङ् प्रत्यय परे होने पर 'श्वि' के 'इ' को 'अ' होता है।[2]

जॄ	दिवा०	**अजरत्**	**ग्लुच्**	भ्वा०	**अग्लुचत्**
स्तम्भ्		**अस्तभत्** (१३१)	**ग्लुञ्च्**	भ्वा०	**अग्लुचत्** (१३१)
म्रुच्	भ्वा०	**अम्रुचत्**	**श्वि**	भ्वा०	**अश्वत्** (२२९)
म्लुच्	,,	**अम्लुचत्**			
ग्रुच्	,,	**अग्रुचत्**			

नि म्रुच्, निम्लुच्=अस्त होना। **पुरा सूर्यस्य निम्रुचः**=सूर्य अस्त होने से पूर्व।

२३०—लिप्, सिच्, ह्वे—इनसे आत्मनेपद में विकल्प से अङ् होता है, पक्ष में सिच् होगा [3]।—

लिप्	तुदा०	**अलिपत**
सिच्	,,	**असिचत**
ह्वे	भ्वा० उ०	**अह्वत** (२२१)

२३१—सम्पूर्वक ऋ, श्रु, दृश् से आत्मनेपद होता है जब इन का अकर्मकतया प्रयोग हो।[4]

सम् ऋ (जुहो०) से आत्मनेपद में भी अङ् आता है। र्सात-शास्त्यर्तिभ्य-

---

१. जॄ-स्तम्भु-म्रुचु-म्लुचु-ग्रुचु-ग्लुचु-ग्लुञ्चु-श्विभ्यश्च (३।१।५८)।

२. श्वयतेरः (७।४।१८)।

३. आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम् (३।१।५४)।

४. अर्ति-श्रु-दृशिभ्यश्चेति वक्तव्यम् (वा०)।

श्च में परस्मैपद की अनुवृत्ति उत्तरार्थ (अगले सूत्रों के लिये) है। अतः आत्मने-पद में भी अङ् होकर **समारत समारेताम् समारन्त** आदि रूप होंगे। भट्टि का प्रयोग भी है—**समारन्त ममाभीष्टाः संकल्पास्त्वय्युपागते।** भाष्य में जो **मा समृषाताम्** यहाँ सिच् प्रत्यय करके प्रयोग किया है वह भौवादिक ऋ का है।

२३२—द्युत् आदि भ्वादिगण की धातुएँ आत्मनेपदी हैं, पर इनसे लुङ् परस्मैपद प्रत्यय भी आते हैं और जब परस्मैपद प्रत्यय आते हैं तो धातु से परे अङ् प्रत्यय आता है (२१७)।[1] अङ् ङित् है अतः प्रत्ययनिमित्तक गुण नहीं होता।

द्युत्	**अद्युतत्**	**स्रंस्** (स्रन्स्)	**अस्रसत्** (१३१)
रुच्	**अरुचत्**	**ध्वंस्** (ध्वन्स्)	**अध्वसत्** (१३१)
क्षुभ्	**अक्षुभत्**	**वृत्**	**अवृतत्**
शुभ्	**अशुभत्**	**वृध्**	**अवृधत्**
क्ष्विद्	**अक्ष्विदत्**	**स्यन्द्**	**अस्यदत्** (१३१)
मिद्	**अमिदत्**	**शृध्**	**अशृधत्**
स्विद्	**अस्विदत्**	**कृप्**	**अक्लृपत्**
श्वित्	**अश्वितत्**	**स्रम्भ्**	**अस्रभत्**
नभ्	**अनभत्**	**भ्रंश्** (भ्रन्श्, भ्वा०)	**अभ्रशत्**
तुभ्	**अतुभत्**	**भ्रंस्**	**अभ्रसत्**

सिच् प्रत्यय

२३३—लुङ् लकार में अङ्, चङ् आदि के विषय को छोड़कर सभी धातुओं से दोनों पदों में सिच् (स्) प्रत्यय आता है।[2] सिच् वलादि आर्ध-धातुक है। जो धातुएं सेट् हैं उनसे परे सिच् से पूर्व इट् आगम होता है। आत्मनेपद में सिच् परे होने पर धातु को गुण होता है, यह सामान्य विधि है।

२३४—झल् से परे सिच् का लोप हो जाता है झल् परे होने पर।[3]

---

१. द्युद्भ्यो लुङि (१।३।९१)।
२. च्लेः सिच् (३।१।४४)।
३. झलो झलि (८।२।२६)।

२३५—इक्-समीपवर्ती जो हल् तदन्त से परे झलादि लिङ् प्रत्यय और झलादि सिच् प्रत्यय कित् होते हैं आत्मनेपद परे होने पर।[1]

२३६—इणन्त अङ्ग से परे षीध्वम्, तथा लुङ्-सम्बन्धी ध्वम् और लिट्-सम्बन्धी ध्वे के ध् को मूर्धन्य ढ् हो जाता है।[2] इण् से इट्-भिन्न इण् विवक्षित है ऐसा भी पक्ष है। इस पक्ष में सिच् का लोप होने पर इट् के कारण बने इणन्त अङ्ग से परे ध् को ढ् नहीं होता। पक्षान्तर में होता है।

द्युत् (भ्वा० सेट् आ०)

लुङ्

प्र० पु०	**अद्योतिष्ट**[3]	**अद्योतिषाताम्**	**अद्योतिषत**
म० पु०	**अद्योतिष्ठाः**	**अद्योतिषाथाम्**	**अद्योतिध्वम्** / **अद्योतिढ्वम्**
उ० पु०	**अद्योतिषि**[4]	**अद्योतिष्वहि**	**अद्योतिष्महि**
	प्र० पु० ए०	म० पु० ए०	उ० पु० ए०
रुच्	**अरोचिष्ट**	**अरोचिष्ठाः**	**अरोचिषि**
शुभ्	**अशोभिष्ट**	**अशोभिष्ठाः**	**अशोभिषि**
मिद्	**अक्ष्वेदिष्ट**	**अमेदिष्ठाः**	**अमेदिषि**
भ्रंश्	**अभ्रंशिष्ट**	**अभ्रंशिष्ठाः**	**अभ्रंशिषि**
स्रंस्	**अस्रंसिष्ट**	**अस्रंसिष्ठाः**	**अस्रंसिषि**
ध्वंस्	**अध्वंसिष्ट**	**अध्वंसिष्ठाः**	**अध्वंसिषि**
वृत्	**अवर्तिष्ट**	**अवर्तिष्ठाः**	**अवर्तिषि**

---

१. लिङ्सिचावात्मनेपदेषु (१।२।११)।

२. इणः षीध्वं-लुङ्-लिटां धोऽङ्गात् (८।३।७८)।

३. अद्युत् स् त=अद्युत् इ स् त। अद्योति स् त=अद्योतिष्ट। स् सिच् प्रत्यय है और यह इण् (इट्, इ) से परे है अतः आदेशप्रत्यययोः (८।३।५९)से स् ष् को हुआ। तब ष्टुत्व विधि से त् को ट् होकर अद्योतिष्ट रूप सिद्ध हुआ।

४. अद्योतिढ्वम्—यहाँ (६३) से सिच् (स्) का लोप हो जाने पर ध्वम् के लिये अद्योति–यह इणन्त अङ्ग बन जाता है अतः ढत्व हो गया। यदि इण् से इट्-भिन्न इण् लेना है तो ढत्व नहीं होगा—अद्योतिध्वम् ऐसा रूप होगा।

वृध्	अवर्धिष्ट	अवर्धिष्ठाः	अवर्धिषि
स्यन्द्	अस्यन्दिष्ट अस्यन्त[1]	अस्यन्दिष्ठाः अस्यन्थाः	अस्यन्दिषि अस्यन्त्सि
कृप्	अकल्पिष्ट अक्लृप्त[2]	अकल्पिष्ठाः अक्लृप्थाः	अकल्पिषि अक्लृप्सि
स्रम्भ्		अस्रम्भिष्ट	अस्रम्भिषि

अधि इङ् को लुङ् परे रहते विकल्प से गाङ् आदेश होता है (१८५)। गाङ् से परे ञित्-णित् भिन्न प्रत्यय ङित् होता है (१३९)।

गाङ् को हलादि कित् ङित् प्रत्यय परे रहते 'ई' अन्तादेश हो जाता है[3]—

अधि इङ्

प्र० पु०	अध्यैष्ट[4]	अध्यैषाताम्	अध्यैषत
म० पु०	अध्यैष्ठाः	अध्यैषाथाम्	अध्यैढ्वम्
उ० पु०	अध्यैषि	अध्यैष्वहि	अध्यैष्महि

गा (ङ्) आदेश होने पर

प्र० पु०	अध्यगीष्ट (१८५)	अध्यगीषाताम्	अध्यगीषत
म० पु०	अध्यगीष्ठाः	अध्यगीषाथाम्	अध्यगीढ्वम्[5]

---

१. स्यन्द् ऊदित् है अतः इट् का (१६०) से विकल्प होता है। इडभाव-पक्ष में (२३४) से सिच् का लोप। झरो झरि सवर्णे ( ) से 'द्' का लोप।

२. अक्लृप्त—यहाँ इट् के अभाव में (२३५) से सिच् के कित् होने से गुण नहीं हुआ। गुण न होने से (२६) से ऋ को 'लृ' हुआ। (२३४) से सिच् का लोप।

३. घु-मा-स्था-गा-पा-जहाति-सां हलि (७।४।६६)। देखो विधि सं० (१८६)।

४. अधि आ इ स् त। अधि आ ए स् त। अधि ऐ स् त। अध्यै स् त =अध्यैष्ट। पहले आङ्ग कार्य गुण, तब 'आटश्च' से वृद्धि एकादेश, फिर यण्।

५. यहाँ (१८५) से इङ् को गा (ङ्) होकर (१८६) से 'आ' के स्थान में 'ई' हुआ है। अतः यह 'ई' धातु का ही है। इस लिये अङ्ग इणन्त है। (२३६) से नित्य ढत्व होता है।

उ० पु०	**अध्यगीषि**	**अध्यगीष्वहि**	**अध्यगीष्महि**

२३७—इण् से उत्तर इट् से परे षीध्वम् तथा लुङ् और लिट् के ध् को मूर्धन्य ढ् विकल्प से होता है।

शी (अदा० आ०)

प्र० पु०	**अशयिष्ट**	**अशयिषाताम्**	**अशयिषत**
म० पु०	**अशयिष्ठाः**	**अशयिषाथाम्**	**अशयिध्वम्** / **अशयिढ्वम्** [1]
उ० पु०	**अशयिषि**	**अशयिष्वहि**	**अशयिष्महि**

२३८—ह्रस्वान्त अङ्ग से परे सिच् का लोप हो जाता है झल् परे होने पर।[2]

२३९—ऋवर्णान्त धातु से परे आत्मनेपद-परक झलादि लिङ् तथा झलादि सिच् कित् होते हैं।[3]

२४०—संयोगादि ऋदन्त (ह्रस्व ऋकारान्त) धातु से आत्मनेपद-परक लिङ् तथा सिच् को विकल्प से इट् होता है।[4]

२४१—स्था तथा घु-संज्ञक धातुओं को इकार अन्तादेश होता है आत्मनेपद परक सिच् परे होने पर, और सिच् कित् होता है।[5]

२४२—पद् धातु से कर्तृवाची एकवचन 'त' शब्द परे होने पर च्लि को चिण् (इ) होता है।[6] चिण् में ण् वृद्धि के लिये है। च् स्वर के लिये।

२४३—चिण् से परे 'त' शब्द का लुक् हो जाता है।[7]

२४४—दीप्, जन्, बुध् (दिवा०), पूर्, (दिवा०) ताय् (भ्वा०), प्याय्

---

१. यहाँ अशयि—ध्वम् में अङ्ग इणन्त (यकारान्त) है, उस से परे इट् है जो ध्वम् आ आद्य अवयव है। अतः विभाषेटः (८।३।७९) (विधि सं० २३७) की प्रवृत्ति हुई और विकल्प से मूर्धन्य (ढ्) हुआ।

२. ह्रस्वादङ्गात् (८।२।२७)।

३. उश्च (१।२।१२)।

४. ऋतश्च संयोगादेः (७।२।४३)।

५. स्था-घ्वो रिच्च (१।२।१७)।

६. चिण् ते पदः (३।१।६०)।

७. चिणो लुक् (६।४।१०४)।

(भ्वा०)—इन से परे च्लि के स्थान में चिण् विकल्प से होता कर्तृवाची एक-वचन 'त' शब्द परे होने पर ।[1]

२४५—जन्, सन्, खन्—इन को आकार अन्तादेश होता है झलादि सन् और झलादि कित् ङित् प्रत्यय परे होने पर ।[2]

२४६—तन् आदि धातुओं से त, थास् प्रत्यय परे रहते विकल्प से सिच् का लुक् हो जाता है ।[3]

२४७—गम् धातु से परे आत्मनेपद-परक झलादि लिङ् व सिच् विकल्प से कित् होते हैं ।[4]

२४८—(सूचन) अर्थ में वर्तमान यम् धातु से परे आत्मनेपद-परक सिच् प्रत्यय कित् होता है ।[5] कित् होने से (५३) से 'म्' का लोप हो जाता है ।

२४९—उपयमन (पाणिग्रहण, विवाह) अर्थ में यम् से परे आत्मनेपद-परक सिच् विकल्प से कित् होता है ।[6] कित्त्व-पक्ष में (५३) से म् का लोप हो जाता है ।

धातु	प्र० पु० एक०	म० पु० एक०	उ० पु० एक०
क्री	अक्रेष्ट	अक्रेष्ठाः (बहु०) अक्रेढ्वम्)	अक्रेषि
वि-जि	व्यजेष्ट	व्यजेष्ठाः	व्यजेषि
नी	अनेष्ट	अनेष्ठाः	अनेषि
डीङ् (भ्वा०)	उदडयिष्ट	उदडयिष्ठाः	उदडयिषि
लू	अलविष्ट	अलविष्ठाः (बहु०) अलविध्वम्-ढ्वम्	अलविषि

---

१. दीप-जन-बुध-पूरि-तायि-प्यायिभ्योऽन्यतरस्याम् (३।१।६१) ।

२. जन-सन-खनां सञ्झलोः (६।४।४२) ।

३. तनादिभ्यस्तथासोः (२।४।७९) ।

४. वा गमः (१।२।१३) ।

५. यमो गन्धने (१।२।१५) ।

६. विभाषोपयमने (१।२।१६) ।

सू (प्रपूर्वक)	प्रासोष्ट प्रासविष्ट	प्रासोष्ठाः प्रासविष्ठाः	प्रासोषि प्रासविषि
आदृ प्र० पु०	आदृत (२३८,२३९)	आदृषाताम्	आदृषत
म० पु०	आदृथाः	आदृषाथाम्	आदृढ्वम्
उ० पु०	आदृषि	आदृष्वहि	आदृष्महि
	प्र० पु० एक०	म० पु० एक०	उ० पु० एक०
मृ	अमृत	अमृथाः	अमृषि
कृ	अकृत	अकृथाः बहु० अकृढ्वम्	अकृषि
,, (सुट् सहित)	समस्कृत[1]	समस्कृथाः	समस्कृषि
स्तृ (ञ्)	अस्तृत अस्तरिष्ट (२४०)	अस्तृथाः अस्तरिष्ठाः	अस्तृषि अस्तरिषि
प्र० पु०	अध्वृषाताम् अध्वरिषाताम्	अध्वृषत प्र० बहु० अध्वरिषत	(कर्मणि लुङ्)
स्मृ ,,	अस्मृषाताम् अस्मरिषाताम्	अस्मृषत अस्मरिषत	(कर्मणि लुङ्)
हृ	अहृत	अहृथाः	अहृषि
उपस्था प्र० पु०	उपास्थित[2]	उपास्थिषाताम्	उपास्थिषत
,, म० पु०	उपास्थिथाः	उपास्थिषाथाम्	उपास्थिध्वम्
,, उ० पु०	उपास्थिषि	उपास्थिष्वहि	उपास्थिष्महि
ज्ञा प्र० पु०	अज्ञास्त	अज्ञासाताम्	अज्ञासत
म० पु०	अज्ञास्थाः	अज्ञासाथाम्	अज्ञाध्वम् (६३)
उ० पु०	अज्ञासि	अज्ञास्वहि	अज्ञास्महि
	प्र० पु० ए०	म० पु० ए०	उ० पु० ए०
दीङ् (उपपूर्वक)	उपादास्त[3]	उपादास्थाः	उपादासि

१. एकाच उपदेशेऽनुदात्तात् (७।२।१०) से 'उपदेश' की अनुवृत्ति करके ऋतश्च संयोगादेः (७।२।४३) सूत्र में उपदेश में जो संयोगादि हो ऐसा अर्थ किया जाता है। सुट्-सहित कृ (स्कृ) उपदेश में संयोगादि नहीं है। अतः यहाँ वैकल्पिक इट् नहीं हुआ।

२. उप-पूर्वक स्था देवपूजा आदि अर्थ में आत्मनेपदी है। (२४१) से इकारान्तादेश और सिच् कित् होता है। ह्रस्वान्त अङ्ग होने से सिच् का लोप।

३. दीङ् का प्रायः उप-पूर्वक-प्रयोग होता है। एज्विषय में दीङ् के 'ई' को आत्व होता है (१८९)।

धीङ् (दिवा०)	अधेष्ट	अधेष्ठाः	अधेषि
मीङ् (दिवा०)	अमेष्ट	अमेष्ठाः	अमेषि
प्र-पूर्वक	प्रामेष्ट	प्रामेष्ठाः	प्रामेषि
लीङ् (दिवा०)	अलेष्ट	अलेष्ठाः	अलेषि
(१८९)	अलास्त	अलास्थाः	अलासि
विपूर्वक	व्यलेष्ट	व्यलेष्ठाः	व्यलेषि
धातु	प्र० पु० एक०	म० पु० एक०	उ० पु० एक०
दा	अदित	अदिथाः	अदिषि

द्वि०—अदिषाताम् (बहु०) अदिढ्वम्

धा	अधित	अधिथाः	अधिषि
माङ् (जुहो०)	अमास्त	अमास्थाः	अमासि
ईक्ष् प्र० पु०	ऐक्षिष्ट	ऐक्षिषाताम्	ऐक्षिषत
,, म० पु०	ऐक्षिष्ठाः	ऐक्षिषाथाम्	ऐक्षिध्वम् ऐक्षिढ्वम्
,, उ० पु०	ऐक्षिषि	ऐक्षिष्वहि	ऐक्षिष्महि
पच् प्र० पु०	अपक्त (२३४)	अपक्षाताम्	अपक्षत
,, म० पु०	अपक्थाः[1]	अपक्षाथाम्	अपग्ध्वम्
,, उ० पु०	अपक्षि	अपक्ष्वहि	अपक्ष्महि
	प्र० पु० एक०	म० पु० एक०	उ० पु० एक०
मुच्	अमुक्त	अमुक्थाः	अमुक्षि
भुज् (पालन से भिन्न अर्थ में)	अभुक्त	अभुक्थाः	अभुक्षि
यज्	अयष्ट (२३४)	अयष्ठाः	अयक्षि
युज्	अयुक्त	अयुक्थाः	अयुक्षि

---

१. अपक्थाः—यहाँ झलो झलि से सिच् का लोप। चोः कुः (चवर्ग को कवर्ग आदेश झल् परे होने पर अथवा पदान्त में)। अपक्षाताम् में सिच् का लोप नहीं हो सका, कारण कि यद्यपि सिच् से पूर्व झल् (च्) है, परे झल् नहीं है, किन्तु अच् (आताम् का आ) है। अपग्ध्वम्। धि च (६३) से सिच् का लोप होने पर च् को कुत्व हुआ, क् को जश्त्व विधि से ग्।

विज्(उद्पूर्वक)	उदविजिष्ट (१६५)	उदविजिष्ठाः	उदविजिषि
पद् प्र० पु०	अपादि (२४२, २४३)	अपत्साताम्	अपत्सत
,, म० पु०	अपत्थाः	अपत्साथाम्	अपद्ध्वम्
,, उ० पु०	अपत्सि	अपत्स्वहि	अपत्स्महि
दीप् (दिवा०)	अदीपि अदीपिष्ट (२४४)	अदीपिष्ठाः	अदीपिषि
जन् (दिवा०)	अजनि अजनिष्ट	अजनिष्ठाः	अजनिषि
बुध् (दिवा०)[1]	अबोधि अबुद्ध	अबुद्धाः	अभुत्सि[2]
पूर् (दिवा०)	अपूरि अपूरिष्ट	अपूरिष्ठाः	अपूरिषि
ताय् (भ्वा०)	अतायि अतायिष्ट	अतायिष्ठाः	अतायिषि
प्याय्[3] (भ्वा०)	अप्यायि अप्यायिष्ट	अप्यायिष्ठाः	अप्यायिषि
छिद्	अच्छित्त (२३४, २३५)	अच्छित्थाः	अच्छित्सि
भिद्	अभित्त	अभित्थाः	अभित्सि
विद् (होना)	अवित्त	अवित्थाः	अवित्सि
तुद्	अतुत्त	अतुत्थाः	अतुत्सि
बुध् (दिवा०)	अबुद्ध (अबोधि)	अभुत्साताम्	अभुत्सत
,, म० पु०	अबुद्धाः	अभुत्साथाम्	अभुद्ध्वम्
,, उ० पु०	अभुत्सि	अभुत्स्वहि	अभुत्स्महि
युध् प्र०पु०एक०	अयुद्ध म० पु० एक०	अयुद्धाः उ० पु० एक०	अयुत्सि
रुध्	अरुद्ध	अरुद्धाः	अरुत्सि

---

१. भ्वादि स्वरितेत् बुधिर् का आत्मनेपद में 'अबोधिष्ट' ऐसा लुङ् में रूप होगा।

२. यहाँ (पृ० ७८) पर दी हुई प्रक्रिया के अनुसार धातु के बश् को भष् हो जाता है। ऐसे ही अभुद् ध्वम् में होता है।

३. प्याय् का प्रायः आङ्, प्र पूर्वक प्रयोग देखा जाता है।

तन्	अतनिष्ट अतत[1] (२४६)	अतनिष्ठाः अतथाः	अतनिषि
सन्	असनिष्ट (२४६) असात (२४५)	असनिष्ठाः असाथाः	असनिषि
क्षण	अक्षणिष्ट अक्षत	अक्षणिष्ठाः अक्षथाः	अक्षणिषि
क्षिण्	अक्षेणिष्ट अक्षित	अक्षेणिष्ठाः अक्षिथाः	अक्षेणिषि
मन् (दिवा०)	अमंस्त	अमंस्थाः अमन्ध्वम् (बहु०)	अमंसि
मन् (तना०)	अमनिष्ट, अमत[2]	अमनिष्ठाः, अमथाः	अमनिषि
वन्	अवनिष्ट अवत	अवनिष्ठाः अवथाः	अवनिषि
लिप्	अलिप्त अलिपत (२३०)	अलिप्थाः अलिपथाः	अलिप्सि अलिपे
सिच्	असिक्त असिचत	असिक्थाः असिचथाः	असिक्षि असिचे
रभ्	अरब्ध[3]	अरब्धाः	अरप्सि
लभ्	अलब्ध	अलब्धाः	अलप्सि
सम् गम्	समगंस्त समगत [4]	समगंस्थाः समगथाः	समगंसि समगसि

---

१. अतत—यहाँ सिच् का लुक् होने पर (५३) से अनुनासिक (न्) का लोप हो जाता है।

२. मनु अवबोधने तनादि सेट् है। वैकल्पिक सिच् का लुक् हो जाने पर इट् का प्रसङ्ग ही नहीं। इट् वलादि आर्धधातुक को विधान किया है। 'त' प्रत्यय सार्वधातुक है।

३. झष् से परे त, थ को ध् हो जाता है। ध् हो जाने पर 'भ्' को जश्त्व (ब्) हो जाता है।

४. (२४७) से सिच् प्रत्यय विकल्प से कित् होता है। कित्त्व पक्ष में (५३) से अनुनासिक लोप। सम्पूर्वक गम् से आत्मनेपद होता है जब यह अकर्मक हो—गङ्गा यमुनया संगच्छते। खलैर्मा संगंस्थाः।

आ-यम्	आयंस्त[1]	आयंस्थाः	आयंसि
वि-आ-यम्	व्यायंस्त	व्यायंस्थाः	व्यायंसि
उदा-यम्	उदायत[2]	उदायथाः	उदायसि
उप-यम्	उपायंस्त / उपायत [3]	उपायंस्थाः / उपायथाः	उपायंसि / उपायसि
आ-हन्	आहत[4]	आहथाः	आहसि
	आवधिष्ट[5]	आवधिष्ठाः	आवधिषि
सम् चक्ष्	समचक्षिष्ट[6]	समचक्षिष्ठाः	समचक्षिषि

---

१. आयंस्त स्वाङ्गम् (अकड़ाई ली)। यहां गन्धन (सूचन) अर्थ न होने से सिच् कित् नहीं हुआ, अतः कित्त्वाभाव में अनुनासिक लोप भी नहीं हुआ। स बाढं व्यायंस्त बाढं चास्विदत्, उसने खूब व्यायाम किया और उसे खूब पसीना आया।

२. उदाङ्पूर्वक यम् का धातुओं के अनेकार्थ होने से जब सूचन अर्थ हो तो सिच् कित् होता है—देवदत्तो यज्ञदत्तमुदायत=देवदत्तो यज्ञदत्तेन प्रच्छाद्यमानमवद्यमाविरकरोत्तेन तं हिंसितवान्। देवदत्त ने यज्ञदत्त के गुप्त दोष को प्रकट किया, और ऐसा करने से उसे हानि पहुंचाई। सूचन अर्थ न होने पर उदायंस्त पादम्, पैर उठाया। उदायंस्त कूपादुदकम्=उद्धृतवान्=निकाला। यहाँ कित्त्व नहीं हुआ।

३. सूत्र में पढ़े 'स्वकरण' का अर्थ पाणिग्रहण है, स्वीकारमात्र नहीं। भट्टि का 'मोपायध्वं भयम्' ऐसा प्रयोग करना साम्प्रदायिक अर्थ की अवहेलनामात्र है।

४. आङो यमहनः (१।३।२८) से आत्मनेपद हुआ। अर्थ है—आङ्पूर्व यम् तथा हन् से आत्मनेपद होता है जब या तो यम् व हन् अकर्मक हों या स्वाङ्गकर्मक (जब कर्ता का अपना शरीराङ्ग ही कर्म हो)।

५. हन् को आत्मनेपद में लुङ् परे रहते वध् आदेश विकल्प से होता है। आङ् के बिना हन् से कर्तृवाची लुङ् में आत्मनेपद प्रत्यय आ नहीं सकते, अतः वध् आदेश आङ्पूर्वक हन् को ही होगा। इसलिए आवधिष्ट रूप ही होना चाहिये, आङ् रहित अवधिष्ट नहीं।

६. सम्पूर्वक चक्ष् का वर्जन अर्थ है, जैसे संचक्ष्या दुर्जनाः—यहाँ। और वर्जन अर्थ में ख्याञ् आदेश इष्ट नहीं।

ग्रह्	अग्रहीष्ट	अग्रहीष्ठाः	अग्रहीषि
गुह् (ऊदित्)	अगूहिष्ट (१६०, ४७)	अगूहिष्ठाः	अगूहिषि
वह्	अवोढ	अवक्षाताम्	अवक्षत
	अवोढाः (पृ० २२६, टि० सं० १)	अवक्षाथाम्	अवोढ्वम्
	अवक्षि	अवक्ष्वहि	अवक्ष्महि
सह्	असोढ / असहिष्ट (१६७)	असहिषाताम्	असहिषत
	असहिष्ठाः	असहिषाथाम्	असहिढ्वम् / असहिढ्वम्
	असहिषि	असहिष्वहि	असहिष्महि

परस्मैपदी धातुओं के लुङ् लकार में रूप बनाने के कुछ विशेष नियम हैं—

२५०—सिच् परे होने पर धातु के अन्तिम इक् (इ, उ, ऋ) को वृद्धि (=ऐ, औ, आर्) होती है [१] परस्मैपद परे होने पर । इसे इगन्त-लक्षणा वृद्धि कहते हैं । यह गुण का अपवाद है ।

२५१—जागृ धातु को वि, चिण्, णल्, ङित् को छोड़कर किसी और प्रत्यय के परे रहते वृद्धि-विषय में तथा प्रतिषेध-विषय में गुण होता है ।[२] आशीर्लिङ् में यासुट् कित् होता है, किति च (५) से गुण का निषेध होना चाहिये, पर वहाँ जागृ को गुण होता है—जागर्यात् । असंयोगान्त धातु से अपित् लिट् प्रत्यय कित् होता है, पर वहाँ जागृ को गुण होता है—जजागरतुः । जजागरुः । सिच् परे रहते इगन्तलक्षणा वृद्धि प्राप्त होती है, पर वहाँ भी इसे गुण ही होता है, वृद्धि नहीं । सिच् प्रत्यय परे (सिचि वृद्धि) इगन्तलक्षणा वृद्धि को यह गुण बाधता है ।

२५२—वद्, व्रज् तथा दूसरी हलन्त धातुओं के बीच में आये हुए अच् को वृद्धि होती है ।[3] इसे हलन्त-लक्षणा वृद्धि कहते हैं ।

२५३—इडादि सिच् परे होने पर हलन्त अङ्ग को वृद्धि नहीं होती ।[४] इट् आने पर भी अजन्त (इगन्त) अंग को वृद्धि निर्बाध होगी ।

---

१. सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु (७।२।१) ।

२. जाग्रोऽवि-चिण्-णल्-ङित्सु (७।३।८५) ।

३. वद-व्रज-हलन्तस्याचः (७।२।३) ।

४. नेटि (७।२।४) ।

त्, स् (प्र० पु०, म० पु० एकवचन) से पूर्व 'ई (ट्)' आगम होता है धातु से सिच् परे होने पर। (८४)

२५४—यदि सिच् से पहले इट् आया हो (जो सेट् धातु से परे आता है) और परे 'ईट्' हो तो सिच् का लोप हो जाता।[1]

सिच् का लोप जो आष्टमिक है, एकादेश (जैसे सवर्ण दीर्घ एकादेश) की कर्तव्यता में सिद्ध होता है (असिद्ध नहीं) ऐसा वार्तिक है।

२५५—हलादि (और हलन्त) धातु के लघु 'अ' को विकल्प से वृद्धि होती है इडादि सिच् परे होने पर।[2] यदि 'अ' से परे संयोग होगा तो 'अ' गुरु हो जायेगा तब यह वैकल्पिकी वृद्धि नहीं होगी।

सिच् (प्रत्यय), अभ्यस्त धातु तथा विद् (जानना) से परे ङित् लकार-सम्बन्धी झि को जुस् (उस्) होता है। (७८)

२५६—वृङ्, वृञ् तथा ॠकारान्त धातुओं से परें परस्मैपद-परक सिच् को जो इट् हो उसे दीर्घ नहीं होता।[3]

२५७—स्पृश्, मृश्, कृष्, तृप्, दृप्—इन से परे च्लि को विकल्प से सिच् होता है।[4] पक्ष में स्पृश्, मृश्, कृष् से क्स (जिस के विषय में आगे कहा जाएगा) और तृप्, दृप् से अङ् (जिसके विषय में कहा जा चुका है) होता है।

२५८—रेफ और ल जो अकार के समीप हों तदन्त अङ्ग के 'अ' को (नित्य) वृद्धि होती है।[5] यह (२५३, २५५) का अपवाद है।

२५९—हकारान्त, मकारान्त, यकारान्त अङ्गों को तथा, क्षण्, श्वस्, जागृ, ण्यन्त, श्वि तथा एदित् धातुओं को इडादि परस्मैपद-परक सिच् होने पर वृद्धि नहीं होती।[6] हकारान्त, मकारान्त, यकारान्त, क्षण्, श्वस्, एदित् से जो वृद्धि का निषेध किया है यह (२५५) का अपवाद है। जागृ, ण्यन्त, श्वि से जो निषेध किया वह (२५०) का अपवाद है।

---

१. इट ईटि (८।२।२८)। सिज्लोप एकादेशे सिद्धो वाच्यः (वा०)।
२. अतो हलादेर्लघोः (७।२।७)।
३. सिचि च परस्मैपदेषु (७।२।४०)।
४. स्पृश-मृश-कृष-तृप-दृपां च्लेः सिज्वा वाच्यः (वा०)।
५. अतो ल्रान्तस्य (७;२।२)।
६. ह्म्यन्त-क्षण-श्वस-जागृ-णि-श्व्येदिताम् (७।२।५)।

चि (चुनना) स्वा०

प्र० पु०	अचैषीत् (२५०)	अचैष्टाम्	अचैषुः
म० पु०	अचैषीः	अचैष्टम्	अचैष्ट
उ० पु०	अचैषम्	अचैष्व	अचैष्म
धातु	प्र० पु० एक०	म० पु० एक०	उ० पु० एक०
जि	अजैषीत्	अजैषीः	अजैषम्
हि	अहैषीत्	अहैषीः	अहैषम्
क्री	अक्रैषीत्	अक्रैषीः	अक्रैषम्
नी	अनैषीत्	अनैषीः	अनैषम्
भी	अभैषीत्	अभैषीः	अभैषम्
ऋ (भ्वा०)	आर्षीत्	आर्षीः	आर्षम्
कृ	अकार्षीत्	अकार्षीः	अकार्षम्
स्मृ	अस्मार्षीत्	अस्मार्षीः	अस्मार्षम्
स्वृ	अस्वार्षीत् अस्वारीत्[1]	अस्वार्षीः अस्वारीः	अस्वार्षम् अस्वारिषम्
हृ	अहार्षीत्	अहार्षीः	अहार्षम्
ह्वृ	अह्वार्षीत्	अह्वार्षीः	अह्वार्षम्
वृ प्र आङ् पूर्वक	प्रावारीत्[2] (२५०)	प्रावारिष्टाम् (२५६)	प्रावारिषुः
म० पु०	प्रावारीः	प्रावारिष्टम्	प्रावारिष्ट
उ० पु०	प्रावारिषम्	प्रावारिष्व	प्रावारिष्म
सं-वृ प्र० पु०	समवारीत्	समवारिष्टाम्	समवारिषुः
तॄ	अतारीत् (२५०) (द्वि०) अतारिष्टाम्	अतारीः (म० पु०)	अतारिषम् (२५६)

१. स्वृ सेट् है, पर (१६१) से इसे इडागम विकल्प से होता है। (२५०)से वृद्धि होती है। इडागम-पक्ष में भी यह वृद्धि होती है। (नेटि ७।२।४) से इसे रोका नहीं जा सकता, कारण कि उससे हलन्त-लक्षणा वृद्धि का निषेध होता है। 'स्वृ' अजन्त है।

२. प्र आङ् पूर्वक वृञ् का भी वही अर्थ है जो केवल धातु का है। प्राङ् वृ=वस्त्र आदि से ढाँपना। यह अर्थ प्रावरणम् आदि शब्दों में स्पष्ट है। सं वृ का गोपन, संकोचन, बन्द करना अर्थ है।

कृ	अकारीत्	अकारीः	अकारिषम्
	द्वि० अकारिष्टाम् (२५६)		(२५६)
विपूर्वक कृ	व्यकारीत्	व्यकारीः	व्यकारिषम्
जृ	अजारीत्[1]	अजारीः	अजारिषम्

२६०—स्तु, सु (स्वा०), धूञ् से परे सिच् को नित्य इट् होता है परस्मैपद में। स्तु, सु से प्राप्ति नहीं थी। धूञ् से (१९०) से इट् का विकल्प प्राप्त था।[2]

धातु	प्र० पु०	म० पु०	उ० पु०
श्रु	अश्रौषीत्	अश्रौषीः	अश्रौषम्
सु (स्वा०)	असावीत्	असावीः	असाविषम्
स्तु	अस्तावीत्	अस्तावीः	अस्ताविषम्
हु	अहौषीत्	अहौषीः	अहौषम्
धूञ्	अधावीत्	अधावीः	अधाविषम्
पूञ्	अपावीत्[3]	अपावीः	अपाविषम्
लूञ्	अलावीत्	अलावीः	अलाविषम्

पच्

प्र० पु०	अपाक्षीत्	अपाक्ताम् (२३४)	अपाक्षुः
म० पु०	अपाक्षीः	अपाक्तम्	अपाक्त
उ० पु०	अपाक्षम्	अपाक्ष्व	अपाक्ष्म
प्रच्छ् प्र० पु०	अप्राक्षीत्[4]	अप्राष्टाम्[5]	अप्राक्षुः

---

१. पक्ष में अङ् होगा—अजरत्।

२. स्तु-सु-धूञ्भ्यः परस्मैपदेषु (७।२।७२)।

३. धातु के अजन्त होने से इट् होने पर भी नेटि (७।२।४) से वृद्धि न रुक सकी। ऐसा ही अलावीत् में जानें।

४. अप्रच्छ् स् ईत्—यहाँ (८।२।३६) से च्छ् को ष्। आगमी की निवृत्ति होने से आगम (तुक्-च्) की निवृत्ति हो जाती है—निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः यह परिभाषा ही नहीं। षढोः कः सि (८।२।४१) से ष् को क्। इस क् से परे प्रत्यय 'स्' को ष्।

५. यहाँ व्रश्च भ्रस्ज् (८।२।३६) आदि सूत्र से च्छ् को ष्। हलन्तलक्षणा वृद्धि। ष्टुत्व विधि से ताम् के त् को ट्।

म० पु०	अप्राक्षीः[1]	अप्राष्टम्	अप्राष्ट
उ० पु०	अप्राक्षम्	अप्राक्ष्व	अप्राक्ष्म
भञ्ज् प्र० पु०	अभाङ्क्षीत् (२५२)	अभाङ्क्ताम् (२३४)	अभाङ्क्षुः
मस्ज् ,, ,,	अमाङ्क्षीत्	अमाङ्क्ताम् (२३४)	अमाङ्क्षुः
युज् ,, ,,	अयौक्षीत्	अयौक्ताम्	अयौक्षुः
सृज् ,, ,,	अस्राक्षीत् (२०६)[2]	अस्राष्टाम्	अस्राक्षुः
मृज् (ऊदित्)	अमार्जीत् (इट्)[3] / अमार्क्षीत्	अमार्जिष्टाम् / अमार्ष्टाम्	अमार्जिषुः / अमार्क्षुः
व्रश्च् (ऊदित्)	अव्रश्चीत् (इट्) / अव्राक्षीत्[4]	अव्रश्चिष्टाम् / अव्राष्टाम्[5]	अव्रश्चिषुः / अव्राक्षुः

२६१—अञ्ज् से परे सिच् को नित्य इट् होता है। ऊदित् होने से इट् का विकल्प प्राप्त था।[6]

---

१. अ प्रच्छ् स् ईस्। अ प्राच्छ् स् ईस्। शेष कार्यक्रम वही है जो 'अप्राक्षीत्' में दिखाया गया है।

२. अम् आगम के नित्य होने से अम् होने के पीछे वृद्धि होती है—अस्रज् स् ईत्। अस्राज् स् ईत्। अस्राक्षीत्।

३. अमार्जीत्—यहाँ इट् पक्ष में हलन्त-लक्षणा वृद्धि का निषेध हो जाने पर गुण की प्राप्ति हुई। गुण की प्राप्ति के विषय में मृजेर्वृद्धिः (८७) से वृद्धि हुई। गुण का बाध हो गया।

४. अव्रश्च् स् ईत्। अव्राश्च् स् ईत्। संयोग के आदि स् (जो चवर्ग के योग से श् हुआ) का लोप हो जाने पर व्रश्चभ्रस्ज (८।२।३६) से 'च्' को ष्। फिर 'षढोः कः सि' से इस ष् को क्। क् ष् के संयोग से क्ष्।

५. अव्राष्टाम्—यहाँ ष्टुत्व विधि से त् को ट्। झल् से परे सिच् का लोप होता है झल् परे होने पर। प्रत्यय-लोप होने पर प्रत्यय-लक्षण (प्रत्यय-निमित्तक) कार्य होता है, इससे सिच् का लोप होने पर भी तन्निमित्तक कार्य अव्राष् के ष् को क् हो जाना चाहिए, पर नहीं होता, कारण कि 'कत्व' वर्ण (स्) को आश्रय करके प्रवृत्त होता है सिच् प्रत्यय को मानकर नहीं, और वर्णाश्रय कार्य की कर्तव्यता में प्रत्यय-लक्षण होता नहीं। वर्णाश्रये नास्ति प्रत्यय-लक्षणम्।

६. अञ्जेः सिचि (७।२।७१)।

अञ्ज्	आञ्जीत्	आञ्जिष्टाम्	आञ्जिषुः

धातु के अजादि होने से आट् हुआ है और 'आटश्च' से वृद्धि एकादेश हुआ है। हलन्तलक्षणा वृद्धि तो नेटि (७।२।४) से रुक जाती है।

धातु	प्र० पु० एक०	प्र० पु० द्वि०	प्र० पु० बहु०
तुद्	अतौत्सीत्[1]	अतौत्ताम् (२३४)	अतौत्सुः
भिद्	अभैत्सीत्	अभैत्ताम्	अभैत्सुः
छिद्	अच्छैत्सीत्	अच्छैत्ताम्	अच्छैत्सुः
बन्ध्	अभान्त्सीत् (बश् को भष्)	अबान्द्धाम्	अभान्त्सुः
रुध्	अरौत्सीत्	अरौद्धाम्	अरौत्सुः
शप् (भ्वा०)	अशाप्सीत्	अशाप्ताम्	अशाप्सुः
स्वप् (अदा०)	अस्वाप्सीत्	अस्वाप्ताम्	अस्वाप्सुः
दृश्	अद्राक्षीत्[2]	अद्राष्टाम्	अद्राक्षुः
दंश्	अदाङ्क्षीत्	अदांष्टाम् (२३४)	अदाङ्क्षुः
रञ्ज्	अराङ्क्षीत्	अराङ्क्ताम्	अराङ्क्षुः

स्पृश्, मृश्, कृष्, तृप् दृप् से च्लि को सिच् विकल्प से होता है। स्पृश्, मृश्, कृष् को पक्ष में (वक्ष्यमाण) क्स होता है। तृप्, दृप् से पुषादि होने से अङ्।[3]

स्पृश् प्र० पु०	अस्पार्क्षीत्[4]	अस्पार्ष्टाम्	अस्पार्क्षुः
	अस्प्राक्षीत् (अम् आगम)	अस्प्राष्टाम्	अस्प्राक्षुः
मृश्	अमार्क्षीत्	अमार्ष्टाम्	अमार्क्षुः
	अम्राक्षीत्	अम्राष्टाम्	अम्राक्षुः

१. **अतौत्सीत्** इत्यादि में सर्वत्र (२५२) से हलन्त-लक्षणा वृद्धि हो रही है।

२. जैसे सृज् में वैसे ही यहाँ नित्य होने से वृद्धि को बाधकर अमागम पहले होता है। (२०६) पश्चात् प्रसङ्ग होने से वृद्धि भी हो जाती है।

३. स्पृश-मृश-कृष-तृप-दृपां च्लेः सिज्वा वाच्यः (वा०)। स्पृश्, मृश्, कृष् अनुदात्त (अनिट्) हैं। तभी तो क्स की प्राप्ति है।

४. **अस्पार्क्षीत्** में हलन्त-लक्षणा वृद्धि हुई है। 'श्' को झल् परे होने पर ष्। अस्प्राक्षीत् में (२०७) से अम् आगम, जो विकल्प से होता है।

कृष् ,,	अकार्क्षीत्	अकार्ष्टाम्	अकार्क्षुः
	अक्राक्षीत्	अक्राष्टाम्	अक्राक्षुः
तृप् ,,	अतार्प्सीः[1]	अतार्प्ताम्	अतार्प्सुः
	अत्राप्सीत्	अत्राप्ताम्	अत्राप्सुः
	अतर्पीत् (इट्)	अतर्पिष्टाम्	अतर्पिषुः
दृप्	अदार्प्सीत्	अदार्प्ताम्	अदार्प्सुः
	अद्राप्सीत्	अद्राप्ताम्	अद्राप्सुः
	अदर्पीत् (इट्)	अदर्पिष्टाम्	अदर्पिषुः
व्यध्	अव्यात्सीत् (ध् को त्)	अव्याद्धाम् (२३४)	अव्यात्सुः
वस्	अवात्सीत् (२११)	अवात्ताम् (२३४)	अवात्सुः
वह्	अवाक्षीत्	अवोढाम्	अवाक्षुः
रुद्	अरोदीत्	अरोदिष्टाम्	अरोदिषुः
विद् (जानना)	अवेदीत्	अवेदिष्टाम्	अवेदिषुः
दिव् (दिवा०)	अदेवीत्	अदेविष्टाम्	अदेविषुः
सिव् ,,	असेवीत्	असेविष्टाम्	असेविषुः
ष्ठिव् ,,	अष्ठेवीत्	अष्ठेविष्टाम्	अष्ठेविषुः
निपूर्वक,,	न्यष्ठेवीत्	न्यष्ठेविष्टाम्	न्यष्ठेविषुः
अप-पूर्वक राध्	अपारात्सीत्	अपाराद्धाम् (२३४)	अपारात्सुः
सिध् (भ्वा०, सेट्)	असेधीत्	असेधिष्टाम्	असेधिषुः
इष्	ऐषीत्[2]	ऐषिष्टाम्	ऐषिषुः
कुष्	अकोषीत्	अकोषिष्टाम्	अकोषिषुः
निष्कुष्	निरकोषीत्	निरकोषिष्टाम्	निरकोषिषुः

१. **अतार्प्सीत्**—यह अमागम के अभाव में रूप है। **अत्राप्सीत्**—यह अमागम होने पर वृद्धि होने से रूप निष्पन्न होता है। **अतर्पीत्**—(१६१) से इट् का विकल्प। इट् होने पर (२५३) से हलन्त-लक्षणा वृद्धि रुक गई। पुषादि होने से—**अतृपत्** (अङ्)। गुणाभाव।

२. यहाँ (२५३) से वृद्धि का निषेध है। धातु के अजादि होने से आट् आगम हुआ है। आटश्च (विधि सं० ११) से आगे आने वाले अच् और आट् के स्थान में वृद्धि एकादेश होता है।

	निरकुक्षत्[1]	निरकुक्षताम्	निरकुक्षन्
पुष् (भ्वा०, क्र्या०)	अपोषीत्	अपोषिष्टाम्	अपोषिषुः
मुष्	अमोषीत्	अमोषिष्टाम्	अमोषिषुः
वद्	अवादीत्[2]	अवादिष्टाम्	अवादिषुः
व्रज्	अव्राजीत्	अव्राजिष्टाम्	अव्राजिषुः
गद्	अगदीत्, अगादीत्[3]	अगदिष्टाम्, अगादिष्टाम्	अगदिषुः, अगादिषुः
व्यच् (तुदा०)	अव्यचीत्, अव्याचीत्	अव्यचिष्टाम्, अव्याचिष्टाम्	अव्यचिषुः, अव्याचिषुः
म्रुच्	अम्रोचीत्	अम्रोचिष्टाम्	अम्रोचिषुः
निपूर्वक	न्यम्रोचीत्	न्यम्रोचिष्टाम्	न्यम्रोचिषुः
म्लुच्	अम्लोचीत्	अम्लोचिष्टाम्	अम्लोचिषुः
ग्रुच्	अग्रोचीत्	अग्रोचिष्टाम्	अग्रोचिषुः
ग्लुच्	अग्लोचीत्	अग्लोचिष्टाम्	अग्लोचिषुः
स्तम्भ्	अस्तम्भीत्	अस्तम्भिष्टाम्	अस्तम्भिषुः
नद्	अनदीत्, अनादीत्	अनदिष्टाम्, अनादिष्टाम्	अनदिषुः, अनादिषुः
त्रस् (दिवा०)	अत्रसीत्, अत्रासीत्	अत्रसिष्टाम्, अत्रासिष्टाम्	अत्रसिषुः, अत्रासिषुः
शश्	अशशीत्, अशाशीत्	अशशिष्टाम्, अशाशिष्टाम्	अशशिषुः, अशाशिषुः
शस्[4]	अशसीत्, अशासीत्	अशसिष्टाम्, अशासिष्टाम्	अशसिषुः, अशासिषुः

१. इडभाव में पक्ष में वक्ष्यमाण 'क्स' प्रत्यय होता है।

२. वद्, व्रज भी हलन्त हैं, पर सूत्र में उनके पृथग्ग्रहण का यही अभिप्राय है कि अन्य हलन्त धातुओं की तरह इन की वृद्धि नेटि (२५३) से न रुके। (२५५) से प्राप्त वैकल्पिकी वृद्धि भी न हो किन्तु नित्य वृद्धि हो।

३. यहाँ (२५५) से विकल्प से वृद्धि होती है। प्रनि पूर्वक—**प्रण्यगदीत्** **प्रण्यगादीत्**। गद् से पूर्व आये हुए 'नि' को उपसर्गस्थ निमित्त से णत्व होता है।

४. शस् का प्रायः विपूर्वक प्रयोग होता है।

तन्	अतनीत्, अतानीत्	अतनिष्टाम्, अतानिष्टाम्	अतनिषुः, अतानिषुः
अत्[1]	आतीत्	आतिष्टाम्	आतिषुः
अट्[1]	आटीत्	आटिष्टाम्	आटिषुः
चकास् (अदा०)	अचकासीत्[2]	अचकासिष्टाम्	अचकासिषुः
नर्द्	अनर्दीत्[3]	अनर्दिष्टाम्	अनर्दिषुः
गर्द् ,,	अगर्दीत्	अगर्दिष्टाम्	अगर्दिषुः
रक्ष् ,,	अरक्षीत्	अरक्षिष्टाम्	अरक्षिषुः
तक्ष्	अतक्षीत्	अतक्षिष्टाम्	अतक्षिषुः
ग्रह्	अग्रहीत्[4]	अग्रहीष्टाम्[5]	अग्रहीषुः
मह् (भ्वा०)	अमहीत्	अमहिष्टाम्	अमहिषुः

१. अत्, अट् के अजादि होने से लघु 'अ' से परे इडादि सिच् परे होने पर जो वैकल्पिकी वृद्धि होती है उस की प्राप्ति नहीं। आट् आगम होने से 'आट श्च' से वृद्धि एकादेश हुआ है। अतः माङ् उपपद होने पर आट् के अभाव में **मा भवान् अतीत्, मा भवान् अटीत्** ऐसा वृद्धि-रहित रूप होगा।

२. **अचकासीत्**—यहाँ लघु 'अ' (चकारोत्तरवर्ती) है तो (२५५) से वैकल्पिकी वृद्धि क्यों नहीं हुई। उत्तर—येन नाव्यवधानं तेन व्यवहितेऽपि वचनप्रामाण्यात्—इस वचन से हलादि (हलन्त) अङ्ग के लघु अकार से इडादि सिच् परे होने पर—ऐसा कहने से इडादि सिच् का एक हल् से व्यवधान अवश्य होगा, लघु 'अ' के अनन्तर अव्यवहित इडादि सिच् नहीं मिल सकता। पर हल् के साथ अच् भी व्यवधायक हो यह सह्य नहीं, अतः यहाँ लघु 'अ' के होने पर भी वृद्धि नहीं हुई।

३. नर्द् आदि सेट् धातुओं का 'अ' संयोग परे होने से गुरु है, लघु नहीं। अतः वैकल्पिकी वृद्धि नहीं हुई किन्तर्हि (२५३) हलन्त-लक्षणा वृद्धि का निषेध हो गया।

४. हकारान्त होने से (२५६) से वृद्धि का निषेध हो गया। (१६३) से इट् को दीर्घ। (२५३) से हलन्त-लक्षणा वृद्धि का निषेध सिद्ध था। (२५५) से विकल्प प्राप्त था। (२५६) से प्राप्त वैकल्पिकी वृद्धि का निषेध होता है। ऐसा ही वक्ष्यमाण क्रम् आदि धातुओं के विषय में जानें।

५. जागृ के लुङन्त रूप की प्रक्रिया ऐसे है—जागृ इ स् ईत्—यहाँ यण्

मथ् (एदित्)	अमथीत्	अमथिष्टाम्	अमथिषुः
क्वथ् ,,	अक्वथीत्	अक्वथिष्टाम्	अक्वथिषुः
पथ ,,	अपथीत्	अपथिष्टाम्	अपथिषुः
गुह् (ऊदित्)	अगूहीत् (वृद्धि-निषेध, गुण की प्राप्ति में दीर्घ)	अगूहिष्टाम्	अगूहिषुः
क्रम्	अक्रमीत्	अक्रमिष्टाम्	अक्रमिषुः
भ्रम् (भ्वा०)	अभ्रमीत्	अभ्रमिष्टाम्	अभ्रमिषुः
वम्	अवमीत्	अवमिष्टाम्	अवमिषुः
व्यय् (जाना, भ्वा०)	अव्ययीत्	अव्ययिष्टाम्	अव्ययिषुः
हय् (जाना)	अहयीत्	अहयिष्टाम्	अहयिषुः
हर्य् (चाहना)	अहर्यीत्	अहर्यिष्टाम्	अहर्यिषुः
क्षण् (तना०)	अक्षणीत्	अक्षणिष्टाम्	अक्षणिषुः
श्वस्	अश्वसीत्	अश्वसिष्टाम्	अश्वसिषुः
जागृ	अजागरीत्	अजागरिष्टाम्	अजागरिषुः
श्वि	अश्वयीत्	अश्वयिष्टाम्	अश्वयिषुः
हस् (एदित्)	अहसीत्	अहसिष्टाम्	अहसिषुः
कट् ,,	अकटीत्	अकटिष्टाम्	अकटिषुः
चत् ,,	अचतीत्	अचतिष्टाम्	अचतिषुः

त् प्राप्त हुआ, इसे सार्वधातुक गुण (२) बाध लेता है। इस गुण को इगन्त-लक्षणा वृद्धि (२५०) बाध लेती है। इस वृद्धि को (२५१) से विहित गुण बाध लेता है। गुण होने पर हलन्त लक्षणा वृद्धि प्राप्त होती है उसे नेटि (२५३) यह निषेध बाधता है। तब (२५५) से वैकल्पिकी वृद्धि प्राप्त होती है। उसे (२५८) से प्राप्त नित्य वृद्धि बाध लेती है। इस वृद्धि को (२५९) यह निषेध बाध लेता है। इस सारी प्रक्रिया को पूर्व वैयाकरण एक कारिका में संगृहीत करते हैं—

गुणो वृद्धिर्गुणो वृद्धिः प्रतिषेधो विकल्पनम्।
पुनर्वृद्धिर्निषेधोऽतो यण्-पूर्वाः प्राप्तयो नव ॥

चद् (एदित्)	अचदीत्	अचदिष्टाम्	अचदिषुः

२६२—हन् को वध आदेश होता है लुङ् परे होने पर। यह वध आदेश अदन्त है।[1]

हन्	अवधीत्[2]	अवधिष्टाम्	अवधिषुः
चर्	अचारीत् (२५४)	अचारिष्टाम् (२५८)	अचारिषुः
क्षर्	अक्षारीत्	अक्षारिष्टाम्	अक्षारिषुः
त्सर्	अत्सारीत्	अत्सारिष्टाम्	अत्सारिषुः
ज्वर्	अज्वारीत्	अज्वारिष्टाम्	अज्वारिषुः
ज्वल्	अज्वालीत्	अज्वालिष्टाम्	अज्वालिषुः
चल्	अचालीत्	अचालिष्टाम्	अचालिषुः
स्खल्	अस्खालीत्	अस्खालिष्टाम्	अस्खालिषुः
शल्	अशालीत्	अशालिष्टाम्	अशालिषुः
अल्	आलीत्	आलिष्टाम्	आलिषुः

---

१. हनो वध लिङि (२।४।४२)। लुङि च (२।४।४३)। यह वध आदेश सामान्य रूप से कर्तृवाची लुङ् परे रहते तथा कर्मवाची लुङ् परे रहते होता है—रामोऽवधीद् रावणम्। रामेणावधि रावणः।

२. अवधीत् में वध आदेश के उदात्त निपातन करने से सिच् को इट् आगम होता है। आर्धधातुक सिच् परे रहते वध के अन्त्य 'अ' का लोप हो जाता है (४१)। इस अल्लोप के स्थानिवद्भाव होने से अतो हलादेः (२५५) से वैकल्पिकी वृद्धि नहीं हो सकती, लघु 'अ' से परे सिच् होना चाहिए। एक वर्ण (ध्) का व्यवधान होने पर भी वृद्धि हो जायगी, अनेक वर्ण (ध् अ) का व्यवधान होने पर नहीं होगी। वध हलादि है और इसका अन्त्य 'अ' लघु है जिससे ठीक परे सिच् है तो प्रश्न होता है कि इसे वृद्धि क्यों नहीं हो जाती ? उत्तर—ण्यल्लोपावियङ्-यण्-गुण-वृद्धि-दीर्घेभ्यः पूर्वविप्रतिषेधेन—इस वार्तिक से पूर्वशास्त्र को बलवत्तर मान कर अल्लोप पहले हो जायगा, तो वृद्धि का प्रसङ्ग ही न रहेगा। अर्थ—जहाँ णि-लोप, अल्लोप (अत्=ह्रस्व अ का लोप) प्राप्त होता है और इयङ्, यण्, गुण, वृद्धि, दीर्घ—इनमें से किसी की भी प्राप्ति है, वहाँ णिच्-लोप और अल्लोप पहले हो जायेंगे। यद्यपि ये पूर्ववर्ती शास्त्र से विहित हैं।

हल्	अहालीत्	अहालिष्टाम्	अहालिषुः
फल्	अफालीत्	अफालिष्टाम्	अफालिषुः
ह्वल्	अह्वालीत्	अह्वालिष्टाम्	अह्वालिषुः
ह्मल्	अह्मालीत्	अह्मालिष्टाम्	अह्मालिषुः

श्वभ्र्, श्वल्ल् यहाँ 'अतो ल्रान्तस्य' (२५८) से वृद्धि नहीं होती। 'अ' के समीप अन्त्य र् ल् नहीं हैं; व्यवहित हैं—

श्वभ्र्	अश्वभ्रीत्	अश्वभ्रिष्टाम्	अश्वभ्रिषुः
श्वल्ल्	अश्वल्लीत्	अश्वल्लिष्टाम्	अश्वल्लिषुः

तुदादिगण के अन्तर्गत कुटादिगण है। कुट् आदि धातुओं से ञित्, णित् से भिन्न प्रत्यय ङित् माना जाता है, जिससे इन्हें गुण, वृद्धि नहीं होती। सिच् प्रत्यय भी ऐसा ही है अतः सिच् परे रहते इन धातुओं को वृद्धि नहीं होती, वृद्धि के अभाव में गुण भी नहीं होता—

कुट् (टेढ़ा चलना)	अकुटीत्	अकुटिष्टाम्	अकुटिषुः
कुच् (संकोच करना)	समकुचीत्	समकुचिष्टाम्	समकुचिषुः
त्रुट् (तोड़ना)	अत्रुटीत्	अत्रुटिष्टाम्	अत्रुटिषुः
स्फुट् (खिलना)	अस्फुटीत्	अस्फुटिष्टाम्	अस्फुटिषुः
कड् (मस्त होना)	अकडीत्	अकडिष्टाम्	अकडिषुः
लुठ् (जुड़ना)	अलुठीत्	अलुठिष्टाम्	अलुठिषुः
स्फुर् (फड़कना)	अस्फुरीत्	अस्फुरिष्टाम्	अस्फुरिषुः
स्फुल् ,,	अस्फुलीत्	अस्फुलिष्टाम्	अस्फुलिषुः
छुर् (काटना)	अच्छुरीत्	अच्छुरिष्टाम्	अच्छुरिषुः
गुञ्ज् (गूँजना)	अगुञ्जीत्	अगुञ्जिष्टाम्	अगुञ्जिषुः
कुण्ड् (जलाना)	अकुण्डीत्	अकुण्डिष्टाम्	अकुण्डिषुः
धू (हिलाना)	अधुवीत् (उवङ्)	अधुविष्टाम्	अधुविषुः
,, निपूर्वक	न्यधुवीत्	न्यधुविष्टाम्	न्यधुविषुः
ध्रुव् (चलना, स्थिर रहना)	अध्रुवीत् (उवङ्)	अध्रुविष्टाम्	अध्रुविषुः
णू (नू) (स्तुति करना)	अनुवीत् (उवङ्)	अनुविष्टाम्	अनुविषुः

प्र० पु०—

नू प्र-पूर्वक	**प्राणुवीत्** (१५)	**प्राणुविष्टाम्**	**प्राणुविषुः**

गुरी (=गुर्), उठाना, यह आत्मनेपदी है—**अगुरिष्ट, अगुरिषाताम्, अगुरिषत**। इसका प्रायः आङ्पूर्वक प्रयोग होता है, अवपूर्वक भी।

गुप्, धूप्, विच्छ्, पण्, पन्—इनसे स्वार्थ में आय प्रत्यय होता है। यह प्रत्यय आर्धधातुक प्रत्यय की विवक्षा में विकल्प से होता है (२१३)। सिच् आर्धधातुक प्रत्यय है। इसकी विवक्षा होते ही गुप् आदि से आय प्रत्यय आने पर गुण होकर जो 'गोपाय' आदि नई धातुएँ बन जाती हैं उनसे जो रूप निष्पन्न होते हैं, उन्हें यहाँ लिखते हैं—

गुप्	**अगोपायीत्**[1]	**अगोपायिष्टाम्**	**अगोपायिषुः**
धूप्	**अधूपायीत्**[2]	**अधूपायिष्टाम्**	**अधूपायिषुः**
विच्छ्	**अविच्छायीत्**	**अविच्छायिष्टाम्**	**अविच्छायिषुः**
पण् (स्तुति करना)	**अपणायीत्**	**अपणायिष्टाम्**	**अपणायिषुः**
पन् ,,	**अपनायीत्**	**अपनायिष्टाम्**	**अपनायिषुः**

आय-प्रत्यय के अभाव में इनके सिच् परे ये रूप होंगे—

गुप्	**अगौप्सीत्** (२५२)	**अगौप्ताम्**	**अगौप्सुः**
(इट्)	**अगोपीत्** (२५३)	**अगोपिष्टाम्**	**अगोपिषुः**
धूप्	**अधूपीत्**	**अधूपिष्टाम्**	**अधूपिषुः**
विच्छ्	**अविच्छीत्**	**अविच्छिष्टाम्**	**अविच्छिषुः**
पण्	**अपणिष्ट**[3]	**अपणिषाताम्**	**अपणिषत**
पन्	**अपनिष्ट**	**अपनिषाताम्**	**अपनिषत**

---

१. आय प्रत्यय अदन्त है। इसके 'अ' का आर्धधातुक प्रत्यय सिच् परे होने पर लोप हो जाता है (४१)।

२. अधूपायीत्—यहाँ आय-प्रत्यय से पूर्व धातु के गुरूपध होने से गुण नहीं हुआ।

३. आय-प्रत्यय स्तुत्यर्थक पण्, पन् से आता है, व्यवहारार्थक से नहीं। आयप्रत्ययान्त से परस्मैपद आता है।

सिष् (स् + इ + सिच्)

२६३—यम्, रम्, नम्, तथा आकारान्त धातुओं से परे (सक्) 'स्' आगम होता है। जो कित् होने से इन का अन्तावयव बन जाता है,। साथ ही सिच् को इट् भी होता है यद्यपि यम् आदि धातुएँ अनिट् हैं।[1]

यम् भ्वा०

प्र० पु०	अयंसीत्[2]	अयंसिष्टाम्[3]	अयंसिषुः
म० पु०	अयंसीः	अयंसिष्टम्	अयंसिष्ट
उ० पु०	अयंसिषम्	अयंसिष्व	अयंसिष्म
धातु	प्र० पु० एक०	प्र० पु० द्वि०	प्र० पु० बहु०
विरम्	व्यरंसीत्	व्यरंसिष्टाम्	व्यरंसिषुः
नम्	अनंसीत्	अनंसिष्टाम्	अनंसिषुः
घ्रा	अघ्रासीत्	अघ्रासिष्टाम्	अघ्रासिषुः
द्रा (नि पूर्वक)	न्यद्रासीत् (सोया)	न्यद्रासिष्टाम्	न्यद्रासिषुः
ज्ञा	अज्ञासीत्	अज्ञासिष्टाम्	अज्ञासिषुः
ध्मा (भ्वा०)	अध्मासीत्	अध्मासिष्टाम्	अध्मासिषुः
मा (अदा०)	अमासीत्	अमासिष्टाम्	अमासिषुः
म्ना (आङ्-पूर्वक)	आम्नासीत्	आम्नासिष्टाम्	आम्नासिषुः
(समाङ्पूर्वक)	समाम्नासीत्	समाम्नासिष्टाम्	समाम्नासिषुः
स्ना (,,)	अस्नासीत्	अस्नासिष्टाम्	अस्नासिषुः

---

१. यम-रम-नमातां सक् च (७।२।७३)।

२. अ यम् सक् इट् सिच् ईट् त्—अ यम् स् इ स् ई त। इस अवस्था में (२५४) से सिच् का लोप। अपदान्त 'म्' को झल् स् परे होने पर अनुस्वार। सिच् के स् का लोप होने पर सक् का स् सुनाई देता है। (२५५) से इडादि सिच् परे रहते वैकल्पिकी वृद्धि की प्राप्ति नहीं, कारण कि सक् आगम आने से हलादि अङ्ग यंस् बन जाता है, जिस का 'अ' सानुस्वार होने से गुरु है, लघु नहीं।

३. अयंसिष्टाम्—यहाँ सिच् श्रूयमाण रहता है। लोप की प्राप्ति नहीं। इ (ट्) पूर्व होने से इसे मूर्धन्य 'ष्' हो जाता है। तब ष्टुत्वविधि से 'त्' को ट्।

पा (अदा०)	अपासीत्	अपासिष्टाम्	अपासिषुः
या	अयासीत्	अयासिष्टाम्	अयासिषुः
रा	अरासीत्	अरासिष्टाम्	अरासिषुः
ला	अलासीत्	अलासिष्टाम्	अलासिषुः
हा	अहासीत्	अहासिष्टाम्	अहासिषुः
छो	अच्छासीत्[1]	अच्छासिष्टाम्	अच्छासिषुः
शो	अशासीत्	अशासिष्टाम्	अशासिषुः
सो	असासीत्[2]	असासिष्टाम्	असासिषुः
मि (स्वा०)	अमासीत्[3]	अमासिष्टाम्	अमासिषुः
मी	अमासीत्	अमासिष्टाम्	अमासिषुः
धे (ट्) चूसना	अधासीत्	अधासिष्टाम्	अधासिषुः
वे (ञ्)	अवासीत्	अवासिष्टाम्	अवासिषुः
,, प्र पूर्वक	प्रावासीत्	प्रावासिष्टाम्	प्रावासिषुः
व्ये (ञ्)	अव्यासीत्	अव्यासिष्टाम्	अव्यासिषुः
,, सम्पूर्वक	समव्यासीत्	समव्यासिष्टाम्	समव्यासिषुः
ग्लै	अग्लासीत्	अग्लासिष्टाम्	अग्लासिषुः
म्लै	अम्लासीत्	अम्लासिष्टाम्	अम्लासिषुः
कै	अकासीत्	अकासिष्टाम्	अकासिषुः
गै	अगासीत्	अगासिष्टाम्	अगासिषुः
ध्यै	अध्यासीत्	अध्यासिष्टाम्	अध्यासिषुः
रै	अरासीत्	अरासिष्टाम्	अरासिषुः
स्त्यै	अस्त्यासीत्	अस्त्यासिष्टाम्	अस्त्यासिषुः
स्ट्यै	अष्ट्यासीत्	अष्ट्यासिष्टाम्	अष्ट्यासिषुः
श्रै (भ्वा०)	अश्रासीत्	अश्रासिष्टाम्	अश्रासिषुः
पै (,,)	अपासीत्	अपासिष्टाम्	अपासिषुः
(ओ) वै (,,)	अवासीत्	अवासिष्टाम्	अवासिषुः

---

१. (१८७) से आत्त्व ।

२. 'सो' का प्रायः अव-पूर्वक प्रयोग होता है ।

३. (१८८) से एजिनमित्तक प्रत्यय के बुद्धिस्थ होते ही धातु के अच् (इ) को आत्त्व हो जाता है । ऐसा ही 'मी' के विषय में जानें ।

षै (सै) (,,)	असासीत्	असासिष्टाम्	असासिषुः
ष्णै (स्नै) (,,)	अस्नासीत्	अस्नासिष्टाम्	अस्नासिषुः
दै (प्) (,,)	अवादासीत्	अवादासिष्टाम्	अवादासिषुः

अवपूर्वक दैप् के रूप दिए गए हैं।

२६४—आर्धधातुक प्रत्यय की विवक्षा में दरिद्रा धातु के 'आ' का लोप हो जाता है। लुङ् की विवक्षा में यह लोप विकल्प से होता है।[1]

दरिद्रा	अदरिद्रासीत्	अदरिद्रासिष्टाम्	अदरिद्रासिषुः
आलोप पक्ष में	अदरिद्रीत्	अदरिद्रिष्टाम्	अदरिद्रिषुः

सिच्—लुक्

२६५—इण के आदेश गा, स्था, घु-संज्ञक (दा-रूप चार और धा-रूप दो), पा, भू से परे परस्मैपदी लुङ् में सिच् प्रत्यय का लुक् (लोप) हो जाता है।[2] सिच् प्रत्यय का लुक् हो जाने पर उनके रूप यहाँ दिये जाते हैं। प्रथम पुरुष बहु० में आकारान्त धातुओं से 'उस्' प्रत्यय होता है, 'अन्' नहीं।[3] झि के स्थान पर जुस् (उस्) आदेश होता है।

२६६—लुङ व लिट् सम्बन्धी अच् परे रहते भू को वुक् (व्) आगम होता है।[4]

२६७—इण् (गत्यर्थक) को 'गा' आदेश होता है लुङ् परे होने पर। यह सामान्येन विधान है। आत्मनेपद में भी यह आदेश होगा।[5]

२६८—भू तथा सू (अदा०) को सार्वधातुक तिङ् परे गुण नहीं होता।[6]

भू	अभूत्	अभूताम्	अभूवन् (वुक्)
	अभूः	अभूतम्	अभूत
	अभूवम् (वुक्)	अभूव	अभूम
इण्	अगात्	अगाताम्	अगुः
इक् (अधि)	अध्यगात्	अध्यगाताम्	अध्यगुः

---

१. दरिद्रातेरार्धधातुके विवक्षिते आलोपो वाच्यः (वा०)। लुङि वा (वा०)।

२. गाति-स्था-घु-पा-भूभ्यः परस्मैपदेषु (२।४।७७)।

३. आतः (३।४।११०)। सिच् का लुक् होने पर आकारान्त से झि को जुस् होता है।

४. भुवो वुग् लुङ् लिटोः (६।४।८८)।

५. इणो गा लुङि (२।४।४५)।

६. भू-सुवोस्तिङि (७।३।८८)।

स्था	अस्थात्	अस्थाताम्	अस्थुः
पा (पीना)	अपात्	अपाताम्	अपुः
दा (घु संज्ञक)	अदात्	अदाताम्	अदुः
दो ,,	अदात्	अदाताम्	अदुः
धा ,,	अधात्	अधाताम्	अधुः

२६९—घ्रा, धेट्, शो, छो, सो से परे सिच् का विकल्प से लुक् हो जाता है परस्मैपद में।[1]

घ्रा	अघ्रात्	अघ्राताम्	अघ्रुः
धे (ट्)	अधात्	अधाताम्	अधुः
शो	अशात्	अशाताम्	अशुः
छो	अच्छात्	अच्छाताम्	अच्छुः
सो	असात्	असाताम्	असुः

क्स (=स)

२७०—वे अनिट् धातुएं जिन की उपधा इक् (=इ, उ, ऋ) और जिनके अन्त में शल् (=श्, ष्, स्, ह्) है—से परे लुङ् में दोनों पदों में क्स (स) प्रत्यय आता है,[2] सिच् नहीं।

२७१—स्वरादि प्रत्यय परे होने पर क्स के 'अ' का लोप हो जाता है, अर्थात्, 'स्' रह जाता है।[3]

२७२—दन्त्यादि आत्मनेपद (त्, थास्, ध्वम्, वहि) प्रत्ययों के परे रहते दुह्, दिह्, लिह् गुह् धातुओं से 'क्स' का लुक् विकल्प से होता है[4]।

द्विष् उभयपदी, लुङ् प०

प्र० पु०	अद्विक्षत्	अद्विक्षताम्	अद्विक्षन्
म० पु०	अद्विक्षः	अद्विक्षतम्	अद्विक्षत
उ० पु०	अद्विक्षम्	अद्विक्षाव	अद्विक्षाम

---

१. विभाषा घ्रा-धेट्-शाच्छासः (२।४।७८)।

२. शल इगुपधादनिटः क्सः (३।१।४५)।

३. क्सस्याचि (७।३।७२)।

४. लुग्वा दुह-दिह-लिह-गुहामात्मनेपदे दन्त्ये (७।३।७३)।

लुङ् आ०

प्र० पु०	**अद्विक्षत**	**अद्विक्षाताम्**[1]	**अद्विक्षन्त**[2]
म० पु०	**अद्विक्षथाः**	**अद्विक्षाथाम्**	**अद्विक्षध्वम्**
उ० पु०	**अद्विक्षि**	**अद्विक्षावहि**	**अद्विक्षामहि**

२७३—श्लिष् से आलिङ्गन अर्थ में ही क्स होता है।[3] श्लिष् के अनिट् इगुपध शलन्त होने से क्स सिद्ध ही था, सो यह सूत्र नियमार्थ है। सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः।

श्लिष् (आलिंगन करना)	**अश्लिक्षत्**	**अश्लिक्षताम्**	**अश्लिक्षन्**
गृह् (भ्वा० (आ०, ऊदित्)	**अगर्हिष्ट** (इट्, सिच्)	**अगर्हिषाताम्**	**अगर्हिषत**
	अघृक्षत[4] (क्स)	**अघृक्षाताम्**	**अघृक्षत**
वृह् (ऊदित्)	**अवर्हीत्** (इट्, सिच्)	**अवर्हिष्टाम्**	**अवर्हिषुः**
	अवृक्षत् (क्स)	**अवृक्षताम्**	**अवृक्षन्**
तक्ष् (ऊदित्)	**अतक्षीत्** (इट्)[5]	**अतक्षिष्टाम्**	**अतक्षिषुः**
	अताक्षीत्	**अताष्टाम्** (२३४)	**अताक्षुः**
त्वक्ष् (ऊदित्)	**अत्वक्षीत्** (इट्)	**अत्वक्षिष्टाम्**	**अत्वक्षिषुः**
	अत्वाक्षीत्	**अत्वाष्टाम्** (२३४)	**अत्वाक्षुः**

---

१. (२७१) से अजादि प्रत्यय (प्रकृत में आताम्) परे होने पर क्स (स) के 'अ' का लोप होने पर आतो ङितः (७।२।८१), ङित् लकार के 'आ' को इय् होने का अवकाश ही नहीं, कारण कि वह आदेश अदन्त अङ्ग से होता है। पृ० ६ पर टिप्पण सं० ३ देखें।

२. यहाँ झोऽन्तः से झ के स्थान में 'अन्त' होने पर (२७०) से क्स के 'अ' का लोप हुआ है।

३. श्लिष आलिङ्गने (३।१।४६)।

४. अघृक्षत—धातु के ऊदित् होने से इडभाव पक्ष में क्स की प्राप्ति हुई। अगृह् स त। अगृ ढ् स त। बश को भष्। अघृक् स त। षढोः कः सि से ढ् को क्। अघृक् ष त (षत्व)। अघृक्षत। क्षोः संयोगे क्षः।

५. तक्ष् त्वक्ष्—शलन्त तो हैं, पर इगुपध नहीं हैं, अतः क्स की प्राप्ति नहीं। ऊदित् होने से इड् विकल्प होने से वृद्धि और वृद्ध्यभाव वाले दो-दो रूप दिये हैं। सिच्-लोप होने पर अताक्ष् ताम्—इस अवस्था में संयोग क् ष् (क्ष्) के आदि क् का लोप हो जाता है। अताष् ताम्। ष्टुत्व।

दुह्, दिह्, लिह्, गुह्—इन के क्स (स) प्रत्यय का विकल्प से लुक् हो जाता है दन्त्यादि आत्मनेपद प्रत्यय परे होने पर। (२७१)[1]

गुह् (गुहू स्वरितेत् उ०) लुङ् परस्मै०

१	अघुक्षत्[2] (इट् का अभाव)	अघुक्षताम्	अघुक्षन्
२	अघुक्षः	अघुक्षतम्	अघुक्षत
३	अघुक्षम्	अघुक्षाव	अघुक्षाम

(आत्मनेपद)

अघुक्षत / अगूढ [3]	अघुक्षाताम्	अघुक्षन्त
अघुक्षथाः / अगूढाः	अघुक्षाथाम्	अघुक्षध्वम् / अगूढ्वम्
अघुक्षि	अघुक्षावहि / अगुह्वहि	अघुक्षामहि

दिह् (परस्मै०)

अधक्षित्	अधिक्षताम्	अधिक्षन्

(आत्मनेपद)

अधिक्षत / अदिग्ध	अधिक्षाताम्	अधिक्षन्त
अधिक्षथाः / अदिग्धाः	अधिक्षाथाम्	अधिक्षध्वम् / अधिग्ध्वम् (भष्भाव)
अधिक्षि	अधिक्षावहि / अदिह्वहि[4]	अधिक्षामहि

---

१. लुग्वा दुह-दिह-लिह्-गुहामात्मनेपदे दन्त्ये (७।३।७३)।

२. अ गुह स त्। अगुढ् स त्। ढत्व। अघुढ् स त् (भष्भाव)। अघुक् स त्। ढ् को क्। अघुक् ष त्। प्रत्यय स को ष। अघुक्षत्।

३. अ गुह् स त। अगुह् त (क्स का लुक्)। अगुढ् त। (होढः)। अगुढ् ढ। (ष्टुत्व)। अगुढ। (ढ-लोप)। (अण् को दीर्घ)।

४. म० म० पं० शिवदत्त शास्त्री का कहना है कि भाष्यकार को वकार के दन्तोष्ठ्य होने से 'वहि' परे क्स का लुक् इष्ट नहीं। अतः अदिह्वहि, अदुह्वहि, अलिह्वहि—ये लङ् के ही रूप समझने चाहियें। अगुह्वहि तो लोक में असाधु ही है। पर केवल दन्त्य का ग्रहण यदि इष्ट होता तो 'दन्त्ये' के स्थान पर तौ, ऐसा लघु न्यास कर देते, 'दन्त्ये' क्यों कहा। इससे हम जानते हैं कि दन्तोष्ठ्य का ग्रहण भी अभिमत है, ऐसा भी मत है। इसके अनुसार अदिह्वहि आदि प्रयोग लुङ् में भी निर्दोष होंगे।

दुह् (परस्मै०)

	अधुक्षत्	अधुक्षताम्	अधुक्षन्
(आत्मने०)	अधुक्षत / अदुग्ध	अधुक्षाताम्	अधुक्षन्त
	अधुक्षथाः / अदुग्धाः	अधुक्षाथाम्	अधुक्षध्वम् / अधुग्ध्वम्
लिश् (आ०, दिवा०)	अलक्षित	अलिक्षाताम्	अलिक्षन्त
लिह् (परस्मै०)	अलिक्षत्	अलिक्षताम्	अलिक्षन्
,, (आत्मनेपद)	अलिक्षत / अलीढ	अलिक्षाताम्	अलिक्षन्त
	अलीढाः	अलिक्षाथाम्	अलिक्षध्वम् / अलीढ्वम्
	अलिक्षि	अलिक्षावहि / अलिह्वहि	अलिक्षामहि
स्पृश्	अस्पृक्षत्[1]	अस्पृक्षताम्	अस्पृक्षन्
मृश्	अमृक्षत्	अमृक्षताम्	अमृक्षन्
कृष्	अकृक्षत्	अकृक्षताम्	अकृक्षन्

चङ् प्रत्यय

२७४—स्वार्थ-ण्यन्त तथा प्रेरणार्थक ण्यन्त धातुओं से कर्तृवाची लुङ् परे रहते च्लि के स्थान में चङ् प्रत्यय आदेश आता है दोनों पदों में। सूत्र में पढ़े 'णि' से णिच् तथा णिङ् दोनों का ग्रहण इष्ट है। अण्यन्त श्रि, द्रु, स्रु धातुओं से भी कर्तृवाची लुङ् परे रहते चङ् आता है।[2]

२७५—अण्यन्त धेट् (पीना, चूसना) तथा श्वि (जाना, बढ़ना) से चङ् विकल्प से आता है।[3]

---

१. स्पृश्, मृश, कृष् के सिच् प्रत्यय वाले रूप दिये जा चुके हैं। वार्तिककार इन से सिच् का वैकल्पिक विधान करते हैं। यहाँ क्स-प्रत्ययान्त रूप दिये गये हैं।

२. णि-श्रि-द्रु-स्रुभ्यः कर्तरि चङ् (३।१।४८)।

३. विभाषा धेट्श्व्योः (३।१।४९)।

२७६—चङ्परक णि परे होने पर अङ्ग की उपधा को ह्रस्व हो जाता है।[1]

२७७—अनिडादि आर्धधातुक परे रहते णि का लोप हो जाता है।[2]

२७८—चङ् प्रत्यय परे रहते अनभ्यास धातु के एकाच् को द्विर्वचन (द्वित्व) होता है। यह द्वित्व उपधा-ह्रस्व किये जाने के पश्चात् होता है, पहले नहीं, यद्यपि चङ् मात्र की अपेक्षा करने से द्विर्वचन अन्तरङ्ग है और चङ् व णिच् की अपेक्षा करने से उपधा-ह्रस्व बहिरङ्ग है। इसमें आचार्य का ओणृ (अपनयने) धातु को ऋदित् पढ़ना ही ज्ञापक है।[3]

२७९—जहाँ भी षाष्ठ (षष्ठाध्यायोक्त) द्विर्वचन विधान किया है, वहाँ यदि धातु हलादि है तो उसके प्रथम एकाच् को द्वित्व होता है, यदि अजादि (अच् है आदि जिसका), तो द्वितीय एकाच् को।[4]

२८०—अच् से परे द्वितीय एकाच् के अवयव-भूत न्, द्, र् जो संयोग के आदि में हों, का द्विर्वचन नहीं होता।[5]

२८१—यदि अभ्यास के आदि में शर् हो और उस से परे खय् हो तो खय् (वर्गों के द्वितीय तथा प्रथम वर्ण) हो तो खय् शेष रहता है।[6] यह हलादिः शेषः (७।४।६०) का अपवाद है।

---

१. णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः (७।४।१)।

२. णेरनिटि (६।४।५१)।

३. चङि (६।१।११)। आचार्य ओणृ को ऋदित् पढ़ते हैं। ऋदित् करने का प्रयोजन यह है कि नाग्लोपि-शास्वृ-ऋदिताम् (८।४।२) से उपधाह्रस्व न हो। यदि उपधा-ह्रस्व करने से पूर्व द्विर्वचन हो जाय तो धातु के अजादि होने से ओ णि-णि ऐसी अवस्था में ण्यन्त अङ्ग की उपधा ह्रस्व इकार होगी, दीर्घ ओकार नहीं, सो ह्रस्वत्व-निषेध के लिये ऋदित् करना व्यर्थ हो जायगा। व्यर्थ होकर यह ज्ञापित करता है कि उपधा-कार्य द्विर्वचन से पूर्व होता है। ऐसा होने पर ही 'ओ' दीर्घ उपधा होगी, जिसे ह्रस्वत्व प्राप्त होगा। तभी ऋदित् करने से निषेध चरितार्थ होगा।

४. एकाचो द्वे प्रथमस्य (६।१।१)। अजादेर्द्वितीयस्य (६।१।२)।

५. न न्द्राः संयोगादयः (६।१।३)।

६. शर्पूर्वाः खयः (७।४।६१)।

२८२—अभ्यास के 'अ' को इ (और लघु अभ्यास को दीर्घ) हो जाता है जैसे सन्प्रत्यय परे होता है जब चङ्परक णि परे होने पर लघु धात्वक्षर हो और उस लघु से पूर्व अभ्यास हो, जब णिच् परे रहते धातु अग्लोपी न हो (अक्=अ, इ, उ, ऋ) **अथवा** जब चङ्-परक णि परे होने पर जो अङ्ग, उसका जो लघु-परक अभ्यास, उसके 'अ' को 'इ' हो जाता है जैसे सन्प्रत्यय परे होता है। इसे **सन्वद्भाव** कहते हैं। इस दूसरी व्याख्या में णि परे रहते धातु अग्लोपी न हो, इतना अंश समान है।[1]

२८३—लघु अभ्यास को दीर्घ हो जाता है चङ्परक णि परे रहते, जब णि परे रहते धातु अग्लोपी न हो गया हो।[2] संयोगादि धात्वक्षर परे होने पर अभ्यास के गुरु हो जाने से दीर्घ नहीं होता।

२८४—णिङ् के अभाव में केवल कमु (कान्तौ) से भी चङ् प्रत्यय आता है।[3]

२८५—क्रियाफल के कर्तृगामी होने पर ण्यन्त धातु से आत्मनेपद प्रत्यय आते हैं।[4]

सन्वल्लघुनि...सूत्र की सविस्तर व्याख्या

इस सूत्र की दो प्रकार से व्याख्या की की जाती है—एक कार्यकालं संज्ञापरिभाषम् इस पक्ष को मानकर और दूसरी यथोद्देशं संज्ञापरिभाषम् इस पक्ष को। पहले पक्ष में संज्ञा और परिभाषाएं उस-उस कार्यविधि के प्रदेश में (काल=प्रदेश) उपस्थित हो जाती हैं, अर्थात् संज्ञाशास्त्र तथा परिभाषा-शास्त्रों की वहाँ **स्वरूप से** उपस्थिति होती है। भाव यह है कि संज्ञा-व-परि-भाषा-निरूपक पद तत्तत्कार्य-विधायक शास्त्र जो वाक्यरूप हैं, के साथ अन्वित होकर एकवाक्यता को प्राप्त होते हैं। दूसरे पक्ष में संज्ञा व परिभाषाएँ अपने उद्देश (जहाँ वे पढ़ी हैं) को न छोड़ती हुईं अपने-अपने अर्थ को तत्तत्कार्य विधायक शास्त्र में अर्पित करती हैं, जिससे वह पूर्ण होता है। संज्ञा-निरूपक वाक्य कार्य-विधायक शास्त्र-वाक्य के साथ एकवाक्यता को प्राप्त करते हैं।

प्रकृत सूत्र में 'अङ्गस्य' यह अधिकृत है। (६।४।१) से सप्तम अध्याय

---

१. सन्वल्लघुनि चङ्परे ऽनग्लोपे (७।४।९३)।

२. दीर्घो लघोः (७।४।९४)।

३. कमेश्च्लेश्चङ् वक्तव्यः (वा०)।

४. णिचश्च (१।३।७४)।

की परिसमाप्ति तक अङ्गाधिकार है। 'अभ्यासस्य'—यह यहाँ 'अत्र लोपो ऽभ्यासस्य (७।४।५८) से अनुवृत्त है।

प्रथम पक्ष के अनुसार व्याख्या—

'अङ्गस्य' यह निमित्तनिमित्ति-भाव में षष्ठी है। अङ्ग-संज्ञा का निमित्त जो चङ् परक वर्ण (वह णि का 'इ' ही हो सकता है)। 'चङ्-पर'—यह बहुव्रीहि है—चङ् परो यस्मात् स चङ्परः। चङ्परक णि से पूर्व जो लघु, उससे पूर्व जो अङ्ग का अभ्यास, उसे सन्वद्भाव होता है (सन् परे जो अभ्यास के 'अ' को 'इ' होता है), जब णिच् परे रहते धातु अग्लोपी (जिसका अक्=इ, उ, ऋ, लृ लुप्त हुआ है) न हो। सूत्र में 'चङ् परे' तथा 'अन-ग्लोपे' ये समानाधिकरण सप्तमी विभक्तियाँ हैं।

इस व्याख्या में 'अङ्गस्य' की आवृत्ति स्वीकार की गई है और णि की भी। यदि ऐसा न किया जाय तो श्रि, द्रु, स्रु के इ, उ भी चङ्परक हैं (इन धातुओं से बिना णिच् के ही चङ् का विधान होने से) पर प्रत्यय न होने से अङ्ग के निमित्त नहीं हैं, और लघु हैं, इनके अभ्यास को भी सन्वद्भाव प्राप्त होगा। यदि णि की आवृत्ति न की जाय और णि का अनग्लोपी' के साथ अन्वय न किया जाय तो कमु कान्तौ के अनुबन्ध लोप होने पर अग्लोपी होने से चङ् आने पर दीर्घ-सन्वद्भाव न हो सकेंगे।

कार्यकाल पक्ष में अभ्यास-संज्ञा-विधायक 'पूर्वोऽभ्यासः' इस शास्त्र के पद सन्वद्भावरूप कार्य विधायक शास्त्र में इस तरह उपस्थित होते हैं—अङ्गस्या-भ्यासः=अङ्गस्य ये द्वे उच्चारणे तयोः पूर्वोऽभ्याससंज्ञः स सन्वद्भवति। 'उच्चारणे' यह ल्युडत कृदन्त है। अङ्ग कर्म है उसमें कृद्योग-लक्षणा षष्ठी हुई है। कर्मीभूत 'अङ्ग' से कृत्स्न अङ्ग, सर्वा प्रकृति ही समझी जा सकती है, न कि तदेकदेश। निष्कर्ष यह हुआ कि कार्य-काल-पक्ष में जहाँ कृत्स्न अङ्ग को द्विर्वचन हो वहीं दीर्घ व सन्वद्भाव होते हैं, और कृत्स्न अङ्ग को द्विर्वचन तभी संभव है जब अङ्ग एकाच् हो। इस व्याख्या के अनुसार संनिहित (सूत्र-स्थ) 'लघुनि' यह चङ्परक णि का विशेष्य है और अङ्गाभ्यास 'लघु' का विशेष्य है।

द्वितीय व्याख्या में अङ्ग की आवृत्ति नहीं। चङ् परक कहने से ही 'णि'

की लब्धि हो जाती है।[1] चङ्-परक णि का अन्वय अङ्ग में है, अङ्ग उसका विशेष्य है। 'लुधुनि' का अन्वय 'अभ्यास' के साथ है। लघुपरता अभ्यास का विशेषण है। अर्थ यह हुआ—चङ्‌परक णि परे होने पर जो अङ्ग उस का जो लघु-परक अभ्यास, उसे सन्वद्‌भाव (व दीर्घ) होता है। यथोद्देशपक्ष को मानकर अङ्गाधिकार से अनुवृत हुए 'अङ्गस्य' पद में षष्ठी **अवयवार्थ** में हुई है। यहाँ अभ्यास-संज्ञा-विधायक शास्त्र-वाक्य अपने अर्थ को सन्वद्‌भाव-विधायक शास्त्र में जोड़ देता है। इस पक्ष के अनुसार अनेकाच् धातुओं में भी दीर्घ-सन्वद्‌भाव निर्बाध होंगे।

प्रथम पक्ष के अनुसार चकासृ (चकास्), अर्थापि (अर्थ प्रातिपदिक से णिच्, आपुक्), ऊर्णु (ञ्)—इन अनेकाच् धातुओं में कृत्स्न अङ्ग के द्विरुक्त न होने से सन्वद्भाव और दीर्घ नहीं होते—अचचकासत्। और्णुनवत्। आर्त-थपत, ऐसा धातुवृत्तिकार माधव का मत है। चकास् के ऋदित् होने से उपधा-ह्रस्व नहीं होता है।

द्वितीय पक्ष (जिसे भाष्यकार स्वीकार करते हैं) के अनुसार अङ्ग के एकदेश के द्विरुक्त होने पर भी दीर्घ-सन्वद्भाव होंगे अभ्यास के लघुपरक होने पर। इस पक्ष के अनुसार और्णूनवत् (नु जो अङ्गका एकदेश है उसे द्विर्वचन होने पर भी) में अभ्यास 'नु' को दीर्घ हुआ है। अभ्यास में 'उ' होने से सन्वद्भाव से प्राप्त सन्यतः से 'अ' को 'इ' का प्रसङ्ग ही नहीं। आर्तीथपत् —यहाँ भी अङ्गावयव 'थप्' को द्वित्व होने पर भी सन्वद्भाव तथा दीर्घ हुआ है।

चकास् के विषय में इतना विशेष वक्तव्य है कि यथोद्देशपक्ष में भी ऊपर दी गई दोनों व्याख्याओं का पर्यायेण स्वीकार करने पर सन्वद्भव तथा दीर्घ—दोनों होंगे और नहीं भी होंगे। प्रथम अवयव एकाच् 'च' को द्वित्व करके अचच कास् चङ् त्, इस अवस्था में चङ् परक णि परे होने पर जो अङ्ग उसका जो अभ्यास लघुपरक (जिससे परे लघु धात्वक्षर है) है उसे सन्वद्भाव तथा दीर्घ होते हैं। इस व्याख्या के अनुसार सन्वद्भाव और दीर्घ होकर अचीचकासत् रूप होगा। दूसरी व्याख्या के अनुसार सन्वद्भाव तथा दीर्घ के लिये चङ्-परक णि परे होने पर लघु होना चाहिये, वह यहाँ नहीं है, जो है वह चकारोत्तरवर्ती अकार है। वह 'कास्' इस वर्णसङ्घात से व्यवहित

---

१. अङ्ग विशेष्य होने पर चङ्-पर (बहुव्रीहि) का अन्यपदार्थ 'णि' ही हो सकता है।

है, चङ् परक णि से अव्यवहित-पूर्व नहीं, अतः सन्वद्भाव व दीर्घ की प्राप्ति नहीं, तो अचचकासत् रूप होगा।

अततक्षत्। अररक्षत् में अभ्यास लघु है, पर अभ्यास से परे धात्वक्षर लघु नहीं है, संयोग-परक होने से गुरु है, अतः यहाँ सन्वद्भाव तथा दीर्घ न हुए। अजजागरत्—यहा भी सन्वद्भाव तथा दीर्घ न हुए। चङ्परक णि परे होने पर जो लघु (गकार का अ), उससे अव्यवहित पूर्व अभ्यास नहीं, वह तो 'जा' इस वर्णसंघात से व्यवहित है। एक वर्ण का व्यवधान तो अपरिहार्य होने से सह्य है, अनेक का नहीं। दूसरी व्याख्या के अनुसार भी अभ्यास से परे लघु धात्वक्षर नहीं।

अबिभ्रजत् इत्यादि में अभ्यास 'इ' के संयोग परक होने से गुरु हो जाने से दीर्घत्व की प्राप्ति नहीं।

चुर्—चोरि (ण्यन्त)

लुङ् परस्मैपद

प्र० पु०	**अचूचुरत्**[1]	**अचूचुरताम्**	**अचूचुरन्**
म० पु०	**अचूचुरः**	**अचूचुरतम्**	**अचूचुरत**
उ० पु०	**अचूचुरम्**	**अचूचुराव**	**अचूचुराम**

लुङ् आत्मनेपद

प्र० पु०	**अचूचुरत**	**अचूचुरेताम्**	**अचूचुरन्त**

---

१. चुर् णिच्। चोरि (उपधागुण)। अचोरि त्। अचोरि अ त् (चङ्)। अचोर् अत् (णि लोप)। अचुर् अत् (उपधा ह्रस्व)। अचुर् चुर् अत्(द्वित्व)। अचूचुरत् (हलादिः शेष)। (सन्वद्भावविषय में अभ्यास को दीर्घ)। यहाँ णि-लोप, उपधा-ह्रस्व, द्विर्वचन ऐसा कार्यप्रवृत्ति का क्रम है। यहाँ 'चोरि' के णि-लोप करने पर उपधा ह्रस्व करके चुर् होने पर अचः परस्मिन्पूर्वविधौ (१।२।५७), पर-निमित्तक अजादेश (प्रकृत में उपधा ओ को ह्रस्व उ) स्थानिवत् होता है, पूर्व को जब कोई कार्य करना हो, इस शास्त्र से स्थानिवद्भाव हो जाने पर अभ्यास के लघुपरक न रहने से सन्वद्भाव और दीर्घ नहीं होने चाहिएँ—यह शङ्का हो सकती है। उत्तर—अनादिष्ट अच् (जिसे अभी आदेश नहीं हुआ), (जैसे प्रकृत में चोर् का ओ) से जो पूर्व उसके कार्य के प्रति स्थानिवद्भाव होता है। निर्दिष्ट-पूर्व क्रम में चोर् इस अवस्था में पूर्व अभ्यास है ही नहीं, वह तो ओ को आदेश (ह्रस्व उ) होने पर होता है, अतः स्थानिवद्भाव नहीं होता।

म० पु०	**अचूचुरथाः**	**अचूचुरेथाम्**	**अचूचुरध्वम्**
उ० पु०	**अचूचुरे**	**अचूचुरावहि**	**अचुचुरामहि**

कथ्, रच्, रह् (त्यागना) आदि जो अदन्त पढ़ी हैं, के अभ्यास को सन्वद्भाव='अ' को इ नहीं होता अग्लोपी होने से। इन धातुओं के अन्त्य 'अ' का (४१) से लोप होता है। इस लोप के स्थानिवद्भाव होने से (१६६) से उपधा वृद्धि का प्रसङ्ग ही नहीं रहता। कथि धातु से चङ् आने पर णि-लोप हो जाने पर कथ् को द्वित्व होता है। **अचकथत्-त, अररचत्-त, अररहत्-त, अचिचिन्तत्-त।** यहाँ न्त् के संयोग के कारण धात्वक्षर गुरु है और अभ्यास में 'अ' नहीं है, सो सन्वद्भाव का विषय नहीं। सन्वद्भाव के अभाव में लघु अभ्यास को दीर्घ भी नहीं होता।

२८६—गण् के अभ्यास को विकल्प से 'ई' होता है चङ्-परक णि (णिच्) परे होने पर। गण अदन्त पढ़ी है। इसके 'अ' का (४१) से लोप हो जाता है, सो यह धातु अग्लोपी है। इसे सन्वद्भाव व दीर्घ दोनों अप्राप्त हैं। हलादिः शेष होने पर अभ्यास के 'अ' को विकल्प से 'ई', पक्ष में 'अ'।[1]

गण्	**अजीगणत्**	**अजीगणताम्**	**अजीगणन्**
(आ०)	**अजीगणत**	**अजीगणेताम्**	**अजीगणन्त**
„ (ई के अभाव में)	**अजगणत्**	**अजगणताम्**	**अजगणन्**
नश् (ण्यन्त)	**अनीनशत्**	**अनीनशताम्**	**अनीनशन्**
पद् (ण्यन्त)	**अपीपदत्**	**अपीपदताम्**	**अपीपदन्**
भुज् „	**अबूभुजत्**	**अबूभुजताम्**	**अबूभुजन्**
(कृप्) **क्लृप्**	**अचीक्लृपत्**	**अचीक्लृपताम्**	**अचीक्लृपन्**

श्रि (उभयपदी) अण्यन्त

(परस्मै०)	**अशिश्रियत्** (इयङ्)	**अशिश्रियताम्**	**अशिश्रियन्**
(आ०)	**अशिश्रियत**	**अशिश्रियेताम्**	**अशिश्रियन्त**
द्रु (अण्यन्त)	**अदुद्रुवत्** (उवङ्)	**अदुद्रुवताम्** ( )	**अदुद्रुवन्**
स्रु (अण्यन्त)	**असुस्रुवत्**	**असुस्रुवताम्**	**असुस्रुवन्**

---

१. ई च गणः (७।४।९७)।

२. स्रवति-शृणोति-द्रवति-प्रवति-प्लवति-च्यवतीनां वा (७।४।८१)।

२८४—स्रु, श्रु, द्रु, प्रु (ङ्), प्लु (ङ्), च्यु (ङ्)—इनके अभ्यास उ को 'इ' होता है अभ्यास से परे अवर्ण परक यण् परे होने पर जब आगे सन्प्रत्यय हो। अवर्ण-परक यण् ण्यन्त स्रु आदि में ही मिलेगा। (२८२) से सन्वद्भाव होने से इन धातुओं के अभ्यास को चङ्-परक णि होने पर भी विकल्प से इत्व होगा—

स्रु (णिच्)	असुस्रवत् / असिस्रवत्	(उवङ्) असुस्रवताम् / असिस्रवताम्	असुस्रवन् / असिस्रवन्
श्रु (णिच्)	अशुश्रवत् / अशिश्रवत्	अशुश्रवताम् / अशिश्रवताम्	अशुश्रवन् / अशिश्रवन्
द्रु णिच्	अदुद्रवत् / अदिद्रवत्	अदुद्रवताम् / अदिद्रवताम्	अदुद्रवन् / अदिद्रवन्
प्रु (ङ्) णिच्	अपुप्रवत् / अपिप्रवत्	अपुप्रवताम् / अपिप्रवताम्	अपुप्रवन् / अपिप्रवन्
प्लु (ङ्) णिच्	अपुप्लवत् / अपिप्लवत्	अपुप्लवताम् / अपिप्लवताम्	अपुप्लवन् / अपिप्लवन्
च्यु (ङ्) णिच्	अचुच्यवत् / अचिच्यवत्	अचुच्यवताम् / अचिच्यवताम्	अचुच्यवन् / अचिच्यवन्

२८७—स्मृ, दॄ, त्वर्, प्रथ्, म्रद्, स्तॄ, स्पश्—इनके अभ्यास को 'अ' होता है चङ्-परक णि परे होने पर। सन्वद्भाव से इत्व प्राप्त था। 'अत्' में तपरकरण के सामर्थ्य से दीर्घो लघोः से लघु अभ्यास को दीर्घ भी नहीं होगा। स्मृ, दॄ, स्तॄ में उरत् (७।४।६६) (ऋ को रपर अ) से अभ्यास में 'अ' आता है।

स्मृ (णिच्)	असस्मरत्	असस्मरताम्	असस्मरन्
दॄ „ (फाड़ना)	अददरत्[2]	अददरताम्	अददरन्
त्वर् „	अतत्वरत्	अतत्वरताम्	अतत्वरन्
प्रथ् (चुरा०)	अपप्रथत्	अपप्रथताम्	अपप्रथन्
म्रद् (भ्वा०) णिच्	अमम्रदत्	अमम्रदताम्	अमम्रदन्
स्तॄ (णिच्)	अतस्तरत् (२८१)	अतस्तरताम्	अतस्तरन्

१. अत्स्मृ-दॄ-त्वर-प्रथ-म्रद-स्तॄ-स्पशाम् (७।४।९५)।

२. लघु अभ्यास (द) को अत् कहने से (तपरकरण-सामर्थ्य से) दीर्घ नहीं होता। 'अतत्वरत्' इत्यादि में तो अभ्यास के संयोग परक होने से गुरु हो जाने से दीर्घ की प्राप्ति ही नहीं।

स्पश् (भ्वा०) णिच्	अपस्पशत्[1]	अपस्पशताम्	अपस्पशन्
क्षण् (तना०)	अचिक्षणत्[2]	अचिक्षणताम्	अचिक्षणन्

२८८—वेष्ट् और चेष्ट् के अभ्यास को 'अ' विकल्प से होता है चङ्परक णि परे होने पर।[3]

वेष्ट् (णिच्)	अववेष्टत् / अविवेष्टत्	अववेष्टताम् / अविवेष्टताम्	अववेष्टन् / अविवेष्टन्
चेष्ट् णिच्	अचचेष्टत् / अचिचेष्टत्[4]	अचचेष्टताम् / अचिचेष्टताम्	अचचेष्टन् / अचिचेष्टन्

२८९—सन्परक तथा चङ्परक णि परे होने पर 'ह्वे' को सम्प्रसारण होता है। सम्प्रसारण से परे अच् होने पर दोनों के स्थान में पूर्व(सम्प्रसारण) का ही रूप हो जाता है।[5]

---

१. यहाँ अभ्यास स्पश् का खय् (प) शेष रहता है।

२. यहाँ संयोग रूप वर्ण सङ्घात का व्यवधान होने पर भी (क् ष् के द्वारा 'अ' अभ्यास से व्यवहित है) सन्वद्भाव हो गया। ऐसा संयोगरूप दो वर्णों का व्यवधान भी सह्य है ऐसा आचार्य मानते हैं तभी तो 'स्मृ' आदि के अभ्यास को अत्त्व विधान करते हैं, अन्यथा इत्व प्राप्त ही न था, उसके रोकने के लिए अत्त्व विधान क्यों करते ?

३. विभाषा वेष्टिचेष्ट्योः (७।३।९६)।

४. वेष्ट्, चेष्ट् में 'ए' उपधा नहीं, अतः उपधा ह्रस्व का प्रसंग ही नहीं। अचिचेष्टत् में अभ्यास लघु है, पर उससे परे लघु धात्वक्षर नहीं, अतः सन्वद्भाव की प्राप्ति नहीं। ह्रस्वः (११६) से अभ्यास को ह्रस्व ए के स्थान में 'इ' हो जाता है। तब पक्ष में अत्त्व होता है।

५. ह्वः सम्प्रसारणम् (६।१।३२)। अ ह्वे इ अ त्। ह्वे को सम्प्रसारण तथा पूर्वरूप होकर अ हु इ अ त् ऐसी स्थिति में णि का लोप, उपधा-गुण (ओ), उपधा-ह्रस्व (उ), तब हु को द्वित्व और अभ्यास कार्य। सन्वद्भाव होने पर भी अभ्यास में 'अ' न होने से 'इ' नहीं हुआ, अभ्यास को लघु होने से दीर्घ हो गया। अजूहवत् में अभ्यास के 'उ' से परे अवर्णपरक हकार है जो यण् नहीं, अतः सन्वद्भाव से जो ओः पु-यण्ज्यपरे(७।४।८०) से सन् परे होने पर अभ्यास के 'उ' को 'इ' होता है, वह यहाँ नहीं सकता।

ह्वे (णिच्) **अजूहवत्** (सम्प्र०) **अजूहवताम्** **अजूहवन्**

२९०—ण्यन्त स्वापि (स्वप् णिच्) को सम्प्रसारण होता है चङ् परे रहते।[1]

स्वप् (णिच्) **असूषुपत्**[2] **असूषुपताम्** **असूषुपन्**
दीर्घ, अभ्यासोत्तर खण्ड में आदेशप्रत्यययोः से सुप् के स् को मूर्धन्य आदेश होकर असूषुपत् रूप सिद्ध हुआ।

२९१—स्फाय् के य् को व् आदेश होता है णि परे होने पर।[3]

स्फाय् (णिच्) **अपिस्फवत्**(य् को व्) **अपिस्फवताम्** **अपिस्फवन्**

२९२—हन् के न् को त् आदेश होता है चिण्, णल्-भिन्न ञित् णित् प्रत्यय परे होने पर।[4]

२९३—हन् के 'ह्' को कुत्व (आन्तरतम्य से घ्) होता है ञित् णित् प्रत्यय तथा नकार परे होने पर।[5]

हन् **अजीघतत्**[6] **अजीघतताम्** **अजीघतन्**

२९४—रभ् तथा लभ् के अन्त्य अच् से परे नुम् (न्) आगम होता है शप् तथा लिट् को छोड़कर किसी अन्य अजादि प्रत्यय के परे होने पर।[7]

२९५—ऋ, ह्री, व्ली (क्र्यादि० ढाँपना), री (दिवा० क्र्या०), क्नूय्, क्ष्माय्, तथा आकारान्त(लाक्षणिक अथवा प्रतिपदोक्त)—इन धातुओं को पुक् आगम होता है णिच् परे होने पर।[8] पुक् कित् है अतः आद्यन्तौ टकितौ (१।१।४६) इस वचन के अनुसार धातु के अन्त में लगाया जाता है और वह धातु का अन्तावयव बन जाता है।

---

१. स्वापेश्चङि (६।१।१८)।

२. सम्प्रसारणं तदाश्रयं च कार्यं बलवत् इस वचन के अनुसार पहले सम्प्रसारण, पूर्वरूप होकर सुप् णि चङ् त् इस अवस्था में गुण होकर णि-लोप, उपधा-ह्रस्व होकर, अभ्यास कार्य, सन्वद्भाव, अभ्यास के लघु 'उ' को

३. स्फायो वः (७।३।४१)।

४. हनस्तोऽचिण्णलोः (७।३।३२)।

५. होहन्तेर्ञ्णिन्नेषु (७।३।५४)।

६. ण्यन्त 'घाति' के णि का लोप, उपधा-ह्रस्व, द्वित्व। अभ्यास को सन्वद्भाव से इत्त्व, दीर्घ। कुहोश्चुः (१०७) से चवर्गादेश (झ्)। आन्तरतम्य से झ् के स्थान में ज्।

७. रभेरशब्लिटोः (७।१।६३)। लभेश्च (७।१।६४)।

८. अर्ति-ह्री-व्ली-री-क्नूयी-क्ष्माय्याताम् पुग्णौ (७।३।३६)।

रभ्	**अररम्भत्**[1] (२६४)	**अररम्भताम्**	**अररम्भन्**
लभ्	**अललम्भत्**	**अललम्भताम्**	**अललम्भन्**

पुक् आने पर इन्हें यथाप्राप्त गुण होकर अर्पि, ह्रेपि, व्लेपि, रेपि, क्नोपि (यहाँ लोपो व्योर्वलि से य् का लोप भी होता है), क्ष्मापि (यहाँ भी य् का लोप होता है) तथा दापि, धापि, गापि, स्नापि (दा आदि आकारान्त धातुओं) के ण्यन्त रूप होते हैं। इनके लुङ् में इस प्रकार रूप होंगे—

ऋ	**आर्पिपत्** (आट्, वृद्धि)[1]	**आर्पिपताम्**	**आर्पिपन्**
ह्री (लजाना)	**अजिह्लिपत्** (उपधा, ह्रस्व[2]	**अजिह्लिपताम्**	**अजिह्लिपन्**
व्ली	**अविव्लिपत्** (,,)	**अविव्लिपताम्**	**अविव्लिपन्**
री	**अरीरिपत्** (,,)	**अरीरिपताम्**	**अरीरिपन्**
क्नूय्	**अचुक्नुपत्** (,,)	**अचुक्नुपताम्**	**अचुक्नुपन्**
क्ष्माय्	**अचिक्ष्मपत्**	**अचिक्ष्मपताम्**	**अचिक्ष्मपन्**

२६६—क्री, इङ्, जि—णिच् परे होने पर इनके एच् को आकार अन्तादेश होता हैं। आकारान्त होने पर इन्हें पुक् आगम होता है।[3] क्रापि, आपि, जापि—ये णिजन्त धातुएँ बन जाती हैं।

२६७—इङ् को चङ्-परक णि परे होने पर विकल्प से गाङ् आदेश होता है।[4] इङ् का अधिपूर्वक ही प्रयोग होता है।

क्री	**अचिक्रपत्**	**अचिक्रपताम्**	**अचिक्रपन्**

---

१. यहाँ ऋ से परे णिच् होने पर वृद्धि को बाध कर, पुक् होने पर (३) से गुण। णिलोप को स्थानिवत् मान कर 'पि' को द्वित्व। धातु के अजादि होने से द्वितीय एकाच् को द्वित्व होता है। अच् से परे रकारादि संयोग होने से (२८०) से 'र्' को द्वित्व का निषेध हो गया।

२. अजिह्लिपत्, अविव्लिपत्, अचुक्नुपत्, अचिक्ष्मपत्—इन में अभ्यास के संयोग परक होने से गुरु हो जाने के कारण दीर्घ नहीं हुआ। इन में यथा-प्राप्त उपधा ह्रस्व हुआ।

३. क्रीङ् जीनां णौ (६।१।४८)।

४. णौ च संश्चङोः (२।४।५१)।

इङ्	अध्यजीगपत्[1]	अध्यजीगपताम्	अध्यजीगपन्
,,	अध्यापिपत् (पि को द्वित्व)	अध्यापिपताम्	अध्यापिपन्
जि	अजीजपत्	अजीजपताम्	अजीजपन्
दा	अदीदपत्	अदीदपताम्	अदीदपन्
धा	अदीधपत्	अदीधपताम्	अदीधपन्
धेट् (ण्यन्त)	अदीधपत्[2]	अदीधपताम्	अदीधपन्
गै	अजीगपत्	अजीगपताम्	अजीगपन्
स्ना	असिष्णपत्	असिष्णपताम्	असिष्णपन्
ग्लै	अजिग्लपत्	अजिग्लपताम्	अजिग्लपन्
अर्थापि (आपुक् आगम) (थप् को द्वित्व)	आर्तीथपत्[3]	आर्तीथपताम्	आर्तीथपन्
धे (ट्) अण्यन्त	अदधत्[4]	अदधताम्	अदधन्
श्वि (अण्यन्त)	अशिश्वियत्[5]	अशिश्वियताम्	अशिश्वियन्

२६८—सन्परक तथा चङ् परक णि परे रहते 'श्वि' को विकल्प से

---

१. गाङ् आदेश होने पर पुक्। उपधा-ह्रस्व। द्विर्वचन की कर्तव्यता में स्थानिवद्भाव होकर गाप् को द्वित्व। द्वित्व हो जाने पर अभ्यासोत्तर खण्ड में आदेश रूप गप्। अभ्यास को ह्रस्व। सन्वद्भाव से इत्व। दीर्घ।

२. उपदेशावस्था में ही आत्व होने से णिच् परे पुक् आगम होता है। सन्वद्भाव, इत्व, दीर्घ।

३. यथोद्देश पक्ष में अङ्ग के एकादेश थप् को द्वित्व होने पर भी सन्वद्भाव व दीर्घ। अर्थापि धातु के अजादि होने से द्वितीय एकाच थप् (उपधालघु होने पर) को द्वित्व होता है। संयोग के आदिभूत र् को द्वित्व नहीं होता। कार्यकाल पक्ष में कृत्स्न अङ्ग को द्विरुक्त होना चाहिए, ऐसा न होने से सन्वद्भाव नहीं होता—'आर्तथपत' ऐसा रूप होगा।

४. यहाँ (२७५) से आये हुए चङ् के परे रहते उपदेशावस्था में ही बने धे के आ का (२२१) से लोप हो जाने पर द्वित्व की कर्त्तव्यता में उसे स्थानिवत् मानकर 'धा' को द्वित्व होता है।

५. (२७५) से विकल्प से चङ्। अश्वि अत्। श्वि को द्वित्व। श्वि श्वि। हलादि शेष से शि श्वि। इयङ्।

सम्प्रसारण होता है।[1] सम्प्रसारण (व् को उ) तथा पूर्वरूप होकर पीछे द्विर्वचन होता है। अ शु शु इ अत्। यहाँ णिच् परे रहते वृद्धि, आव् आदेश उपधा ह्रस्व (शव्)। द्वित्व की कर्त्तव्यता में स्थानिवत् होने से 'शु' को द्वित्व। अभ्यासेत्तर खण्ड में आदेश रूप शव्।

श्वि—(णिच्)	अशूशवत् (सम्प्र०) अशिश्वयत्[2]	अशूशवताम् अशिश्वयताम्	अशूशवन् अशिश्वयन्
कम्	अचकमत	अचकमेताम्	अचकमन्त
	अचीकमत (णिङ्)	अचीकमेताम्	अचीकमन्त
अट् (णिच्)	आटिटत्[3] ('टि को द्वित्व)	आटिटताम्	आटिटन्
अश् (णिच्)	आशिशत् ('शि' को द्वित्व)	आशिशताम्	आशिशन्
अर्च (णिच्)	आर्चिचत् ('चि' को द्वित्व)	आर्चिचताम्	आर्चिचन्
उब्ज्	औब्जिजत्[4] ('जि' को द्वित्व)	औब्जिजताम्	औब्जिजन्

---

१. णौ च संश्चङोः (६।१।३१)।

२. णिच् परे रहते भी अच् को आदेश नहीं होता द्वित्व की कर्तव्यता में इस पक्ष को मानकर श्वि को द्वित्व होता है, पश्चात् अभ्यासोत्तर खण्ड में वृद्धि आय् आदेश होने पर उपधा ह्रस्व होता है। संयोग परक होने से गुरु हो जाने से अभ्यास को दीर्घ नहीं होता।

३. यहाँ (२७७) से णि का लोप होता है। द्विर्वचन की कर्तव्यता में स्थानिवत् माना जाता है। अजादि धातु के द्वितीय एकाच्=णिच्-सहित 'टि' को द्वित्व होने से सन्वद्भाव का विषय न होने से सन्वद्भावविषय में होने वाला, लघु अभ्यास को दीर्घ भी नहीं होता। ऐसा ही आर्चिचत् में जानें। अर्च् में अच् से परे संयोगादि र् को द्वित्व नहीं होता (२८०)।

४. उब्ज् धातु दकारोपध है। इसके द् को भुजन्युब्जौ पाण्युपतापयोः (७।३।६१) से बकार निपातन हुआ है। वह द्वित्व के पश्चात् होता है। द्वित्व के लिये धातु उद्ज् ही है। उद्ज् इ अ त्। अजादि होने से द्वितीय एकाच् 'जि' को द्वित्व होता है, द् जो अच् से परे संयोग का आदि है उसे नहीं (२८०)। द्वित्व के पश्चात् द् को ब् होता है जिससे आट् होकर औब्जिजत् रूप सिद्ध होता है।

अड्ड्	आड्डिडत्[1]	आड्डिडताम्	आड्डिडन्
उन्द्	औन्दिदत्	औन्दिदताम्	औन्दिदन्
एध् (णिच्)			
	इदिधत्[2] (मा भवान्)		
आट् करने पर	ऐदिधत् (वृद्धि एकादेश)	ऐदिधताम्	ऐदिधन्
जागृ (णिच्)	अजजागरत्	अजजागरताम्	अजजागरन्
भक्ष् („)	अबभक्षत्	अबभक्षताम्	अबभक्षन्
तक्ष् („)	अततक्षत्	अततक्षताम्	अततक्षन्
रक्ष् („)	अररक्षत्	अररक्षताम्	अररक्षन्
ग्रह् („)	अजिग्रहत्	अजिग्रहताम्	अजिग्रहन्

---

१. अड्ड भी दकारोपध है, ष्टुत्व से ड् हुआ है। इसे असिद्ध मानकर संयोग के आदि 'द्' को छोड़कर द्वितीय एकाच् णिच् सहित 'दि' को द्वित्व होता है। अभ्यासोत्तर खण्ड 'डि' के इ (णिच्) का (२७७) से लोप हो जाता है।

२. यहाँ एध् णिच् अ त्। यहाँ द्वित्व से पूर्व उपधा-ह्रस्व होता है, तब धातु के अजादि होने से द्वितीय एकाच् धि (णिच्सहित) को द्वित्व होता है। प्रपूर्वक प्रेदिधत् रूप होगा, कारण कि वृद्धि विधायक एत्येधत्यूठ्सु (६।१।८९) सूत्र की व्याख्या में एजादि एति, एधति धातुएँ ली जाती हैं ऐसा कहा गया है। अतः गुण हुआ। ह्रस्व होने पर एकदेशविकृतमनन्यवत् इस न्याय से एध् धातु ही है, पर वह एजादि नहीं। यह शङ्का नहीं हो सकती कि धि के स्थान में धि धि शब्दान्तर आदेश हो जाने पर प्रकृति प्रत्यय आदि का कुछ भी विवेक नहीं रहता जैसे युष्मद् अस्, अस्मद् अस् के स्थान में वस्, नस् आदेशों में, तो प्रकृति एध् और प्रत्यय का अविभाग होने से वृद्धि की प्राप्ति ही नहीं रहती, कारण कि भाष्य में द्विः प्रयोगो द्विर्वचनं षाष्ठम्, अर्थात् षष्ठाध्याय-विहित द्वित्व धातु का दो बार उच्चारण मात्र है, उसके स्थान में आदेश नहीं, ऐसा सिद्धान्त स्थापित किया है। अन्यथा (मा भवान्) प्रेदिधत् यहाँ णि (पृथक् प्रत्यय रूप में न रहने से) का लोप न हो सकेगा। जिघांसति में (अभ्यासाच्च ७।३।५५) से अभ्यास से उत्तर हन् के ह् को कुत्व न हो सकेगा, प्रकृति का अविवेक होने से।

संग्राम(चुरा०) (अदन्त)	**अससंग्रामत**[1]	**असंसंग्रामेताम्**	**असंसंग्रामन्त**
कल अ०चुरा०	**अचकलत्**	**अचकलताम्**	**अचकलन्**
गृह (,,) ,,	**अजगृहत**	**अजगृहेताम्**	**अजगृहन्त**
पद (,,) ,,	**अपपदत**	**अपपदेताम्**	**अपपदन्त**
मह (,,) ,,	**अममहत्**	**अममहताम्**	**अममहन्**
सूच (,,) ,,	**असुसूचत्**	**असुसूचताम्**	**असुसूचन्**
सूत्र (,,) ,,	**असुसूत्रत्**	**असुसूत्रताम्**	**असुसूत्रन्**
अर्थ (,,) ,,	**आर्तथत** (थ को द्वित्व)	**आर्तथेताम्**	**आर्तथन्त**
ऊन (,,) ,,	**औननत्**[2] ('न' को द्वित्व)	**औननताम्**	**औननन्**
पार (,,) ,,	**अपपारत्**	**अपपारताम्**	**अपपारन्**
तीर (,,) ,,	**अतितीरत्**	**अतितीरताम्**	**अतितीरन्**

१. संग्राम युद्धे ऐसा धातु पाठ है। संग्राम प्रातिपदिक से 'तत्करोति' अर्थ में णिच् होता है ऐसा भाष्य प्रदीप में स्पष्ट है। धातुपाठ में इसे इस लिये पढ़ा है कि सोपसर्गक संघात से प्रत्यय हो। अग्लोपी होने से उपधा-ह्रस्व नहीं होता, और इसीलिये सन्वद्भाव, व दीर्घ नहीं होते हैं। यहाँ सम्(एकाच्) को द्वित्व होता है। हलादिशेष से 'स' रह जाता है। 'म्' का लोप हो जाता है।

२. वक्ष्यमाण (३०४) सूत्र से यह ज्ञापित होता है कि णिच् परे रहते द्वित्व की कर्तव्यता में अजादेश का प्रतिषेध तभी होता है जब प्रतिषेध होने पर द्वित्व किये जाने पर अभ्यासोत्तर खण्ड का आदि हल् अवर्णपरक हो, वह अवर्ण चाहे प्रक्रिया-दशा में निष्पन्न हुआ हो, चाहे परिनिष्ठित रूप (=प्रयोग) में आविर्भूत हुआ हो। क्षु णिच् सन् ति। यहाँ आदेश (क्षु को वृद्धि तथा आव् आदेश) निषेध होकर द्वित्व होता है, कारण कि द्वित्व होने पर यद्यपि अभ्यासोत्तर खण्ड का आदि हल् प्रक्रिया-दशा में अवर्णपरक नहीं, परिनिष्ठित रूप में (वृद्धि, आवादेश होने पर) तो अवर्णपरक है ही। इसी प्रकार ऊन परिहाणे चुरा० के लुङ् में आदेश (अतो लोप आर्धधातुके से अल्लोप) का निषेध होने पर द्वित्व होने पर प्रक्रिया-दशा में आदि हल् न् अवर्णपरक है, यद्यपि परिनिष्ठित रूप में अल्लोप हो जाने के पश्चात् ऐसा नहीं। अतः यहाँ 'न' को द्वित्व होता है। धातु के अग्लोपी होने से सन्वद्भाव व दीर्घ नहीं होते।

कुमार ,, ,,	**अचुकुमारत्**	**अचुकुमारताम्**	**अचुकुमारन**
कृ (णिच्=कारि)	**अचीकरत्**[1] ('कृ' को द्वित्व)	**अचीकरताम्**	**अचीकरन्**

२९९—पा (पीना) रूप अङ्ग की उपधा का लोप होता है और साथ ही अभ्यास को ईकार अन्तादेश होता है चङ्-परक णि परे हीने पर।[2]

३००—णिच् परे होने पर शो, छो, सो, ह्वे, व्येञ्, वेञ्, पा—इन धातुओं को युक् (य्) आगम होता है। कित् होने से यह आगम धातु का अन्तावयव बनता है।[3]

पा (पीना) णिच्	**अपीप्यत्**[4] (पाय् को द्वित्व)	**अपीप्यताम्**	**अपीप्यन्**

३०१—स्था की उपधा को इत् (इ) आदेश होता है चङ्परक णि परे होने पर।[5]

---

१. **अचीकरत्**—यहाँ णिच् परे होने पर भी (जो णिच् द्वित्व का निमित्त नहीं है) अच्-स्थानी आदेश को स्थानिवद्भाव होता है द्वित्व की कर्तव्यता में, अथवा अच् को आदेश ही नहीं होता द्वित्व की कर्तव्यता में ऐसा हम पूर्वत्र असकृत् कह चुके हैं। कृ णिच्=कारि ण्यन्त धातु। इसे चङ् परे रहते द्वित्व की कर्तव्यता में अजादेश (वृद्धि आर् तथा उपधा-ह्रस्व) को स्थानिवत् मानकर 'कृ' को ही द्वित्व होगा। द्विर्वचन हो जाने पर अभ्यासोत्तरखण्ड में आदेशरूप कर् उपस्थित होगा। अभ्यास के ऋ को उरत् (७।४।६६)से अर्, हलादिशेष, चुत्व होकर सन्वद्भाव से इत्व तथा दीर्घ होकर 'अचीकरत्' रूप सिद्ध होगा।

२. लोपः पिबतेरीच्चाभ्यासस्य (७।४।४)।

३. शाच्छा-सा-ह्वा-व्या-वे-पां युक् (७।३।३७)।

४. पा को युक् आगम होने पर 'पायि' ऐसी ण्यन्त धातु बन जाती है। णि का लोप होने पर स्थानिवद्भाव से चङ्परक णि परे होने पर उपधा ह्रस्वत्व प्राप्त हुआ। तब इस शास्त्र से उपधा का लोप हो जाता है (प्य् रूप रह जाता है)। अब स्थानिवद्भाव से पाय् को द्वित्व होता है। हलादिशेष तथा ह्रस्व होकर 'प' के 'अ' को 'ई' हो जाता है।

५. तिष्ठतेरित् (७।४।५)।

स्था णिच्   **अतिष्ठिपत्**[1]   **अतिष्ठिपताम्**   **अतिष्ठिपन्**

(स्था को द्वित्व) (उपधा को इकार)

३०२—घ्रा धातु रूप अङ्ग की उपधा को विकल्प से इत् (इ) होता है चङ्परक णि परे होने पर ।[2]

घ्रा णिच्   **अजिघ्रिपत्**   **अजिघ्रिपताम्**   **अजिघ्रिपन्**

(उपधा को इकार)

अजिघ्रपत्   **अजिघ्रपताम्**   **अजिघ्रपन्**

३०३—धातु के उपधा-भूत ऋकार (ह्रस्व वा दीर्घ) को विकल्प से ह्रस्व ऋकार होता है चङ्परक णि परे होने पर ।[3]

कॄत् (चुरा०)   **अचिकीर्तत्**[4]   **अचिकीर्तताम्**   **अचिकीर्तन्**

अचीकृतत्   **अचीकृतताम्**   **अचीकृतन्**

---

१. **अतिष्ठिपत्**—यहाँ स्था णिच् इस अवस्था में (२९६) से पुक् (प्) आगम होता है। ण्यन्त धातु 'स्थापि' बन जाती है। तब चङ् परे रहते णि का लोप हो जाने पर उपधा ह्रस्व की प्राप्ति होने पर इस शास्त्र (३०२) से उपधा को 'इ' हो जाता है। 'स्थिप्' रूप में अजादेश को स्थानिवत् मानकर एकाच् 'स्था' को द्वित्व होता है। अभ्यासोत्तरखण्ड में आदेश-रूप स्थिप् उपस्थित हो जाता है।। अभ्यास को ह्रस्व, शर्पूर्व होने से खय् (थ) के शेष रहने पर, उसे चर्त्व (त) तथा सन्वद्भाव से इत्त्व होकर इष्टरूप निष्पन्न होता है। अभ्यास के लघु न होने से दीर्घ नहीं होता है।

२. जिघ्रतेर्वा (७।४।६)।

३. उर्ऋत् (७।४।७)।

४. द्वित्व की कर्तव्यता में णिच् निमित्तक अजादेश को तभी स्थानिवद्भाव होता है अथवा उसका निषेध होता है जब स्थानिवद्भाव होने से अथवा आदेश निषेध हो जाने से द्वित्व किये जाने पर अभ्यासोत्तर खण्ड का आद्य वर्ण अवर्णपरक हो, वह अवर्णपरता चाहे प्रक्रिया-दशा में हो, चाहे परिनिष्ठित रूप में हो। कॄत् णिच् चङ् त्। ऋत्त्वपक्ष में 'कृत्' को द्वित्व, अभ्यास के ऋ को (७।४।६६) से अत् (रपर अ), हलादि शेष, अभ्यास क् को चुत्व (च्), सन्वद्भाव से इत्त्व, दीर्घ होकर **अचीकृतत्** रूप होता है। ऋत्त्वाभाव पक्ष में कॄत् के ॠ को (१७५) से इत् (रपर इ=इर्) हो

३०४—उवर्णान्त अभ्यास से परे जब अवर्णपरक पवर्ग, यण् (प्रत्याहार), तथा जकार परे हो तब अभ्यास के 'उ' को इकार आदेश होता है सन्प्रत्यय परे होने पर।[1]

जाने पर 'कित्' शब्द को द्वित्व होगा। अभ्यासोत्तरखण्ड में (११४ ख) से हल्परक रेफ की उपधा को दीर्घ होकर **अचिकीर्तत्** रूप सिद्ध होता है। यहाँ दोनों पक्षों में आदेश-निषेध अथवा स्थानिवद्भाव नहीं होता कारण कि आदेश-निषेध अथवा स्थानिवद्भाव होने पर 'कृत्' को द्वित्व करने पर अभ्यासोत्तरखण्ड में आद्यवर्ण अवर्ण-परक नहीं मिलता। कृत् को द्वित्व करने पर अभ्यास के ऋ को उरत्(७।४।६६)से अत् (अर्=रपर अ), हलादि शेष, क् को चुत्व (च्)होकर अचकीर्तत् ऐसा अनिष्ट रूप बनेगा। लघुपरक अभ्यास न होने से सन्वद्भाव न होने से इत्व नहीं होगा, और सन्वद्भाव विषयक अभ्यास को दीर्घ भी नहीं होगा।

१. ओः पुयण्ज्यपरे (७।४।८०)। इस सूत्र में पवर्ग, यण् प्रत्याहार तथा जकार के ग्रहण से यह ज्ञापित होता है कि णिच् (जो सन् की तरह द्विर्वचन का निमित्त नहीं) परे होने पर भी अजादेश (अच् के स्थान में आदेश) स्थानिवत् होता है द्वित्व की कर्तव्यता में। अन्यथा सूत्र में केवल अवर्णपरक प्, य् का ग्रहण करते—पू (ङ्) इट् सन्=पू इ स। गुण, अवादेश होकर पविष् सन्नन्त धातु हुई। द्विर्वचनेऽचि (१।१।५६) से स्थानिवद्भाव द्वारा 'पू' को द्वित्व करने से अभ्यास में 'उ' आ जाएगा और अभ्यासोत्तर-खण्ड में प् अवर्णपरक मिल जाएगा, ऐसा होने से अभ्यास के 'उ' को इकार आदेश हो जाएगा। ऐसी ही यु धातु (सेट्) के विषय में जानो। सन् प्रत्यय परे होने पर अभ्यासोत्तरखण्ड में पवर्गीय भ्, यण्-प्रत्याहारान्तर्गत र्, ल् तभी अवर्णपरक मिलेंगे जब धातु से परे णिच् प्रत्यय भी किया हो। णिच् होने पर वृद्धि, आव् आदेश होने पर भू से भावि, रु से रावि, लू से लावि आदि ण्यन्त धातुओं से सन् आने पर भाव्, राव्, लाव् को द्वित्व होगा। अभ्यास को ह्रस्व (अ) होकर सन्यतः (७।४।७९) से 'अ' को 'इ' हो जाएगा। तो पवर्गादिका ग्रहण करना व्यर्थ हुआ। व्यर्थ होकर यह ज्ञापित करता है कि णिच् परे भी अजादेश स्थानिवत् होता है, जिससे भू आदि को द्वित्व होने से अभ्यास में 'उ' आ जाता है।

पू (ङ्) + णिच्	अपीपवत्[1]	अपीपवताम्	अपीपवन्
लू + णिच्	अलीलवत्	अलीलवताम्	अलीलवन्
यु + णिच्	अयीयवत्	अयीयवताम्	अयीयवन्
रु + णिच्	अरीरवत्	अरीरवताम्	अरीरवन्
भू + णिच्	अबीभवत्	अबीभवताम्	अबीभवन्
स्रु + णिच्	असुस्रवत् / असिस्रवत्	असुस्रवताम् / असिस्रवताम्	असुस्रवन् / असिस्रवन्
श्रु + णिच्	अशुश्रवत् / अशिश्रवत् (२८७-क)	अशुश्रवताम् / अशिश्रवताम्	अशुश्रवन् / अशिश्रवन्

णिच् परे होने पर शो, छो, सो, ह्वे, व्येञ्, वेञ्, पा (पीना, सुखाना)—इनको युक् (य्) आगम होता है, पुक् नहीं। यह हम पहले (३०१) में कह आए हैं। युक् होने पर इनके ण्यन्त रूप इस प्रकार होंगे। पा (भ्वा०) तथा पै (ओ वै शोषणे)—इन दोनों का ग्रहण है—शायि, छायि, सायि, ह्वायि, व्यायि, वायि पायि। इनके लुङ् में इस प्रकार रूप होंगे—

शो (शा)	न्यशीशयत्[2] (निपूर्वक)	न्यशीशयताम्	न्यशीशयन्
छो (छा)	अवाचिच्छयत्	अवाचिच्छयताम्	अवाचिच्छयन्
सो (सा)	अवासीसयत्	अवासीसयताम्	अवासीसयन्
व्ये (व्या)	अविव्ययत्[3]	अविव्ययताम्	अविव्ययन्

---

१. पू, लू, यु, रु, भू से चङ्-परक णिच होने पर वृद्धि, आवादेश, उपधा-ह्रस्व होकर पव्, लव्, यव्, रव्, भव् रूप हो जाने पर स्थानिवद्भाव से 'पू' आदि को द्वित्व होगा। सन्वद्भाव से 'उ' को 'इ' और दीर्घ।

२. शो का प्रायः 'नि' पूर्वक प्रयोग होता है। शो आदि एजन्त धातुओं को (१८७) से उपदेशावस्था में ही 'आ' अन्तादेश हो जाता है। तब युक् (य्) आगम होता है। उपधा-ह्रस्व करने के पीछे स्थानिवद्भाव से शाय्, छाय्, साय् आदि को द्वित्व होता है। अभ्यास को ह्रस्व, हलादिः शेष, सन्वद्भाव इत्व, दीर्घ, अभ्यासोत्तरखण्ड में आदेश रूप 'शय्' आदि की उपस्थिति—इस कार्यक्रम से इष्ट रूप की निष्पत्ति होती है।

३. अभ्यास के संयोगपरक होने के कारण लघु न होने से दीर्घ नहीं हुआ।

वे (वा)	**अवीवयत्**	**अवीवयताम्**	**अवीवयन्**

३०५—अग्लोपी अङ्ग, शास् तथा ऋदित् धातुओं की उपधा को ह्रस्व नहीं होता, चङ्-परक णि परे होने पर—मातरमाख्यत्=अममातत्[1]। राजानमतिक्रान्तवान्=अत्यरराजत्।[2]

शास् (णिच्)	**अशशासत्**	**अशशासताम्**	**अशशासन्**
बाधृ (बाध्)	**अबबाधत्**	**अबबाधताम्**	**अबबाधन्**
याचृ (याच्)	**अययाचत्**	**अययाचताम्**	**अययाचन्**
ढौकृ (ढौक्)	**अडुढौकत्**	**अडुढौकताम्**	**अडुढौकन्**
ओणृ (भ्वा० प०)	**औणिणत्** मा भवानौणिणत्[3]	**औणिणताम्**	**औणिणन्**
काशृ (भ्वा० दिवा० आ०)	**अचकाशत्**	**अचकाशताम्**	**अचकाशन्**
कासृ (भ्वा० आ०)	**अचकासत्**	**अचकासताम्**	**अचकासन्**
गाधृ ,,	**अजगाधत्**	**अजगाधताम्**	**अजगाधन्**
चायृ (भ्वा० उ०)	**अचचायत्**	**अचचायताम्**	**अचचायन्**
दाशृ ,,	**अददाशत्**	**अददाशताम्**	**अददाशन्**
दासृ ,,	**अददासत्**	**अददासताम्**	**अददासन्**
द्राघृ (भ्वा० आ०)	**अदद्राघत्**	**अदद्राघताम्**	**अदद्राघन्**
नाथृ (भ्वा० आ० आशीरर्थ में)	**अननाथत्**	**अननाथताम्**	**अननाथन्**
नाधृ (भ्वा० आ०)	**अननाधत्**	**अननाधताम्**	**अननाधन्**
बाडृ ,,	**अबबाडत्**	**अबबाडताम्**	**अबबाडन्**
बाहृ ,,	**अबबाहत्**	**अबबाहताम्**	**अबबाहन्**

---

१. मातृ णि। यहाँ इष्ठवद्भाव से टि-लोप (ऋ का लोप) होने से ण्यन्त धातु अग्लोपी बन जाती है।

२. प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे बहुलमिष्ठवच्च इस गण सूत्र से यहाँ णिच् हुआ। इष्ठवद्भाव (जैसे इष्ठन् प्रत्यय परे रहते टिलोप आदि होता है) से टि 'अन्' का लोप। अग्लोपी होने से उपधा को ह्रस्व नहीं हुआ।

३. ओणृ-धातु के ऋदित् होने से चङ्-परक णि परे होने पर उपधा-भूत 'ओ' को ह्रस्व नहीं हुआ ऐसा यहाँ माङ्योग में आट् के अभाव में रूप दिखाया है।

भेषृ (भ्वा० उ०)	अबिभेषत्[1]	अबिभेषताम्	अबिभेषन्
भ्राशृ (भ्वा० आ०)	अबभ्राशत्	अबभ्राशताम्	अबभ्राशन्
भ्रेजृ ,,	अबिभ्रेजत्	अबिभ्रेजताम्	अबिभ्रेजन्
मेधृ (भ्वा० उ०)	अमिमेधत्	अमिमेधताम्	अमिमेधन्
राजृ ,,	अरराजत्	अरराजतात्	अरराजन्
रासृ (भ्वा० उ०)	अररासत्	अररासताम्	अररासन्
रेभृ ,,	अरिरेभत्	अरिरेभताम्	अरिरेभन्
रेषृ ,,	अरिरेषत्	अरिरेषताम्	अरिरेषन्
लाघृ ,,	अललाघत्	अललाघताम्	अललाघन्
लोकृ ,,	अलुलोकत्[2]	अलुलोकताम्	अलुलोकन्
लोचृ ,,	अलुलोचत्	अलुलोचताम्	अलुलोचन्
लोडृ (भ्वा० प०)	अलुलोडत्	अलुलोडताम्	अलुलोडन्
शीकृ (भ्वा० आ०)	अशिशीकत्	अशिशीकताम्	अशिशीकन्
शीभृ ,, ,,	अशिशीभत्	अशिशीभताम्	अशिशीभन्
शोणृ (भ्वा० प०)	अशुशोणत्	अशुशोणताम्	अशुशोणन्
श्लोकृ ,, आ०)	अशुश्लोकत्	अशुश्लोकताम्	अशुश्लोकन्
हेडृ ,, ,,	अहिहेडत्	अहिहेडताम्	अहिहेडन्

३०६—भ्राज्, भास्, भाष्, दीप्, जीव्, मील्, पीड्—इनकी उपधा को विकल्प से ह्रस्व नहीं होता चङ् परक णि परे होने पर।[3]

भ्राज्	अबभ्राजत् अबिभ्रजत्	(उपधा ह्रस्व) सन्वद्भाव[4]	अबभ्राजताम् अबिभ्रजताम्	अबभ्राजन् अबिभ्रजन्

१. यहाँ और अगली धातुओं के अभ्यास को ह्रस्व हुआ है (११६), जैसा अन्यत्र होता है। ह्रस्वत्व विषय में इतना जानना चाहिए कि एच इग्घ्रस्वादेशे (१।१।४८) अर्थात् एच् के स्थान में क्रम से इ, उ ह्रस्व होते हैं।

२. यहाँ एच् (लोकृ का ओ) के स्थान में 'उ' ह्रस्व हुआ है।

३. भ्राज-भास-भाष-दीप-जीव-मील-पीडामन्यतरस्याम् (७।४।३)।

४. अबिभ्रजत्—यहाँ सन्वद्भाव होने पर अभ्यास को इत्त्व हुआ, पर परे संयोग होने से अभ्यास के गुरु होने से दीर्घ न हो सका।

भास्	अबभासत् / अबीभसत्[1]	अबभासताम् / अबीभसताम्	अबभासन् / अबीभसन्
भाष्	अबभाषत् / अबीभषत्	अबभाषताम् / अबीभषताम्	अबभाषन् / अबीभषन्
दीप्	अदिदीपत् / अदीदिपत्	अदिदीपताम् / अदीदिपताम्	अदिदीपन् / अदीदिपन्
जीव्	अजिजीवत् / अजीजिवत्	अजिजीवताम् / अजीजिवताम्	अजिजीवन् / अजीजिवन्
मील्	अमिमीलत् / अमीमिलत्	अमिमीलताम् / अमीमिलताम्	अमिमीलन् / अमीमिलन्
पीड्	अपिपीडत् / अपीपिडत्	अपिपीडताम् / अपीपिडताम्	अपिपीडन् / अपीपिडन्

३०७—स्तम्भु (स्तम्भ्), सिव्, सह् से चङ् प रे रहते जो स्‌कार को मूर्धन्यादेश प्राप्त होता है वह नहीं होता। चङ् परे रहते जो उपसर्गनिमित्तक प्राप्ति है उसका प्रतिषेध है ऐसा वार्तिककार कहते हैं।[2]

स्तम्भ्	अवातस्तम्भत्	अवातस्तम्भताम्	अवातस्तम्भन्
	पर्यतस्तम्भत्	पर्यतस्तम्भताम्	पर्यतस्तम्भन्
सिव्	पर्यसीषिवत्	पर्यसीषिवताम्	पर्यसीषिवन्
सह्	व्यसीषहत्	व्यसीषहताम्	व्यसीषहन्

३०८—कण् आदि छः धातुओं से णिच् परे रहते वृद्धि(काण्)होकर चङ् परक णि परे होने पर उपधा-ह्रस्व विकल्प से होता है।[3]

---

१. अबीभसत्, उपधा—ह्रस्व होने पर सन्वद्भाव होने पर अभ्यास को इत्व तथा दीर्घ।

२. स्तम्भु-सिवु-सहां चङि (८।३।११६)। स्तम्भु-सिवु-सहां चङि उपसर्गादिति वक्तव्यम् (वा०)। यहाँ स्तन्भेः (८।३।६७) से जो मूर्धन्यप्राप्ति थी और जो परि-नि-विभ्यः सेव—(८।३।७०) से उन दोनों का निषेध है। सिवादीनां वाऽड्व्यवायेऽपि (८।३।७१) से भी जो वैकल्पिक षत्व प्राप्त होता है उसे भी यहाँ रोक दिया गया है। यहाँ अभ्यास के इण् से उत्तर जो सिव् व सह् का स्, उसे षत्व निर्बाध होता है।

३. काण्यादीनां वा (वा०)। यहाँ व्याकरणान्तर में और चार धातुएँ भी पढ़ी हैं—ह्वे, वण्, लुठ्, लुप्। न्यासकार इन्हें पढ़ता है ऐसा दीक्षित का वचन है। पर न्यास में इन का न्यास नहीं मिलता।

कण्	अचकाणत् / अचीकणत्	अचकाणताम् / अचीकणताम्	अचकाणन् / अचीकणन्
रण्	अरराणत् / अरीरणत्	अरराणताम् / अरीरणताम्	अरराणन् / अरीरणन्
भण्	अबभाणत् / अबीभणत्	अबभाणताम् / अबीभणताम्	अबभाणन् / अबीभणन्
श्रण्	अशश्राणत् / अशिश्रणत्	अशश्राणताम् / अशिश्रणताम्	अशश्राणन् / अशिश्रणन्
लुप्	अलुलोपत् / अलूलुपत् (गुण)	अलुलोपताम् / अलूलुपताम्	अलुलोपन् / अलूलुपन्
हेठ्	अजिहेठत् / अजीहिठत्	अजिहेठताम् / अजीहिठताम्	अजिहेठन् / अजीहिठन्

भाववाची व कर्मवाची लुङ्

अभी तक जो भी लुङ् लकार का निरूपण हुआ है वह कर्तृवाची लुङ् का हुआ है। अब अकर्मक धातुओं से भाव में जब लुङ् हो अथवा सकर्मक धातुओं से कर्म में जब लुङ् हो तो किस प्रकार रूप-रचना होती है, इसे दर्शाते हैं।

३०९—भाव व कर्मवाची लुङ् परे होने पर धातुमात्र से प्रथम पुरुष एकवचन (त) परे रहते च्लि के स्थान में चिण् (इ) प्रत्यय आदेश होता है।[1] धातुमात्र से आत्मनेपद प्रत्यय ही आते हैं। 'चिण्' से परे 'त' का लुक् हो जाता है। और प्रत्यय के णित् होने से धातु के अन्त्य अच् तथा उपधा-अकार को वृद्धि होती है।

३१०—आकारान्त धातु को युक (य्) आगम होता है।[2] प्रथम पुरुष के शेष वचनों तथा मध्यम व उत्तम पुरुषों में धातुमात्र से सिच् प्रत्यय आता है।

३११—उपदेशावस्था में (आचार्य द्वारा उच्चारित) अजन्त जो धातु, हन्, ग्रह् तथा दृश् इन्हें भाव-कर्म-वाची स्य, सिच्, सीयुट्, तास् प्रत्ययों के परे होने पर विकल्प से चिण् की तरह कार्य होता है और साथ ही इन प्रत्ययों को इट्

१. चिण् भावकर्मणोः (३।१।६६)।
२. आतो युक् चिण्कृतोः (७।३।३३)।

आगम भी होता है।[1] यह इट् मूल में अनुदात्त (अनिट्) धातुओं से भी चिण्वद्भाव के साथ संनियुक्त (जुड़ा हुआ) है, अतः चिण्वद्भाव के अभाव में नहीं होगा। अभू चिण् त। अभू इ। अभावि। वृद्धि आव् आदेश। अ कृ। अकारि=किया गया। चिण् के णित् होने से धातु के इक् को वृद्धि। अकर्मक धातुओं से भाव में प्रत्यय होने से प्रथम पुरुष एकवचन में ही रूप बनेंगे। अकृ सिच् आताम्=अकार् (चिण्वत् कार्य, वृद्धि) इट् आगम (चिण्वत् कार्य के साथ संनियुक्त) स् आताम्=अकारिषाताम्। चिण्वत्कार्य के अभाव में अकृ-स्-आताम्=अकृषाताम्। अकारिषत। अकृषत।

कृ	अकारि	अकृषाताम अकारिषाताम्	अकृषत अकारिषत
	अकृथाः अकारिष्ठाः	अकृषाथाम् अकारिषाथाम्	अकृढ्वम् अकारिध्वम् अकारिढ्वम्
	अकृषि अकारिषि	अकृष्वहि अकारिष्वहि	अकृष्महि अकारिष्महि
हृ	अहारि	अहृषाताम् अहारिषाताम्	अहृषत अहारिषत
भू(प्राप्तौ)	अभावि	अभविषाताम् अभाविषाताम्	अभविषत अभाविषत

---

१. स्य-सिच्-सीयुट्-तासिषु भाव-कर्मणोरुपदेशेऽज्झन्-ग्रह-दृशां वा चिण्वदिट् च (६।४।६२)। सेट् धातुओं से भी चिण्वद्भाव में यही (संनियुक्त) इट् आता है। यह नित्य है। इसके आने पर वलादित्व का विघात हो जाने से वलादि-लक्षण साप्तमिक इट् नहीं होता। ण्यन्त धातुओं से चिण्वद्भाव-संनियुक्त इट् आने पर उसके आभीय होने से णेरनिटि (आभीय कार्य की कर्तव्यता) के प्रति असिद्ध होने से 'णि' का लोप हो जाएगा—कृ+णिच् =कारि। इसका भी चिण्वद्भाव पक्ष में लुङ् प्र० पु० द्विवचन में अकारिषाताम् रूप होगा। चिण्वद्भाव के अभाव में जो वलादि-लक्षण इट् होगा, उसके सिद्ध होने से 'णि' का लोप नहीं होगा, गुण और अयादेश होकर अकारयिषाताम् इत्यादि रूप होंगे। इसी प्रकार अनु भू णिच् के अन्वभाविषाताम्, अन्वभाविषत (चिण्वद्भावपक्ष में)। अन्वभावयिषाताम्, अन्वभावयिषत इत्यादि चिण्वद्भाव के अभाव में रूप होंगे।

अनुभू	अन्वभावि	अन्वभविषाताम् अन्वभाविषाताम्	अन्वभविषत अन्वभाविषत
ज्ञा	अज्ञायि[1]	अज्ञासाताम् अज्ञायिषाताम्	अज्ञासत अज्ञायिषत
नी	अनायि[2]	अनेषाताम् अनायिषाताम्	अनेषत अनायिषत
श्रु	अश्रावि	अश्रोषाताम् अश्राविषाताम्	अश्रोषत अश्राविषत
स्तु	अस्तावि	अस्तोषाताम् अस्ताविषाताम्	अस्तोषत अस्ताविषत
हन्	अवधि अघानि [3]	अवधिषाताम् अघानिषाताम् अहसाताम्	अवधिषत अघानिषत अहसत
ग्रह्	अग्राहि	अग्रहीषाताम् अग्राहिषाताम् [4]	अग्रहीषत अग्राहिषत

१. यहाँ आकारान्त ज्ञा को युक् आगम हुआ है।

२. णिच् के णित् होने से वृद्धि, आय् आदेश।

३. हनो वध लिङि, लुङि च—यह हन् को वध (अदन्त आदेश) लुङ् सामान्य में कहा है, चाहे वह कर्तृवाचक हो चाहे कर्मवाचक। आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम् (२।४।४४), आत्मनेपद में वध आदेश विकल्प से होता है। वध के अदन्त होने से (४१) से अल्लोप हो जाने पर अत उपधायाः (७।२।११६) से वृद्धि प्राप्त होती है। वह अल्लोप के स्थानिवत् होने से रुक जाती है। आत्मनेपद लुङ् में वध आदेश विकल्प से होता है अतः उसके अभाव में हन् से सिच् होगा। यह सिच् कित् माना जाता है—हनः सिच् (१।२।१४)। कित् होने पर (५३) से अनुनासिक लोप (हन् के न् का लोप) हो जाता है। अहसाताम्। अहसत। प्र० पु० एक० में चिण् होने से हन् के ह् को घ् हो जाता है (५५)। और उपधावृद्धि होकर 'अघानि' रूप निष्पन्न हो जाता है। चिण्वद्भाव होने से सिच् को इट्, उपधावृद्धि, ह् को कुत्व (घ्) कार्य होते हैं। अघानिषाताम्। अघानिषत।

४. चिण्वद्भाव-संनियोग-शिष्ट इट् को दीर्घ नहीं होता।

दृश्	अदर्शि	अदृक्षाताम् / अदर्शिषाताम् [1]		अदृक्षत / अदर्शिषत
पच्	अपाचि	अपक्षाताम्		अपक्षत
पठ्	अपाठि	अपठिषाताम्		अपठिषत
गम्	अगामि [2]	अगंसाताम् / अगसताम्	(२४७, ५३)	अगंसत / अगसत

३१२—उपदेश में उदात्त मान्त जो धातु उसकी उपधा को वृद्धि नहीं होती चिण्, ञित्, णित् कृत्-प्रत्यय परे होने पर।[3]

३१३—आङ्-चम्, कम्, वम् को उपधा-वृद्धि होती ही है।[4]

क्रम्	अक्रमि / अक्रंस्थाः	अक्रंसाताम् / अक्रंसाथाम् [5]	अक्रंसत / अक्रन्ध्वम्	(६३)
भ्रम्	अभ्रमि	अभ्रमिषाताम्	अभ्रमिषत	
आ-चम्	आचामि	आचमिषाताम्	आचमिषत	
चम्	अचमि [6]	अचमिषाताम्	अचमिषत	
कम्	अकामि	अकमिषाताम्	अकमिषत	
	अकामि (णिङ्)	अकामिषाताम् [7]	अकामिषत	
वम्	अवामि	अवमिषाताम्	अवमिषत	

१. दृश् से 'क्स' का न दृशः (३।१।४७) से निषेध किया है अतः सिच् हुआ है। चिन्वद्भाव पक्ष में इट् और गुण होकर अदर्शिषाताम्, अदर्शिषत रूप होंगे। अदृक्षाताम् में (२३५) से सिच् के कित् होने से गुण नहीं हुआ।

२. गम् मकारान्त अनुदात्त है, अतः (३१२) से उपधा-वृद्धि का निषेध हुआ है।

३. नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्यानाचमेः (७।३।३४)।

४. अनाचमिकमिवमीनामिति वक्तव्यम् (वा०)।
नहीं हो सका।

५. क्रम् उदात्तोपदेश है, अतः (३१२) से चिण् परे उपधा-वृद्धि का निषेध हो गया। अक्रंसाताम् आदि में (१६६) से आत्मनेपद में इट् का निषेध।

६. आङ् पूर्वक चम् को चिण् परे वृद्धि कही है, केवल चम् को उदात्त होने से वृद्धि का निषेध प्राप्त है।

७. अकमिषाताम्—आयादयः—(२१३) से णिङ् का विकल्प होने से णिङ् अभाव में। अकामिषाताम् णिङ् होने पर।

दा	अदायि[1]	अदिषाताम् अदायिषाताम् (२४१)	अदिषत अदायिषत
धा	अधायि	अधिषाताम् अधायिषाताम्	अधिषत अधायिषत
धेट् (धा)	अधायि	अधिषाताम् अधायिषाताम्	अधिषत अधायिषत
स्था	उपास्थायि	उपास्थिषाताम् उपास्थायिषाताम् [2]	उपास्थिषत उपास्थायिषत
जागृ	अजागारि[3]	प्रत्यजागरिषाताम् प्रत्यजागारिषाताम्	प्रत्यजागरिषत प्रत्यजागारिषत
तन्	अतानि	अतनिषाताम्	अतनिषत
मन् (दिवा०)	अमानि	अमंसाताम्	अमंसत
मन् (तना०)		अमनिषाताम्	अमनिषत
रभ्	अरम्भि (२६४)	अरप्साताम्[4]	अरप्सत

३१४—लभ् को चिण्, तथा णमुल् प्रत्यय परे होने पर विकल्प से नुम् (न्) आगम होता है। सोपसर्गक लभ् को यह आगम नित्य होता है।[5]

लभ्	अलम्भि अलाभि	अलप्साताम् "	अलप्सत "

---

१. यहाँ चिण् परे रहते 'दा' को युक् आगम हुआ है। अदायिषाताम् आदि में चिण्वद्भाव से युक् आगम तथा इट् हुआ है।

२. द्विवचनान्त व बहुवचनान्त प्रयोग के लिये धातु को सकर्मक होना चाहिये, अतः उप उपसर्ग देवपूजा आदि अर्थ में लगादिया है। मयाऽस्थायि। अस्माभिरस्थायि (अकर्मक)। देव उपास्थायि। देवावुपास्थिषाताम्। देवा उपास्थिषत (देवाताओं की उपासना की गई)।

३. चिण् प्रत्यय परे जागृ को वृद्धि ही होगी, गुण-विधि के लिये चिण् का पर्युदास होने से। चिण्वद्भाव में सिच् परे रहते भी वृद्धि ही होगी, गुण नहीं। चिण्वद्भाव के अभाव में गुण निर्बाध होगा—प्रत्यजागरिषाताम्। प्रति-पूर्वक जागृ सकर्मक है। इसका अर्थ देखभाल करना है। तै० सं० ४।७।१३।५॥

४. अजादि प्रत्यय परे न होने से नुम् नहीं हुआ। भ् को चर्त्व से प् हुआ है।

५. विभाषा चिण्णमुलोः (७।१।६९)।

प्रलभ्	**प्रालम्भि**[1]	**प्रालप्साताम्**	**प्रालप्सत**

३१५—भञ्ज् के अनुनासिक (न्) का चिण् परे होने पर विकल्प से लोप होता है।

भञ्ज्	**अभञ्जि** **अभाजि**	**अभङ्क्षाताम्**	**अभङ्क्षत**
श्लिष्	**अश्लेषि**(चिण्)	**अश्लिक्षाताम्** (सिच्)	**अश्लिक्षत**
(आलिङ्गन में)	,,	**अश्लिक्षाताम्** (क्स)[2]	**अश्लिक्षन्त** (क्स)

प्रयोगमाला

१. **यः परस्वेऽलुभत्सोऽनशत् ।**
जिसने परधन का लालच किया, वह नष्ट हुआ।

२. **अन्यत्रमना अभूवं नाहमश्रौषम् ।** (उपनिषद्)
मेरा मन किसी और तरफ था, मैंने नहीं सुना।

३. **अद्य चिरेणागां तेनाक्रुधन्मे गुरुः ।**
आज मैं देर से आया अतः गुरुजी मुझ पर बिगड़े।

४. **मा गृधः कस्य स्विद् धनम्** (यजुः १।१) **।**
लालच मत कर, धन है किसका।

५. **मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा** (अथर्व० ३।३०।३)
भाई भाई के साथ द्वेष न करे, बहिन, बहिन के साथ।

६. **अद्य स महति प्रत्यूषेऽबुद्ध, तेन प्रचलायितोऽस्ति ।**[3]
आज वह बहुत सवेरे जागा, इसी से ऊँघ रहा है।

७. **पुत्रक ! मा कृथास्तपसो व्ययम् ।**
प्यारे पुत्र ! तपस्या का नाश मत कर।

---

१. प्र पूर्वक लभ् का वञ्चन अर्थ है। सूत्रकार का अपना प्रयोग है—गृधिवञ्च्योः प्रलम्भने (१।३।६९)।

२. (७।३।७२) से क्स के 'अ' का लोप हो जाता है अजादि प्रत्यय परे होने पर।

३. घूर्णितः प्रचलायितः (अमर)। प्रचल इवाचरितवान् प्रचलायितः। क्यङ्। कर्तरि क्तः।

८. **किं न स्मरसि यदवोचन् गुरुचरणा दिनकृत्यमधिकृत्य ।**
क्या तुम्हें याद नहीं जो गुरुजी ने दिनचर्या के विषय में कहा था ?

९. **यौवराज्येभिषेक्ष्यमाणं चन्द्रापीडं विस्तरेणान्वशिषद् नृपनीतिं शुकनासः ।**
जब चन्द्रापीड का युवराजता के निमित्त अभिषेक होने लगा तब शुकनास ने उसे विस्तार से राजनीति का उपदेश किया ।

१०. **यथाद्याऽतनिष्ठा वत्स, मा तथा[1]—स्तथाऽऽयत्याम् ।**
हे पुत्र, जैसा आज तूने आचरण किया वैसा आगे मत करना ।

११. **अहो रागपरिवाहिणी गीतिरगायि नटेन ।**
आश्चर्य है नट ने कैसा सुरीला गीत गाया है ।

१२. **विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानस्य तस्याध्वसद् उत्साहः ।**
विघ्नों से बार-बार रुके हुए उसका उत्साह नष्ट हो गया ।

१३. **विषमः पन्था इति स पदे पदेऽस्खालीत् ।**
मार्ग के ऊबड़ खाबड़ होने से उसने पग-पग पर ठोकर खाई ।

१४. **चिरमधीत्य श्रान्तो वसुमित्रः कञ्चित्कालं गृहारामे पर्यक्रमीत् ।**
देर तक पढ़ने से थका हुआ वसुमित्र कुछ समय तक गृहवाटिका में टहलता रहा ।

१५. **यो हि भुक्तवन्तं ब्रूयान्मा भुक्था इति किं तेन कृतं स्यात् (भाष्य) ।**
जो भोजन किये हुए को कहे मत खा, उसने क्या किया ?

१६. **इदानीमासन्नाऽस्तमनवेलेति मा निपत्था बटो !**
अब सूर्यास्त होने को है, ब्रह्मचारिन् लेटो मत ।

१७. **उपरते महात्मनि गान्धिनि न केनचिदपाचि, न केनचिदभोजि, न केनचिदशायि, सर्वत्र सर्वैररोदि ।**
महात्मा गान्धी की मृत्यु होने पर न किसी ने पकाया, न किसी ने खाया, न कोई सोया, सभी सर्वत्र रोते रहे ।

१८. **नचिकेता यमनिकेतने तिस्रो रात्रीरवात्सीन्न च किंचनाशीत् ।**
नचिकेता यम के घर में तीन रातें बिना खाए रहा ।

१९. **रामः शाङ्करं धनुरानमय्य जनकसुतायाः सीतायाः पाणिमग्रहीत् ।**

---

१. माङ् योग में अट् का अभाव । तन् से थास् परे रहते सिच् का लोप होने पर 'न्' का लोप । तन् यहाँ क्रिया-सामान्य में प्रयुक्त हुई है ।

राम ने शङ्कर धनुष को झुकाकर जनकपुत्री सीता का (विवाह में) पाणिग्रहण किया ।

२०. **मा भैषीः, एषाऽऽयाति ते माता शिशो !**
हे बच्चे डर मत, तेरी माता अभी आती है ।

२१. **मा मा हिंसिषुरीश्वराः (अथर्व० ७।१०७।१) ।**
देवता मुझे न मारें ।

२२. **द्विषंश्च मह्यं रध्यतु मा चाहं द्विषते रधम् (अथर्व० १७।१।६) ।**
शत्रु मेरे वश में हो, मैं शत्रु के वश में न होऊं ।

२३. **मा ते भयं जरितारं विदत् (ऋ० १।१८६।४) ।**
तेरे स्तोता को भय मत प्राप्त हो ।

२४. **सहसा मा कृथाः कार्यं चिरं द्वेषं च मा पुषः ।**
बिना सोचे समझे कार्य मत कर, देर तक वैर मत बढ़ा ।

२५. **(एषः) मा क्षुधन्मा तृषत् (अथर्व० २।२६।४) ।**
यह भूखा न रहे, प्यासा न रहे ।

२६. **मा ते गृहे निशि घोष उत्थात् (श० ब्रा० १।१।१३) ।**
तेरे घर में रात के समय शोर मत हो ।

२७. **मा तत्सम्पादि यदसौ जुहोति (अथर्व० ७।७०।२) ।**
जिस प्रयोजन के लिये वह हवन करता है वह उसका सम्पन्न न हो ।

२८. **मा त्वा वोचन्नराधसं जनासः (अथर्व० ५।११।७) ।**
तुझे लोग, तू अदाता है, ऐसा न कहें ।

२९. **अपीपलद् धर्मराजः पितृवद् रञ्जयन्प्रजाः (श्रीमद्भागवत १।१२।४) ।**
धर्मराज पिता की तरह प्रसन्न करता हुआ प्रजाओं की रक्षा करता था ।

३०. **मा ते हासिषुरसवः शरीरम् (अथर्व० ८।२।२६) ।**
प्राण तेरे शरीर को न छोड़ें ।

३१. **माऽहमोजो हासिषम् (तै० सं० ३।३।१।२) ।**
मैं (अपने) तेज को मत छोड़ूं ।

३२. **उत त्वा मृत्योरपीपरम् (अथर्व० १०।२।१९) ।**
मैं तुझे मृत्यु के पार ले गया हूं ।

३३. **मा यूयुधो भारत पाण्डवेयान्** (भा० २।२१२०)।

हे भारत, पाण्डुपुत्रों के साथ युद्ध मत कर।

३४. **मा युत्स्महि मनसा दैव्येन** (अथर्व० ७।५२।२)।

हम देवताओं के मन के साथ लड़ाई न करें।

३५. **मा च नः किञ्चनाममत्** (अथर्व० ६।७।३)।

हमें कोई चीज़ रुग्ण न करे। (आमीमत्, लोक में)।

३६. **अपाम सोममृता अभूम** (ऋ० ८।४८।३)।

हमने सोम पी लिया है और अमृत हो गए हैं।

३७. **सुकृती स महीपतिश्चिरमपासीत्प्रजा धर्मेण।**

पुण्यात्मा उस राजा ने चिरकाल तक धर्मपूर्वक प्रजा का पालन किया।

३८. **क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।** (गीता)

हे अर्जुन, क्लीब मत बनो, यह तुम्हें योग्य नहीं।

३९. **वाणीं काणभुजीमजीगणदवाशासीच्च वैयासिकीं,**
वाचां चाचकलद्रहस्यमखिलं यश्चाक्षपादस्फुराम्।
अन्तस्तन्त्रमरंस्त पन्नगगवीगुम्फेषु चाजागरील्
लोकेऽभूद्यदुपज्ञमेव विदुषां सौजन्यजन्यं यशः॥ (मल्लिनाथ)

जिसने कणाद की वाणी का विचार किया, जिसने व्यास की सूत्रमयी वाणी को सूक्ष्म दृष्टि से निरूपण किया, जिसने अक्षपाद (गौतम) मुनि की वाणी का संपूर्ण रहस्य ग्रहण किया, जो तन्त्रग्रन्थों में रमा, जिसने शेषावतार पतञ्जलि के भाष्य में प्रबोध प्राप्त किया और संसार में विद्वानों की सुजनता (मात्सर्य-अभाव) से उत्पन्न होने वाला यश पहले पहल जाना (प्राप्त किया)।

४०. **अमन्थि पुरवैरिणा पुनरमायि मर्यादया,**
अहावि मुनिना मुखे वशमनायि लङ्कारिणा।
अलङ्घि कपिनाप्यसौ सुखमतारि शाखामृगैः,
क्व नाम वसुधापते तव यशोनिधिः क्वाम्बुधिः॥

जिस समुद्र को पुरान्तक ने मथा, उसे सीमा में बाँधा, जिसे अगस्त्य मुनि ने अपने मुख से पिया, जिसे राम ने वश में किया, जिसे हनुमान् ने लाँघा और वानरों ने जिसे सुखपूर्वक पार किया; हे राजन्! कहाँ वह समुद्र और कहाँ आपका यशरूपी समुद्र?

४१. मा हास्महि प्रजया मा तनूभिः (ऋ० १०।१२।८)।

हम अपनी सन्तति तथा अपने शरीरों से वियुक्त न हों।

४२. मा जारिषुः सूरयः सुव्रतासः (=सुव्रताः) ऋ० १।१२५।७॥

शोभन व्रतधारी विद्वान् मत जीर्ण हों।

४३. मान्तः स्थुर्नो अरातयः (ऋ० १०।५७।१)।

हमारे अन्दर शत्रु न ठहरें।

४४. सरस्वति माऽपस्फुरीः पयसा (ऋ० ६।६१।११)।

हे सरस्वती तू जल के साथ (हमसे) परे मत हट।

४५. त्वदाननप्रतिनिधिर्विधुर्विधुरया मया।
उदितोऽपि न चालोकि तापं वै त्यक्तुकामया॥
त्वदालापसमालापं कलयन् किल काकलिम्।
कोकिलोपि मयाऽऽकर्णि नालकाकीर्णकर्णया॥
त्वदङ्गसङ्गमधुरो धवधूपितया मया।
नाऽनिलोपि मयालिङ्गि क्वचिद् विश्रान्तया भृशम्॥

(राज्यकाण्डे, पूर्वार्धे, ५।६३, ६४, ६५)।

तुम्हारे वियोग में तुम्हारे मुख जैसे चन्द्रमा को, उदय पर भी, ताप को त्याग करने की इच्छा से मैंने आँख उठाकर न देखा।

तुमसा मधुर आलाप करने वाली कोकिल के कलरव को भी मैंने अलकों से कानों को ढककर न सुना।

तेरे अंग-सम्पर्क से मधुर हुए वायु को मैंने आलिङ्गन में न लिया, मैं धव से धूपित कहीं अत्यन्त विश्रान्त हुई पड़ी थी।

४६. नानन्दि कैरवमवर्धि न वाम्बुराशिरादीपि नाम्बरमहारि न वान्धकारः।
धिग्दैवदुर्विलसितं यदसौ सुधांशुरभ्युद्गतश्च तमसा कवलीकृतश्च॥

(अभी) कुमुद खिले नहीं, समुद्र की लहरें उठी नहीं, आकाश प्रकाशित हुआ नहीं, अन्धकार दूर हुआ नहीं। धिक्कार है दैवकी दुश्चेष्टा को, ज्यों ही अमृतदीधिति (चन्द्र) उदित हुआ त्यों ही राहु ने उसे ग्रस लिया।

इति लुङ्निरूपणमवसितम्।

लिट्-निरूपण

अनद्यतन परोक्ष भूत काल में होने वाली क्रिया को कहने वाली हर किसी धातु से लिट् प्रत्यय का प्रयोग होता है। लिट् के स्थान में ये परस्मैपद प्रत्यय आदेश होते हैं—[1]

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र० पु०	णल् (अ)	अतुस्	उस्
म० पु०	थल् (थ)	अथुस्	अ
उ० पु०	णल् (अ)	व	म

३१६—लिट् के इन आदेशों की आर्धधातुक संज्ञा है।[2] तिङ् का आदेश होने से सार्वधातुक संज्ञा प्राप्त थी। शप् कर्तृवाचक सार्वधातुक परे होने पर आया करता है सो यहाँ उसका अवकाश नहीं।

३१७—संयोगान्त धातुओं को छोड़कर अन्य सब धातुओं से परे अपित् लिट् प्रत्यय कित् माने जाते हैं।[3] अतः (परस्मैपद) द्विवचन व बहुवचन में धातु को गुण नहीं होता।

३१८—उत्तम पुरुष ए०व० णल् को विकल्प से णित् माना जाता है।[4] जिससे धातु की पाक्षिक वृद्धि होती है। वृद्धि के अभाव में गुण तो निर्बाध होता है। प्रथमपुरुष ए० व० में वृद्धि नित्य होती है। सेट् धातुओं से परे वलादि आर्धधातुक (थ, व, म—परस्मै०, से, ध्वे, वहे, महे—आत्मने०) को इट् आगम यथाप्राप्त होता ही है। अनिट् (अनुदात्त) धातुओं से भी यहाँ इट् का विशेष विधान है।

---

१. परस्मैपदानां णलतुसुस्थल्णल्वमाः (३।४।८२)।

२. लिट् च (३।४।११५)।

३. असंयोगाल्लिट् कित् (१।२।५)।

४. णलुत्तमो वा (७।१।६१)।

क्रादि नियम

३१९—कृ, सृ, भृ, वृ, स्तु, द्रु, स्रु, श्रु—इन धातुओं से लिट् परे आचार्य इट् का निषेध करते हैं ।[1] उन का कहना है कि लिट्-सम्बन्धी वलादि आर्धधातुक को इन धातुओं से परे इट् न हो । वृङ्, वृञ् को छोड़-कर ये सब धातुएँ पहले से ही अनिट् हैं । वृ उगन्त है और श्र्युकः किति (७।२।११) शास्त्र से कित् प्रत्यय व, म परे इसे भी इट् निषेध सिद्ध है । (असंयोगान्त धातु से अपित् लिट् प्रत्यय कित् होता है ऐसा पूर्व कह चुके हैं, सो वृ से परे व, म कित् हैं)। तो फिर इन धातुओं से इट् का निषेध क्यों कहा है ? सिद्ध साधन तो व्यर्थ होता है । ठीक है । पर सिद्ध होने पर जो विधान होता है वह नियम करने के लिये होता है—सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः । नियम का स्वरूप ऐसा होता है—जो भी प्रकृत्याश्रय(जैसे कृ, सृ, भृ, स्तु आदि को) इट् निषेध प्राप्त होता है । और जो भी प्रत्ययाश्रय (जैसे वृङ्, वृञ् को) वह लिट् में इन्हीं धातुओं के विषय में होता है और किसी धातु के विषय में नहीं । इसे **क्रादि** (क्र आदि) **नियम** कहते हैं । इस नियम की प्रवृत्ति से लिट् में अनिट् धातुओं से भी वलादिलक्षण इट् आता है । भिद् एकाच् अनुदात्त धातु है, इसे अन्यत्र इट् नहीं होता । पर थल् व, म परे रहते इसे भी इट् होगा—बिभेदिथ । बिभिदिव । बिभिदिम । भू उदात्त है । उगन्त होने से कित् प्रत्यय परे इसे इट् का निषेध हो जाता है—भूत्वा । भूत । पर लिट् व, म (जो इसके लिये कित् हैं) परे रहते यहाँ भी इट् होगा—बभूविव । बभूविम ।

भारद्वाज नियम

३२०—भारद्वाज ऋषि का कहना है कि तास् प्रत्यय परे रहते जो ऋकारान्त धातु नित्य अनिट् है उसे थल् परे रहते इट् न हो ।[2] ऋ सूत्र में तपर पढ़ा है अतः ह्रस्व ऋ का ही ग्रहण होता है । यहाँ भी निषेध के सिद्ध होने पर जो निषेध कहा है वह नियमार्थ जाना जाता है अर्थात् भार-द्वाज का ऐसा मत है कि थल् परे ह्रस्व ऋकारान्त धातुओं से ही इट् न हो अन्य सबसे हो । इसे **भारद्वाज नियम** कहते हैं ।

क्रादि नियम का संकोच

३२१—थल् परे होने पर उपदेश में अकारवान् (ह्रस्व अकार वाली)

---

१. कृ-सृ-भृ-वृ-स्तु-द्रु-स्रु-श्रुवो लिटि (७।२।१३) ।

२. ऋतो भारद्वाजस्य (७।२।६३) ।

तथा अजन्त धातुओं से जो तास् प्रत्यय परे रहते नित्य अनिट् हों, इट् न हो ऐसा पाणिनि मुनि कहते हैं,[1] अर्थात् क्रादि नियम का स्वयम् संकोच करते हैं, क्रादि नियम से प्रापित इट् को रोकते हैं। चि—चिचेथ। या—ययाथ। पच्—पपक्थ। यज्—इयष्ठ। अजन्त धातुओं से क्रादि नियम का निषेध होता है। भिद् अजन्त नहीं, अतः क्रादिनियम से नित्य इट् आएगा—बिभेदिथ। उपदेश में अकारवान् से निषेध कहा है। कृष्—चकर्षिथ। यहाँ क्रादि नियम की प्रवृत्ति निर्बाध होती है, कारण कि गुण होकर धातु अकारवान् बनी है उपदेशावस्था में अकारवान् नहीं थी। सूत्र में 'अ' तपर पढ़ा है, अतः ह्रस्व अकारवाली से ही निषेध होता है। राध्—रराधिथ। यहाँ नहीं होता।

यहाँ दो पक्ष हैं—तास् प्रत्यय परे **नित्य अनिट्**, अजन्त अथवा अकारवान् (ह्रस्व अकार वाली) जो धातु, उसे थल् परे रहते क्रादि नियम-प्रापित इट् का निषेध होता है। धूञ्, षिधू आदि जो तास् परे विकल्पित इट् वाली हैं उनसे क्रादिनियम का बाध न होने से नित्य इट् आता है। दुधविथ, सिषेधिथ ही रूप होते हैं। दुधोथ, सिषेद्ध नहीं। एक यह पक्ष है। यह वृत्तिकार को अभिमत है। भाव यह है कि लिट् परे रहते जो भी प्रतिषेध-निबन्धन अथवा विकल्प-निबन्धन इट् का अभाव है उसे क्रादि-नियम से हटाया जाता है।

दूसरा पक्ष यह है—प्रतिषेधाधिकार में कृ सृ भृ वृ—सूत्र के पठित होने से क्रादि-नियम से, कृ आदि धातुओं से ही इट् नहीं होता इस नियम से सब प्रकार के प्रकृत्याश्रय अथवा प्रत्ययाश्रय प्रतिषेध की ही निवृत्ति की जाती है। कृ आदि व्यतिरिक्त जो भी कृ आदि के साथ तुल्यजातीय धातुएँ हैं जिन्हें प्रकृत्याश्रय व प्रत्ययाश्रय इट् निषेध प्राप्त है उन्हीं को क्रादि नियम से इट् की प्राप्ति कराई जाती है। क्रादि नियम प्रतिषेधविषयक है, विकल्प में इस की प्रवृत्ति नहीं होगी। इससे दुधोथ, दुधविथ, सिषेद्ध, सिषेधिथ में स्वरति-सूति—सूत्र (७।२।४४) से इड् विकल्प ही होगा।

कृ सृ भृ—सूत्र-न्यास पर विचार

अब यह विचार किया जाता है कि सूत्र में कृ, सृ, भृ, वृ के साथ स्तु,

---

१. अचस्तास्वत्थल्यनिटो नित्यम् (७।२।६१)। उपदेशेऽत्वतः (७।१।६२)।

द्रु, स्रु, श्रु—ये चार धातुएँ क्यों पढ़ी हैं। पहली चार धातुओं के पढ़ने से क्या इष्टसिद्धि नहीं होती। नहीं, इतने से इष्टसिद्धि नहीं होती। व, म परे होने पर क्रादि नियम से स्तु आदि से इट् आ जायगा, जो इष्ट नहीं। उसे कैसे रोका जायगा? दूसरे, थल् परे रहते दूसरी कृ आदि व्यतिरिक्त धातुएँ जो उपदेश में अकारवान् अथवा अजन्त हैं, से पाणिनि मत से इट् का निषेध होने पर भी भारद्वाज-नियम से इट् विकल्प होता है, वैसे ही स्तु आदि से भी होगा। उसके वारण के लिए भी स्तु आदि को सूत्र में पढ़ना आवश्यक है।

स्तु आदि के सूत्र में पढ़े जाने पर भी थल् परे रहते इड् विकल्प क्यों नहीं होता? उत्तर—अचस्तास्वत्थल्यनिटो नित्यम् (७।२।६१)। उपदेशेऽत्वतः (७।२।६२)। ऋतो भारद्वाजस्य (७।२।६३)—ऐसा अष्टाध्यायीस्थ सूत्रक्रम है। कृ सृ भृ वृ—सूत्र (७।२।१३) इन तीन सूत्रों से दूर-व्यवहित पूर्ववर्ती हैं। अब ऐसी परिभाषा है—अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा, अर्थात् विधि अथवा प्रतिषेध अनन्तर-अव्यवहित पूर्व को ही होता है। उक्त क्रम में भारद्वाज नियम अनन्तर=अव्यवहित पूर्व (७।२।६१) तथा (७।२।६२) से विहित निषेध का ही निवर्तक हो सकता है, दूर-व्यवहित क्रादि-नियम प्रापित इट्-निषेध का नहीं।

लिट् के दोनों पदों के प्रत्ययों के परे होने पर धातु को द्वित्व होता है। लिट् प्रत्यय णलादि होने पर धातु के प्रथम एकाच् को द्वित्व होता है। यदि धातु अजादि हो तो द्वितीय एकाच् को।

३२२—यदि धातु को पहले द्विर्वचन हो चुका है तो लिट् प्रत्यय आने पर दुबारा द्वित्व नहीं होगा।[1] द्वित्व होने पर धातु द्विखण्डात्मक हो जाती है। पूर्वखण्ड को 'अभ्यास' कहते हैं। दोनों खण्डों को मिलाकर 'अभ्यस्त' कहते हैं। अभ्यास का आदि हल् शेष रहता है। अन्य हल् अथवा हलों का लोप हो जाता है। अभ्यास का अच् निवृत्त नहीं होता। पहले द्विर्वचन हो जाता है पश्चात् अभ्यस्त धातु को शेष कार्य होता है।

---

१. लिटि धातोरनभ्यासस्य (६।१।८)। एकाचो द्वे प्रथमस्य (६।१।१)। अजादेर्द्वितीयस्य (६।१।२)।

लिट् के स्थान में आत्मनेपद प्रत्यय ये हैं—

प्र० पु०	**ए**	**आते**	**इरे**
म० पु०	**से**	**आथे**	**ध्वे**
उ० पु०	**ए**	**वहे**	**महे**

३२३—लिट् के आदेश त, झ के स्थान में क्रम से एश् (ए), इरेच् (इरे) आदेश हो जाते हैं।[1] लिट् के टित् होने से अन्यत्र 'टि' को 'ए' हुआ है।

लिट् के आत्मनेपद प्रत्यय सभी अपित् हैं। असंयोगान्त धातुओं से अपित् लिट् प्रत्यय कित् माने जाते हैं।[2] इन प्रत्ययों के परे होने पर धातु को गुण नहीं होता। क्रादि नियम से अनिट् धातुओं से भी इट् आता है, कृ, सृ, भृ, वृ, स्तु, द्रु, स्रु, श्रु से नहीं।

३२४—भू को वुक् (व्) का आगम होता है लुङ्, लिट् का अच् परे होने पर।[3] यह वुक् नित्य होने से गुण तथा वृद्धि को बाध लेता है।

३२५—लिट् परक 'भू' के अभ्यास ऊकार को अकार होता है।[4] भू अ (णल्)। वुक्। भूव् अ। भूव् भूव् अ (द्वित्व)। भू भूव् अ (हलादिः शेषः)। भु भूव् अ (ह्रस्वः)। भभूव (उ को अ)। बभूव—अभ्यास के झल् को जश्।

भू प० सेट्

प्र० पु०	**बभूव**	**बभूवतुः**	**बभूवुः**
म० पु०	**बभूविथ**	**बभूवथुः**	**बभूव**
उ० पु०	**बभूव**	**बभूविव**	**बभूविम**

णीञ् (नी) उभयपदी अनिट्

लिट् परस्मैपद

प्र० पु०	**निनाय**	**निन्यतुः (१११)**	**निन्युः**

१. लिटस्त-झयोरेशिरेच् (३।४।८१)।

२. असंयोगाल्लिट् कित् (१।२।५)।

३. भुवो वुग्लुङ्लिटोः (६।४।८८)। वुग्युटावुवङ्यणोः सिद्धौ वक्तव्यौ (वा०)। वुक् भी आभीय कार्य है और अचि श्नु-धातु-भ्रुवाम्(६।४।७७)—से होने वाला उवङ् भी आभीय है। वुक् के असिद्ध होने से 'भू' के ऊ को उवङ् होना चाहिए। इस आपत्ति को वारण करने के लिए यह वार्तिक पढ़ा है। अब वुक् (व्) सिद्ध ही है, अतः उवङ् नहीं होता।

४. भवतेरः (७।४।७३)।

३२६—द्विर्वचन-निमित्त अच् (णल्) को द्विर्वचन की कर्तव्यता में अच् को आदेश (='नी' के ई को ऐ) होता ही नहीं अथवा वह अजादेश द्विर्वचन जब तक नहीं होता तब तक स्थानिवत् होता है।[1] इससे दोनों पक्षों में 'नी' को द्वित्व होता है। निनय—निनाय। यहाँ णल् के विकल्प से णित् माने जाने से णित्त्वाभाव पक्ष में गुण (निनय)। 'निनयिथ' में भारद्वाज नियम से इट् आया।

म० पु०	निनेथ निनयिथ	निन्यथुः	निन्य
उ० पु०	निनय निनाय	निन्यिव	निन्यिम

निनाय—नी नी अ।[2] नी नै अ। नी नाय् अ। निनाय। (अभ्यास को ह्रस्व)।

लिट् आत्मनेपद

प्र० पु०	निन्ये (१११)	निन्याते	निन्यिरे
म० पु०	निन्यिषे	निन्याथे	निन्यिध्वे-ढ्वे(२३७)
उ० पु०	निन्ये	निन्यिवहे	निन्यिमहे

प्र-पूर्वक 'नी'—प्रणिनाय। प्रणिन्ये। णोपदेश 'नी' को उपसर्गस्थ निमित्त से णत्व होने पर भी द्विर्वचन शास्त्र (लिटि धातोरनभ्यासस्य ६।१।८) की दृष्टि में णत्व-विधायक शास्त्र उपसर्गात्०(८।४।१४) असिद्ध है, अतः 'नी' को द्वित्व होगा। पश्चात् अभ्यास के 'नी' को णत्व होता है।

शी आत्मनेपदी सेट्

प्र० पु०	शिश्ये (१११)	शिश्याते	शिश्यिरे
म० पु०	शिश्यिषे	शिश्याथे	शिश्यिध्वे-ढ्वे
उ० पु०	शिश्ये	शिश्यिवहे	शिश्यिमहे

कृ उभयपदी अनिट्। लिट् परस्मैपद

प्र० पु०	चकार	चक्रतुः	चक्रुः

---

१. द्विर्वचनेऽचि (१।१।५९)।

२. नी नी अ—इस अवस्था में एरनेकाचः—६।४।८२ से विहित यण् भी आङ्ग कार्य है और अचोऽञ्णिति (७।२।११५) से विहित वृद्धि भी आङ्ग कार्य है। वृद्धि-विधायक शास्त्र के पर होने से वृद्धि हुई है।

म० पु०	चकर्थ	चक्रथुः	चक्र
उ० पु०	चकार / चकर (३१८)	चकृव	चकृम

यहाँ कृ को द्वित्व होकर अभ्यास के ऋ को (उरत्) से अ (रपर=अर्), तब हलादि-शेष, पीछे कवर्ग को चवर्गादेश, अर्थात् क् को च् होता है।

लिट् आत्मनेपद

प्र० पु०	चक्रे	चक्राते	चक्रिरे
म० पु०	चकृषे	चक्राथे	चकृढ्वे (२३६)
उ० पु०	चक्रे	चकृवहे	चकृमहे

इसी प्रकार सृ, भृ, वृ के रूप जानो। केवल भृ के अभ्यास को जश्त्व होकर **बभार, बभ्रतुः, बभ्रुः, बभ्रे, बभ्राते** इत्यादि रूप होंगे। वृ को लिट् में क्रादि नियम से कहीं भी इट् प्राप्त नहीं था, पर वेद में 'बभूथाततन्थ जगृभ्मववर्थेति निगमे' (७।२।६४) इस सूत्र से थल् परे 'ववर्थ' यह इट्-रहित रूप निपातन किया है, इससे हम जानते हैं कि लोक में थल् परे इट् होता है—**ववरिथ**। वृञ् उभयपदी है। आत्मनेपद में **वव्रे, वव्राते, वव्रिरे** इत्यादि। वृङ् आत्मने-पदी है उसके ठीक इसी तरह रूप होंगे।

हृ उभयपदी अनिट्। लिट् परस्मैपद

प्र० पु०	जहार[1]	जह्रतुः	जह्रुः
म० पु०	जहर्थ	जह्रथुः	जह्र
उ० पु०	जहार / जहर[2]	जह्रिव[3]	जह्रिम

लिट् आत्मनेपद

प्र० पु०	जह्रे	जह्राते	जह्रिरे

---

१. (१०७) से अभ्यास को चुत्व होता है, अर्थात् ह् के स्थान में आन्तरतम्य से झ् होता है, जिसे फिर (१०९) से जश्त्व अर्थात् ज् होता है।

२. उत्तमपुरुष णल् के वैकल्पिक णित्त्व के कारण वृद्धि विकल्प से होती है, पक्ष में गुण होकर 'जहर' रूप निष्पन्न होता है।

३. क्रादि-नियम से इट् हुआ है।

म० पु०	जह्रिषे	जह्राथे	जह्रिध्वे-ढ्वे[1]
उ० पु०	जह्रे	जह्रिवहे	जह्रिमहे

मृ से लिट् में परस्मैपद प्रत्यय आते हैं। इसके 'हृ' की तरह रूप जानो।

३२७—अभ्यास के आदि अत् (ह्रस्व अ) को दीर्घ होता है लिट् परे रहते। यह पररूप एकादेश का अपवाद है।[2] ऋ के अभ्यास ऋ को उरत् (७।४।६६) से अत् (रपर अ=अर्) हो जाने पर हलादिः शेष से 'अ' रह जाने पर, अभ्यासोत्तरखण्ड में गुण होकर अर् हो जाता है। तब अतो गुणे (८) से पररूप प्राप्त होता है। उसका यह अपवाद है।

३२८—ऋच्छ्, ऋ धातु तथा ऋकारान्त धातुओं को लिट् परे गुण होता है।[3] ऋच्छ् को लघूपधा न होने से गुण प्राप्त न था। औरों को गुण का निषेध था। असंयोगान्त धातु से अपित् लिट् के कित् होने से।

३२९—अद्, ऋ, व्येञ् से परे थल् को इट् आगम होता है[4]। यह नित्य विधि है। अद् और व्येञ् से भारद्वाज-नियम से इड् विकल्प प्राप्त था। ऋ से तो अत्यन्त निषेध प्राप्त था।

ऋ

प्र० पु०	आर[5]	आरतुः	आरुः

---

१. यहां (२३७) से विकल्प से ध् को मूर्धन्य हुआ हैं। यहाँ इण् (र्) से परे इट् भी है।

२. अत आदेः (७।४।७०)।

३. ऋच्छत्यृताम् (७।४।११)।

४. इडत्त्यर्ति-व्ययतीनाम् (७।२।६६)।

५. ऋ को द्वित्व होने पर, अभ्यास के ऋ को (उरत्) से अत् (अ रपर) होकर हलादि शेष हो जाने पर अ ऋ अ (णल्) इस अवस्था में अभ्यासोत्तरखण्ड ऋ को (३२८) से गुण अ (अ रपर) होता है। (७।२।११५) से वृद्धि नहीं होती कारण कि गुण-विधायक शास्त्र (७।४।११) वृद्धि-विधायक से परे है। तब अभ्यास के 'अ' को (३२७) से दीर्घ हो जाता है और आ अर् अ इस अवस्था में (१६९) से उपधा-दीर्घ होकर इष्ट-रूप 'आर' सिद्ध होता है। उ० पु० में णल् का वैकल्पिक णित्त्व होने से

म० पु०	आरिथ	आरथुः	आर
उ० पु०	आर	आरिव	आरिम

ऋकारान्त वि-कृ । प०, सेट् ।

प्र० पु०	विचकार	विचकरतुः (३२८)	विचकरुः
म० पु०	विचकरिथ	विचकरथुः	विचकर
उ० पु०	विचकार, विचकर	विचकरिव	विचकरिम

इसी प्रकार गृ, वृ, मृ के रूप जानो ।

श्रु परस्मैपदी अनिट्

प्र० पु०	शुश्राव	शुश्रुवतुः (उवङ्)	शुश्रुवुः
म० पु०	शुश्रोथ	शुश्रुवथुः	शुश्रुव
उ० पु०	शुश्राव, शुश्रव[1]	शुश्रुव	शुश्रुम

द्रु

प्र० पु०	दुद्राव	दुद्रुवतुः	दुद्रुवु
म० पु०	दुद्रोथ	दुद्रुवथुः	दुद्रुवः
उ० पु०	दुद्रव, दुद्राव	दुद्रुव	दुद्रुम

इसी प्रकार स्रु के रूप जानो ।

३३०—अभ्यास का खय् शेष रहता है यदि उससे पूर्व शर् हो । यह हलादि शेष का अपवाद है ।

स्तु

प्र० पु०	तुष्टाव[2]	तुष्टुवतुः	तुष्टुवुः

णित्त्वाभाव पक्ष में भी उपधा-वृद्धि का प्रसङ्ग न होने पर भी आ अर् अ में सवर्ण दीर्घ होकर एकमात्र 'आर' रूप ही होता है । 'आरतुः' आदि की प्रक्रिया स्पष्ट है—आ अर् अतुस्=आरतुः ।

१. णल् के विकल्पित णित्त्व होने से मिप्-स्थानिक णल् परे रहते (२) से गुण । शुश्राव आदि में अभ्यास में शर् पूर्व खय् नहीं, श् से परे र् है, जो खय् प्रत्याहार में नहीं आता, अतः हलादिः शेष से र् की निवृत्ति हुई, श् की नहीं, श् अवस्थित रहा ।

२. स्तु स्तु अ । तु स्तु अ । यहां शर्पूर्वाः खयः (७।४।६१) से अभ्यास

म० पु०	तुष्टोथ	तुष्टुवथुः	तुष्टुव
उ० पु०	तुष्टव तुष्टाव	तुष्टुव	तुष्टुम

३३१—ऋदन्त संयोगादि अङ्ग को गुण होता है लिट् परे होने पर।[1] यह कित् प्रत्यय-विषयक गुण विधि है, पर वृद्धि विधायक शास्त्र (७।२।११५) से **पर** होने से णल् प्रत्यय परे होने पर भी होगी। गुण होकर अत उपधायाः से वृद्धि होगी ऐसा दीक्षित मानते हैं। वृद्धि विषय में तो पूर्वविप्रतिषेध से वृद्धि ही होती है ऐसा काशिकाकार का मत है।

स्मृ परस्मैपदी अनिट्

प्र० पु०	सस्मार	सस्मरतुः	सस्मरुः
म० पु०	सस्मर्थ	सस्मरथुः	सस्मर
उ० पु०	सस्मार सस्मर	सस्मरिव[2]	सस्मरिम

संस्कृ

प्र० पु०	संचस्कार	संचस्करतुः[3]	संचस्करुः

का खय् (त्) शेष रहता है। यह हलादिः शेषः का अपवाद है। अभ्यासोत्तर खण्ड 'स्तु' के आदेश-भूत स् को ष्।

१. ऋतश्च संयोगादे र्गुणः (७।४।१०)।

२. क्रादि नियम से इट्।

३. धातु और उपसर्ग का कार्य अन्तरङ्ग होता है, पूर्वं धातुरुपसर्गेण युज्यते पश्चात् साधनेन। अतः उपसर्ग निमित्तक अर्थ विशेष में विहित सुट् पहले होता है। तब 'स्कृ' को द्वित्व होता है। धातु के संयोगादि होने से (३३२) से गुण हुआ है ऐसा दीक्षित का मत है। सुट् कात्पूर्वः (६।१।१३५) से ज्ञापित होता है कि सुट् अभक्त है, कृ धातु का आद्य अवयव नहीं। पूर्वं धातुः साधनेन युज्यते पश्चादुपसर्गेण इस मत से उपसर्ग के पश्चात् होने से सुट् के बहिरङ्ग होने से कृ को द्वित्व होता है। संयोगादि के गुण-विधान में संयोगोपध का भी ग्रहण होना चाहिये इस वचन से गुण होता है, ऐसा काशिकाकार का मत है। अभ्यास-कृत व्यवधान होने पर भी सुट् क् से पूर्व होता है।

म० पु०	संचस्करिथ[1]		

इसी प्रकार ध्वृ, ह्वृ के रूप जानो—दध्वार। दध्वरतुः। दध्वरुः। जह्वार। जह्वरतुः। जह्वरुः। जागृ—जजागार। जजागरतुः (२५१ गुण)। जजागरुः। जजागरिथ इत्यादि। अनेकाच् होने से सेट्।

३३२—सन् तथा लिट् प्रत्यय परे 'जि' जो अङ्ग उस का जो अभ्यास उसके उत्तरखण्ड को कवर्ग आदेश होता है।

जि परस्मैपद अनिट्

प्र० पु०	जिगाय	जिग्यतुः (१११)	जिग्युः
म० पु०	जिगेथ / जिगयिथ	जिग्यथुः	जिग्य
उ० पु०	जिगाय / जिगय	जिग्यिव	जिग्यिम

जि णल्। जि अ। जि जि अ। जि गि अ (३३२)। जिगाय(१६८)।

जिगेथ—पाणिनि के मत में धातु के अजन्त होने से क्रादि-नियम का निषेध होने से इट् न हुआ। जिगयिथ—यहाँ भारद्वाज—नियम से इट् हुआ। सिप्स्थानिक थल् के पित् होने से गुण।

चि उभयपदी अनिट्

लिट् परस्मैपद

प्र० पु०	चिचाय	चिच्यतुः	चिच्युः
म० पु०	चिचेथ / चिचयिथ	चिच्यथुः	चिच्य
उ० पु०	चिचाय / चिचय	चिच्यिव	चिच्यिम

३३३—चि के अभ्यास से परे जो 'चि' है उसके 'च्' को विकल्प से 'क्' हो जाता है दोनों पदों में[2]—चिकाय, चिक्ये इत्यादि। शेष रूपरचना नी के समान ही है।

---

१. कृसृभृ—इस सूत्र में तथा ऋतो भारद्वाजस्य—इस सूत्र में 'कृञो-ऽसुटः' पढ़े हुए इस वचन से सुट्-सहित कृ को इडागम होगा।

२. विभाषा चेः (७।३।५८)।

स्वृ

प्र० पु०	सस्वार	सस्वरतुः (३३१)	सस्वरुः
म० पु०	सस्वरिथ / सस्वर्थ (१९०)	सस्वरथुः	सस्वर
उ० पु०	सुस्वार / सस्वर	सस्वरिव[1]	सस्वरिम

षू (ङ्) सू अदा०, दिवा०

प्र० पु०	सुषुवे	सुषुवाते	सुषुविरे
म० पु०	सुषुविषे	सुषुवाथे	सुषुविध्वे-ढ्वे
उ० पु०	सुषुवे	सुषुविवहे	सुषुविमहे

धू (ञ्)

प्र० पु०	दुधाव	दुधुवतुः (उवङ्)	दुधुवुः
म० पु०	दुधविथ / दुधोथ	दुधुवथुः	दुधुव
उ० पु०	दुधाव / दुधव	दुधुविव	दुधुविम

दा उभयपदी अनिट् । लिट् परस्मैपद

---

१. सस्वरिव सस्वरिम—यहाँ (३१७) से व, म कित् हैं। श्र्युकः किति (७।२।११)—यह श्रिञ् से तथा उगन्त धातु से परे कित् प्रत्यय को प्राप्त इट् का निषेध करता है। स्वृ उगन्त है, उससे परे इट् का निषेध प्राप्त होता है। पर स्वरति-सूति—(७।२।४४) सूत्र 'स्वृ' से वलादि आर्धधातुक को इट् विकल्प विधान करता है और यह (अष्टाध्यायी-क्रम से) **पर** है, अतः विप्रतिषेधे परं कार्यम् से निषेध को बाध कर विकल्प होना चाहिये, पर सूत्रकार इट्-प्रकरण का प्रारम्भ निषेध से करते हैं और नेड् वशि कृति (७।२।८) आदि इट् निषेध-विधायक सूत्र-समुदाय पढ़ते हैं, पीछे आर्धधातुकस्येड् वलादेः (७।३।३५) आदि से इट् विधान करते हैं। ऐसा करने से यह ज्ञापित होता है कि निषेध बलवान् है, अतः इड्-विकल्प-विधायक स्वरति-सूति-आदि **पर** शास्त्र को भी निषेध बाध लेता है। इस अवस्था में क्रादि-नियम से इट् होता है। निषेध होने पर ही क्रादि-नियम की प्रवृत्ति होती है।

३३४—ग्राकारान्त धातु से परे णल् को 'औ' ग्रादेश होता है[1]

प्र० पु०	**ददौ** (३३४)	**ददतुः** (२२१)	**ददुः**
म० पु०	**ददाथ** / **ददिथ**[2]	**ददथुः**	**दद**
उ० पु०	**ददौ**	**ददिव**	**ददिम**

लिट् ग्रात्मनेपद

प्र० पु०	**ददे**	**ददाते**	**ददिरे**
म० पु०	**ददिषे**[3]	**ददाथे**	**ददिध्वे**
उ० पु०	**ददे**	**ददिवहे**	**ददिमहे**

दाप् लवने परस्मैपदी है—**ददौ**[4] । **ददतुः** । **ददुः** इत्यादि ।

इसी प्रकार धा (उभयपदी), पा, घ्रा, या, हा (छोड़ना, प०), हा (जाना, ग्रा०), ज्ञा, वा(चलना) मा, माङ् धातुग्रों के रूप जानो—**दधौ** । **दधे** । **पपौ** । **जघ्रौ** । **ययौ** । **जहौ** । **जहे** । **जज्ञौ** । **ववौ** । **ममौ** । **ममे** ।

३३५—वेञ् को वयि (वय्) ग्रादेश विकल्प से होता है । तब इसके जो रूप होते हैं उन्हें संप्रसारणी धातुग्रों के प्रसंग में दिया जायगा ।

३३६—उपदेश में एजन्त धातुग्रों को ग्राकारान्त बनाकर दा की तरह रूप होंगे ।—ऐकारान्त कै, गै, ग्लै, म्लै, दैप्(शोधन करना)। ग्रोकारान्त—शो, सो, छो, दो (खंड करना) । मीञ् (क्र्या०), मि (ञ्) स्वा०—इन्हें एच् विषय में ग्रात्व होता है—**ममौ** । **ममाथ** । **ममिथ** । जहाँ ग्रतुस् ग्रादि प्रत्यय परे रहते एच् भावी नहीं वहाँ ग्रात्व नहीं होता—**मिम्यतुः** । **मिम्युः** । **मिम्यिव** । **मिम्यिम** । **मिम्ये** । **मिम्याते** । **मिम्यिरे** ।

स्था परस्मैपदी ग्रनिट्

प्र० पु०	**तस्थौ**[5]	**तस्थतुः**	**तस्थुः**

---

१. ग्रात ग्रौ णलः (७।१।३४) ।

२. (३२१) से क्रादि नियम का निषेध हो जाने से इट् न हुग्रा । ददिथ—यहा भारद्वाज-नियम से इट् हुग्रा । (२२१) से 'दा' के 'ग्रा' का लोप हुग्रा ।

३. क्रादि नियम से इट् । (२२१) से 'दा' के 'ग्रा' का लोप ।

४. दाप् लवने का विना उपसर्ग के भी प्रयोग होता है । दाति दारिद्र्यमर्थिनाम् (कविरहस्य) ।

५. स्था स्था णल् । यहाँ ग्रभ्यास के शर्पूर्व होने से खय् (थ्) शेष रहता है । (१०६) से खर् (थ्) के स्थान में चर् (त्) ।

म० पु०	तस्थाथ तस्थिथ	तस्थथुः	तस्थ
उ० पु०	तस्थौ	तस्थिव	तस्थिम

अधि—स्था

प्र० पु०	अधितष्ठौ	अधितष्ठतुः	अधितष्ठुः
म० पु०	अधितष्ठाथ अधितष्ठिथ	अधितष्ठथुः	अधितष्ठ
उ० पु०	अधितष्ठौ	अधितष्ठिव	अधितष्ठिम

अभ्यास-कृत व्यवाय होने पर भी उपसर्गस्थ निमित्त से अभ्यासोत्तर खण्ड स्था के स् को ष्।

अव स्था आत्मनेपदी अनिट्

प्र० पु०	अवतस्थे	अवतस्थाते	अवतस्थिरे
म० पु०	अवतस्थिषे	अवतस्थाथे	अवतस्थिध्वे
उ० पु०	अवतस्थे	अवतस्थिवहे	अवतस्थिमहे

मुद् आत्मनेपदी सेट्

प्र० पु०	मुमुदे	मुमुदाते	मुमुदिरे
म० पु०	मुमुदिषे	मुमुदाथे	मुमुदिध्वे
उ० पु०	मुमुदे	मुमुदिवहे	मुमुदिमहे

दृश् परस्मैपदी अनिट्

प्र० पु०	ददर्श	ददृशतुः	ददृशुः
म० पु०	दद्रष्ठ ददर्शिथ (२०६)	ददृशतुः	ददृश
उ० पु०	ददर्श	ददृशिव	ददृशिम

३३७—सृज् तथा दृश् से थल् को विकल्प से इट् नहीं होता।[1] क्रादि नियम से नित्य इट् प्राप्त था। (२०६) से इन के अन्त्य अच् ऋ से परे अम् (अ) आगम होता है।

सृज् परस्मैपदी अनिट्

प्र० पु०	ससर्ज	ससृजतुः	ससृजुः
म० पु०	ससर्जिथ सस्रष्ठ (२०६)	ससृजथुः	ससृज

१. विभाषा सृजिदृशोः (७।२।६५)।

उ० पु०	**ससर्ज**	**ससृजिव**	**ससृजिम**

ससृजतुः, ससृजुः आदि में (३१७) से अपित् लिट् प्रत्यय को कित्त्व विधान किया है। इस सूत्र की संख्या १।२।५ है। (७।३।८६) से उपधा गुण भी प्राप्त होता है, वह पर है अतः पहले गुण हो जाना चाहिए। इस पर वार्त्तिककार कहते हैं—ऋदुपधेभ्यो लिटः कित्त्वं गुणात् पूर्वविप्रतिषेधेन, इससे गुण को बाधकर कित्त्व हो जाता है।

स्पृश् से **पस्पर्श। पस्पृशतुः। पस्पर्शिथ** इत्यादि रूप बनते हैं। थल् में क्रादि नियम से नित्य इट् होकर एक ही रूप 'पस्पर्शिथ' होगा।

३३८—गम्, हन्, जन्, खन्, घस् इन अङ्गों की उपधा (अ) का लोप हो जाता है, अजादि कित्, ङित् प्रत्यय परे होने पर। अङ् प्रत्यय परे रहते यह लोप नहीं होता।[1]

गम् परस्मैपदी अनिट्

प्र० पु०	**जगाम**	**जग्मतुः**	**जग्मुः**
म० पु०	**जगन्थ**[2] / **जगमिथ**	**जग्मथुः**	**जग्म**
उ० पु०	**जगाम** / **जगम**	**जग्मिव** (३१७, ३३८)	**जग्मिम**

इसी प्रकार खन् के रूप जानो—चखान। चखन। चख्नतुः। चख्नुः इत्यादि।

जन् आत्मनेपदी सेट्

प्र० पु०	**जज्ञे**[3]	**जज्ञाते**	**जज्ञिरे**
म० पु०	**जज्ञिषे**	**जज्ञाथे**	**जज्ञिध्वे**
उ० पु०	**जज्ञे**	**जज्ञिवहे**	**जज्ञिमहे**

---

१. गम-हन-जन-खन-घसां लोपः क्ङित्यनङि (६।४।९८)।

२. पाणिनि मत से इट् का निषेध। अनुस्वार। परसवर्ण। भारद्वाज मत से इट्—'जगमिथ'। थल् सिप्स्थानिक है, अतः कित् नहीं, पित् है, सो उपधा-लोप नहीं हुआ।

३. उपधा लोप होने पर तवर्ग व चवर्ग का योग हो जाने से तवर्ग 'न्' को चवर्ग ञ् हुआ। ज् ञ्=ज्ञ्। द्विर्वचन की कर्तव्यता में द्विर्वचननिमित्त अच् (एश्) परे होने पर उपधा-लोप को स्थानिवत् मानकर जन् को द्वित्व होता है। उत्तरखण्ड में ज् ञ् ही उपस्थित होता है। अभ्यास के आदि हल् के शेष होने पर रूपसिद्धि हो जाती है।

हन् परस्मैपदी अनिट्

३३९—अभ्यास-निमित्त प्रत्यय परे होने पर हन् धातु के अभ्यास से परे जो हन् का 'ह्' उसे कुत्व होता है। आन्तरतम्य से ह् को घ् होगा।[1]

प्र० पु०	जघान	जघ्नतुः (३३८, ३३९)	जघ्नुः
म० पु०	जघन्थ, जघनिथ	जघ्नथुः	जघ्न
उ० पु०	जघान, जघन	जघ्निव	जघ्निम

घस्

३४०—अद् के स्थान में विकल्प से घस्लृ (घस्) आदेश होता है लिट् परे रहते।[2]

प्र० पु०	जघास	जक्षतुः[3]	जक्षुः
म० पु०	जघसिथ[4]	जक्षथुः	जक्ष
उ० पु०	जघास, जघस	जक्षिव	जक्षिम

---

१. अभ्यासाच्च (७।३।५५)।

२. लिटचन्यतरस्याम् (२।४।४०)। अनिट् कारिकाओं में घस् स्वतन्त्र धातु भी पढ़ी है, पर उस के प्रयोग का विषय सीमित है। जहाँ उसके लिये साक्षात् वचन उपलब्ध होता है और (केवल) लिङ्ग मिलता है, वहीं उसका प्रयोग होता है अन्यत्र नहीं। भ्वादि गण में घस्लृ पढ़ी है सो इसका परस्मैपद में शप् प्रत्यय परे रहते प्रयोग होता है। अनिट् कारिकाओं में पाठ होने से बलादि आर्धधातुक परे भी इसका प्रयोग होता है—घस्ता (तृच्)। घस्मरः। क्मरच् (कृत्प्रत्यय) विधि में इसे पढ़ा है सो वहाँ भी इसका प्रयोग होता है—सृ-घस्यदः क्मरच् (३।२।१६०)।

३. घस् की उपधा अ का (३३८) से लोप होने पर घ् स् होने पर द्वित्व की कर्तव्यता में अ-लोप को स्थानिवत् मान कर घस् (एकाच्) को द्वित्व होता है। द्वित्व होते ही अभ्यासोत्तर खण्ड में घ् स् उपस्थित हो जाता है। शासि-वसि-घसीनां (८।३।६०) से इण् और कवर्ग से परे शास् आदि के अनादेश स् को ष् होता है। (१०१)। घ् को चर्त्व विधि से क् होकर क् ष् के योग से क्ष् बनता है।

४. तास् परे होने पर घस्लृ आदेश के अविद्यमान होने से क्रादि-नियम का बाध नहीं होता, अतः नित्य इट् होता है।

भिद् उभयपदी अनिट्

लिट् परस्मैपद

प्र० पु०	बिभेद	बिभिदतुः	बिभिदुः
म० पु०	बिभेदिथ	बिभिदथुः	बिभिद
उ० पु०	बिभेद	बिभिदिव	बिभिदिम

लिट् आत्मनेपद

प्र० पु०	बिभिदे	बिभिदाते	बिभिदिरे
म० तु०	बिभिदिषे	बिभिदाथे	बिभिदिध्वे
उ० पु०	बिभिदे	बिभिदिवहे	बिभिदिमहे

राध, साध्, आप्—परस्मैपदी अनिट् धातुएँ हैं और भिद्, रुध् उभयपदी अनिट् हैं। न तो ये ह्रस्व अकारवाली हैं और न ही अजन्त (स्वरान्त) हैं, अतः 'थल्' परे होने पर इनसे क्रादि नियम से नित्य ही इट् आता है जिससे एक ही रूप बनता है—**रराधिथ। ससाधिथ। आपिथ। रुरोधिथ। बिभेदिथ।**

जिस प्रकार श्रु के लिट् में द्विवचन व बहुवचन में 'उ' को स्वरादि प्रत्यय परे होने पर उवङ् (उव्) होता है, इसी प्रकार 'क्री' के 'ई' को इयङ् (इय्) होता है (४४)—**चिक्राय। चिक्रियतुः। चिक्रियुः। चिक्रिये। चिक्रियाते। चिक्रियिरे** इत्यादि।

क्षमू (क्षम् दिवा० प०), सहना

प्र० पु०	चक्षाम	चक्षमतुः	चक्षमुः
म० पु०	चक्षमिथ / चक्षन्थ [1]	चक्षमथुः	चक्षम
उ० पु०	चक्षम / चक्षाम	चक्षमिव / चक्षण्व [2]	चक्षमिम / चक्षण्म

क्षमूष् (क्षम् भ्वा० आ०) सहना

प्र० पु०	चक्षमे	चक्षमाते	चक्षमिरे
म० पु०	चक्षमिषे / चक्षंसे	चक्षमाथे	चक्षमिध्वे / चक्षन्ध्वे

---

१. क्षमू ऊदित् है, अतः लिट् में सर्वत्र इट्-विकल्प होता है।

२. इट् के अभाव में व, म परे होने पर धातु के 'म्' को न् होता है (म्वोश्च ८।२।६५), जिसे ष्-पूर्व होने से णत्व होता है।

उ० पु०	चक्षमे	चक्षमिवहे चक्षण्वहे	चक्षमिमहे चक्षण्महे

ग्रह् उभयपदी सेट्

लिट् परस्मैपद

३४१—ग्रह् आदि (१२८) तथा वच् आदि (३४२ टिप्पण) दोनों वर्गों की धातुओं के अभ्यास को सम्प्रसारण होता है।[1]

प्र० पु०	जग्राह[2]	जगृहतुः[3]	जगृहुः
म० पु०	जग्रहिथ	जगृहथुः	जगृह
उ० पु०	जग्राह जग्रह	जगृहिव	जगृहिम

लिट् आत्मनेपद

प्र० पु०	जगृहे[4]	जगृहाते	जगृहिरे
म० पु०	जगृहिषे	जगृहाथे	जगृहिध्वे-ढ्वे
उ० पु०	जगृहे	जगृहिवहे	जगृहिमहे

३४२—वच्, स्वप् तथा यज् आदि नौ धातुओं को कित् प्रत्यय परे सम्प्रसारण होता है।[5]

ब्रू (वच्) उभयपदी अनिट्

लिट् प०

---

१. लिट्यभ्यासस्योभयेषाम् (६।१।१७)।

२. यहाँ ग्रह् को द्वित्व होकर अभ्यास को सम्प्रसारण द्वारा 'गृह्' ऐसा होने पर हलादि शेष होने पर 'गृ' ऐसी अवस्था में ऋ को अत्=रपर अ=अर् (उरत् ७।४।६६) होकर पुनः हलादि शेष होकर 'ग' शेष रहता है, इसे (१०७) से चुत्व होकर 'ज' हो जाता है।

३. यहाँ (३१७) से अतुस् कित् है। सम्प्रसारणं तदाश्रयं च कार्यं बलवत् इस परिभाषा से पहले सम्प्रसारण होगा, पीछे द्वित्व।

४. आत्मनेपद के सभी प्रत्यय अपित् हैं और असंयोगान्त धातु से अपित् लिट् कित् होता है, अतः यहाँ सब प्रत्ययों के कित् होने से सर्वत्र सम्प्रसारण होकर द्वित्व होगा।

५. वचि-स्वपि-यजादीनां किति (६।१।१५)। यजादि नौ धातुएं ये हैं—यज्, वप्, वह्, वस्, वेञ्, व्येञ्, ह्वेञ्, वद्, श्वि।

प्र० पु०	उवाच[1]	ऊचतुः	ऊचुः
म० पु०	उवक्थ उवचिथ[2]	ऊचथुः	ऊच
उ० पु०	उवाच उवच	ऊचिव	ऊचिम

लिट् आत्मनेपद

प्र० पु०	ऊचे	ऊचाते	ऊचिरे
म० पु०	ऊचिषे	ऊचाथे	ऊचिध्वे
उ० पु०	ऊचे	ऊचिवहे	ऊचिमहे

वद् प० सेट्

प्र० पु०	उवाद	ऊदतुः	ऊदुः

इत्यादि

वि-वद् (विरुद्ध बोलना, झगड़ा करना)

प्र० पु०	व्यूदे	व्यूदाते[3]	व्यूदिरे
म० पु०	व्यूदिषे	व्यूदाथे	व्यूदिध्वे
उ० पु०	व्यूदे	व्यूदिवहे	व्यूदिमहे

प्रत्ययों के कित् होने से सर्वत्र सम्प्रसारण होकर द्वित्व। इसी प्रकार वप् भ्वा० उ० तथा वह् भ्वा० उ० के रूप जानो—उवाप। ऊपतुः। ऊपुः। उवप्थ। उवपिथ। ऊपे। ऊपाते। ऊपिरे। उवाह। ऊहतुः। ऊहुः। उवोढ। (ढ्लोप होने पर वह् के 'अ' को ओ)। उवहिथ। ऊहे। ऊहाते। ऊहिरे।

वस् परस्मैपदी अनिट्

प्र० पु०	उवास	ऊषतुः[4]	ऊषुः

---

१. (२०३)से ब्रू को वच् आदेश।(३४१)से अभ्यास को सम्प्रसारण।

२. पाणिनि मत से इट् का निषेध। भारद्वाज नियम से इट्।

३. विमति अर्थ में विपूर्वक वद् से आत्मनेपद प्रत्यय आते हैं।

४. शासि-वसि-घसीनां च (१०१) से इण् वा कवर्ग से परे वस् के स् को (जो न तो आदेश है और न प्रत्यय का) मूर्धन्य आदेश (ष्) होता है। अभ्यास (उस्) के हल् का लोप होकर सवर्ण दीर्घ होता है।

म० पु०	उवसिथ / उवस्थ	ऊषथुः	ऊष
उ० पु०	उवास / उवस	ऊषिव	ऊषिम

यज् उभयपदी अनिट्

लिट् परस्मैपद

प्र० पु०	इयाज[1]	ईजतुः[2]	ईजुः
म० पु०	इयष्ठ / इयजिथ [3]	ईजथुः	ईज
उ० पु०	इयाज / इयज	ईजिव	ईजिम

लिट् आत्मनेपद

प्र० पु०	ईजे	ईजाते	ईजिरे
म० पु०	ईजिषे	ईजाथे	ईजिध्वे
उ० पु०	ईजे	ईजिवहे	ईजिमहे

स्वप् परस्मैपदी अनिट्

प्र० पु०	सुष्वाप[4]	सुषुपतुः[5]	सुषुपुः
म० पु०	सुष्वपिथ / सुष्वप्थ	सुषुपथुः	सुषुप
उ० पु०	सुष्वाप / सुष्वप	सुषुपिव	सुषुपिम

सुस्वप्

३४३—सु, वि, निर्, दुर्—इन उपसर्गों से परे सुप्-रूप स्वप् के स् को ष् हो जाता है।[6]

---

१. (३४१) से अभ्यास को सम्प्रसारण।

२. यहाँ प्रत्यय के कित् होने से पहले सम्प्रसारण, पश्चात् द्वित्व।

३. पाणिनि मत से इट् न होकर (व्रश्च-भ्रस्ज—८।२।३६) से यज् धातु के ज् को ष्। ष्टुत्व विधि से थल् के थ् को ठ्।

४. अभ्यास के इण् (उ) से परे धातु के आदेश-भूत स् को ष्।

५. कित् प्रत्यय परे रहते सम्प्रसारण होकर ईज् को द्वित्व।

६. सु-वि-निर्-दुर्भ्यः सुपि-सूति-समाः (८।३।८८)।

प्र० पु०	सुसुष्वाप[1]	सुषुषुपतुः[2]	सुषुषुपुः
म० पु०	सुसुष्वपिथ सुसुष्वप्थ	सुषुषुपथुः	सुषुषुप
उ० पु०	सुसुष्वाप सुसुष्वप	सुषुषुपिव	सुषुषुपिम

प्रच्छ् परस्मैपदी अनिट्

प्र० पु०	पप्रच्छ	पप्रच्छतुः[3]	पप्रच्छुः
म० पु०	पप्रष्ठ पप्रच्छिथ	पप्रच्छथुः	पप्रच्छ
उ० पु०	पप्रच्छ	पप्रच्छिव	पप्रच्छिम

ह्वे (ञ्) उभयपदी अनिट् । लिट् परस्मै०

३४४—ह्वे जो अभ्यास का कारण है, अर्थात् जिसे सन् आदि प्रत्यय परे रहते द्विर्वचन प्राप्त है, उसे द्विर्वचन से पूर्व ही सम्प्रसारण (तथा पूर्वरूप) हो जाता है।[4] इस विधान से ह्वे को पित् अथवा अपित् लिट् प्रत्ययों के परे रहते सम्प्रसारण होकर द्वित्व होता है। (३४२) से कित् प्रत्यय परे ही सम्प्रसारण हो सकता।

प्र० पु०	जुहाव (हु को द्वित्व)	जुहुवतुः (उवङ्)	जुहुवुः
म० पु०	जुहोथ जुहविथ	जुहुवथुः	जुहुव
उ० पु०	जुहाव जुहव	जुहुविव	जुहुविम

---

१. यहाँ स्वप् के 'सुप्' रूप (जो सम्प्रसारण जन्य है) के न होने से 'सु' से परे होने पर भी षत्व नहीं हुआ।

२. यहाँ कित्प्रत्यय-निमित्तक सम्प्रसारण होने पर सुप् रूप बन जाने से 'सु' से परे होने से षत्व हो गया।

३. प्रच्छ् (जो संयोगान्त है) से अतुस् कित् नहीं और ङित् भी नहीं। अतः सम्प्रसारण की प्राप्ति नहीं। ङित् होता तो (१२८) से सम्प्रसारण हो जाता।

४. अभ्यस्तस्य च (६।१।३३)।

लिट् आत्मनेपद

प्र० पु०	जुहुवे	जुहुवाते	जुहुविरे
म० पु०	जुहुविषे	जुहुवाथे	जुहुविध्वे-ढ्वे
उ० पु०	जुहुवे	जुहुविवहे	जुहुविमहे

व्यच् तुदा० प०

प्र० पु०	विव्याच[1]	विविचतुः[2]	विविचुः
म० पु०	विव्यचिथ[2]	विविचथुः	विविच
उ० पु०	विव्याच / विव्यच	विविचिव	विविचिम

३४५—जहाँ एक ही लक्ष्य में एक ही लक्षण से दो स्थानों (यणों) को सम्प्रसारण प्राप्त होता है वहाँ पर यण् को ही सम्प्रसारण होता है, पूर्व को नहीं। अतः व्यच् के य् को सम्प्रसारण (इ) हुआ है। ऐसा ही अन्यत्र जानो।

वे (ञ्)=बुनना

३४६—वेञ् को लिट् में सम्प्रसारण का निषेध है।[3] आत्व होने पर 'वा' के रूप पहले आकारान्तों में दिए जा चुके हैं। उदाहरण—वौ। ववतुः। ववुः इत्यादि।

लिट् प्रत्यय परे रहते वेञ् को 'वय्' आदेश विकल्प से होता है यह पूर्व कह आये हैं।[4]

---

१. (३४१) से अभ्यास को सम्प्रसारण।

२. व्यच् ग्रह् आदि धातुओं में से एक है। कित्, ङित् परे रहते सम्प्रसारण विधान किया है। व्यच् कुटादि धातुओं में पढ़ी है और कुटादियों से परे ञित्, णित्-भिन्न प्रत्यय ङित् माना जाता है। पर अतुस् प्रत्यय परे रहते व्यच् कुटादि नहीं। अतुस् के कित् होने से सम्प्रसारण होकर विच् को द्वित्व हुआ है। 'व्यचेः कुटादित्वमनसि' इस वचन में अनस् यह पर्युदास है। अस् (कृत्प्रत्यय) से भिन्न प्रत्यय परे होने पर व्यच् कुटादि है। कृत्प्रत्ययों में अस् को छोड़कर कुटादित्व है। अन्यत्र यह कुटादि नहीं। इस प्रकार व्यच् के कुटादित्व को संकुचित कर दिया है। अतः थल् परे कुटादि न होने से थल् ङित् नहीं। अतः धातु (व्यच्) को सम्प्रसारण नहीं हुआ।

३. वेञः (६।१।४०)।

४. वेञो वयिः (२।४।४१)।

३४७—कित् प्रत्यय परे रहते जो वय् के 'य्' को सम्प्रासरण प्राप्त था, उसका निषेध कर दिया गया है।[1] य् के सम्प्रसारण का निषेध होने पर व् को सम्प्रसारण होगा। कित् प्रत्यय परे रहते पहले सम्प्रसारण होकर उय् को द्वित्व होगा। हलादि शेष होकर सवर्ण दीर्घ।

३४८—वेञ् के आदेश वय् के य् के स्थान में विकल्प से 'व्' आदेश होता है[2] कित् लिट् प्रत्यय परे रहते—आत्मनेपद में ऊये, ऊवे इत्यादि :—

प्र० पु०	उवाय	ऊयतुः ऊवतुः	ऊयुः ऊवुः
म० पु०	उवयिथ	ऊयथुः ऊवथुः	ऊय ऊव
उ० पु०	उवय उवाय	ऊयिव ऊविव	ऊयिम ऊविम

तास् परे वय् आदेश के अविद्यमान होने से थल् परे क्रादिनियम से नित्य इट् होता है।

वय् आदेश स्थानिवद्भाव से ञित् है, अतः फल के कर्तृगामी होने की विवक्षा में तङ् होगा—**ऊये। ऊयाते। ऊयिरे। ऊवे। ऊवाते। ऊविरे।**

व्येञ्

३४९—व्येञ् को लिट् में आत्व नहीं होता।[3]

(सम्पूर्वक)	**संविव्याय**[4]	**संविव्यतुः**	**संविव्युः**
	संविव्ययिथ[5]	**संविव्यथुः**	**संविव्य**

१. लिटि वयो यः (६।१।३८)।

२. वश्चास्यान्यतरस्यां किति (६।१।३९)।

३. न व्यो लिटि (६।१।४६)। (१८७) से उपदेशावस्था में ही आत्व प्राप्त था।

४. व्ये को द्वित्व होने पर हलादिशेष भी प्राप्त होता है और सम्प्रसारण भी। लिटचभ्यासस्योभयेषाम् (६।१।१७) में 'उभयेषाम्' ग्रहण के बल पर परशास्त्र हलादिः शेषः (७।४।६०) को बाधकर (३४२) से य् को सम्प्रसारण होता है। हलादि शेष होने पर तो 'व्' को होता जिससे इष्टरूप दुर्लभ होता।

५. (३२१) से यहाँ पाणिनि मत से इट् निषेध प्राप्त था। अतः (३४९) से विशेष विधान कर दिया।

श्वि परस्मै०, सेट्

३५०—लिट् तथा यङ् प्रत्यय परे होने पर 'श्वि' को विकल्प से सम्प्रसारण होता है।[1]

३५१—श्वयतेर्लिटचभ्यासलक्षणप्रतिषेधः (वा०), जब 'श्वि' को सम्प्रसारण नहीं होता तो (३४१) से प्राप्त अभ्यास को भी सम्प्रसारण नहीं होता।

प्र० पु०	शुशाव[2] / शिश्वाय[3]	शुशुवतुः / शिश्वियतुः	शुशुवुः / शिश्वियुः

व्यध् (बींधना) परस्मै०, अनिट्

प्र० पु०	विव्याध	विविधतुः[4]	विविधुः
म० पु०	विव्यधिथ / विव्यद्ध[5]	विविधथुः	विविध
उ० पु०	विव्याध / विव्यध	विविधिव	विविधिम

व्यथ् (डरना, हिलना) आत्मने०

३५२—व्यथ् के अभ्यास को सम्प्रसारण होता है लिट् परे रहते। यह हलादिशेष का अपवाद है। हलादिः शेष की प्राप्ति होने पर इसका आरम्भ हुआ है।[6]

---

१. विभाषा श्वेः (६।१।३०)।

२. श्वि को सम्प्रसारण (और पूर्वरूप करके) 'शु' को द्वित्व होता है।

३. जिस पक्ष में धातु को सम्प्रसारण नहीं होता, उस पक्ष में अभ्यास को भी नहीं होता। अतः यहाँ श्वि को द्वित्व हुआ। हलादि शेष से 'शि'। अभ्यासोत्तर खण्ड में वृद्धि, आयादेश। थल् परे—शुशविथ, शिश्वयिथ।

४. व्यध् को (१२८) से सम्प्रसारण। (३४५) से य् को सम्प्रसारण होता है, पूर्व यण् व् को नहीं। अतः कित् प्रत्यय अतुस् आदि परे रहते सम्प्रसारण (तथा पूर्वरूप) होकर 'विध्' को द्वित्व होता है।

५. (३२१) से क्रादि-नियम का निषेध हो जाने से पाणिनि के मत में इट् नहीं होता, भारद्वाज के मत में हो जाता है। सो इड् विकल्प सिद्ध होता है। विव्यध् थ—यहाँ झषन्त से परे प्रत्यय त, थ को ध् हो जाता है। इस शासन से थ् को ध् हो जाता है। तब जश्त्व विधि से पूर्व ध् को द् हो जाता है।

६. व्यथो लिटि (७।४।६८)। (३४५) से य् को सम्प्रसारण होता है।

प्र० पु०	विव्यथे	विव्यथाते	विव्यथिरे
म० पु०	विव्यथिषे	विव्यथाथे	विव्यथिध्वे
उ० पु०	विव्यथे	विव्यथिवहे	विव्यथिमहे

व्रश्च् (काटना)

प्र० पु०	वव्रश्च[1]	वव्रश्चतुः[2]	वव्रश्चुः
म० पु०	वव्रश्चिथ / वव्रष्ठ [3]	वव्रश्चथुः	वव्रश्च
उ० पु०	वव्रश्च	वव्रश्चिव / वव्रश्च्व	वव्रश्चिम / वव्रश्च्म

भ्रस्ज् (भूनना)

प्र० पु०	बभर्ज / बभ्रज्ज [4]	बभर्जतुः / बभ्रज्जतुः	बभर्जुः / बभ्रज्जुः
म० पु०	बभ्रज्जिथ / बभर्ष्ठ / बभ्रष्ठ	बभर्जथुः / बभ्रज्जथुः	बभर्ज / बभ्रज्ज

---

१. यहाँ हलादिः शेष से पहले ही अभ्यास को सम्प्रसारण होता है। न सम्प्रसारणे (३४४) से पूर्व यण् को सम्प्रसारण का निषेध होने से पर यण् (र्) को सम्प्रसारण (ऋ) होता है। तब उरत् (७।४।६६) से ऋ को रपर अ (अर्)। पीछे हलादिःशेष से इसके र् की निवृत्ति होती है। यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि परे सम्प्रसारण न होने से अभ्यास-लक्षण सम्प्रसारण 'व्' को प्राप्त होता है। समाधि—उरत् (७।४।६६) अङ्गाधिकारीय है। अङ्ग से प्रत्यय का आक्षेप होता है। अङ्गाक्षिप्त प्रत्यय को निमित्त मानकर हुआ यह ऋ के स्थान में अर् आदेश पर-निमित्तक अजादेश है। पूर्वविधि (प्रकृत में 'व्' को सम्प्रसारण) की कर्तव्यता में यह पर-निमित्तक अजादेश स्थानिवत् हो जाएगा (४२), जिससे सम्प्रसारण परे हो जाएगा और पूर्व को सम्प्रसारण रुक जाएगा।

२. व्रश्च् के संयोगान्त होने से अतुस् कित् नहीं, अतः सम्प्रसारण का प्रसङ्ग नहीं।

३. व्रश्च् ऊदित् है (व्रश्चू), अतः सर्वत्र इट्-विकल्प होता है।

४. (२०८) से भ्रस्ज् के रेफ और उपधा स् के स्थान में विकल्प से रम् (र्) आगम अन्त्य अच् से परे होता है।

३५३—अभ्यास के इवर्ण उवर्ण को इयङ्, उवङ् होता है असवर्ण अच् परे होने पर।[1]

३५४—इ (ण्) के अभ्यास को दीर्घ होता है कित् लिट् परे होने पर।[2]

इ (ण्) परस्मैपदी अनिट्

प्र० पु०	इयाय[3]	ईयतुः[4]	ईयुः
म० पु०	इयेथ, इययिथ	ईयथुः	ईय
उ० पु०	इयाय, इयय	ईयिव	ईयिम

इष्—इयेष। ईषतुः। ईषुः। इयेषिथ। ईषथुः। ईषुः। इयेष। ईषिव। ईषिम।

उख्—उवोख। ऊखतुः। ऊखुः।

उष्—उवोष। ऊषतुः। ऊषुः।

अधि इङ्

३५५—लिट् परे इङ् को गाङ् आदेश होता है।[5]

प्र० पु०	अधिजगे[6]	अधिजगाते	अधिजगिरे
म० पु०	अधिजगिषे[7]	अधिजगाथे	अधिजगिध्वे
उ० पु०	अधिजगे	अधिजगिवहे	अधिजगिमहे

३५६—जिस धातु के बीच में ऐसा 'अ' हो जिसके किसी ओर भी संयोग

---

१. अभ्यासस्यासवर्णे (६।४।७८)।

२. दीर्घ इणः किति (७।४।६९)।

३. यहाँ इ को द्वित्व। अभ्यासोत्तर खण्ड में णल्निमित्तक वृद्धि होकर ऐ को आय् आदेश होता है। अभ्यास से परे असवर्ण अच् (अ) परे होने से अभ्यास के इ को इयङ् होता है।

४. अतुस् के कित् होने से गुण नहीं होता। इ इ अतुस्—यहाँ (७४) से पहले इ को यण् होता है। यण् आङ्ग कार्य है। पीछे अभ्यास को दीर्घ।

५. गाङ् लिटि (२।४।४९)।

६. (२२१) से धातु के 'आ' का लोप।

७. क्रादि नियम से इट्। (२२१) से 'आ' का लोप।

न हो अर्थात् जो एक=अकेले=असंयुक्त हलों के बीच में हो (एक हल्मध्यस्थ हो) और जिसके अभ्यास को रूप बदलने वाला आदेश न हुआ हो, लिट् परस्मैपद कित् प्रत्यय (द्वि० व बहु०) परे रहते उसके 'अ' को 'ए' हो जाता है और साथ ही अभ्यास का लोप हो जाता है।[1] आत्मनेपद में तो असंयोगान्त धातु से सभी प्रत्ययों के अपित् (कित्) होने से सर्वत्र यह कार्य होता है।

शक् परस्मैपदी अनिट्

प्र० पु०	शशाक	शेकतुः	शेकुः
म० पु०	शशक्थ / शेकिथ	शेकथुः	शेक
उ० पु०	शशाक / शशक	शेकिव	शेकिम

इसी प्रकार पच्, पठ्, शप्, यभ्, तन्, नम्, शम्, नश्, पत्, चर्, चल् के परस्मैपद लिट् में 'अ' को 'ए' होकर अभ्यास का लोप हो जाता है। **पपाच। पेचतुः। पेचुः। पपाठ। पेठतुः। पेठुः। शशाप। शेपतुः। शेपुः। ययाभ। येभतुः। येभुः। ततान। तेनतुः। तेनुः। शशाम। शेमतुः। शेमुः। ननाश। नेशतुः। नेशुः। पपात। पेततुः। पेतुः। चचार। चेरतुः। चेरुः। चचाल। चेलतुः। चेलुः** इत्यादि।

३५७—सेट् थल् परे रहते भी ऐसी धातुओं को यह कार्य होगा[2]— **पेचिथ। पपक्थ। पेठिथ। शेपिथ। शशप्थ। येभिथ। ययब्ध। तेनिथ। नेमिथ। ननन्थ। शेमिथ। नेशिथ। ननंष्ठ। पेतिथ। चेरिथ। चेलिथ।**

पच् आत्मने० लिट्

प्र० पु०	पेचे	पेचाते	पेचिरे
म० पु०	पेचिषे	पेचाथे	पेचिध्वे
उ० पु०	पेचे	पेचिवहे	पेचिमहे

सह् आत्मनेपदी सेट्

प्र० पु०	सेहे	सेहाते	सेहिरे

---

१. अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि (६।४।१२०)।

२. थलि च सेटि (६।४।१२१)।

म० पु०	सेहिषे (३१६)[1]	सेहाथे	सेहिध्वे-ढ्वे (२३७)[2]
उ० पु०	सेहे	सेहिवहे	सेहिमहे

३५८—हिंसार्थक राध् के अवर्ण (आ) को 'ए' हो जाता है और अभ्यास का लोप हो जाता है कित्, ङित् लिट् परे होने पर तथा सेट् थल् परे रहते।[3] अप उपसर्ग-पूर्वक ही राध् का हिंसा अर्थ है, केवल का नहीं।

राध् (हिंसार्थक)

प्र० पु०	अपरराध	अपरेधतुः	अपरेधुः
म० पु०	अपरेधिथ	अपरेधथुः	अपरेध
उ० पु०	अपरराध	अपरेधिव	अपरेधिम

३५९—जॄ, भ्रम्, त्रस् के 'अ' के स्थान में विकल्प से एत्व होता है और साथ ही अभ्यास का लोप हो जाता है कित् ङित् लिट् परे होने पर। सेट् थल् परे रहते भी।[4]

प्र० पु०	जजार (वृद्धि)	जजरतुः / जेरतुः	जजरुः / जेरुः
म० पु०	जजरिथ / जेरिथ	जजरथुः / जेरथुः	जजर / जेर

---

१. क्रादि नियम से नित्य इट्।

२. (२३७) से विकल्प से 'ध्' को मूर्धन्य (ढ्) आदेश। यहाँ ह् इण् है। हकारोत्तरवर्ती इ इडागम है।

३. राधो हिंसायाम् (६।४।१२३)। धातुओं के अनेकार्थ होने से राध् यहाँ हिंसा अर्थ में वर्तमान है। अप उपसर्ग इस अर्थ का द्योतक है। राध् में एक-हल्मध्यस्थ अ नहीं, 'आ' है। एत्वाभ्यास-लोप की प्राप्ति नहीं थी। अतः विशेष विधान कर दिया।

४. वा जॄ-भ्रमु-त्रसाम् (६।४।१२५)। जॄ का 'अ' गुण होकर निष्पन्न हुआ है। अतः वक्ष्यमाण शासन (३६३) से एत्वाभ्यास-लोप का निषेध प्राप्त था। भ्रम् का 'अ' एक एकहल्मध्यस्थ नहीं। इस के अभ्यास को भी विकार होता है। अतः एत्वाभ्यासलोप का प्रसङ्ग ही न था। त्रस् में यद्यपि अभ्यास को वैरूप्यापादक आदेश नहीं होता, तथापि 'अ' तो एक-हल्मध्यस्थ नहीं है। अतः यहाँ भी एत्वाभ्यासलोप की प्राप्ति न थी।

भ्रम्

	बभ्राम	बभ्रमतुः भ्रेमतुः	बभ्रमुः भ्रेमुः
प्र० पु०	तत्रास	तत्रसतुः त्रेसतुः	तत्रसुः त्रेसुः

फण् प० सेट्

प्र० पु०	पफाण	पफणतुः फेणतुः	पफणुः फेणुः
म० पु०	पफणिथ फेणिथ	पफणथुः फेणथुः	पफण फेण
उ० पु०	पफाण पफण	पफणिव फेणिव	पफणिम फेणिम

३६०—फण् आदि सात धातुओं के 'अ' को एत्व तथा अभ्यास का लोप विकल्प से होता है कित् ङित् लिट् प्रत्यय परे होने पर तथा सेट् थल् परे होने पर ।[1]

रध्

प्र० पु०	ररन्ध[2]	ररन्धतुः[3]	ररन्धुः
म० पु०	ररद्ध ररन्धिथ [4]	ररन्धथुः	ररन्ध

---

१. फणां च सप्तानाम् (६।४।१२५)। फण्, राज्, भ्राज्, भ्राश्, भ्लाश्, स्यम्, स्वन्—ये सात फणादि हैं। इन सातों में एत्वाभ्यासलोप की प्राप्ति न थी।

२. ररन्ध—यहाँ णल् (अ) प्रत्यय परे (२०६) से नुम् (न्) आगम होता है। धात्वकार के एकहल्मध्यस्थ न होने से एत्वाभ्यास-लोप न हुआ।

३. ररन्धतुः —यहाँ (२०६) से नुम् आगम होने से धातु संयोगान्त हो जाती है। इससे परे अतुस्, उस्, व, म—प्रत्यय जो अपित हैं, कित् नहीं होते। अतः (१३१) से न् का लोप नहीं होता।

४. ररन्धिथ। यहाँ (१६१) से इड् विकल्प होता है। इट् होने पर प्रत्यय (थल्) के अजादि हो जाने से नुम् आगम होता है। इडभाव में नुम्

उ० पु०	ररन्ध	रेध्व ररन्धिव	रेध्म ररन्धिम

राज् (उ०) परस्मै० लिट्

राजृ (राज्) फणादि धातुओं में से एक है।

प्र० पु०	रराज	रराजतुः रेजतुः	रराजुः रेजुः
म० पु०	रराजिथ रेजिथ	रराजथुः रेजथुः	रराज रेज
उ० पु०	रराज	रराजिव रेजिव	रराजिम रेजिम

राज् आत्मनेपदी

रराजे रेजे	रराजाते रेजाते	रराजिरे रेजिरे

इसी प्रकार भ्राज्, भ्राश्, भ्लाश्, स्यम्, स्वन्—इन फणादि धातुओं के आ, अ को एत्व तथा अभ्यास का लोप विकल्प से होता है। **बभ्राज, भ्रेजे। बभ्राशे, भ्रेशे। बभ्लाशे, भ्लेशे। सस्यमतुः, स्येमतुः। सस्वनतुः, स्वेनतुः।**

यहाँ आत्मनेपद में सभी जगह 'अ' को 'ए' तथा अभ्यास का लोप हुआ है कारण कि असंयोगान्त धातु से परे अपित् लिट् प्रत्यय कित् होते हैं और आत्मनेपद प्रत्यय सभी अपित् हैं। ऐसा ही पच्, शप्, तन्, मन्, पद्, रभ्, लभ् के लिट् आत्मनेपद में रूप जानो—**पेचे। पेचाते। पेचिरे। शेपे। शेपाते। शेपिरे। तेने। तेनाते। तेनिरे। मेने। मेनाते। मेनिरे। पेदे। पेदाते। पेदिरे। रेभे। रेभाते। रेभिरे। लेभे। लेभाते। लेभिरे**—इत्यादि।

३६१—तॄ, फल्, भज्, त्रप्—इन के 'अ' को एत्व तथा इन के अभ्यास का लोप होता है कित् लिट् तथा सेट् थल् परे रहते।[1]

की प्राप्ति ही नहीं। सेट् थल् परे एत्वाभ्यासलोप होता है, अतः उसकी भी प्राप्ति नहीं।(पृ० १५७ टि०)से थ् को ध् होकर पूर्व ध् को जशत्व से द् होकर 'ररद्ध' रूप सिद्ध होता है। व, म परे होने पर जिस पक्ष में इट् और नुम् नहीं होते उसमें रध्-रध् व, रध्-रध् म इस स्थिति में एत्वाभ्यासलोप की प्राप्ति स्पष्ट है। जिस से रेध्व, रेध्म इष्ट रूप सिद्ध होते हैं।

१. तॄ-फल-भज-त्रपश्च (६।४।१२२)।

तॄ परस्मैपदी सेट्

प्र० पु०	ततार	तेरतुः	तेरुः
म० पु०	तेरिथ	तेरथुः	तेर
उ० पु०	ततार / ततर	तेरिव	तेरिम

इसी प्रकार फल्, भज् और त्रप् भ्वा० आ०) के रूप जानो। **पफाल। फेलतुः। फेलुः। बभाज। भेजतुः। भेजुः। भेजे। भेजाते। भेजिरे। त्रेपे। त्रेपाते। त्रेपिरे** इत्यादि।

३६२—श्रन्थ्, ग्रन्थ्, दम्भ्, स्वञ्ज्—इन संयोगान्त धातुओं से भी परे अपित् लिट् को व्याकरणान्तर में विकल्प से कित् माना गया है।[1] भाष्य में **देभतुः, सस्वजे** इन प्रयोगों के मिलने से एकदेशानुमति द्वारा श्रन्थ् आदि के विषय में वैकल्पिक कित्त्व भाष्यकार को अभिमत है, ऐसा हम जानते हैं।

अतः हरदत्त आदि के अनुसार एत्व व अभ्यास लोप भी यहाँ इष्ट ही हैं ऐसा स्वीकार करके इन धातुओं के ऐसे रूप होंगे—

प्र० पु०	**शश्रन्थ**	**शश्रन्थतुः / श्रेथतुः**[2]	**शश्रन्थुः / श्रेथुः**
म० पु०	**शश्रन्थिथ**	**शश्रन्थथुः / श्रेथथुः**	**शश्रन्थ / श्रेथ**
उ० पु०	**शश्रन्थ**	**शश्रन्थिव / श्रेथिव**	**शश्रन्थिम / श्रेथिम**

ग्रन्थ्

प्र० पु०	**जग्रन्थ**	**जग्रन्थतुः / ग्रेथतुः**	**जग्रन्थुः / ग्रेथुः**
म० पु०	**जग्रन्थिथ** इत्यादि।		

दम्भ्

प्र० पु०	**ददम्भ**	**ददम्भतुः / देभतुः**	**ददम्भुः / देभुः**
म० पु०	**ददम्भिथ** इत्यादि।		

---

१. श्रन्थि-ग्रन्थि-दम्भि-स्वञ्जीनां लिटः कित्त्वं वेति वक्तव्यम्। (वा०)

२. कित्त्व पक्ष में न् का लोप, एत्वाभ्यासलोप।

३६३—शस् हिंसा करना, भ्वा०, दद् धारण करना, भ्वा० आ०, वकारादि धातु तथा वे धातुएँ जिनका 'अ' गुण-विधि से सम्पन्न हुआ है—के 'अ' को एत्व और अभ्यास का लोप नहीं होता।[1]

	शस् प०			दद् आ०	
१ शशास	शशसतुः	शशसुः	ददर्दे	ददाते	ददिरे
२ शशसिथ	शशसथुः	शशस	ददिषे	ददाथे	ददिध्वे
३ शशास / शशस	शशसिव	शशसिम	ददे	ददिवहे	ददिमहे

	वम्			विशॄ	
१ ववाम	ववमतुः	ववमुः	विशशार	विशशरतुः	विशशरुः
२ ववमिथ	ववमथुः	ववम	विशशरिथ	विशशरथुः	विशशर
३ ववाम / ववम	ववमिव	ववमिम	विशशार (वृद्धि)	विशशरिव	विशशरिम

लू, पू को थल् पर होने पर गुण होकर 'अ' निष्पन्न हो जाता है—**लुलविथ। पुपविथ।** इस प्रकार गुण विधि से निष्पन्न हुए 'अ' को एत्व नहीं होता और तत्संनियुक्त अभ्यास-लोप भी नहीं होता है। शस्, दद्, वम् के अभ्यास को वैरूप्य सम्पादक आदेश नहीं हुआ है, अतः एत्वाभ्यास लोप की प्राप्ति थी।

३६४—शॄ, दॄ, पॄ—इन अङ्गों को लिट् परे रहते विकल्प से ह्रस्व हो जाता है।[2]

वि पूर्वक—

शॄ

प्र० पु०	विशशार	विशशरतुः / विशश्रतुः	विशशरुः / विशश्रुः
म० पु०	विशशरिथ / विशशर्थ	विशशरथुः / विशश्रथुः	विशशर / विशश्र
उ० पु०	विशशार / विशशर	विशशरिव / विशश्रिव (३१९)	विशशरिम / विशश्रिम

दॄ

वि-पूर्वक—

१. न शस-दद-वादि-गुणानाम् (६।४।१२६)।

२. शॄ-दॄ-प्रां ह्रस्वो वा (७।४।१२)।

	विददार	विददरतुः विदद्रतुः (३१६)	विददरुः विदद्रुः

पॄ

नि-पूर्वक—

१.	निपपार	निपपरतुः निपप्रतुः	निपपरुः निपप्रुः

ऊर्णु (ञ्) लिट् प०

१.	ऊर्णुनाव[1]	ऊर्णुनुवतुः	ऊर्णुनुवुः
२.	ऊर्णुनविथ ऊर्णुनुविथ	(१९६)ऊर्णुनुवथुः	ऊर्णुनुव
३.	ऊर्णुनाव ऊर्णुनव	ऊर्णुनुविव[2]	ऊर्णुनुविम

लिट् आत्मनेपद

१.	ऊर्णुनुवे	ऊर्णुनुवाते	ऊर्णुनुविरे
२.	ऊर्णुनुविषे	ऊर्णुनुवाथे	ऊर्णुनुविध्वे ऊर्णुनुविढ्वे
३.	ऊर्णुनुवे	ऊर्णुनुविवहे	ऊर्णुनुविमहे

दे (ङ्) रक्षा करना

३६५—लिट् प्रत्यय परे रहते देङ् को 'दिगि' आदेश होता है और द्विर्वचन नहीं होता[3]—

---

१. (२८०) से 'नु' को द्वित्व होता है। संयोग का आदि होने से रेफ-सहित 'नु' को नहीं। धातु में णत्व सांहितिक है (सन्धि से बना है)। षाष्ठ द्वित्व की कर्तव्यता में यह आष्टमिक णत्व असिद्ध है, अतः 'नु' को द्विर्वचन होता है। पूर्वत्रासिद्धीयमद्विर्वचने—यह परिभाषा अनित्य होने से प्रवृत्त नहीं हुई।

२. असंयोगान्त धातु से परे होने से व, म नित्य कित् हैं। अतः इन से पूर्व उवङ् ही होगा, गुण नहीं। (१९६) से पाक्षिक ङित्त्वाभाव होने पर भी कित्त्व से गुण का प्रतिषेध हो जाता है। सभी आत्मनेपद प्रत्यय अपित् हैं। अतः ऊर्णु से परे सभी कित् हैं। सो यहाँ सर्वत्र गुणाभाव रहा और उवङ् हुआ।

३. दयते र्दिगि लिटि (७।४।९)।

१.	**अवदिग्ये**	**अवदिग्याते**	**अवदिग्यिरे**
२.	**अवदिग्यिषे**	**अवदिग्याथे**	**अवदिग्यिध्वे-ढ्वे**

इत्यादि। अव उपसर्ग-सहित रूप दिये हैं।

३६६—अजादि कित्, ङित् लिट् प्रत्यय को युट् (य्) आगम होता है। यह आगम टित् होने से प्रत्यय के आदि में होता है।[1]

उप-पूर्वक्—

दी (ङ्) क्षीण होना

१.	**उपदिदीये** (इयङ्)[2]	**उपदिदीयाते**	**उपदिदीयिरे**
२.	**उपदिदीयिषे**	**उपदिदीयाथे**	**उपदिदीयिध्वे-ढ्वे**

प्यायी (प्याय्)

३६७—लिट् और यङ् परे रहते प्याय् धातु को 'पी' आदेश होता है।[3]

१.	**पिप्ये**[4]	**पिप्याते**	**पिप्यिरे**
२.	**पिप्यिषे**	**पिप्याथे**	**पिप्यिध्वे** / **पिप्यिढ्वे** [5]
३.	**पिप्ये**	**पिप्यिवहे**	**पिप्यिमहे**

३६८ (क)—अज् को आर्धधातुक प्रत्यय की विवक्षा में 'वी' आदेश होता है, घञ् व अप् प्रत्यय के विषय में यह आदेश नहीं होता।[6]

(ख)—वलादि आर्धधातुक के विषय में अज् को 'वी' विकल्प से होता है।[7]

अज् जाना, फैंकना, परस्मै० लिट्

१	**विवाय**[8]	**विव्यतुः**[9]	**विव्युः**

१. दीङो युडचि क्ङिति (६।४।६३)।

२. दीङ् का प्रायः उपपूर्वक प्रयोग देखा जाता है, उपसर्गान्तर-योग विरल है।

३. लिड्-यङोश्च (६।१।२९)। 'पी' होने पर द्वित्व सावकाश है, अतः हो जाता है। पुनः प्रसङ्गविज्ञानात् सिद्धम्।

४. (१११) से यण्।

५. (२३७) से विकल्प से मूर्धन्यादेश।

६. अजे र्व्यघञपोः (२।४।५६)।

७. बलादावार्धधातुके वेष्यते (वा०)।

८. (११६) से अभ्यास को ह्रस्व।

९. (१११) से यण्।

२	विवयिथ विवेथ आजिथ [1]	विव्यथुः	विव्य
३	विवाय विवय	विव्यिव आजिव	विव्यिम आजिम

३६९—चक्षिङ् (चक्ष् अदा० आ०) को लिट् में विकल्प से ख्याञ् आदेश होता है।[2] ख्याञ् को ञित् पढ़ा है। इसका स्थानी ङित् है। इस कारण ख्या से नित्य आत्मनेपद नहीं होता। यदि ऐसा हो ख्याञ् को ञित् पढ़ना व्यर्थ हो जाए। चक्षिङ् को क्शाञ् आदेश भी इष्ट है। ख् को चर्त्व विधि से क् हो जाता है। चक्शौ। चक्शे इत्यादि।

१ चचक्षे	**चचक्षाते**	**चचक्षिरे**	**चख्यौ**	**चख्यतुः**	**चख्युः**
२ चचक्षिषे	**चचक्षाथे**	**चचक्षिध्वे**	**चख्याथ** **चख्यिथ**	**चख्यथुः** (२२१)	**चख्य**
३ चचक्षे	**चचक्षिवहे**	**चचक्षिमहे**	**चख्यौ**	**चख्यिव**	**चख्यिम**

चक्ष् तथा ख्या के साथ प्रायः आङ्, प्र आदि उपसर्गों का योग होता है।

कर्तृगामी फल की विवक्षा में ख्याञ् से आत्मनेपद होगा—

प्र० पु० **चख्ये**	**चख्याते**	**चख्यिरे**
म० पु० **चख्यिषे**	**चख्याथे**	**चख्यिध्वे** **चख्यिढ्वे**
उ० पु० **चख्ये**	**चख्यिवहे**	**चख्यिमहे**

स्वञ्ज् भ्वा आ०

प्र० पु० म० पु०	**सस्वजे** **सस्वञ्जे**	**सस्वजाते** **सस्वञ्जाते**	**सस्वजिरे** **सस्वञ्जिरे**

संयोगान्त होने पर भी स्वञ्ज् से परे अपित् लिट् प्रत्ययों को विकल्प से कित् माना जाता है।

परिपूर्वक—

परिषस्वजे, परिषस्वञ्जे इत्यादि।

---

१. थल् बलादि प्रत्यय है, अतः अज् को 'वी' विकल्प से हुआ। इसी प्रकार व, म परे रहते भी। अन्यत्र सर्वत्र 'वी' हुआ।

२. वा लिटि (२।४।५५)।

३७०—दीर्घी भूत अकार से परे द्विहल् (दो व्यञ्जनों वाली) धातु को नुट् (न्) आगम होता है।[1]

अर्च्

प्र० पु० **आनर्च** (अभ्यास-दीर्घ, नुट्)। **आनर्चतुः** **आनर्चुः**

म० पु० **आनर्चिथ** इत्यादि।

इसी प्रकार अर्ज्, अर्द्, अर्ह्, अञ्च्, अञ्ज् के रूप जानो—आनर्ज। आनर्द। आनर्ह। आनञ्च। आनञ्ज। 'आनर्च' आदि में (३२७) से अभ्यास के 'अ' को दीर्घ होकर उत्तरवर्ती 'अ' को नुट् (न्) आगम होता है (३७०)।

परन्तु अज्, अट्, अण्, अत्, अन्, अल्, अश् (क्र्या०), अस् (दिवा०)—इन धातुओं को दीर्घीभूत अकार से परे नुट् नहीं होता, कारण कि ये द्विहल् नहीं हैं—**आजिथ। आजिव। आजिम। आजिम।**

ऋ के एकदेश रेफ सदृश वर्ण को स्वतन्त्र वर्ण (र्) मानकर धातु द्विहल् (दो हलों वाली) बन जाती है, इससे उसे नुट् (=न्) आगम प्राप्त हो जाता है।

ऋच्

प्र० पु० **आनर्च** (गुण) **आनृचतुः** **आनृचुः**

म० पु० **आनर्चिथ** इत्यादि।

इसी प्रकार ऋध् के रूप जानो। ऋत् सौत्र धातु है।[2] 'ऋतेरीयङ्' से ईयङ् स्वार्थ में होता है। ईयङ् आय आदि प्रत्ययों में से एक है। आर्धधातुक प्रत्यय परे रहते आय आदि प्रत्यय विकल्प से होते हैं। जिस पक्ष में इससे ईयङ् (ईय) प्रत्यय नहीं आता, उसमें णल् आदि लिट् प्रत्ययों के परे रहते अभ्यास को दीर्घ होने पर नुट् होकर **आनर्त। आनृततुः। आनर्तिथ** इत्यादि रूप होंगे।

---

१. तस्मान्नुड् द्विहलः (८।४।७१)।

२. ऋत् धातुपाठ में नहीं पढ़ी है। इसे ऋतेरीयङ् (३।१।२९) इस सूत्र में ही पढ़ा है। अतः यह सौत्र है। इससे कर्तरि शप् आता है। ईयङ् के ङित् होने से आत्मनेपद आता है—ऋतीयते। ऋत् का 'घृणा' अर्थ समझा जाता है। कुछ लोग इसका 'कृपा' अर्थ समझते हैं।

ऋच्छ्

आनर्छ[1] । **आनर्छतुः । आनर्छुः** । ऋच्छ् को कित् प्रत्यय परे रहते भी गुण होता है ।[2]

ऋध् (दिवा० स्वा)

प्र० पु०	**आनर्ध**	**आनृधतुः**	**आनृधुः**
म० पु०	**आनर्धिथ**	**आनृधथुः**	**आनृध**
उ० पु०	**आनर्ध**	**आनृधिव**	**आनृधिम**

आनर्ध—यहां ऋध् को द्वित्व होने पर हलादिः शेषः से ऋ शेष रह जाने पर, उसे उरत् से रपर अ (अर्) हो जाने पर पुनः हलादिः शेषः से र् की निवृत्ति हो जाने पर अभ्यास 'अ' को दीर्घ होता है। दीर्घीभूत इस 'अ' से परे अभ्यासोत्तर-खण्ड को गुण होने से धातु द्विहल् बन जाती है। तब नुट् आगम होता है। अतुस् आदि के कित् होने से गुण के अभाव में धातु द्विहल् नहीं है तो नुट् की प्राप्ति नहीं। अतः नुट् की प्राप्ति के लिए ऋध् के ऋ के एकदेश रेफ सदृश वर्ण को स्वतन्त्र र् मानकर धातु द्विहल् समझी जाती है।

अशू (अश्) व्याप्त करना, स्वा०, आ०

३७१—यद्यपि अश् द्विहल् नहीं है तो भी इसे अभ्यास 'अ' के दीर्घ होने पर नुट् का आगम होता ही है[3]—

प्र० पु०	**आनशे**	**आनशाते**	**आनशिरे**
(वि-पूर्वक)	**व्यानशे**	**व्यानशाते**	**व्यानशिरे**

---

१. ऋच्छ् को द्वित्व होने पर अभ्यास को हलादिः शेष से ऋ रह जाने पर उरत् (७।४।६६) से अर् हो जाने पर, पुनः हलादिःशेष होने पर 'अ' को (३२७) से दीर्घ 'आ' हो जाता है। तब नुट् होकर आ न् ऋच्छ अतुस् यहाँ गुण होकर आनर्छतुः इत्यादि रूप सिद्ध होते हैं। गुण से ह्रस्व 'ऋ' की निवृत्ति होने पर तन्निमित्तक तुक् की भी निवृत्ति हो गई।

२. ऋच्छत्यॄतां गुणः (७।४।११)। इस सूत्र को यहाँ ऋ धातु के लिट्-प्रत्ययान्त रूपों की सिद्धि में दे चुके हैं। णल्, थल् परे होने पर भी इक् उपधा न होने से गुण की प्राप्ति न थी।

३. अश्नोतेश्च (७।४।७२)।

म० पु० **श्रानशिषे इत्यादि ।**

(विपूर्वक) **व्यानशिषे** इत्यादि ।

अब हम एक दूसरे प्रकार के लिट् प्रत्ययान्त रूपों का निरूपण करते हैं। यहाँ धातु से सीधे णल् आदि प्रत्यय नहीं होते, किन्तु धातु से आम् प्रत्यय होता है ।

३७२—कास् धातु तथा प्रत्ययान्त अथवा अनेकाच् धातु से आम् विधान किया है, पर यह आम् मन्त्र-संहिताओं (ऋक् संहिता आदि) में नहीं होता।[1] आम् से परे लिट् का लावस्था में ही लुक् हो जाता है।[2] आम् आर्धधातुक कृत् प्रत्यय है, मकारान्त होने से अव्यय है सो इससे परे आई सुप्-विभक्ति का लुक् हो जाता है।

३७३—आमन्त से कृ, भू, अस् धातुओं के लिडन्त रूप लगा दिए जाते हैं।[3]

३७४—आम् प्रत्यय की प्रकृति (जिससे आम् आया हो) यदि आत्मनेपदी है तो अनुप्रयुक्त कृ से आत्मनेपद होता है, अन्यथा परस्मैपद।[4] भू और अस् के तो यथाप्राप्त परस्मैपद लिडन्त रूप का ही अनुप्रयोग होता है, आम् की प्रकृति चाहे आत्मनेपदी हो। यहाँ अस् को लिट् प्रत्यय परे रहते 'भू' आदेश नहीं होता, भू का पृथक् ग्रहण होने से।

आम् प्रत्यय वाले लिट् प्रयोग मन्त्र-संहिताओं में नहीं मिलते, हाँ ब्राह्मण ग्रन्थों में पाए जाते हैं। लोक में तो इनका प्रयोग यत्र-तत्र मिलता है। पर आम् प्रत्यय लोक में भी सभी धातुओं से नहीं आता। प्रायः अनेकाच् धातुओं

---

१. कास्प्रत्ययादाममन्त्रे लिटि (३।१।३५)। कास्यनेकाज्ग्रहणं कर्त्तव्यं चुलुम्पाद्यर्थम् (वा०)।

२. आमः (२।४।८१)।

३. कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि (३।१।४०)।

४. आम्प्रत्ययवत् कृञोऽनुप्रयोगस्य (१।३।६३)।

आम् प्रत्यय के विषय में आचार्य कास्प्रत्ययादाममन्त्रे लिटि (३।१।३५) सूत्र पढ़ते हैं। अर्थ है—लिट् प्रत्यय परे रहते कासृ (भ्वा० आ०), तथा प्रत्ययान्त धातुओं से आम् प्रत्यय होता है, पर मन्त्र में नहीं। यह सामान्य विधि है।

से आता है। सन्, क्यच्, काम्यच्, क्यङ्, णिच्, यङ्, णिङ् आदि प्रत्ययों के आने से उपदेश में एकाच् धातुएँ भी अनेकाच् हो जाती हैं।

३७५—वार्त्तिककार सूत्र में 'प्रत्ययात्' के स्थान में 'अनेकाचः' पढ़ते हैं जिससे जो चुलुम्प् आदि धातुएँ स्वरूप से अनेकाच् हैं उनसे भी आम् हो सके। कास्यनेकाज्ग्रहणं कर्तव्यं चुलुम्पाद्यर्थम् (वा०)। कुछ धातुएँ जो एकाच् हैं उनसे भी आम् आता है जैसे—दय्, अय्, आस्।[1]

३७६—जो इजादि (इच्-आदि) हैं और गुरुमान् (जिनका लघु अच् संयोग परे होने से गुरु है अथवा जो स्वरूप से दीर्घ हैं अतएव गुरु हैं) हैं उनके एकाच् होने पर भी उनसे आम् प्रत्यय आता है[2] जैसे—इन्द्, उन्द्, उज्झ्, उब्ज्, उर्द्, ईह्, ईक्ष्, ऊह्, एध् इत्यादि।

३७७—कुछ ऐसी भी हैं जिनसे आम् प्रत्यय विकल्प से आता है जैसे—उष्, विद्, जागृ (अनेकाच्)।[3]

३७८—भी, ह्री, भृ, हु—से भी आम् प्रत्यय विकल्प से आता है, साथ ही आम् प्रत्यय परे रहते धातु को द्वित्व होता है[4] जैसे श्लु परे रहते होता है।

३७९—भृ के अभ्यास के 'अ' को 'इ' भी होता है जैसे 'श्लु' प्रत्यय परे रहते होता है।[5]

३८०—णि को अय् आदेश होता है आम्, अन्त, आलु, आय्य, इत्नु, इष्णु प्रत्ययों के परे रहते। यह (२७७) का अपवाद है।[6]

---

१. दयायासश्च (३।१।३७)।

२. इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः (३।१।३६)।

३. उष-विद-जागृभ्योऽन्यतरस्याम् (३।१।३८)।

४. भी-ह्री-भृ-हुवां श्लुवच्च (३।१।३९)।

५. भृञामित् (७।४।७६)। इसे हम जुहोत्यादिगण में 'भृ' की रूप-रचना में दे चुके हैं।

६. अयाऽऽमन्ताल्वाय्येत्न्विष्णुषु (६।४।५५)। चोरि (ण्यन्त धातु)—आम्। यहाँ अनिडादि आर्धधातुक प्रत्यय आम् परे होने पर (२७७) से णिच् का लोप प्राप्त हुआ। यह लोप ण्यल्लोपावियङ्यण्-गुण-वृद्धि-दीर्घेभ्यः पूर्वविप्रतिषेधेन इस वचन से गुण को बाधकर प्राप्त होता है। लोप-प्रसङ्ग में यह आदेश-विधान किया है।

प्रत्ययान्त धातुओं के रूप

प्र० पु०	चोरयाञ्चकार	चोरयाञ्चक्रतुः	चोरयाञ्चक्रुः
म० पु०	चोरयाञ्चकर्थ	चोरयाञ्चक्रथुः	चोरयाञ्चक्र
उ० पु०	चोरयाञ्चकर चोरयाञ्चकार	चोरयाचकृव	चोरयांचकृम

आत्मनेपद

प्र० पु०	चोरयाञ्चक्रे	चोरयाञ्चक्राते	चोरयाञ्चक्रिरे
म० पु०	चोरयाञ्चकृषे	चोरयाञ्चक्राथे	चोरयाञ्चकृढ्वे
उ० पु०	चोरयाञ्चक्रे	चोरयाञ्चकृवहे	चोरयाञ्चकृमहे

(लिट् परक 'भू' का अनुप्रयोग)

प्र० पु०	चोरयाम्बभूव	चोरयाम्बभूवतुः	चोरयाम्बभूवुः
	चोरयाम्बभूविथ		

(लिट् परक अस् का अनुप्रयोग)

प्र० पु०	चोरयामास	चोरयामासतुः	चोरयामासुः
	चोरयामासिथ इत्यादि ।		

(लिट् परक कृ का अनुप्रयोग)

कृ-सन्=चिकीर्ष—	चिकीर्षाञ्चकार	चिकीर्षाञ्चक्रे
श्रु-सन्=शुश्रूष—शुश्रूषाञ्चक्रे	शुश्रूषाम्बभूव	शुश्रूषामास
दृश्-सन्=दिदृक्ष—दिदृक्षाञ्चक्रे	दिदृक्षाम्बभूव	दिदृक्षामास
पुत्रीय—पुत्रीयाञ्चकार	पुत्रीयाम्बभूव	पुत्रीयामास

गुप्—गोपाय (आय प्रत्ययान्त)—

गोपायाञ्चकार	गोपायाम्बभूव	गोपायामास

,, — (आय प्रत्यय के अभाव में)—

जुगोप	जुगुपतुः	जुगुपुः इत्यादि ।
लू-यङ्=लोलूय— लोलूयाञ्चक्रे	लोलूयाञ्चक्राते	लोलूयाञ्चक्रिरे
कम्-णिङ्=कामि—कामयाञ्चक्रे[1]	कामयाम्बभूव	कामयामास

णिङ् प्रत्यय के अभाव मे—

चकमे	चकमाते	चकमिरे

कास् (खाँसना) आत्मने०

---

१. (३८०) से णि को अय् आदेश होता है।

	कासाञ्चक्रे	कासाम्बभूव	कासामास

चकास् (चकासृ, चमकना)

	चकासाञ्चकार	चकासाम्बभूव	चकासामास

चुलुम्प्

	चुलुम्पाञ्चकार	चुलुम्पाम्बभूव	चुलुम्पामास
भी	बिभाय[1]	बिभ्यतुः (यण्)[2]	बिभ्युः
	बिभयाञ्चकार	विभयाम्बभूव	बिभयामास
ह्री	जिह्राय	जिह्रियतुः (इयङ्)[3]	जिह्रियुः
	जिह्रयाञ्चकार[4]	जिह्रयाम्बभूव	जिह्रयामास
भृ	बभार	बभ्रतुः	बभ्रुः
	बभर्थ इत्यादि ।		
	बिभराञ्चकार	बिभराम्बभूव	बिभरामास
हु	जुहाव	जुहुवतुः (उवङ्)	जुहुवुः
	जुहोथ / जुहविथ	इत्यादि ।	
	जुहवाञ्चकार (गुण)	जुहवाम्बभूव	जुहवामास

दय् (रक्षा करना, आ०)

	दयाञ्चक्रे	दयाम्बभूव	दयामास

अय् (जाना, आ०)

	अयाञ्चक्रे	अयाम्बभूव	अयामास

आस् (बैठना आ०)

	आसाञ्चक्रे	आसाम्बभूव	आसामास
इन्द्—	इन्दाञ्चकार	इन्दाम्बभूव	इन्दामास ।

उन्द् (भिगोना)—

	उन्दाञ्चकार	उन्दाम्बभूव	उन्दामास ।

उर्द् (मापना, खेलना)—

१. अभ्यास को (११६) से ह्रस्व होता है ।

२. द्वित्व होने पर धातु अनेकाच् हो जाती है, तब इसके अन्त्य ई को (१११) से यण् होता है । यह इयङ् का अपवाद है ।

३. धातु का ईकार संयोगपूर्व है, अतः यण् न होकर इयङ् ही होता है ।

४. आम आर्धधातुक कृत्प्रत्यय है अतः इससे पूर्व धातु को गुण होता है ।

ऊर्दाञ्चकार ऊर्दाम्बभूव ऊर्दामास।

यहाँ उपधा में जो रेफ (अन्यत्र वकार भी) है, उससे पूर्व इक् को दीर्घ हो जाता है (३७)।

ईह्- ईहाञ्चक्रे ईहाम्बभूव ईहामास

इसी प्रकार ऊह्, एध् आदि के रूप जानो। ऊहाञ्चक्रे। एधाञ्चक्रे। उष् (जलाना)।

	उवोष (३५३)	ऊषतुः	ऊषुः
	ओषाञ्चकार	ओषाम्बभूव	ओषामास
विद्	विवेद	विविदतुः	विविदुः
	विवेदिथ इत्यादि।		
	विदाञ्चकार	विदाम्बभूव	विदामास

आम् प्रत्यय परे विद् अदन्त निपातन किया है अतः उपधागुण की प्राप्ति नहीं। पूर्व विधि (विद् के इकार को गुण) की कर्तव्यता में परनिमित्तक (पर आर्धधातुक प्रत्यय को मान कर हुआ) 'अ' का लोप (४२) से स्थानिवत् हो जाता है।

जागृ

प्र० पु०	जजागार[1]	जजागरतुः[2]	जजागरुः
म० पु०	जजागरिथ[3]	जजागरथुः	जजागर
उ० पु०	जजागार	जजागरिव	जजागरिम
	जागराञ्चकार।	जागराम्बभूव	जागरामास

प्रयोगमाला (बुद्धचरित से संगृहीत)

१. मध्यस्थतां तस्य रिपुर्जगाम मध्यस्थभावः प्रययौ सुहृत्त्वम्।
विशेषतो दार्ढ्यमियाय मित्रं द्वावस्य पक्षावपरस्तु नास ॥२।६॥

उस (महाराज शुद्धोदन) के शत्रु मध्यस्थता को प्राप्त हो गए, जो

---

१. जजागार में वृद्धि होती है। जागृ को गुण विधान करने वाला शास्त्र णल् के विषय में गुण विधान नहीं करता।

२. कित् प्रत्यय परे होने पर (२५१) से जागृ को गुण होता है।

३. जागृ अनेकाच् होने से सेट् है।

मध्यस्थ थे वे मैत्री को प्राप्त हो गए, जो पहले से मित्र थे वे अधिक दृढ़ मित्र हो गए (इस प्रकार) उसके दो ही पक्ष थे, तीसरा कोई नहीं था।

२. कश्चित्सिषेवे रतये न कामं कामार्थमर्थं न जुगोप कश्चित्।
कश्चिद् धनार्थं न चचार धर्मं धर्माय कश्चिन्न चकार हिंसाम् ॥२।१४॥

(महाराज शुद्धोदन की प्रजाओं में) कोई भी (केवल) रति के लिये काम का सेवन नहीं करता था, कोई भी कामपूर्ति के लिए धन को नहीं बचाता था, कोई भी धन के लिए धर्माचरण (यज्ञादि) नहीं करता था और कोई भी धर्माचरण (यज्ञादि) के लिए हिंसा नहीं करता था।

३. तदा हि तज्जन्मनि तस्य राज्ञो मनोरिवादित्यसुतस्य राज्ये।
चचार हर्षः प्रणनाश पाप्मा जज्वाल धर्मः कलुषं शशाम ॥२।१६॥

तब महात्मा बुद्ध के जन्म पर उस राजा के राष्ट्र में जैसे विवस्वत्पुत्र मनु के राष्ट्र में, हर्ष फैल गया, पाप नष्ट हो गया, धर्म चमक उठा, अधर्म शान्त हो गया।

४. नृपस्तु तस्यैव विवृद्धिहेतोस्तद्भाविनार्थेन च चोद्यमानः।
शमेऽभिरेमे विरराम पापाद् भेजे दमं संविबभाज साधून् ॥२।३३॥

महाराज (शुद्धोदन) उस (पुत्र) की वृद्धि के निमित्त तथा भावी अर्थ से प्रेरित हो शम में अभिरत हो गये, पापाचरण से विरत हो गये, दम (बाह्येन्द्रिय दमन) में प्रवृत्त हो गये तथा सज्जनों को दान देने में प्रवृत्त हो गये।

५. सान्त्वं बभाषे न च नार्थवद्यज्जजल्प तत्त्वं न च विप्रियं यत्।
सान्त्वं ह्यतत्त्वं परुषं च तत्त्वं ह्रियाऽशकन्नात्मन एव वक्तुम् ॥२।३८॥

महाराज शुद्धोदन मीठा बोलते थे पर मिथ्या नहीं, सच कहते थे पर कड़वा नहीं। माधुर्य-युक्त असत्यवचन अथवा पारुष्य-युक्त सत्यवचन वे अपने से लजाते हुए बोल ही नहीं सकते थे।

६. तत्याज शस्त्रं विममर्श शास्त्रं शमं सिषेवे नियमं विषेहे।
वशीव कंचिद्विषयं न भेजे पितेव सर्वान् विषयान्ददर्श ॥२।५२॥

(महाराज शुद्धोदन) ने शस्त्र त्याग दिया, शास्त्र-विचार प्रारम्भ किया, मन को शान्त किया, नियमों का विशेष रूप से सेवन किया। अपने आप पर पूर्ण वश रखते हुए उसने पांच विषयों में से किसी विषय का भी सेवन नहीं किया और पिता की तरह सब विषयों (देशों) की देखभाल की।

७. हतत्विषोऽन्याः शिथिलांसबाहवः
स्त्रियो विषादेन विचेतना इव ।
न चुक्रुशु र्नाश्रु जहु र्न शश्वसुर्
न चेलुरासु लिखिता इव स्थिताः ॥८।२५॥

दूसरी निस्तेज, ढीले स्कन्ध तथा बाहों वाली, शोक से बेसुध सी हुई स्त्रियां न तो चिल्लाईं, न उन्होंने आह भरी, न हिल जुल की, वे चित्रार्पित सी निश्चेष्ट रहीं ॥

८. इतीह देवी पतिशोकमूर्छिता रुरोद दध्यौ विललाप चासकृत् ।
स्वभावधीरापि हि सा सती शुचा धृतिं न सस्मार चकार नो ह्रियम्
॥८।७०॥

इस अवसर पर यशोधरा देवी पति वियोग के शोक से मूर्छित हो रोई, चिन्तत हुई और उसने अनेक बार विलाप किया । स्वभाव से धीर होती हुई भी वह शोक के कारण धैर्य को भूल गई और लज्जा को भी छोड़ गई ॥

९. तं प्रेक्ष्य योऽन्येन ययौ स तस्थौ
यस्तत्र तस्थौ पथि सोऽन्वगच्छत् ।
द्रुतं ययौ यः स जगाम धीरं
यः कश्चिदास्ते स्म स चोत्पपात ॥१०।४॥

जो दूसरे के साथ जा रहा था, वह उसे (सिद्धार्थ को) देखकर ठहर गया । जो वहां ठहरा हुआ था वह मार्ग में उसके पीछे चल पड़ा । जो तेजी से चल रहा था वह (उसके साथ) धीरे चलने लगा । जो कोई बैठा था वह (उसके साथ चलने के लिये) उठ खड़ा हुआ ॥

१०. तं प्रेक्ष्य मारस्य च पूर्वरात्रे शाक्यर्षभस्यैव च युद्धकालम् ।
न द्यौश्चकाशे पृथिवी चकम्पे प्रजज्वलुश्चैव दिशः सशब्दाः ॥१३।२८॥

कामदेव तथा सिद्धार्थ के बीच रात्रि प्रथम भाग में होने वाले युद्ध के समय को देख कर आकाश प्रकाश-रहित हो गया, भूमि कांप उठी और दिशाएँ शब्द करती हुई जलने लगीं ॥

११. विष्वग्ववौ वायुरुदीर्णवेगस्तारा न रेजु र्न बभौ शशाङ्कः ।
तमश्च भूयो विततान रात्रिः सर्वे च संचुक्षुभिरे समुद्राः ॥१३।२९॥

चारों ओर जोर की आँधी चली, न तारे चमके, न चन्द्रमा । रात का अन्धेरा बहुत अधिक फैल गया, सभी समुद्र क्षुभित हो गये ॥

१२. तेषां प्रणादैस्तु तथाविधैस्तैः सर्वेषु भूतेष्वपि कम्पितेषु ।
मुनि र्न तत्रास न संचुकोच रवैं गंरुत्मानिव वायसानाम् ।। (१३।५४)

उन भूतों के उस प्रकार के उच्च नादों से सभी प्राणी जब काँप उठे, तब शाक्यमुनि न डरा, न सहमा जैसे कौओं के आक्रोश से गरुड़ न तो डरता है और न सहमता है ।।

इति लिड्-निरूपणं पर्यवसितम् ।

आशीर्लिङ् निरूपण

३८१—आशीर्वाद अर्थ में जो लिङ् प्रयुक्त होता है उसके आदेश तिङ् की अर्धधातुक संज्ञा है।[1]

३८२—परस्मैपद-विषयक आशीर्लिङ् को जो यासुट् आगम होता है वह कित् होता है।[2] यासुट् ङित् विधान किया था, आशीर्विषय में इसे कित्त्व विधान कर दिया है। सो यह उसका अपवाद है।

लिङादेश त, थ को सुट् का आगम होता है। यह सार्वधातुक लिङ् के निरूपण में कह आये हैं। यह सुट् पर होने से यासुट् को नहीं बाधता, कारण कि दोनों के विषय भिन्न-भिन्न हैं। यासुट् का आगमी लिङ् है। सुट् का आगमी त, थ हैं।

आत्मनेपद विषयक लिङ् को सीयुट् (सीय्) आगम होता है, यह भी पूर्व कहा जा चुका है। आर्धधातुक लिङ् में सीयुट् के स् का लोप नहीं होता, इस लोप का कोई विधायक शास्त्र नहीं।

दोनों पदों में लिङ् के (ङित् लकार होने से) वे ही प्रत्यय हैं जो लङ् के। केवल परस्मैपद में 'झि' को जुस् (उस्) और आत्मनेपद में 'झ' को रन्, उत्तम पु० ए० इट् के स्थान में 'अ' आदेश होते हैं।

सीय् वलादि आर्धधातुक है, अतः सेट् धातुओं से परे इसे इट् आगम होता है। 'वल्' परे होने पर 'य्' का लोप हो जाता है।

आशीर्लिङ् के प्रत्यय

	परस्मैपद			आत्मनेपद		
प्र० पु०	यात्	यास्ताम्	यासुः	सीष्ट	सीयास्ताम्	सीरन्
म० पु०	याः	यास्तम्	यास्त	सीष्ठाः	सीयास्थाम्	सीध्वम्
उ० पु०	यासम्	यास्व	यास्म	सीय	सीवहि	सीमहि

---

१. लिङाशिषि (३।४।११६)।

२. किदाशिषि (३।४।१०४)।

यात्—यहाँ भू-यास्—सुट् त्, इस अवस्था में (लिङ् को यासुट् करने पर लिङादेश त् परे होने पर) त् को सुट् आगप। भू यास् स् त्—यहाँ (स्कोः संयोगाद्योरन्ते च)की दो बार प्रवृत्ति द्वारा दोनों सकारों की निवृत्ति हो जाती है। झलो झलि (२३४) सिच् का लोप करता है, उसका यहाँ अवकाश नहीं। झल् परे अथवा पदान्त में संयोग के आदिभूत स् का लोप होता है, अतः यास्ताम्, यासुः आदि प्रत्ययों में सुट् के स् का लोप नहीं हुआ। सीयुट् के स्-लोप का प्रसङ्ग ही नहीं। आत्मनेपद में सुट् का सर्वत्र श्रवण होता है।

	भू सत्तायाम् परस्मैपदी			भू प्राप्तावात्मनेपदी		
प्र० पु०	**भूयात्**	**भूयास्ताम्**	**भूयासुः**	**भविषीष्ट**	**भविषीयास्ताम्**	**भविषीरन्**
म० पु०	**भूयाः**	**भूयास्तम्**	**भूयास्त**	**भविषीष्ठाः**	**भविषीयास्थाम्**	**भविषीध्वम्**
उ० पु०	**भूयासम्**	**भूयास्व**	**भूयास्म**	**भविषीय**	**भविषीवहि**	**भविषीमहि**

भूयात् आदि में यासुट् के कित् होने से धातु को गुण नहीं हुआ। भू प्राप्ति अर्थ में आधृषीय चुरादि आत्मनेपदी धातु है। आधृषीय होने से इस से विकल्प से णिच् आता है। णिच् के अभाव में कर्तरि शप् आता है। इतने से धातु भ्वादिगणीय नहीं बन जाती। सीयुट् के वलादि होने से और धातु भू के उदात्त होने से सीयुट् को इट् आगम होता है। सीयुट् का स् प्रत्यय का सकार है, अतः 'इ' से परे इसे मूर्धन्यादेश (ष्) हुआ है। ध्वम् परे भविषीढ्वम् भी (२३७)।

३८३—अकृद्यकारादि (जो यकार कृत् प्रत्यय का न हो) तथा असार्वधातुक यकारादि प्रत्यय परे होने पर अजन्त अङ्ग को दीर्घ होता है।[1]

३८४—उपसर्ग से परे इण् धातु के अण् को ह्रस्व हो जाता है यकारादि कित् ङित् लिङ् परे होने पर।[2] सार्वधातुक लिङ् का यासुट् यद्यपि ङित् है। (३८३) की प्रवृत्ति न होने के कारण इण् का अण् ह्रस्व ही होता है। पर्जन्यवत् प्रवृत्ति होने पर भी कोई दोष नहीं आता।

३८५—घु-संज्ञक (दा, दाण्, देङ्, दो, धा, धेट्), मा, स्था, गा (गै शब्दे, गाङ् गतौ, गाङ् स्तुतौ, इङादेश गाङ्), पा (पीना), हा (त्यागना), सो समाप्त करना दिवा०) के 'आ' को 'ए' होता है कित् ङित् लिङ् परे होने पर।[3] यद्यपि सार्वधातुक लिङ् को जो यासुट् आगम होता है वह ङित् है पर

---

१. अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः (७।३।२५)।
२. एतेर्लिङि (७।४।२७)।
३. एर्लिङि (६।४।६७)।

वहाँ इन धातुओं को एकारान्तादेश नहीं होता, कारण कि वहाँ इन धातुओं से सीधा परे (अनन्तर पर) ङित् लिङ् नहीं होता, शप् आदि विकरणों से व्यवहित होता है।

३८६—घु-मा-स्था आदि धातुओं से भिन्न संयोगादि आकारान्त अङ्गके 'आ' को 'ए' विकल्प से होता है।[1]

३८७—उपसर्ग से परे ऊह् के 'ऊ' को ह्रस्व हो जाता है जब आगे कित् ङित् यकारादि प्रत्यय हो।[2]

३८८—हन् को वध आदेश होता है आर्धधातुक लिङ् परे होने पर। वध अदन्त आदेश है।[3]

३८९—वृङ्, वृञ् तथा दीर्घ ॠकारान्त धातुओं से परे लिङ् के इट् को दीर्घ नहीं होता।[4] (१९४) से वैकल्पिक दीर्घत्व प्राप्त था।

३९०—ऋ धातु तथा संयोगादि ऋकारान्त धातुओं को गुण होता है यक् परे रहते तथा असार्वधातुक (=आर्धधातुक) यकारादि प्रत्यय परे रहते।[5] रीङ् ऋतः (७।४।२७) से 'ऋतः' की अनुवृत्ति आ रही है, अतः ह्रस्व ऋकारान्तों को यह विधि होती है, दीर्घ ॠकारान्तों को नहीं।

३९१—आर्धधातुक लिङ् परे होने पर आत्मनेपद में वृङ्, वृञ् तथा ॠकारान्त धातुओं को इट् विकल्प से होता है।[6] नित्य प्राप्त था।

३९२—यकारादि कित् ङित् प्रत्यय परे रहते जन्, सन् खन् को आकार अन्तादेश विकल्प से होता है।[7]

अब हम तत्तत्कार्य विशेष दिखाते हुए आशीर्लिङ् में धातुरूपावलि देते हैं—

दीर्घ

इण्—**ईयात्**। **ईयासम्** (३८३)। क्षि (तुदा०)—**क्षीयात्**। **क्षीयासम्**। चि—**चीयात्**। **चीयासम्**। जि—**जीयात्**। **जीयासम्**। मि—**मीयात्**। **मीयासम्**। श्रि—**श्रीयात्**। **श्रीयासम्**। सि (बाँधना)—**सीयात्**। **सीयासम्**। नी—**नीयात्**।

---

१. वाऽन्यस्य संयोगादेः (६।४।६८)।

२. उपसर्गाद् ध्रस्व ऊहतेः (७।४।२३)।

३. हनो वध लिङि (२।४।४२)।

४. न लिङि (७।२।३९)।

५. गुणोऽर्तिसंयोगाद्योः (७।४।२९)।

६. लिङ्-सिचोरात्मनेपदेषु (७।२।।४२)।

७. ये विभाषा (६।४।४३)।

नीयासम् । भी—**भीयात्** । **भीयासम्** (यहाँ धातु पहले से ही दीर्घ है, तो भी पर्जन्यवत् सूत्र की प्रवृत्ति होती है) । ऊर्णु—**ऊर्णूयात्** । **ऊर्णूयासम्** । नु—**नूयात्** । **नूयासम्** । क्षु—**क्षूयात्** । **क्षूयासम्** । यु—**यूयात्** । **यूयासम्** । रु—**रूयात्** । **रूयासम्** । सु—**सूयात्** । **सूयासम्** । श्रु—**श्रूयात्** । **श्रूयासम्** । स्तु—**स्तूयात्** । **स्तूयासम्** । क्ष्णु—**क्ष्णूयात्** । **क्ष्णूयासम्** । सु (भ्वा०)—**सूयात्** । **सूयासम्** । हु—**हूयात्** । **हूयासम्** । दिव्—**दीव्यात्** । **दीव्यासम्** । सिव्—**सीव्यात्** । **सीव्यासम्** । (११४-ख) ।

ह्रस्व

उद्-पूर्वक इण्—**उदियात्** । अभि-उद्-पूर्वक इण्—**अभ्युदियात्** । सम् पूर्वक इण्—**समियात्** । (३८४) । परन्तु अभि-पूर्वक इण्—**अभीयात्** । यहाँ ह्रस्व नहीं हुआ । इसमें हेतु यह है—एकादेश जो पूर्व और पर के स्थान में होता है वह पूर्व के अन्त की तरह होता है और पर के आदि की तरह । पर एक ही समय वह एकादेश दोनों, पूर्व और पर का अन्त तथा आदि नहीं हो सकता । **उभयत आश्रयणे नान्तादिवत्** । और यह बात युक्ति-युक्त ही है । अब प्रकृत में (अभीयात्—में) जो एकादेश 'ई' है वह एक-साथ उपसर्ग (अभि) का ई और इण् (धातु) का अण् रूप 'ई' नहीं हो सकता । पर ह्रस्व-विधायक सूत्र की प्रवृत्ति के लिए पूर्व में उपसर्ग और उत्तर में इण् धातु का अण् होना चाहिये । पूर्व का होने पर परे धातु का अण् नहीं मिलता, पर धातु का होने पर पूर्व में अभि उपसर्ग नहीं रहता । अभ् रह जाता है जो उपसर्ग नहीं । ऐसा होने से सूत्र की प्रवृत्ति न होने से ह्रस्व नहीं हुआ ।

आत्व

खन्—**खायात्**, **खन्यात्** (३९२) । सन् (भ्वा०, स्वा०)—**सायात्**, **सन्यात्** । मी (हिंसा करना, क्र्या० आ०)—**मासीष्ट** । मिञ्—**मासीष्ट** । दीङ् (उप-सहित)—**उपदासीष्ट** । (१८८)। लीङ्—**लासीष्ट, लेसीष्ट**(१८९) ।

एकारान्तादेश

दा—**देयात्** (३८५) । दाण्—**देयात्** । दो (अवखण्डने)—**देयात्** (प्रायः अवपूर्वक प्रयोग होता है) । धा—**धेयात्** । धेट् (आत्व होकर धा)—**धेयात्** । मा (अदादि)—**मेयात्** । स्था—**स्थेयात्** । गै (गा)—**गेयात्** । पा (भ्वा०, पीना)—**पेयात्** । हा (त्यागना, जुहो०)—**हेयात्** । सो (दिवा०)—**सेयात्** । प्रायः अवपूर्वक प्रयोग होता है । सूत्र में 'सा' से 'सो' का ही ग्रहण होता है, क्षै जै षै भ्वादि का नहीं । अतः षै का 'सायात्' रूप होगा ।

पर या, रा, ला, दैप् (दा शुद्ध करना), दाप् (दा, काटना), कै (का) पा (रक्षा करना), पै (ओ) वै (पा, वा), वा—इत्यादि आकारान्त धातुओं के 'आ' को एकार नहीं होता, विधान न होने से।

वैकल्पिक एकार अन्तादेश

ग्लै—**ग्लायात्**। **ग्लेयात्** (३८६)। म्लै—**म्लायात्**। **म्लेयात्**। घ्रा—**घ्रायात्**। **घ्रेयात्**। ज्ञा—**ज्ञायात्**। **ज्ञेयात्**। म्ना—**म्नायात्**। **म्नेयात्**। ध्यै—**ध्यायात्**। **ध्येयात्**। स्ना—**स्नायात्**। **स्नेयात्**।

सम्प्रसारणी धातुओं को यासुट् के कित् होने से परस्मैपद आशीर्लिङ् में सम्प्रसारण होगा, आत्मनेपद में नहीं। वस्—**उष्यात्**। **उष्यासम्**। वद्—**उद्यात्**। **उद्यासम्**। वह्—**उह्यात्**। **उह्यासम्**। वप्—**उप्यात्**। **उप्यासम्**। स्वप्—**सुप्यात्**। **सुप्यासम्**। यज्—**इज्यात्**। **इज्यासम्**। वच्—**उच्यात्**। **उच्यासम्**। वेञ्—**ऊयात्**। **ऊयासम्** (३८३)। व्येञ्—(सं) **वीयात्**। (सं) **वीयासम्**। ग्रह्—**गृह्यात्**। **गृह्यासम्**। वश्—**उश्यात्**। **उश्यासम्**। प्रच्छ्—**पृच्छ्यात्**। **पृच्छ्यासम्**। व्यच्—**विच्यात्**। **विच्यासम्**। व्रश्च्—**वृश्च्यात्**। **वृश्च्यासम्**। व्यध्—**विध्यात्**। **विध्यासम्**। भ्रस्ज्—**भृज्ज्यात्**। **भृज्ज्यासम्**। ज्या—**जीयात्**। **जीयासम्**। श्वि—**शूयात्**। **शूयासम्**। ह्वे—**हूयात्**। **हूयासम्**। यहाँ ऊयात्, सं वीयात्, शूयात्, हूयात् में सम्प्रसारण होकर (१५८) से दीर्घ भी हुआ है।

उपधा-न्-लोप

अञ्च्—**अच्यात्**। **अच्यासम्** (१३१)। उन्द्—**उद्यात्**। **उद्यासम्**। अञ्ज्—**अज्यात्**। **अज्यासम्**। रञ्ज्—**रज्यात्**। **रज्यासम्**। दंश्—**दश्यात्**। **दश्यासम्**। भ्रंश्—**भ्रश्यात्**। **भ्रश्यासम्**। शंस्(भ्वा०)—**शस्यात्**। **शस्यासम्**। मन्थ्—**मथ्यात्**। **मथ्यासम्**। स्कन्द्—**स्कद्यात्**। **स्कद्यासम्**। उम्भ्—**उभ्यात्**। **उभ्यासम्**। गुम्फ्—**गुफ्यात्**। **गुफ्यासम्**। तृम्फ्—**तृफ्यात्**। **तृफ्यासम्**। बन्ध्—**बध्यात्**। **बध्यासम्**।

इदित् होने से न्-लोपाभाव

क्रन्द्(क्रदि)—**क्रन्द्यात्**। **क्रन्द्यासम्**। नन्द्—**नन्द्यात्**। **नन्द्यासम्**। निन्द्—**निन्द्यात्**। **निन्द्यासम्**। काङ्क्ष्—**काङ्क्ष्यात्**। **काङ्क्ष्यासम्**। वाञ्छ्—**वाञ्छ्यात्**। **वाञ्छ्यासम्**। इन्द्—**इन्द्यात्**। **इन्द्यासम्**। खञ्ज् (खजि)—**खञ्ज्यात्**। **खञ्ज्यासम्**। हिसि (हिंस्)—**हिंस्यात्**। **हिंस्यासम्**।

आत्मनेपद में इदित् धातुओं से परे सीयुट् आने पर सीयुट् के कित् न होने से न्-लोप का प्रसङ्ग ही नहीं—

निंस् (चूमना) णिसि चुम्बने—**निंसिषीष्ट**। निञ्ज्—**निञ्जिषीष्ट**। मन्द्—**मन्दिषीष्ट**। शिञ्ज्—**शिञ्जिषीष्ट**।

गुण

जागृ—**जागर्यात्**। **जागर्यासम्** (२५१)। ऋ—**अर्यात्**। **अर्यासम्** (३९०)। स्मृ—**स्मर्यात्**। **स्मर्यासम्**। ध्वृ—**ध्वर्यात्**। **ध्वर्यासम्**। ह्वृ—**ह्वर्यात्**। **ह्वर्यासम्**। स्तृञ्—**स्तर्यात्**। **स्तर्यासम्**।

गुणाभाव

कृ—**कृषीष्ट** (२३९)। मृ—**मृषीष्ट**। हृ—**हृषीष्ट**। यहाँ (२३९) से झलादि लिङ् के कित् होने से गुण नहीं हुआ। **कृषीढ्वम्**। **मृषीढ्वम्**। **हृषीढ्वम्**। **धृषीढ्वम्**—यहाँ सर्वत्र 'षीध्वम्' इण्णन्त अङ्ग से परे है, अतः (२३६) से ध् को मूर्धन्यादेश 'ढ्' होता है। **संस्कृषीष्ट**—यहाँ 'संस्कृ' उपदेशावस्था में संयोगादि नहीं, अतः (२४०) से इट् नहीं हुआ। उद्पूर्वक विज्—**उद्विजिषीष्ट** (१९५)। भिद्—**भित्सीष्ट** (२३५)। छिद्—**छित्सीष्ट**। विद् (दिवा०, रुधा०)—**वित्सीष्ट**।

रिङ् आदेश

कृ—**क्रियात्**। **क्रियासम्**(१३६)। हृ—**ह्रियात्**। **ह्रियासम्**। भृ—**भ्रियात्**। **भ्रियासम्**। धृञ्—**ध्रियात्**। **ध्रियासम्**। सम् स् (सुट्) कृ—**संस्क्रियात्**। गुणोर्ति—सूत्र में पूर्वसूत्र नित्यं छन्दसि (७।४।८) से 'नित्यम्' की अनुवृत्ति करके जो नित्य संयोगादि है वह लिया जायगा। कृञ् नित्य संयोगादि नहीं, अतः गुण की प्राप्ति ही नहीं। रिङ् हुआ।

इर्, उर् आदेश

कॄ—**कीर्यात्**। **कीर्यासम्**। (१४१) से ॠ को रपर इ=इर्। (११४-ख) से दीर्घ। तॄ—**तीर्यात्**। **तीर्यासम्**। स्तॄञ्—**स्तीर्यात्**। **स्तीर्यासम्**। कॄत्—**कीर्त्यात्** **कीर्त्यासम्**। यहाँ उपधा ॠ को इर् होकर दीर्घ हुआ है। जॄ—**जीर्यात्**। **जीर्यासम्**। दॄ—**दीर्यात्**। **दीर्यासम्**। पॄ—**पूर्यात्**। **पूर्यासम्**। ओष्ठ्य-पूर्व होने से ॠ को उर्। शॄ—**शीर्यात्**। **शीर्यासम्**। गॄ—**गीर्यात्**। **गीर्यासम्**। मॄ(मारना, क्र्या०)—**मूर्यात्**। **मूर्यासम्**। ओष्ठ्य-पूर्व होने से ॠ को उर्(११४-क)। वॄञ्-**वूर्यात्**। **वूर्यासम्**। आत्मनेपद में—स्तॄ—**स्तीर्षीष्ट**। **स्तरिषीष्ट**। वॄ—**वूर्षीष्ट**। **वरिषीष्ट**। (३८९) से इट् को दीर्घ नहीं होता। (३९१)

से इडागम विकल्प से होता है। (२३५) से झलादि लिङ् कित् होता है, अतः इट् के अभाव में गुण नहीं होता—**वूर्षीष्ट**। गुण न होकर ओष्ठ्यपूर्व होने से उत् (रपर उ=उर् हुआ), जिसको (११४—ख) से दीर्घ हो गया।

इड्विकल्प

षूङ् (सू—अदा०)—(प्र) **सोषीष्ट**। (प्र) **सविषीष्ट**। पूङ् (दिवा०)—(प्र) **सोषीष्ट**। **प्रसविषीष्ट**। धूञ्—**धोषीष्ट**। **धविषीष्ट**। अशू (अश्)—**अशिशीष्ट, अक्षीष्ट**। कृपू (क्लृप्)—**क्लृप्सीष्ट**। **कल्पिषीष्ट**। गुहू (गुह्, भ्वा०)—**गूहिषीष्ट**। इक्समीपवर्त्ती हल् से परे झलादि लिङ् कित् होता है (२३५)। इट् आने से झलादित्व नष्ट हो गया, अतः गुण होकर 'ओ' को 'ऊ' हुआ(४७)। इडभाव पक्ष में '**घुक्षीष्ट**' रूप होगा। हो ढः से ह् को ढ् होने से धातु के झषन्त हो जाने से उसके बश् (ग्) को भष्(घ्)हो गया। वृङ्—**वृषीष्ट**। **वरिषीष्ट**। (३९१) से इड्विकल्प। (२३९) से सीयुट् कित् है। वृञ्—**प्रावृषीष्ट**। **प्रावरिषीष्ट**। (३८९) से इट् को वैकल्पिक दीर्घत्व का निषेध हो जाता है। स्तॄ—आङ्पूर्वक—**आस्तीर्षीष्ट**। **आस्तरिषीष्ट**।

वप्, वह्, वच्, यज्, ग्रह्, वेञ्, व्येञ्—इन्हें आत्मनेपद आशीर्लिङ् में सम्प्रसारण नहीं होता, कारण कि इनसे परे लिङ् को कित्त्व की प्राप्ति नहीं है और सम्प्रसारण प्रत्यय के कित्त्व, ङित्त्व के बिना होता नहीं—

वप्सीष्ट। **वक्षीष्ट**। **वक्षीष्ट**। **यक्षीष्ट**। **ग्रहीषीष्ट**। **वासीष्ट** (वेञ् को आत्व)। **व्यासीष्ट**। (व्येञ् को आत्व)।

रभ्, लभ्, कृष् (तुदा० उ०), मुद्, तुद्—**रप्सीष्ट**। **लप्सीष्ट**। झल् को खर् परे होने पर चर्। **कृक्षीष्ट**। **मोदिषीष्ट**। **तुत्सीष्ट**। मन् (दिवा०)—**मंसीष्ट**। मन् (तनादि)—**मनिषीष्ट**।

चुर् णिच्—**चोर्यात्**। (२७७) से णि का लोप। चुर् णि इट् सीयुट् सुट् त। चोरि इ सी स् त। चोरे (गुण) इ षी ष्ट। **चोरयिषीष्ट**। इट् परे होने पर णिच्-लोप की प्राप्ति नहीं। इसी प्रकार कथ णिच्=कथि। अतो लोपः (४१) से अदन्त कथ के 'अ' का लोप, जो पूर्व विधि उपधा-वृद्धि की कर्त्तव्यता में स्थानिवत् होता है (४२)। जिससे वृद्धि रुक जाती है। **कथ्यात्**। **कथयिषीष्ट**।

अज् को आर्धधातुक प्रत्यय परे रहते 'वी' आदेश होता है—**वीयात्**।

हन् को वध (अदन्त) आदेश होता है—**वध्यात्**। आङ्पूर्वक—**आवधि-**

षीष्ट। सम् ऊह्—समुह्यात्। समुह्यासम्। (३८७) से ह्रस्व। उपसर्ग के कारण ऊह् से वैकल्पिक परस्मैपद।

शास् को (१००-१०१) से शिष् हो जाता है—शिष्यात्। शिष्यास्ताम्। शिष्यासुः। चक्षिङ् को ख्याञ् आदेश होता है—ख्यायात्। ख्येयात्। आत्मनेपद में—ख्यासीष्ट।

प्रयोगमाला

१. प्रियाः श्रुतस्य भूयास्म (अथर्व० ७।६३।१)।
२. मा न भूवं भूयासम् (योगभाष्य)।
३. देवा एनं देयासुरिति देवदत्तः।
४. धर्मे धेया मनो नित्यं हेयाः पापमनार्जवम्।
५. श्रूयाश्च श्रद्धया शास्त्रं रंसीष्ठाः परमे सुखे॥
६. जागर्याद्भारतं वर्षं भायान्नैजेन तेजसा।
   भूयाच्छमप्रियो लोको नश्यासुः सर्वविग्रहाः॥
७. उप्यासुः कर्मबीजानि शुभानि त्वरिता नराः।
   वृत्तशीले च रक्षन्तो याप्यासुरिह जीवितम्॥
८. नाकाले च मृषीष्टेह दुर्गतः स्तान्न कश्चन।
   नाकल्याद् दीर्घमायुर्यं लोकश्चारित्रवर्धनः॥
९. रुत्सीय स्वेन्द्रियग्रामं रतमर्थेष्वनारतम्।
   ईक्षिषीय परं तत्त्वं रंसीय परमात्मनि॥
१०. निद्रातन्द्रे विगम्यास्तां नश्यास्तां रागमत्सरौ।
   शमो बोधश्च राध्यास्तां शम्यासुः सर्वविप्लवाः॥
११. ख्येयासु भारतं नित्यं प्रोच्यासुः पावनीः श्रुतीः।
   प्रचार्यासुः कृतात्मानो विप्राः सर्वत्र संस्कृतम्॥
१२. अमृतं भद्र भुक्षीष्ठा विघसं वाप्यनुत्तमम्।
१३. ह्रियादलं प्रसन्नो नः पाप्मनो भगवान्हरिः।
१४. प्रक्षीयाच्छात्रवो लोको वर्धिषीष्ट सुहृज्जनः।
   स्थेयासुश्च रणे वीराः पायासुर्नु कदम्बकम्॥

इत्याशीर्लिङ् निरूपितः।

———

णिजन्त प्रक्रिया

देवदत्तो गच्छति इस वाक्य में देवदत्त गमन क्रिया का कर्त्ता है।

३६३—ऐसे कर्तृरूपेण अवधारित देवदत्त आदि का जो प्रयोजक (प्रवर्तक, प्रेरक) हो, अर्थात् जो उसे गमनादि क्रिया में प्रेरित करे, उसे शास्त्र में **'हेतु'** कहते हैं और **'कर्त्ता'** भी।[1]

३६४—हेतु के प्रेरणा-रूप व्यापार (हेतुमत्) को कहने के लिए धातुमात्र से णिच् (इ) प्रत्यय आता है।[2] पूर्व कह चुके हैं कि सन् आदि प्रत्ययान्त की भी धातुसंज्ञा है। णिच् सन् आदि में से एक है, अतः णिजन्त (चकार का लोप करके ण्यन्त) भी धातु ही होता है। भू आदि धातु की तरह ण्यन्त से कर्तृवाची सार्वधातुक प्रत्यय होने पर शप् होगा।

प्रेरणार्थक ण्यन्त धातुओं की भिन्न-भिन्न लकारों में रूपरचना प्रायः वैसी ही होती है जैसी स्वार्थ ण्यन्त चुरादि धातुओं की। हाँ कुछ विशेष होता है, उसे यथावसर इसी प्रकरण में कहेंगे। यहाँ इतना जानना पर्याप्त होगा कि णिजन्त धातुएँ प्रायः उभयपदी होती हैं[3] और अनेकाच् होने से सेट्। क्रियाफल के कर्तृगामी होने पर ण्यन्त धातु से आत्मनेपद आता है (१७०)।

अब रूपसिद्धि के विषय में कहते हैं—**भवन्तं प्रेरयति भावयति**। भू णिच् =भू इ=भौ इ (वृद्धि)=भाव् इ (आव् आदेश)=भावि (ण्यन्त धातु) हुई। इससे तिप् आदि प्रत्यय लगाकर कर्तृवाची तिप् परे रहते शप् (अ) लाकर भावि अ ति इस अवस्था में सार्वधातुक-निमित्तक गुण करके भावे अ ति ऐसी स्थिति में 'ए' को 'अय्' होने से भावयति' यह रूप सिद्ध हो जाता है।

३६५—णिच् के णित् होने से धातु के अन्त्य अच् तथा उपधा-भूत 'अ' को वृद्धि होती है[4] और णिच् के आर्धधातुक होने से उपधा-भूत लघु इक् (इ,

---

१. तत्प्रयोजको हेतुश्च (१।४।५५)।

२. हेतुमति च (३।१।२६)।

३. णिचश्च (१।३।७४)।

४. अचो ञ्णिति (७।२।११५)। अत उपधायाः (७।२।११६)।

उ, ऋ) को गुण होता है। यह कुछ नूतनार्थ नहीं कहा जा रहा। चुरादिगण के व्याख्यान में यह सब कहा जा चुका है, केवल भ्रम-निरास के लिए और स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिए आवृत्ति की जा रही है। चि—**चाययति-ते**। नी—**नाययति-ते**। शी (सोना, लेटना)—**शाययति**। श्रु—**श्रावयति-ते**। हु—**हावयति-ते**। कृ—**कारयति-ते**। मृ—**मारयति-ते**। हृ—**हारयति-ते**। नश्—**नाशयति** (उपधा-वृद्धि)। वद्—**वादयति-ते**। नद्—**नादयति-ते**। अश्—**आशयति** (खिलाता है)। अस् (फेंकना)—**आसयति-ते**। आस्—**आसयति** (बिठाता है)। अद्—**आदयति-ते** (खिलाता है)। तन्—**तानयति-ते**। जागृ—**जागरयति** (यहाँ अन्त्य इक् को वृद्धि न होकर गुण होता है)।[1]

३९६—जन् तथा वध् के उपधा 'अ' को वृद्धि नहीं होती ञित्, णित् प्रत्यय परे होने पर।[2] जन्—**जनयति**। चोरि (स्वार्थ ण्यन्त)—**चोरयति-ते** (यहाँ पहले णि का लोप हो जाता है)। बुध्—**बोधयति**। मुद्—**मोदयति**। युध्—**योधयति**। क्षिप्—**क्षेपयति**। मिल्—**मेलयति**। भुज्—**भोजयति**। रुध्—**रोधयति**। रुच्—**रोचयति**। यहाँ बोधयति आदि में उपधा-गुण हुआ है।

ऋ, ह्री (लजाना), व्ली (घेरना क्र्या०), री (बहना दि०, चलना, शब्द करना), क्नूय् (शब्द करना, भिगोना), क्ष्माय् (हिलाना)—इन्हें पुक् (प्) का आगम होता है णिच् परे होने पर[3] (१७४)। ऋ—**अर्पयति** (गुण)। ह्री—**ह्रेपयति** (लज्जित करता है)।[4] व्ली—**व्लेपयति**। री—**रेपयति**। क्नूय्—**क्नोपयति**। यहाँ पुक् आने पर लोपो व्योर्वलि (६।१।६६) से क्नूय् के य् का लोप हो जाता है, और पुगन्त (क्नूप्) के इक् को गुण। क्ष्माय्—**क्ष्मापयति**। यहाँ भी पूर्ववत् धातु के 'य्' का लोप होता है। आकारान्त—या—**यापयति-ते**। दा—**दापयति-ते**। धा—**धापयति-ते**। धा (धेट् पीना,

---

१. जाग्रोऽवि-चिण्-णल्-ङित्सु (७।३।८५)। इस सूत्र के अर्थ के लिए विधान सं० (२५१) देखो।

२. जनि-वध्योश्च (७।३।३५)।

३. अर्ति-ह्री-व्ली-री-क्नूयीक्ष्माय्यातां पुग् णौ (७।३।३६)।

४. पुगन्तलघूपधस्य च (७।३।८६)। इसकी व्याख्या के लिए (३) देखो।

चूसना)—**धापयति-ते** । ज्ञा—**ज्ञापयति-ते** । मा—**मापयति-ते** । स्था—**स्थापयति-ते** । हा—**हापयति-ते**।

३६७—शो (दिवा० तेज करना), छो (दिवा० सूक्ष्म करना), सो (दिवा० समाप्त करना), ह्वे (भ्वा० बुलाना, स्पर्धा करना), व्येञ् (भ्वा० ढाँपना), वेञ् (भ्वा० बुनना), पा (भ्वा० पीना), इनको णिच् परे युक् (य्) आगम होता है।[1] ये धातुएँ आर्धधातुक शिद्भिन्न प्रत्यय की विवक्षा होते ही आकारान्त बन जाती हैं। इस प्रकरण में प्रतिपदोक्त (जो आकारान्त रूप से धातुपाठ में एक-एक करके पढ़ी हैं) धातुओं के साथ लाक्षणिक (जिनका आकारान्त स्वरूप लक्षण(सूत्र) से सम्पन्न हुआ है)धातुओं का भी ग्रहण होता है। अतः शो (शा) आदि को आकारान्त हो जाने पर पुक् की प्राप्ति थी। सो उसका अपवाद युक् यहाँ विधान किया है—शो आदि से णिच् परे होने पर युक्(य्)का आगम होता है—शो णिच्=शा इ=शा-य् इ=शायि ण्यन्त धातु हुई। शायि शप्(अ)ति=**शाययति** (गुण, अय् आदेश)। छो—**छाययति**। सो—**अवसाययति** (सो का प्रायः अवपूर्वक प्रयोग होता है)। ह्वे—**ह्वाययति**। व्ये—**संव्याययति** (व्ये का प्रायः सम्पूर्वक प्रयोग होता है)। वे—**वाययति**। प्रपूर्वक—**प्रवाययति**। पा—**पाययति**।

३६८—क्री, इङ् (पढ़ना), जि जीतना—इनके एच् (जो वृद्धि होने से सम्पन्न होता है)को आकार हो जाता है णिच् परे होने पर[2]—क्री इ=क्रै इ। क्रा इ। ऐसी स्थिति में आकारान्त होने से पुक् का आगम होकर तिप्, शप् आकर **क्रापयति** रूप सिद्ध होता है। ऐसे ही अधि इङ् (इङ् का अधि के बिना प्रयोग नहीं होता) से अधिआपयति=**अध्यापयति** और 'जि' से **जापयति** रूप बनते हैं।

३६९—भी (डरना जुहो०) के एच् के स्थान में विकल्प से आकार होता है यदि प्रयोजक से भय हो और इस अवस्था में ण्यन्त धातु से आत्मनेपद ही होता है[3]—**भापयते**। **जटिलो भापयते**, जटावाला डराता है, पर **भषणेन**

---

१. शाच्छा-सा-ह्वा-व्या-वे-पां युक् (७।३।३७)।

२. क्रीङ्-जीनां णौ (६।१।४८)।

३. बिभेते र्हेतुभये (६।१।५६)। विकल्प से आत्व। भीस्म्यो र्हेतु-भये (१।३।६८)से आत्मनेपद विधान।

भाययति शुनको बालम्, कुत्ता भौंकने से बच्चे को डराता है। यहाँ आत्व भी नहीं होता, और आत्मनेपद भी नहीं। आत्व न होने से पुक् का प्रसङ्ग ही नहीं। प्रकृत में भय का कारण भषण (भौंकना) है, साक्षात् (=सीधे) प्रयोजक कुत्ता नहीं।

४००—पक्ष में आत्व न होकर 'भी' को षुक् (ष्) आगम होता है और पूर्ववत् आत्मनेपद भी—[1]**भीषयते।** सूत्र में पढ़े 'भी' में 'ई' का प्रश्लेष माना जाता है। ईकारान्त 'भी' को षुक् होता है।

४०१—स्मि (भ्वा० मुस्कराना) के एच् को नित्य ही आकार आदेश होता है णिच् परे होने पर यदि स्मय (विस्मय) प्रयोजक से हो और उस अवस्था में ण्यन्त से आत्मनेपद ही आता है[2]—**रामेण राज्यस्य तृणवत् त्यागो विस्मापयते सर्वलोकम्।** यदि विस्मय 'करण' आदि से हो तो न आत्व होगा और न आत्मनेपद—**मनुष्यवाचा विस्माययति मृगेन्द्रो नरेन्द्रं दिलीपम्।**

४०२—लीङ् (दिवा० क्र्या०) को एच् के विषयमात्र के उपस्थित होने पर उपदेशावस्था में ही विकल्प से आत्व हो जाता है।[3] आर्धधातुक प्रत्यय की विवक्षा होने पर एच् की संभावना होते ही 'ली' को आत्व हो जाता है। यह व्यवस्थित विभाषा है। सम्भावन (पूजा), प्रलम्भन (विसंवादन=ठगना, शालीनीकरण=अभिभूत करना) अर्थों में तो नित्य ही आत्व होता है—**जटाभिरालापयते**=जटा के हेतु संमान को प्राप्त करता है। **कस्त्वामुल्लापयते** (तुझे कौन ठगता है)। **श्येनो वर्तिकामुल्लापयते** (बाज बटेर को दवा लेता है) इन अर्थों में ण्यन्त 'ली' से आत्मनेपद ही होता है।

४०३—णिच् परे रहते ईकारान्त 'ली' रहने पर इसे नुक् (न्) आगम विकल्प से होता है जब स्नेह विपातन (घृतादि पिघलाना) अर्थ हो[4]—**विलीनयति घृतम्। विलाययति घृतम्** (नुक् के अभाव में)। 'ली' को पाक्षिक आत्व होने पर लुक् (ल्) आगम विकल्प से होता है—**विलालयति घृतम्** (आत्व होकर लुक्)।

---

१. भियो हेतुभये षुक् (७।३।४०)।

२. नित्यं स्मयतेः (६।१।५७)। पूर्वसूत्र (६।१।५६) से 'वा' की अनुवृत्ति को हटाने के लिये इस सूत्र में 'नित्यम्' ऐसा पढ़ा है। प्रलम्भनाभिभवपूजासु नित्यमात्वमिति वाच्यम् (वा०)।

३. विभाषा लीयतेः (६।१।५१)।

४. लीलोर्नुग्लुकावन्यतरस्यां स्नेहविपातने (७।३।३९)।

विलापयति घृतम् (आत्व होकर पुक्)। 'घृतादि पिघलाना' इस अर्थ से अन्यत्र 'ली' को आत्व होने पर भी लुक् (ल्) आगम नहीं होता किन्तु पुक् ही होता है—**जतु विलापयति** (लाख को पिघलाता है)। **लोहं विलापयति। जटाभिर् आलापयते** (सम्मानमधिगच्छति)। यहाँ भी 'ली' को आत्व होने पर लुक् (ल्) आगम नहीं होता। ला (लेना, ग्रहण करना अदा०) को भी उक्तार्थ में विकल्प से लुक् आगम होता है—**विलालयति घृतम्। विलापयति घृतम्।**

४०४—'चि' (स्वा०, चुरा०) स्फुर्—इनसे णिच् परे होने पर इनके एच् को (विकल्प से आत्व होता है[1]—**चापयति** ('आ' होने पर पुक्)। **चाययति** आत्व के अभाव में वृद्धि होकर आय् आदेश]। **स्फारयति। स्फोरयति।**

४०५—वी का जब प्रजन(गर्भाधान) अर्थ हो तो णिच् परे होने पर उसे विकल्प से आत्व होता है[2]—**पुरोवातो गाः प्रवापयति** (आत्व होने पर पुक्), पूर्व दिशा से आ रहा वायु गौओं को गर्भधारण में सहायक होता है। आत्व अभाव में पुरो वातो गाः प्रवाययति ऐसा रूप होगा।

४०६—वा (मूल में वै जो 'पै' के साथ ओ वै रूप में सूखने अर्थ में पढ़ा है) को जुक् (ज्) आगम होता है हिलाने अर्थ में[3]—**पक्षेणोपवाजयति।** अर्थान्तर में पुक् होगा—आवापयति केशान्, बालों को सुखाता है।

४०७—स्फाय् (भ्वा० आत्मने० बढ़ना) से णिच् परे होने पर स्फाय् के 'य्' को 'व्' होता है[4]—**स्फावयति।**

४०८—शद् (भ्वा० प० शीर्ण होना) के 'द्' को 'त्' होता है णिच् परे होने पर[5]—**शातयति द्विषतां शिरांसि** (शत्रुओं के सिर काट गिराता है)। **शातयति फलानि दण्डेन** (डंडे से फलों को गिराता है)। **गर्भशातनम्**=औषध आदि के प्रयोग से गर्भ को गिराना। पर गति अर्थ में 'त्' आदेश नहीं होता

---

१. चि-स्फुरो र्णौ (६।१।५४)। चिञ् चुरादि ज्ञप् आदि पांच धातुओं में भी पढ़ी है। अतः णिच् परे रहते उसकी मित् संज्ञा होने से वृद्धि होकर ह्रस्व होता है। पुक् के विकल्प से चपयति, चययति रूप होंगे।

२. प्रजने वीयतेः (६।१।५५)।

३. वो विधूनने जुक् (७।३।३८)।

४. स्फायो वः (७।३।४१)।

५. शदेरगतौ तः (७।३।४२)।

—शादयति गां गोपालकः । शादयति=प्राजति । हाँकता है ।

४०९—रुह् के 'ह्' को विकल्प से 'प्' हो जाता है णिच् परे होने पर[1] **—रोहयति । रोपयति । पादपं रोहयति रोपयति वा ।**

४१०—हन् के 'न्' को तकार होता है चिण्-णल्-भिन्न ञित् णित् प्रत्यय परे होने पर ।[2] णिच् णित् प्रत्यय है, अतः इस के परे रहते यह आदेश होगा—**घ्नन्तं प्रयुङ्क्ते(प्रेरयति)=घातयति** । ञित् णित् प्रत्यय परे रहने पर हन् के हकार को घ भी होता है ।

४११—इण् (इ) धातु को 'गम्' आदेश होता है णिच् परे रहने पर जब ण्यन्त धातु का बोधन अर्थ न हो[3]—**यन्तं प्रयुङ्क्ते (प्रेरयति)=गमयति** । **बोधन अर्थ में** तो प्रतिपूर्वक इण् से णिच् होकर **प्रत्याययति** (=बोधयति) ऐसा रूप होगा ।

(२९४) से रभ् तथा लभ् धातुओं के अन्त्य अच् से परे नुम् (न्) आगम होता है अजादि प्रत्यय परे होने पर, जो शप् न हो और लिट् के स्थान में हुआ णल् आदि अजादि प्रत्यय न हो[4] । णिच् ऐसा अजादि प्रत्यय है । अतः यहाँ नुम् होगा **—रम्भयति । लम्भयति ।**

४१२—दुष् (दिवा०) की उपधा (उ) को दीर्घ हो जाता है णिच् परे होने पर[5] । यहाँ उपधा-गुण प्राप्त था उसका यह अपवाद है—**दूषयति । परकृतिं दूषयति** (दूसरे की रचना में दोष निकालता है) ।

४१३—यदि ण्यन्त दुष् का चित्तविकार अर्थ हो, तो दीर्घ विकल्प से होता है,[6] पक्ष में यथा-प्राप्त-गुण होता है—**चित्तं दोषयति दूषयति वा कामः ।**

४१४—जब सिध् दिवा० जो हिंसा और सिद्धि अर्थ में पढ़ी है इहलोक-सम्बन्धी प्रयोजन की सिद्धि में वर्तमान हो तब णिच् परे रहते इसके एच् (यहाँ ए) को 'आ' हो जाता है ।[7] अन्नं सिध्यति । **अन्नं साधयति सूदः ।**

---

१. रुहः पोऽन्यतरस्याम् (७।३।४३) ।

२. हनस्तोऽचिण्णलोः (७।३।३२) ।

३. णौ गमिरबोधने (२।४।४६) ।

४. रभेरशब्लिटोः (७।१।६३) । लभेश्च (७।१।६४) ।

५. दोषो णौ (६।४।९०) ।

६. वा चित्त-विरागे (६।४।९१) ।

७. सिध्यतेरपारलौकिके (६।१।४९) ।

अन्न ऐहलौकिक अर्थ है। **साधयामो वयम्**=गच्छामो वयम्। **प्रायेण ण्यन्तकः साधिर्गमेरर्थे प्रयुज्यते**। ण्यन्त 'साधि' का अर्थ जो गमन है वहाँ भी लौकिक अर्थ की साधना ही मुख्य अर्थ है। साधने के लिये जो जाना है उसे भी 'साधि' धातु से कह दिया है। **तादर्थ्यात्ताच्छब्द्यम्**। माङ्गलिक प्रयोक्ता का ऐसा प्रयोग करना स्वाभाविक है। सो यहाँ सूत्र से आत्व प्राप्त ही है। जब सिद्धि पारलौकिकी (पर लोक-प्रयोजना) होगी तो आत्व नहीं होगा। सिद्धि=ज्ञानविशेष। सिध्यति तापसः=ज्ञानविशेषमासादयति, ज्ञान विशेष को प्राप्त करता है जो उसके (परलोक=जन्मान्तर) का उपकारक है। **तपस्तापसं सेधयति**=ज्ञान-विशेषसम्पन्नं करोति। अन्नं साधयति ब्राह्मणेभ्यो दास्यामीति। यहां आत्व क्यों हुआ है? इसलिये कि यहाँ सिद्धि का निष्पत्ति मात्र अर्थ है। उसका प्रयोजन अन्न (ऐहलौकिक अर्थ) है। उस अन्न का दान पारलौकिक अवश्य है, पर सिद्धि (ही) पारलौकिक नहीं है। साक्षात् पारलौकिकता ली जाती है, परम्परया नहीं।

भ्वादि गण में एक अवान्तर घटादिगण है। घटादि धातुओं की 'मित्' संज्ञा की गई है[1]। और जो 'मित्' धातुएं हैं उन्हें णिच् परे होने पर ह्रस्व हो जाता है।[2] णिच्-प्रत्यय निमित्तक वृद्धि होने पर पुनः ह्रस्व हो जाता है और जहाँ पहले से ही दीर्घ स्वर हो उसे भी ह्रस्व हो जाता है—घट्—**घटयति** (घाटयति नहीं)। **विघटयति** (जुदा करता है, तोड़ता है)। उपसर्गवश अर्थान्तर होने पर भी मित् संज्ञा बनी रहती है। **कमलवनोद्घाटनं कुर्वते ये, प्रविघाटयिता समुत्पतन् हरिदश्वः कमलाकरानिव** (किरात० २।४६)—ये कवि प्रयोग कैसे संगत होते हैं। चुरादियों मैं घट संघाते यह धातु पढ़ी है, उस के ये रूप हैं। स्वार्थ ण्यन्त धातुएँ ज्ञप् आदि पांच को छोड़ कर कोई भी मित् नहीं।[3]

घटादियों में कुछ भ्वादिगणी धातुएँ हैं जो घट् के साथ अनुक्रम से पढ़ी हैं। उनमें कुछ ऐसी हैं जो भ्वादि गण में ही अन्यत्र पढ़ी हैं, जिनका अर्थ-विशेष में मित्त्व के लिये अनुवाद किया है अर्थात् दोबारा पढ़ा है, और कुछ अन्यगणीय भी, जो अर्थविशेष में मित्त्व के लिए यहाँ पढ़ी हैं। उनका भ्वादि-गणीय रूप नहीं होता।

---

१. घटादयो मितः (ग० सू०)।

२. मितां ह्रस्वः (६।४।९२)।

३. ज्ञप मिच्च। नान्ये मितोऽहेतौ (ग० सू०)।

व्यथ्—**व्यथयति**। प्रथ्—**प्रथयति**। दक्ष्—**दक्षयति**। दक्ष वृद्धि और शीघ्रता, त्वरा करना अर्थ में अनुदात्तेत् (आत्मने०) पढ़ी है। यहाँ गति, हिंसा अर्थ में ही मित् संज्ञा की गई है। अन्यत्र **दाक्षयति** (वृद्धि-युक्त) रूप होगा।

कदि (कन्द्), क्रदि (क्रन्द्), क्लदि (क्लन्द्)—ये असमर्थ होना, व्याकुल होना अर्थ में मित् होती हैं, रोना और बुलाना अर्थों में नहीं—**कन्दयति**। **क्रन्दयति**। **क्लन्दयति**। त्वर्—**त्वरयति**। **पानभोजने त्वरय**। पेय और भोज्य जल्दी भेजो। ज्वर्—**ज्वरयति**। हेड्—**हिडयति**। वेष्टन (लपेटना) अर्थ में यह धातु मित् होती है, अनादर अर्थ में नहीं—**हेडयति** (अनादर कराता है)। नट्—**नटयति**, नृत्त अथवा नृत्य कराता है। **नटयति शाखाः** ऐसा प्रयोग भी होता हैं। **नाटयति** (अभिनय से भावाभिव्यञ्जन करता है)। कण्, रण्—ये गति अर्थ में मित् हैं, 'शब्द करना' अर्थ में नहीं—**कणयति**। **रणयति**। **काणयति**। **राणयति**। श्रण् (दान करना)—**श्रणयति**। विपूर्वक श्रण् के प्रयोग में कालिदास ने मित्त्व का मान नहीं किया—**शक्योऽस्य मन्युर्भवता विनेतुं विश्राणनादन्यपयस्विनीनाम्**। (रघु० २।४९)। अमरसिंह भी **विश्राणनं वितरणं स्पर्शनं** प्रतिपादनम् ऐसा पढ़ता है। अथवा श्रणु दाने चुरादि का रूप जानना चाहिये। ज्ञप् आदि पांच धातुओं को छोड़ स्वार्थ-ण्यन्त चुरादि धातु कोई भी मित् नहीं होती, ऐसा पूर्व कह आये हैं।[1]

चक् तृप्ति और प्रतिघात (रोकना) अर्थ में पढ़ा है। यहाँ तृप्ति अर्थ में मित्त्व के लिये पुनः पाठ किया है—**चकयति** (तृप्त करता है)।

क्रथ् (हिंसा करना) को घटादि होने पर भी णिच् परे रहते वृद्धि होती है—**क्राथयति**, कारण कि सूत्रकार ने जासिनिप्रहण—(२।३।५६) इस सूत्र में क्राथ् ऐसा पाठ किया है। मित्त्व का फल चिण् और णमुल् में दीर्घविकल्प होगा—अक्रथि। अक्राथि (चिण्)। क्रथं क्रथम्। क्राथं क्राथम्। (णमुल्)।

ज्वल्—**ज्वलयति, ज्वालयति**। ह्वल् (चलना) **ह्वलयति, ह्वालयति**। ह्मल् (चलना)—**ह्मलयति, ह्मालयति**। **नमयति, नामयति**।[2] उपसर्गपूर्वक

---

१. नान्ये मितोऽहेतौ (ग० सू०)। ज्ञप मिच्च।

२. ज्वल-ह्वल-ह्मल-नमामनुपसर्गाद्वा (ग० सू०)।

ये धातुएँ नित्य ही मित् हैं—**प्रज्वलयति** (प्रज्वालयति नहीं होता)। **विह्वलयति। प्रह्वलयति।**

चल् कम्पन अर्थ में मित् है।[1] **चलयति शाखां कपिः।** बन्दर शाखा को हिलाता है। पर **चित्तं चालयति कामः।** चालयति=विकरोति।

स्मृ आध्यान=उत्कण्ठा-पूर्वक स्मरण अर्थ में मित् होता है—**मातुः स्मरयति विरहः शिशुकम्।** अन्यत्र **विपद उपनताः स्मारयन्ति पुरा कृतानि दुष्कृतानि।** आई हुई विपत्तियाँ पहले किये हुए पापों की याद दिलाती हैं।

दॄ विदारण=फाड़ना अर्थ में क्र्यादि गण में पढ़ी है। उसका यहाँ भय अर्थ में मित्त्व के लिये पुनः पाठ किया है—**दरयति** (डराता है)। **विदारयति** (फाड़ता है वा फड़वाता है)।

श्रा (अदादि० पकना), श्रै (भ्वा० पकाना) मित् हैं—**श्राति क्षीरम्,** दूध पक रहा है। **श्रपयति क्षीरम्,** दूध को पकाता है। **देवदत्तोऽन्नं श्रायति।** देवदत्तेनान्नं श्रपयति यज्ञदत्तः। **श्रपयत्यन्नम्।** अर्थान्तिर में **श्रापयति**=स्वेदयति (पसीना लाता है)।

ज्ञा (क्र्यादि० जानना) मारना, सन्तुष्ट करना, निशामन=दिखाना अथवा जतलाना—इन अर्थों में मित् होता है[2]—**पशुं संज्ञपयति** (पशु को मारता है, उसका वध करता है)। **विष्णुं विज्ञपयति,** विष्णु को प्रसन्न करता है)। **रूपं संज्ञपयति** (रूप को दिखाता है—माधव, अथवा रूप का बोध कराता है)। कई एक 'निशामन' के स्थान में निशान (तेज करना) पढ़ते हैं। उनके मत में **शरं प्रज्ञपयति** (बाण को तीक्ष्ण करता है) ऐसा उदाहरण होगा। **विज्ञापना भर्तृषु सिद्धिमेति**—इस कवि-प्रयोग में 'विज्ञापना' कैसे बनेगा। इसी प्रकार **तज्ज्ञापयत्याचार्यः**—यह भाष्यकार का वचन कैसे साधु होगा। धातुवृत्तिकार माधव तो चाक्षुष ज्ञान (दिखाना) से अर्थान्तिर (बोधन-मात्र) में मित् संज्ञा नहीं मानते। सो उनके मत में ह्रस्व की प्राप्ति ही नहीं। दूसरे लोगों के मत में चुरादि स्वार्थ ण्यन्त 'ज्ञा नियोगे' का प्रयोग समझना चाहिये। जो 'निशान' पढ़ते हैं उनके मत में कुछ भी अनुपपन्न नहीं।

छद चुरादि गण में ढाँपने अर्थ में पढ़ी है। उसे यहाँ 'बलवान् व प्राण-

---

१. कम्पने चलिः (ग० सू०)।

२. मारण-तोषण-निशामनेषु ज्ञा।

वान् बनाना' अर्थ में मित्त्व के लिये पढ़ा है—**छदयति**=बलवन्तं प्राणवन्तं वा करोति। अन्यत्र छादयति।

लड् धातु विलास अर्थ में पढ़ी है उस का यहाँ जिह्वा का बाहिर निकालना' अर्थ में मित्त्व के लिये अनुवाद (पुनः पाठ) किया है[1]—**लडयति जिह्वाम्।** यहाँ **'जिह्वोन्मथने लडिः'** ऐसा गणसूत्र है। जिह्वोन्मथन में षष्ठीसमास मान कर लडयति जिह्वाम्—यह उदाहरण हुआ। तृतीयासमास मानकर **लडयति जिह्वया**—यह उदाहरण हुआ। जिह्वा से कुछ ज्ञापित करता है ऐसा अर्थ होगा। कुछ व्याख्याकार जिह्वोन्मथन को समाहार द्वन्द्व मानते हैं। 'जिह्वा' शब्द से जिह्वा व्यापार (बुरा भला कहना) अर्थ ग्रहण करते हैं और उन्मथन से मन्थन, विलोडन अर्थ लेते हैं। उन के मत से **लडयति शत्रुम्। लडयति दधि**—ये उदाहरण होंगे। अन्यत्र **लाडयति (लालयति) पुत्रम्।** मित्त्व न होने से ह्रस्व नहीं होता।

मद् दिवा० प्रसन्न होना) का यहाँ हर्ष, ग्लेपन (दैन्य, दीन होना) अर्थ में मित्त्व के लिये अनुवाद किया है—**मदयति**=हर्षयति, ग्लेपयति वा। **मायूरी मदयति मार्जना मनांसि** (मालविका० १।२१)। अर्थान्तर में **मादयति**=चित्तविकारमुत्पादयति (मस्ती लाता है)। **अहिफेनो मादकं द्रव्यम्।**

ध्वन् (शब्द करना भ्वा०) का यहाँ मित्त्व के लिये अनुवाद किया है—**ध्वनयति घण्टाम्** (घण्टा बजाता है)। अन्यत्र **ध्वानयति**=अस्पष्ट उच्चारण करता है।

दल् (विशीर्ण होना), वल् (ढाँपना), स्खल् (ठोकर खाना, अटकना) रण्, ध्वन् (शब्द करना), त्रप् (लजाना), क्षै (क्षीण होना)—इन धातुओं को श्रीभोज घटादियों में पढ़ते हैं। रण्, ध्वन् तो यहाँ पहले ही पढ़ी जा चुकी हैं। श्रीभोज का वचन लक्ष्यानुसारी होने से भट्टोजि दीक्षित को भी मान्य है और इसलिये हमें भी। **दलयति। वलयति। स्खलयति। क्षपयति। ममापि च क्षपयतु नीललोहितः पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः** (शाकुन्तल)।

स्वन् (शब्द करना भ्वा०) अवतंसन(=भूषण) अर्थ में मित् होता है—**स्वनयति**। अन्यत्र स्वानयति।

३१५—जन्, जॄष् (दिवा० जीर्ण होना, बूढ़ा होना), क्नस् (दिवा०

---

१. जिह्वोन्मथने लडिः (ग० सू०)।

कुटिलगति, दीप्ति), रञ्ज् (भ्वा० दिवा० प्रसन्न होना, रक्त होना, रंगना) और अमन्त (अम् अन्त वाली) धातुएँ मित् होती हैं।[1] **जनयति । जरयति । इदं शरीरं कृत्स्नस्य लोकस्य चरता हितम् । पाण्डुरस्यातपत्रस्यच्छायायां जरितं मया ।।** (रा० २।२।७) ।जॄ क्र्यादि मित् नहीं है अतः उसको णिच् परे वृद्धि होगी—**जारयति । क्नसयति । रजयति मृगान् मृगव्याधः ।** यहाँ मृगक्रीडा शिकार खेलना अर्थ में रञ्ज् के 'न्' का लोप भी होता है[2]। मृगक्रीडा से अन्यत्र **रञ्जयति पक्षिणः** ऐसा 'न्'-लोप-रहित रूप रहेगा। अमन्त—गम्—**गमयति ।** वम्—**वमयति ।** क्षम्—**क्षमयति ।** क्रम्—**क्रमयति ।** श्रम्—**श्रमयति ।** शम्—**शमयति ।** (शान्त करता है) । तम्—**तमयति** (क्षीण करता है) । दम्—**दमयति ।** क्लम्—**क्लमयति । निशाम्यति गुरो र्वचः । शिष्यः शिष्यं निशमयति गुरोर्वचः** (एक शिष्य दूसरे शिष्य को गुरु वचन सुनाता है)। पर दर्शन अर्थ में मित् संज्ञा नहीं होती—**निशामयति रूपम्** (रूप को दिखाता है) । **निशामय तदुत्पत्तिं विस्तराद् गदतो मम** (दुर्गा सप्तशती) । यहाँ चौरादिक शम लक्ष आलोचने का धातुओं के अनेकार्थ होने से श्रवण अर्थ में प्रयोग है । ज्ञप् आदि पांच धातुओं को छोड़ कर अन्य कोई भी स्वार्थिक ण्यन्त धातु मित् नहीं होती । नम् की अमन्त होने से नित्य मित् संज्ञा का विकल्प होता है—**नमयति । नामयति ।** उपसर्ग होने पर तो **प्रणमयति, विनमयति, अवनमयति** इत्यादि में नित्य ह्रस्व होता है । **संक्रामयति** प्रयोग देखा जाता है । उसका समाधान 'मितां ह्रस्वः' सूत्र में पूर्व सूत्र 'वा चित्तविरागे' (६।४।९१) से 'वा' की अनुवृत्ति करके इसे व्यवस्थित विभाषा मानकर किया जाता है । ऐसे व्याख्यान के आश्रित **रजो विश्रामयन्, धुर्यान् विश्रामयेति सः** इत्यादि रघुवंशस्थ कालिदास के प्रयोगों का समर्थन किया जाता है ।

४१६—**ग्लै**, स्ना, वन्, वम्—इन की उपसर्ग के अभाव में विकल्प से मित् संज्ञा होती है ।[3] पहली दो धातुओं की तो यह संज्ञा प्राप्त नहीं थी, क्योंकि वे यहाँ घटादियों में पढ़ी नहीं । हाँ दूसरी दो की प्राप्त थी । वन् पढ़ी है और वम् अमन्त है । **ग्लपयति । ग्लापयति ।** पर **विग्लापयति** ही ।

---

१. जनी-जॄष्-क्नसु-रञ्जोऽमन्ताश्च (ग० सू०) ।

२. रञ्जेर्णौ मृगरमणे नलोपो वक्तव्यः (वा०) ।

३. ग्ला-स्ना-वनु-वमां च (ग० सू०) ।

नानुध्यायाद्बहूञ्छब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत् (बृ० उ० ४।४।२१)। **स्नपयति । स्नापयति**, पर **प्रस्नापयति** ही । **वनयति । वानयति** । उपसर्ग पूर्व होने पर **प्रवनयति** । (यथाप्राप्त नित्य मित् संज्ञा) । **वमयति । वामयति** । पर **प्रवमयति** ही । अनुपसृष्ट वम् का दोनों तरह का प्रयोग सुश्रुत में देखा जाता है—

अवम्या अपि ये प्रोक्तास्तेप्यजीर्णव्यथातुराः ।
विषार्ताश्चोल्बणकफा वामनीयाः प्रयत्नतः ॥

४१७—कम्, अम्, चम्—इन की मित् संज्ञा नहीं होती ।[1] अमन्त होने से प्राप्त थी—**कामयते । आमयति** (रोगी बनाता है) । **चामयति** (खिलाता है) ।

शम् दर्शन अर्थ में मित् नहीं ।[2] **निशामयते रूपम्**, रूप को दिखाता है । दर्शन से अन्यत्र मित्त्व बना रहता है—**प्रणयिनो निशमय्य वधूः कथाः**, प्रेमी नवोढाओं को बातें सुना कर ।

४१८—यम् धातु (भ्वा० नियम में रखना) परोसना, खिलाना अर्थ को छोड़ कर मित् नहीं होती[3]—**आयामयते** (लम्बा करता है) । **यमयति ब्राह्मणान्** (परिवेषयत्यन्नेन), ब्राह्मणों को भोजन परोसता है । अमन्त होने से सर्वत्र मित्त्व प्राप्त था ।

४१९—स्खद् धातु (भ्वा०) भगाना, अथवा फाड़ना अर्थ में पढ़ी है—यह अप, अव, परि-पूर्वक हो तो मित् नहीं होती[4]—**अपस्खादयति । अवस्खादयति । परिस्खादयति** । अन्यत्र **स्खदयति । प्रस्खदयति** ।

फण् (भ्वा० प० जाना)—इसे कोई घटादि मानते हैं, कोई नहीं । **फणयति । फाणयति** ।

४२०—गति-बुद्धि-प्रत्यवसानार्थ-शब्द-कर्माकर्मकाणामणि कर्ता स णौ (१।४।५२) । यह सूत्र नियमार्थ है । णिजर्थ=प्रेरणा का कर्म होने से सभी अण्यन्त धातुओं के कर्ता ण्यन्तावस्था में कर्म होने चाहिएँ । उन सब की कर्मता प्राप्त है । ऐसा होने पर शास्त्रकार नियम करता है कि केवल गत्यर्थक, बोधार्थक, भक्षणार्थक, शब्द-कर्मक (शब्द=ग्रन्थ) धातुओं का कर्ता ण्यन्तावस्था

---

१. न कम्यमिचमाम् (ग० सू०) ।
२. शमो दर्शने (ग० सू०) ।
३. यमोऽपरिवेषणे (ग० सू०) ।
४. स्खदिरवपरिभ्यां च (ग० सू०) ।

में कर्म होता है और किसी भी धातु का नहीं। 'प्रत्यवसान' भक्षण अर्थ में यहाँ व्याकरण-शास्त्र में प्रयुक्त हुआ है, अन्यत्र इस अर्थ में इसका प्रयोग दुर्लभ है।

उदाहरण

१. **कारव आवेशनं यान्ति** कारीगर कारखाने को जाते हैं।	१. **कारून् आवेशनं यापयति स्वामी।** मालिक कारीगरों को कारखाने को भेजता है।
२. **शिष्या वेदार्थं विदन्ति**	२. **शिष्यान् वेदार्थं वेदयति गुरुः।**
३. **बटवो व्याकरणमधीयते** ब्रह्मचारी व्याकरण पढ़ते हैं।	३. **बटून् व्याकरणमध्यापयत्युपाध्यायः।** गुरु ब्रह्मचारियों को व्याकरण पढ़ाता है।
४. **विप्राः श्राद्धं भुञ्जते**	४. **विप्रान् श्राद्धं भोजयति गृही।**
५. **यतय आसन्द्यां निषीदन्ति** यति आसन पर बैठते हैं।	५. **यतीनासन्द्यां निषादयति गृहस्थः।** यतियों को गृहस्थ आसन पर बिठाता है।
६. **शिशुः शेते**	६. **माता शिशुं शाययति।**
७. **निद्राति वत्सः**	७. **निद्रापयति वत्समम्बा।**

गत्यर्थक आदि धातुओं से भिन्न किसी ण्यन्त धातु के प्रयोग में अण्यन्त का कर्ता कर्म नहीं बनता—**पचत्योदनं देवदत्तः। पाचयत्योदनं देवदत्तेन यज्ञदत्तः**। यहाँ अण्यन्त का कर्ता देवदत्त कर्म न होकर अनुक्त होने से तृतीयान्त प्रयुक्त हुआ है। **प्रागन्तरिक्षगमनात्स्वमपत्यजातम्, अन्यैर्द्विजैः परभृताः खलु पोषयन्ति,** अन्तरिक्ष में उड़ने से पूर्व कोयलें अपने बच्चों का पोषण दूसरे पक्षियों से करवाती हैं।

जयोदाहरणं बाह्वोर्गापयामास किन्नरान्(रघु० ४।७८)। यहाँ 'जयोदाहरण' जय घोषणा करने वाले ग्रन्थविशेष का नाम है। अतः यहाँ गै धातु शब्दकर्मक है। सो अण्यन्तावस्था के कर्ता 'किन्नराः' की ण्यन्तावस्था में कर्म संज्ञा होकर अनुक्त कर्म में द्वितीया हुई। **साङ्गं च वेदमध्याप्य किञ्चिदुत्क्रान्तशैशवौ। स्वकृतिं गापयामास कविप्रथमपद्धतिम्** (रघु० १५।३३)॥ यहाँ स्वकृति रामायण है, अतः 'गै' शब्दकर्मक है। **ब्राह्मणान् स्वस्ति वाचयेत्** (अथर्वपरिशिष्ट)। यहाँ ब्रू (वच्) शब्दकर्मक है। 'स्वस्ति' से स्वस्ति-मन्त्रों का ग्रहण है।

अण्यन्त का कर्ता कर्म बन जाता है ऐसा कहा है। अतः ण्यन्त का कर्ता ण्यन्त धातु से णिच् करने पर कर्म नहीं बनता—कारून् आवेशनं यापयति स्वामी। यहाँ 'यापि' से पुनः णिच् करने पर 'कारून् आवेशनं यापयति स्वामिना राष्ट्रियः' में 'स्वामिन्' कर्ता के अनुक्त होने पर इससे तृतीया हुई।

४२१—गत्यर्थक होने पर नी, वह् के अण्यन्तावस्था का कर्ता ण्यन्तावस्था में कर्म नहीं बनता[1], हाँ यदि वह् का कर्ता नियन्ता (=सारथि, अश्व आदि को हाँकने वाला) हो तो कर्मत्व का निषेध नहीं होता[2]—**वाहयति रथं वाहान् सूतः** (वाहा रथं वहन्ति, तान्प्रयुङ्क्ते सूतः)। परन्तु **नाययति वाहयति वा भारं देवदत्तेन भृत्येन यज्ञदत्तः**, यज्ञदत्त देवदत्त नामक नौकर से भार उठवाता है।

४२२—आदि (अद् का ण्यन्त), खादि (खाद् का ण्यन्त) धातुओं के भक्षणार्थक होने से जो कर्मत्व प्राप्त था वह नहीं होता[3]—**आदयति खादयति वा मोदकान् वत्सेन**, बच्चे को लड्डू खिलाता है। **तां श्वभिः खादयेद्राजा** (मनु० (८।३७१)।

४२३—भक्षि (ण्यन्त) के प्रयोग में यदि कर्ता द्वारा भक्षण क्रिया से हिंसा न होती हो तो अण्यन्तावस्था का कर्ता कर्म नहीं बनता।[4] अनुक्त होने से कर्ता से तृतीया आती है—**भक्षयत्यन्नं बटुना**। हिंसा होने पर तो यथाप्राप्त कर्मत्व होता ही है—**भक्षयति बलीवर्दान् सस्यम्**, बैलों को सस्य खिलाता है। खेत में उपज रहा अन्न वैसे ही सजीव (प्राणयुक्त) है जैसे मनुष्य, ऐसा मानने पर सस्य के बैलों द्वारा खाए जाने से हिंसा होती है यह उपपन्न होता है।

४२४—जल्प् आदि शब्द-क्रियक धातुओं के प्रयोग में भी अण्यन्तावस्था का कर्ता ण्यन्तावस्था में कर्म बन जाता है[5] ऐसा वार्तिककार कहते हैं—

---

१. नीवह्योर्न (वा०)।

२. नियन्तृकर्तृकस्य वहेरनिषेधः (वा०)। **कालोऽतिवहति** (समय निकल रहा है)। यहाँ अति वह् अकर्मक है। **कालमतिवाहयति देवदत्तः**। अण्यन्तावस्था के कर्ता 'काल' के प्रयोज्य कर्म होने से उसमें द्वितीया हुई।

३. आदि-खाद्योर्न (वा०)।

४. भक्षेरहिंसार्थस्य न (वा०)।

५. जल्पतिप्रभृतीनामुपसंख्यानम् (वा०)। गति-बुद्धि—सूत्र में ज्ञान-

पुत्रो धर्मं भाषते । देवदत्तः पुत्त्रं धर्मं भाषयति, देवदत्त पुत्त्र से धर्म का व्याख्यान करवाता है । दृश् धातु के प्रयोग में भी ऐसा ही जानो[1]—**भक्ता हरिं पश्यन्ति । भक्तान् हरिं दर्शयति भक्तिः ।**

४२५—क्यङन्त धातु 'शब्दाय' के प्रयोग में जल्प् आदि के अन्तर्गत होने से जो कर्मत्व प्राप्त था उसे वार्तिककार रोकते हैं[2]—**शब्दायते (=शब्दं करोति) शुकः । शब्दाययति शुकेन ।**

सूत्र में अकर्मक कहने से वे धातुएँ विवक्षित हैं जिनका देश, काल आदि से भिन्न कर्म संभव नहीं । जो कर्म के अविवक्षित होने से अकर्मक बन जाती हैं वे यहाँ अकर्मक ग्रहण से गृहीत नहीं होतीं । अतः देवदत्तेन पाचयति इत्यादि में सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती । यहाँ कर्म ओदन आदि अविवक्षित है ।

४२६—हृ, कृ—धातुओं के प्रयोग में अण्यन्तावस्था का कर्ता ण्यन्तावस्था में विकल्प से कर्म होता है[3]—**देवदत्तेन देवदत्तं वा कटं कारयति । भृत्येन भृत्यं वा सन्देशं हारयति । रामः कारयितव्यो मे मृतस्य सलिलक्रियाम् ।** (रा० २।१४।१६) । **करमाहारयिष्यामि राज्ञः सर्वान्नृपोत्तम** (भा० सभा० २५।३) । जब अभ्यवपूर्व हृ (खाना) का प्रयोग हो तब पूर्व सूत्र से कर्मत्व प्राप्त ही है—**अभ्यवहारयति तृणं सैन्धवान्,** घोड़ों को घास खिलता है । इस सूत्र से प्राप्त का विकल्प होकर पक्ष में **अभ्यवहारयति तृणं सैन्धवैः** में कर्म संज्ञा का अभाव होगा ।

अन्यत्र अप्राप्त विभाषा है—**हारयति सन्देशं दूतं दूतेन वा,** दूत द्वारा सन्देश पहुँचाता है । कृ भी जब विकार (वृथा चेष्टा) अर्थ में प्रयुक्त होती है तब अकर्मक होती है । अकर्मक होने से कृ के प्रयोग में भी ण्यन्तावस्था में

सामान्यवाचक धातुएँ ली जाती हैं, ज्ञानविशेषवाचक नहीं, ऐसा दीक्षित जी मानते हैं । इसके अनुसार स्मृ, घ्रा आदि के प्रयोग में अण्यन्तावस्था का कर्ता ण्यन्तावस्था का कर्म नहीं बनता—**स्मारयति देवदत्तेन कृतपूर्वं व्यलीकम् । घ्रापयति कुन्दकुसुमं यज्ञदत्तेन ।** इस मत के अनुसार **य एव दुःस्मरः काल-स्तमेव स्मारिता वयम्** (उत्तररा०) इत्यादि कवियों के प्रयोगों में द्विकर्मकता दुर्घट ही है ।

१. दृशेश्च (वा०) ।

२. शब्दायते र्न (वा०) ।

३. हृक्रोरन्यतरस्याम् (१।४।५३) ।

कर्मत्व प्राप्त ही है, इससे विकल्प होगा—**विकारयति सैन्धवान् सैन्धवैर्वा।** अन्यत्र अप्राप्त विभाषा है—**कारयति कटं देवदत्तं देवदत्तेन वा।**

एतत्कार्यमवश्यं त्वां कारयिष्ये बलादपि (रा० ३।४४।२१)।

वाणिज्यं कारयेद् वैश्यं शूद्रं तु कारयेद् दास्यम् (मनु० ८।४१०)।

४२७—ण्यन्त अभिवादि तथा दर्शि जब आत्मनेपदी हों तो अण्यन्तावस्था का कर्ता ण्यन्तावस्था में विकल्प से कर्म बनता है[1]—**अभिवदति देवं भक्तः, तमन्यः प्रेरयति अभिवादयते देवं भक्तं भक्तेन वा।** इसी प्रकार **पश्यन्ति देवं भक्ताः। दर्शयते देवं भक्तान् भक्तैर्वा।** वद सन्देशवचने यह चुरादि आधृषीय धातु है। धातुओं के अनेकार्थक होने से यह नमस्कारार्थक हो जाती है।

इति णिजन्तप्रक्रियाऽपवृक्ता।

अथान्तर्भावितण्यर्थकाः

निवृत्तप्रेषणाद् धातोः प्राकृतेर्थे णिजुच्यते (वाक्य०), अर्थात् प्रेषण=प्रेरणा के न होने पर भी चुरादि-व्यतिरिक्त धातुओं से भी प्रकृत्यर्थ में (स्वार्थ में) जिस प्रकार णिच् आता है वह हम चुरादिगण के अन्त में दिखा चुके हैं। अब हमें यह दिखाना इष्ट है कि हेत्वर्थानुप्रवेशोपि बुद्ध्यारोपाण्णिचं विना (वाक्य०) अर्थात् णिच् के बिना भी बुद्धि द्वारा आरोप के कारण हेत्वर्थ (प्रेषण=प्रेरणा) की प्रतीति होती है। सूत्रकार उपपूर्वक सकर्मक रम् से परस्मैपद विधान करते हैं। उपाच्च (१।३।८४)। रम् में सकर्मकता बिना णिच् के आ नहीं सकती और ण्यन्त से यह परस्मैपद विधान नहीं किया है। अतः अन्तर्भावित-ण्यर्थक रम् धातु सूत्रकार को अभिप्रेत है। तभी **देवदत्त-मुपरमति** (=देवदत्तमुपरमयति) यह प्रयोग उपपन्न होता है। ऐसे ही वैदिक व लौकिक संस्कृत साहित्य में अनेक तिङन्त प्रयोग मिलते हैं जहाँ णिच् का प्रयोग नहीं है, पर णिजर्थ की प्रतीति होती है। उनमें से कुछ यहाँ विनेय-विनयार्थ देते हैं—**जजान गर्भं महिमानमिन्द्रम्** (अथर्व ३।१०।१२)। जजान=जनयामास। **कथमादित्यसदृशं मृगी व्याघ्रं जनिष्यति** (भा० आदि० १३७। १६)। जनिष्यति=जनयिष्यति। **इन्द्रमुक्थानि वावृधुः समुद्रमिव सिन्धवः** (ऋ० ८।६।३५)। 'वावृधुः' में अभ्यास-दीर्घ छान्दस है। **परराष्ट्राणि निर्जित्य स्वराष्ट्रं ववृधुः पुरा** (भा० १।५५४०)। **यो वै वेदांश्च प्रहिणोति**

१. अभिवादि-दृशोरात्मनेपदे वेति वाच्यम् (वा०)।

तस्मै (श्वेताश्व० ६।१८) । 'हि' का प्रेरणार्थक ण्यन्त प्रयोग साहित्य में दुर्लभ है । हेरचङि (७।३।५६) इस सूत्र के निर्माण से पता चलता है कि सूत्रकार के समय में और उससे पूर्व ण्यन्त 'हि' का प्रयोग अवश्य होता था, अन्यथा चङ् प्रत्यय के दुर्लभ होने से चङ् परे रहते अभ्यासोत्तरखण्ड में कुत्व न विधान करते ।

वान्ति पर्णशुषो वाता वान्ति पर्णमुचोऽपरे ।
वान्ति पर्णरुहोऽप्यन्ये ततो देवः प्रवर्षति ।।

इस पद्य में अण्यन्त शुष्, मुच् तथा रुह् का ण्यन्त शुष् आदि के अर्थ में प्रयोग स्पष्ट है, यद्यपि उणादि सूत्रकार यहाँ णि-लुक् का विधान करता है । **निरिन्द्र बृहतीभ्यो वृत्रं धेनुभ्यो अस्फुरः** (ऋ० ८।३।१९) । यहाँ अस्फुरः= अस्फोरयः । निर् अस्फुरः=निरस्फोरयः=निरकासयः । राजनि युधिकृञः (३।२।९५) में युध् अन्तर्भावित-ण्यर्थ है । **राजानं योधितवान् इति राजयुध्वा । न हि त्वा शूरो न तुरो न धृष्णुर्युयोध** (ऋ० ६।२५।५) । यहाँ भी युयोध= योधयामास । **न वारयेद् गां धयन्तीं न चाचक्षीत कस्य चित्** (मनु० ४।५९) । धयन्तीं=धापयन्तीं । **कथं वातो नेलयति कथं न रमते मनः** (अथर्व० १०।७। ३७) । रमते=रमयति । **रमते तत्र वै देवो रममाणो गिरेः सुताम्** (हरिवं० १५७६) । रममाणः=रमयमाणः । **मातरं पितरं चापि मा मज्जीः शोक-सागरे** (भा० वन०) । मज्जीः=माङ्क्षीः (पाणिनीय)=ममज्जः (मस्ज्, णिच्, लुङ्, चङ्) । **पीताः शराः** । यहाँ 'पा' का अन्तर्भावितण्यर्थ में प्रयोग है । अर्थ है—पीताः कर्मणि तेजनद्रव्यं पायिताः । **कुञ्जरेण स्रवता मदम्** (भा० ६।४२६४) । स्रवता=स्रावयता । **दीर्घश्रवसे मधु कोशो अक्षरत्** (ऋ० १।११२।११) । अक्षरत्=अक्षारयत्=असिञ्चत् । मधु=माधुर्योपेतं जलम् । कोशः=मेघः ।

इत्यन्तर्भावितण्यर्थकाः ।

सन्नन्त प्रक्रिया

संस्कृत में "मैं जाना चाहता हूँ", "तुम सुनना चाहते हो", "हम पीना चाहते हैं", "वे खाना चाहते हैं" आदि वाक्यों के अर्थ को कहने के दो प्रकार हैं—एक तो √ या जाना, √ श्रु सुनना, √ पा पीना, √ अश् खाना का तुमुन्नन्त अथवा ल्युडन्त बनाकर साथ में √ इष् चाहना का तिङन्त प्रयोग करना। जैसे—अहं यातुम् (यानम्) इच्छामि, त्वं श्रोतुम् (श्रवणम्) इच्छसि, वयं पातुम् (पानम्) इच्छामः, तेऽशितुम् (अशनम्) इच्छन्ति।

४२८—दूसरा इन्हीं धातुओं से परे सन् (स) प्रत्यय करके नई धातु की कल्पना करना जो इन धातुओं के अर्थ को भी कहे और √ इष् के अर्थ को भी। जैसे—अहं यियासामि। त्वं शुश्रूषसे। वयं पिपासामः। तेऽशिशिषन्ति। यहाँ हम देखते हैं कि इन वाक्यों में यान, श्रवण, पान अशन इच्छा का विषय हैं, सो **अर्थ द्वारा या, श्रु, पा, अश् धातुएँ इष् धातु का कर्म हैं**। और यह भी कि जो जाने आदि क्रिया का कर्ता है वही √ इष् का है। सो यह **सन् प्रत्यय तभी दूसरी धातुओं से आता है जब वे धातुएँ और √ इष् समानकर्तृक हों**।[1] इसलिये 'इच्छामि स यायादिति'=मैं चाहता हूँ वह चला जाय, इस वाक्य में √ या से सन् नहीं हो सकता क्योंकि यहाँ जाने की क्रिया का कर्ता और है और चाहने की क्रिया का और। सन् के अभाव में वाक्य रहता है, यह सूत्र में वा-ग्रहण से स्पष्ट है।

सन्नन्त धातुओं की रचना

धातुमात्र से इच्छा अर्थ में सन् (स) प्रत्यय किया जा सकता है। सन् वलादि आर्धधातुक प्रत्यय है। धातु और सन् के समुदाय को भी धातु माना गया है (१३७), और वह सन्नन्त धातु कहलाती है।

४२९—सन् आने पर सन्नन्त (अनभ्यस्त) धातु को द्वित्व किया जाता है।[2] यदि धातु एकाच्=एक स्वर वाली है तो सारी धातु को द्वित्व होता

---

१. धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा (३।१।७)।

२. सन्यङोः (६।१।९)।

है। यदि धातु अनेकाच् (एक से अधिक स्वर वाली) हो तो उसके प्रथम एकाच् भाग को द्वित्व होता है, यदि धातु अजादि हो तो द्वितीय एकाच् को द्वित्व होता है (२७९)। द्वित्व हो जाने पर पूर्वखण्ड को "अभ्यास" कहते हैं (१०६)। द्वित्व करने से पहले यदि धातु सेट् है तो वलादि आर्धधातुक होने से सन् से पूर्व इट् (इ) का आगम होता है (१७७)। अभ्यास को जो विशेष कार्य किया जाता है वह नीचे दिया जाता है—

(१) अभ्यास के आदि हल् (=व्यञ्जन) को छोड़कर शेष का लोप कर दिया जाता है (११३)। यदि अभ्यास के आदि में शर् (=श्, ष्, स्) हों जो खय्=क्, ख्, च्, छ्, ट्, ठ्, त्, थ्, प्, फ्) से संयुक्त हों तो श्, ष्, स् का लोप होता है और 'खय्' शेष रहते हैं (२८१)।[1] (२८०) से अच् से परे संयोग के आदि-भूत द्वितीय एकाच् के अवयव न् द् र् द्विरुक्त नहीं होते।[2]

(२) अभ्यास के दीर्घ स्वर को ह्रस्व होता हैं (११६)।

(३) अभ्यास के 'ऋ' को 'अ' होता है। ऋ के स्थान में यह आदेश 'रपर' होगा, अर्थात् 'अर्'।

४३०—(४)—अभ्यास के 'अ' को 'इ' होता है।[3]

(५) अभ्यास के झल् के स्थान में जश् और चर् होते हैं। झश् के स्थान में जश् और खर् के स्थान में चर्, ऐसा विवेक समझें (१०९)।

(६) अभ्यास के कवर्ग और ह् के स्थान में चवर्ग हो जाता है (१०७)। आदेश स्थानी के अन्तरतम (सदृशतम) होता है अतः संवार, नाद, घोष, महाप्राण 'ह्' के स्थान में वैसा ही 'झ्' आदेश होगा। फिर झश् के स्थान में जश् होने से 'ज्'। अभ्यास के खर् को चर् होता है।

४३१—ग्रह्, गुह्, तथा उगन्त धातुओं को सन्प्रत्यय परे रहते इट् नहीं होता।[4] ग्रह् से नित्य इट् प्राप्त था और गुह् से ऊदित् होने से इट् का विकल्प। सन् परे रहते निषेध कर दिया है।

४३२—इगन्त अङ्ग से परे झलादि सन् कित् होता है।[5]

---

१. शर्पूर्वाः खयः (७।४।६१)।

२. न न्द्राः संयोगादयः (६।१।३)।

३. सन्यतः (७।४।७९)।

४. सनि ग्रह-गुहोश्च (७।२।१२)।

५. इको झल् (१।२।९)।

४३३—इक्-समीपवर्ती जो हल्, उससे परे झलादि सन् कित् होता है[1]। सूत्र में 'अन्त' शब्द समीपवाची है। हल् चासाव् अन्तश्च ऐसा विशेषण समास है।

सन्नन्त धातु के वैसे ही रूप चलते हैं जैसे भ्वादि गण की धातुओं के।

४३४—यदि कोई धातु सन् आने से पूर्व आत्मनेपदी है तो सन्नन्त धातु से भी आत्मनेपद प्रत्यय होता है अपवाद विषय को छोड़कर। जिस निमित्त से सन् से पूर्व धातु से आत्मनेपद होता है उसी निमित्त से सन्नन्त से भी आत्मनेपद होता है।[2]

आस् अनुदात्तेत् है—**आस्ते**। इसी निमित्त से सन्नन्त 'आसिष' से भी आत्मनेपद होगा—**आसिसिषते**। शीङ् ङित् है—**शेते**। इसी ङित्त्व निमित्त से सन्नन्त शिशयिष से भी आत्मनेपद होता है—**शिशयिषते**। निपूर्वक विश् से आत्मनेपद विधान किया है—**निविशते**। इसी उपसर्ग निमित्त से सन्नन्त निविविक्ष से भी आत्मनेपद होगा—**निविविक्षते**। आङ्पूर्वक क्रम् से ज्योतिरुद्गमन अर्थ में आत्मनेपद विधान किया है—**आक्रमते (सूर्यः)**। इसी निमित्त से **आचिक्रंसते**—यहाँ भी आत्मनेपद हुआ। पर **शिशत्सति**। **मुमूर्षति**—यहाँ सन्नन्त शद् तथा सन्नन्त मृ से आत्मनेपद नहीं होता, कारण कि केवल शद् व मृ से आत्मनेपद का निमित्त धातुमात्र नहीं, अपितु शित् प्रत्यय भी है, वह शित् प्रत्यय सन् परे रहते है नहीं। **अनुचिकीर्षति**। **पराचिकीर्षति**—यहाँ अनु-परा-पूर्वक कृ से परस्मैपद-विधान करने के कारण आत्मनेपद-निमित्त का प्रतिषेध कर दिया है, सो जिससे पहले ही निमित्तभाव का प्रतिषेध हो चुका है, उसका सन्नन्त में निमित्तत्व कहाँ। गुप्, मान् से निन्दा और जिज्ञासा अर्थ में सन् होता है। गुप्, तथा मान् अनुदात्तेत् पढ़ी हैं। इन से क्रम से आय तथा णिच् प्रत्यय आने से अनुबन्ध व्यर्थ रहता है। अतः अवयव में किया हुआ यह व्यर्थ मत हो इस लिये समुदाय (सन्नन्त) का मान लिया जाता है। सो सन्नन्त से आत्मनेपद होता है—**जुगुप्सते**। **मीमांसते**। अवयवे कृतं लिङ्गं समुदायस्य विशेषकं भवति।

यहां कुछ-एक धातुओं की सन्नन्त प्रक्रिया का क्रम दिखाते हैं। भू-सन् (स)। यहाँ (३३१) से इट् का निषेध और (३३२) से झलादि सन् के कित्

---

१. हलन्ताच्च (१।२।१०)।

२. पूर्ववत्सनः (१।३।६२)।

होने से गुणाभाव। भू भू स (द्वित्व होने पर)। भु भू स (ह्रस्व होने पर)। बु भू स (अभ्यास को आदेश होने पर)। बु भू ष (षत्व विधि से स् को ष् होने पर)। अब बुभूष धातु से लट् प्र० पु० एकवचन तिप् लाकर शप् (=अ) विकरण करके और बुभूष के ष के 'अ' को अतो गुणे (८) से पर-रूप करके 'बुभूषति' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार लट् के दूसरे पुरुषों और वचनों में तथा दूसरे लकारों में रूप चलेंगे।

भू (सन्नन्त बुभूष)

लट्

प्र० पु०	बुभूषति (होना चाहता है)	बुभूषतः	बुभूषन्ति
म० पु०	बुभूषसि	बुभूषथः	बुभूषथ
उ० पु०	बुभूषामि	बुभूषावः	बुभूषामः

लिट्

प्र० पु०	बुभूषाञ्चकार[1]	बुभूषाञ्चक्रतुः	बुभूषाञ्चक्रुः
म० पु०	बुभूषाञ्चकर्थ	बुभूषाञ्चक्रथुः	बुभूषाञ्चक्र
उ० पु०	बुभूषाञ्चकार / बुभूषाञ्चकर	बुभूषाञ्चकृव	बुभूषाञ्चकृम

√भू और √अस् का अनुप्रयोग होने पर बुभूषाम्बभूव, बुभूषामास इत्यादि रूप होंगे।

लुट्

प्र० पु०	बुभूषिता[2]	बुभूषितारौ	बुभूषितारः
म० पु०	बुभूषितासि (८५)	बुभूषितास्थः	बुभूषितास्थ
उ० पु०	बुभूषितास्मि	बुभूषितास्वः	बुभूषितास्मः

लृट्

प्र० पु०	बुभूषिष्यति	बुभूषिष्यतः	बुभूषिष्यन्ति
म० पु०	बुभूषिष्यसि	बुभूषिष्यथः	बुभूषिष्यथ
उ० पु०	बुभूषिष्यामि	बुभूषिष्यावः	बुभूषिष्यामः

---

१. बुभूष धातु के प्रत्ययान्त होने से (३७२) से आम् होकर, आम् से परे लिट् का लुक् होकर लिट् परक कृ, भू, अस् का अनुप्रयोग होता है।

२. बुभूष तास् डा। बुभूष इ ता। बभूष अनेकाच् है अतः इस से परे वलादि आर्धधातुक तास् को इट् आगम हुआ। (४१) से ष के 'अ' का लोप।

लोट्

प्र० पु०	बुभूषतु	बुभूषताम्	बुभूषन्तु
म० पु०	बुभूष	बुभूषतम्	बुभूषत
उ० पु०	बुभूषाणि	बुभूषाव	बुभूषाम

लङ्

प्र० पु०	अबुभूषत्	अबुभूषताम्	अबुभूषन्
म० पु०	अबुभूषः	अबुभूषतम्	अबुभूषत
उ० पु०	अबुभूषम्	अबुभूषाव	अबुभूषाम

विधिलिङ्

प्र० पु०	बुभूषेत्	बुभूषेताम्	बुभूषेयुः
म० पु०	बुभूषेः	बुभूषेतम्	बुभूषेत
उ० पु०	बुभूषेयम्	बुभूषेव	बुभूषेम

आशीर्लिङ्

प्र० पु०	बुभूष्यात्[1]	बुभूष्यास्ताम्	बुभूष्यासुः
म० पु०	बुभूष्याः	बुभूष्यास्तम्	बुभूष्यास्त
उ० पु०	बुभूष्यासम्	बुभूष्यास्व	बुभूष्यास्म

लुङ्

प्र० पु०	अबुभूषीत्[2]	अबुभूषिष्टाम्	अबुभूषिषुः

---

१. (४१) से आर्धधातुक प्रत्यय यास्त् परे होने पर 'ष' के 'अ' का लोप हो जाता है। सुट् तिथोः (३।४।१०७) से लिङ् सम्बन्धी त, थ को सुट् आगम होता है। स्कोः संयोगाद्योरन्ते च (८।२।२९) से पदान्त संयोग का आदि होने से सुट् तथा यासुट् इन दोनों के सकार की निवृत्ति हो जाती है।

२. इट ईटि (२५४) से सिच् का लोप। धातु के अदन्त होने से हलन्त-लक्षणा वृद्धि का अभाव। (४१) से 'ष' के 'अ' का लोप करने पर भी अचः परस्मिन्पूर्वविधौ (विधि सं० ४२), पर-निमित्तक अजादेश (प्रकृत में 'अ' का लोप) पूर्व विधि (प्रकृत में हलन्त अङ्ग के अच्-ऊ को वृद्धि) की कर्तव्यता में स्थानिवत् होता है, इस वचन से अ-लोप के स्थानिवत् होने से वृद्धि का प्रसङ्ग ही नहीं, तो नेटि सूत्र की प्रवृत्ति का विषय नहीं है।

म० पु०	अबुभूषीः	अबुभूषिष्टम्	अबुभूषिष्ट
उ० पु०	अबुभूषिषम्	अबुभूषिष्व	अबुभूषिष्म

लृङ्

प्र० पु०	अबुभूषिष्यत्	अबुभूषिष्यताम्	अबुभूषिष्यन्
म० पु०	अबुभूषिष्यः	अबुभूषिष्यतम्	अबुभूषिष्यत
उ० पु०	अबुभूषिष्यम्	अबुभूषिष्याव	अबुभूषिष्याम

४३५—अजन्त अङ्ग, हन्, इण् अथवा इङ् का आदेश जो गम्—इनके अच् को दीर्घ हो जाता है झलादि सन् परे होने पर।[1]

धातु	अर्थ	सन्नन्त धातु	लट् प्र० पु० ए०
पू (ञ्)	पवित्र करना, छानना	(पुपूष पवित्र करने की इच्छा करना)	पुपूषति-ते (४३२)
लू (ञ्)	काटना	लुलूष(काटने की इच्छा करना)	लुलूषति-ते (४३२)
गुह् ऊदित्	छिपाना	जुघुक्ष (४३१)	जुघुक्षति-ते
चि (ञ्)	चुनना	चिचीष (४३५) चिकीष (३३३)	चिचीषति-ते चिकीषति-ते
जि	जीतना	जिगीष (३३२) (जीतना चाहना)	जिगीषति
श्रु	सुनना	शुश्रूष (४३५) (सुनना चाहना)	शुश्रूषते[2]
स्तु	स्तुति करना	तुष्टूष[3]	तुष्टूषति-ते
सुञ्	सुरा निकालना	सुसूष	सुसूषति-ते
नी	ले जाना	निनीष	निनीषति-ते

---

१. अज्झनगमां सनि (६।४।१६)।

२. सन्नन्त श्रु से आत्मनेपद होता है, परस्मैपद कभी नहीं।

३. स्तु स्तु स। तु स्तु स। तु स्तू स। तु स्तू ष। तुष्टू ष। अभ्यास के इण् से परे स् को मूर्धन्य ष् स्तु तथा ण्यन्त धातु को ही होता है जब सन् (स) को ष हो चुका हो, ऐसा नियम है। स्तौति-ण्योरेव षण्यभ्यासात् (८।३।६१)। अतः सिच् के सन्नन्त रूप सिसिक्षति में तथा सु के सन्नन्त रूप सुसूषति में मूर्धन्यादेश (षत्व) नहीं होता है।

कृ	करना	**चिकीर्ष**[1] (करना चाहना)	**चिकीर्षति-ते**
हृ	ले जाना, चुराना	**जिहीर्ष**	**जिहीर्षति-ते**
अभिसुञ्	सोम रस निकालना	**अभिसुसूष**[2]	**अभिसुसूषति-ते**
उप दीङ्	क्षीण होना	**उपदिदीष**[3]	**उपदिदीषते**

४३६—स्मि, पूङ्, ऋ, अञ्जू, अशू—इनसे परे सन् को इट् होता है। स्मि अनिट् है उससे अप्राप्ति थी।[4] पूङ् उगन्त है उससे (४३१) से निषेध प्राप्त था। अञ्ज् व अश् ऊदित् हैं उनसे (१६०) से इट् का विकल्प प्राप्त था।

४३७—सन् प्रत्यय परे जो अङ्ग उसके अभ्यास के 'उ' को 'इ' आदेश होता है जब अभ्यास से परे अवर्ण-परक पवर्ग, यण्, अथवा जकार हो।[5]

४३८—सन् प्रत्यय को ष् होने पर अभ्यास के इण् से उत्तर धातु के आदेश-भूत स् को 'स्तु' तथा ण्यन्त धातुओं के विषय में ही ष् होता है और किसी धातु के विषय में नहीं। ऐसा नियम है।[6]

---

१. चिकीर्ष की प्रक्रिया इस प्रकार है—कृ सन्। कृ कृ स। कर् कृ स। (उरत्)। क कृ स (११३)। कि कृ स (४३०)। चि कृ स (१०७)। (४३२) से झलादि सन् के कित् होने से गुण नहीं हुआ। चि कॄ स। (४३५) से दीर्घ। चि किर् स। (१४१) से ॠ को इत् (रपर इ=इर्)। चिकीर् स (११४-ख)। चिकीर्ष (प्रत्यय के स् को इण् (र्) से परे षत्व)। ऐसी ही प्रक्रिया हृ के सन्नन्त रूप जिहीर्ष के विषय में जानें।

२. यहाँ उपसर्गात् सुनोति—(८।३।६५) सूत्र में पढ़ी हुई स्था आदि धातुओं के ही अभ्यास के स् को ष् होता है ऐसा नियम है, इस से यहाँ न तो उपसर्ग-निमित्तक षत्व अभ्यास के स् को हुआ और न अभ्यास के उत्तरवर्ती स् को।

३. दीङ् अनिट् है। (४३२) से झलादि सन् के कित् होने से गुण न हुआ, अतः एज्विषय न होने से (१८८) से आत्व न हुआ। (४३५) से धातु को दीर्घ हुआ। पर्जन्यवत् प्रवृत्तिः सूत्रस्य।

४. स्मि-पूङ्-रञ्ज्वशां सनि (७।२।७४)।

५. ओः पु-यण्-ज्यपरे (७।४।८०)।

६. स्तौति-ण्योरेव षण्यभ्यासात् (८।३।६१)।

धातु	अर्थ	सन्नन्त धातु	लट् पु० पु० ए०
स्मि	मुस्काना	सिस्मयिष[1] (४३६)	सिस्मयिषते
पूङ्(भ्वा०)	पवित्र करना	पिपविष[2]	पिपविषते
ऋ	जाना	अरिरिष[3]	अरिरिषति
अञ्ज्	स्पष्ट करना, लेप, करना, चमकाना	अञ्जिजिष	अञ्जिजिषति
अशू	व्याप्त करना	अशिशिष	अशिशिषते
शी	लेटना, सोना	शिशयिष	शिशयिषते (पूर्ववत्सनः)
रु	शब्द करना	रुरूष[4]	रुरूषति
ब्रू (वच्)	कहना	विवक्ष	विवक्षति-ते
पच्	पकाना	पिपक्ष	पिपक्षति-ते

---

१. स्मि स्मि इ स। सि स्मि इ स। सि स्मे इस। सिस्मयिस। सिस्मयिष। अभ्यास इण् (सकारोत्तरवर्ती इकार) से धातु (स्मिङ्) के आदेश-भूत स् को षत्व प्राप्त होता है। (४३८) से रोक दिया गया। 'स्मि' षोपदेश है।

२. पू सन्। पू इ स। पू पू इ स। द्विर्वचन-निमित्त अच् ('इस' प्रत्यय का) परे होने पर अजादेश (प्रकृत में गुण, अवादेश) नहीं होता जब तक द्विर्वचन नहीं होता। द्विर्वचनेऽचि (१।१।५९)। द्विर्वचन होने पर उत्तर-खण्ड को गुण व अवादेश होकर पू पविस होने पर अभ्यास को ह्रस्व (उ) हो जाने पर (४३७) से 'इ' आदेश होता है। इण् से उत्तर होने से सन् के स् को ष् होने पर 'पिपविष' सन्नन्त धातु सिद्ध होती है।

३. ऋ इ स। गुण रपर। अरिस। द्वितीय एकाच् रिस् को द्वित्व। सन्यङोः सूत्र में सन् षष्ठचन्त है। अतः सन्नन्त कार्यी है। प्रकृत में सन् का अवयव 'स्' कार्यी है। इस का 'इ' द्विर्वचन-निमित्त अच् है। पर कार्यी होने से इसे निमित्त नहीं माना जा सकता, अतः द्विर्वचनेऽचि की प्रवृत्ति न होने से स्थानिवद्भाव नहीं होता।

४. उगन्त होने से (४३१) से इट् का निषेध। (४३२) से झलादि सन् कित् होता है। (४३५) से दीर्घ।

उच्छ्	उषा का फटना	**उचिच्छिष**	**उचिच्छिषति**[1]
पठ्	पढ़ना	**पिपठिष**	**पिपठिषति**
जप्	जपना	**जिजपिष**	**जिजपिषति**
त्यज्	छोड़ना	**तित्यक्ष**	**तित्यक्षति**
व्रज्	जाना	**विव्रजिष**	**विव्रजिषति**
यज्	पूजा करना	**यियक्ष**	**यियक्षति-ते**
मृज्	शुद्ध करना माँजना	**मिमार्जिष** **मिमृक्ष** [2]	**मिमार्जिषति** **मिमृक्षति**

(ऊदित्त्वाद् इड् विकल्पः)

४३६—साभ्यास 'अन्' के दोनों नकारों को ण् होता है उपसर्गस्थ निमित्त होने पर।[3] (६२) से उपसर्गस्थ निमित्त से परे अन् के 'न्' को ण् विधान किया है। उस से णत्व करके पीछे द्वित्व करने पर दोनों नकारों को णत्व सिद्ध हो जायगा। द्विर्वचन की कर्तव्यता में पूर्वत्रासिद्धम् की प्रवृत्ति नहीं होती, त्रिपादीस्थ शास्त्र असिद्धवत् नहीं होता, तो इस सूत्र की क्या आवश्यकता है? ठीक है, पर 'पूर्वत्रासिद्धीयमद्विर्वचने' यह वचन अनित्य है। उस का आश्रयण न करके इस सूत्र का निर्माण किया है। 'प्रणिनाय' आदि में भी इसकी अनित्यता के कारण णत्व को असिद्ध मान कर 'नी' को द्वित्व हुआ है। पीछे अभ्यास को उपसर्ग-निमित्तक णत्व।

---

१. यहाँ सतुक्क च्छ् को (अर्थात् द्वितीय एकाच् च्छिस् को) द्वित्व होता है। द्विर्वचन की कर्तव्यता में पूर्वत्रासिद्धीय श्चुत्व-विधायक शास्त्र असिद्धवत् नहीं होता। हलादिः शेष से छ् की निवृत्ति। यहाँ यह शङ्का होती है कि छ् की निवृत्त हो जाने पर तन्निमित्तक तुक्(च्)की भी निवृत्ति हो जानी चाहिये। उत्तर–निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः–यह वचन अनित्य है। इसमें 'च्छ्वोः शूडनुनासिके च' सूत्र में तुक्-सहित छ् का ग्रहण ज्ञापक है। छ् मात्र को श् कहने पर तुक् (च्) की निवृत्ति छ् के निवृत्त होने से ही हो जाती। निमित्त के चले जाने से नैमित्तिक भी चला जाता है ऐसा नहीं भी होता—यह ज्ञापित होता है।

२. मृज् ऊदित् है अतः (१६०) से इट् का विकल्प होता है। (८७) से गुण के विषय में वृद्धि। इडभाव पक्ष में (४३३) से सन् के कित् होने से गुणाभाव। मृज् को द्वित्व। मार्जितुमिच्छति (मार्ष्टुमिच्छतीति वा)।

३. उभौ साभ्यासस्य (८।४।२१)।

धातु	अर्थ	सन्नन्त धातु	लट् प्र० पु० ए०
चर्	चलना	चिचलिष	चिचलिषति
वस्	रहना	विवत्स (२११)	विवत्सति
वस्	ओढ़ना, ढाँपना	विवसिष	विवसिषते
वह्	उठाना	विवक्ष	विवक्षति-ते
नश्	नष्ट होना	निनशिष, निनङ्क्ष (१६१)	निनशिषति, निनङ्क्षति
प्र अन्	साँस लेना	प्राणिणिष (४३६)	प्राणिणिषति
जन्	उत्पन्न होना	जिजनिष	जिजनिषते
खन्	खोदना	चिखनिष	चिखनिषति-ते
गम्	जाना	जिगमिष	जिगमिषति
संगम्	,,	संजिगंस[1]	संजिगंसते
क्रम्	जाना	चिक्रमिष	चिक्रमिषति
उपक्रम्	प्रारंभ करना	उपचिक्रंस	उपचिक्रंसते
प्रक्रम्	,,	प्रचिक्रंस[2]	प्रचिक्रंसते
भ्रम्	घूमना	बिभ्रमिष	बिभ्रमिषति
क्लम्	थकना, घबराना	चिक्लमिष	चिक्लमिषति
यम्	रोकना	यियंस	यियंसति
रम्	खेलना, आनन्द मनाना	रिरंस	रिरंसते
नम्	झुकना, नमस्कार करना	निनंस	निनंसति

४४०—रुद्, विद्, मुष्, ग्रह्, स्वप्, प्रच्छ्—इनसे क्त्वा और सन् कित् होते हैं।[3]

---

१. संजिगंस—यहाँ अकर्मक संगम् से आत्मनेपद होने से सन्नन्त से भी आत्मनेपद होता है। दीर्घ-विधायक सूत्र में इण् वा इङ् के आदेश गम् का ग्रहण है। स्वतन्त्र गम् धातु का नहीं। अतः दीर्घ नहीं हुआ।

२. प्र-उप-पूर्वक क्रम् से आत्मनेपद आता है। अतः सन्नन्त से भी आत्मनेपद होता है। (१६६) से इट् का निषेध।

३. रुद-विद-मुष-ग्रहि-स्वपि-प्रच्छः संश्च (१।२।८)।

४४१—हलादि रलन्त इ, उ उपधा वाली धातुओं से परे सेट् क्त्वा तथा सेट् सन् विकल्प से कित् होते हैं।[1]

धातु	अर्थ	सन्नन्त धातु	लट् प्र० पु० ए०
क्षिप्	फेंकना	चिक्षिप्स	चिक्षिप्सति-ते
विद्	जानना	विविदिष (४४०)	विविदिषति
भिद्	फोड़ना	बिभित्स (४३३)	बिभित्सति-ते
छिद्	काटना	चिच्छित्स (४३३)	चिच्छित्सति-ते
सिध् (दिवा०)	सिद्ध होना	सिषित्स	सिषित्सति
सिध् (भ्वा०)	जाना	सिसेधिष, सिसिधिष (४४१)	सिसेधिषति, सिसिधिषति
लिख्	लिखना	लिलिखिष, लिलेखिष (४४१)	लिलिखिषति, लिलेखिषति
सिच्	सींचना	सिसिक्ष	सिसिक्षति-ते
लिप्	लीपना	लिलिप्स	लिलिप्सति-ते
विश्	अन्दर जाना	विविक्ष	विविक्षति
इष्	चाहना	एषिषिष[2]	एषिषिषति
ईक्ष्	देखना	ईचिक्षिष[3]	ईचिक्षिषते
परि-पूर्वक ईक्ष्		परीचिक्षिष	परीचिक्षिषते
उख्	जाना	ओचिखिष	ओचिखिषति (उपधा गुण, खिष् को द्वित्व)
लिह्	चाटना	लिलिक्ष	लिलिक्षति
तुद्	चुभोना	तुतुत्स	तुतुत्सति-ते
नुद्	धकेलना	नुनुत्स	नुनुत्सति-ते
सद्	जाना, क्षीण होना, अवसन्न होना	सिषत्स	सिषत्सति

---

१. रलो व्युपधाद्धलादेः संश्च (१।२।२६)। सूत्र में व्युपधात् का ऐसे विग्रह है—उश्च इश्च वी। वी उपधे यस्य तद् व्युपधम्, तस्मात्।

२. उपधा कार्य द्वित्व से प्रबल है अतः नित्य द्वित्व को बाध कर इष् इ स में गुण होकर एष् इस ऐसा होने पर षिस् को द्वित्व होता है।

३. यहाँ क्षिष् को द्वित्व होता है।

नि सद्	बैठना	निषिषत्स	निषिषत्सति
सिच्	सींचना	सिसिक्ष[1]	सिसिक्षति
अभि सिच्	,,	अभिषिषिक्ष[1]	अभिषिषिक्षति
मुद्	प्रसन्न होना	मुमुदिष / मुमोदिष (४४२)	मुमुदिषते / मुमोदिषते
तुष्		तुतुक्ष	तुतुक्षति
पुष् (दिवा०)		पुपुक्ष	पुपुक्षति
बुध् (भ्वा०)	जानना	बुबुधिष / बुबोधिष	बुबुधिषति-ते / बुबोधिषति-ते
बुध् (दिवा०, आ०)	जागना; जानना	बुभुत्स (४३३)	बुभुत्सते
द्युत्	चमकना	दिद्युतिष / दिद्योतिष (४४१)	दिद्युतिषते / दिद्योतिषते
रुच्	पसन्द आना	रुरुचिष / रुरोचिष (४४१)	रुरुचिषते / रुरोचिषते
रुद्	रोना	रुरुदिष (४४०)	रुरुदिषति
मुष्	चुराना	मुमुषिष	मुमुषिषति
रुध्	रोकना	रुरुत्स (४३३)	रुरुत्सति-ते
युध्	युद्ध करना	युयुत्स	युयुत्सते
रुह्	उगना	रुरुक्ष	रुरुक्षति

---

१. अभ्यास इण् से परे (४३८) से धातु के स् को 'ष्' नहीं होता। पर अभिषिषिक्षति में उपसर्गस्थ निमित्त से अभ्यास के 'स्' को तथा अभ्यास से व्यवहित धातु सिच् के 'स्' को ष् हो जाता है सन् के स् को ष् हो जाने पर भी। यह क्यों होता है ? मध्येऽपवादाः पूर्वान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्, दो विधियों के मध्य में पढ़े हुए अपवादसूत्र पूर्व विधि को बाधते हैं, उतने से वे चरितार्थ हो जाते हैं, अतः उत्तरविधि को नहीं बाधते। स्तौति—(८।३।६१) यह नियम आदेशप्रत्यययोः (८।३।५९) को बाधता है। स्थादिष्वभ्यासेन —(८।३।६४) को नहीं।

कुप्	क्रोध करना	चुकोपिष चुकुपिष	(४४१)	चुकोपिषति चुकुपिषति
क्रुध्	क्रोध करना	चुक्रुत्स		चुक्रुत्सति
क्षुभ्	व्याकुल, अशान्त होना	चुक्षुभिष चुक्षोभिष		चुक्षुभिषति चुक्षोभिषति
लुभ्	लोभ करना	लुलुभिष लुलोभिष		लुलुभिषति लुलोभिषति
शुभ्	चमकना	शुशुभिष शुशोभिष		शुशुभिषते शुशोभिषते
भुज्	खाना, अनुभव करना	बुभुक्ष[1]		बुभुक्षते
भुज्	पालना	बुभुक्ष		बुभुक्षति
दुह्	दोहना	दुधुक्ष		दुधुक्षति-ते
कृत्	काटना, कातना	चिकृत्स चिकर्तिष	(१९८)	चिकृत्सति चिकर्तिषति
नृत्	नाचना	निनृत्स निनर्तिष	(१९८)	निनृत्सति निनर्तिषति
वृत्	होना	विवृत्स विवर्तिष	(२००,२०१)	विवृत्सति विवर्तिषते
वृध्	बढ़ना	विवृत्स विवर्धिष	(२००,२०१)	विवृत्सति विवर्धिषते
तृप्	तृप्त होना	तितृप्स तितर्पिष	[2] (१९१)	तितृप्सति तितर्पिषति
दृप्	घमंड करना	दिदृप्स दिदर्पिष		दिदृप्सति दिदर्पिषति

१. भुजोऽनवने (१।३।६६)। पालन अर्थ से अन्यत्र भुज् आत्मनेपदी है। अतः 'पूर्ववत्सनः' से सन्नन्त से आत्मनेपद होता है। भुज् स। (४३३) से सन् के कित् होने से गुण नहीं होता।

२. तृप्, दृप् को इडभाव पक्ष में (२०७) से अम्-आगम-विकल्प नहीं होता, कारण कि (४३३) से सन् प्रत्यय कित् हो जाता है। अम् आगम के लिए झलादि अकित् प्रत्यय चाहिए।

सृज्	उत्पन्न करना	सिसृक्ष[1]	सिसृक्षति
दृश्	देखना	दिदृक्ष	दिदृक्षते[2]
कृष्	खींचना	चिकृक्ष	चिकृक्षति
कृष्	हल चलाना	चिकृक्ष	चिकृक्षति-न्ते
स्पृश्	छूना	पिस्पृक्ष (३३०)	पिस्पृक्षति
हृष्	प्रसन्न होना	जिहर्षिष	जिहर्षिषति

४४२—मी, मा तथा घु-संज्ञक (दा, दाण्, देङ् दो, धा, धेट्), रभ्, लभ्, शक्, पत्, पद्—इनके 'अ' को 'इस्' हो जाता है सकारादि सन् परे रहते।[3]

४४३—इस प्रकरण में मी मा आदि धातुओं के अभ्यास का लोप हो जाता है।[3]

तन्, पत् दरिद्रा, को सन् परे इट् विकल्प से होता है।[4] जब इट् नहीं होता तब पत् को उक्त कार्य होता है। 'इस्' के 'स्' को (२११) से 'त्' हो जाता है 'स्' परे होने पर। अन्यत्र स्-भिन्न झल् परे होने पर संयोग का आदि होने से 'स्' का लोप हो जाता है। सूत्र में मी (ञ्) से मिञ् का भी ग्रहण है (४३५) से सन् परे दीर्घ हो जाने से। 'मा' से माङ् और मेङ् (कृतात्व) का भी ग्रहण है।

४४४—दरिद्रा धातु के 'आ' का लोप आर्धधातुक प्रत्यय की विवक्षा में कहा है वह सन् प्रत्यय परे रहते नहीं होता। इडादि आर्धधातुक प्रत्यय परे रहते जो (२२१) से आ-लोप विधान किया है, वह निर्बाध होता है।[5]

धातु	अर्थ	सन्नन्त धातु	लट् प्र० पु० ए०
रभ्	आरम्भ करना	रिप्स	रिप्सते

---

१. सृज् तथा दृश् को भी झलादि अकित् प्रत्यय परे रहते अम् आगम विधान किया है (२०६)। (४३३) से सन् प्रत्यय के कित् होने से अम् नहीं होता।

२. सन्नन्त दृश् से आत्मनेपद होता है, यथाप्राप्त परस्मैपद नहीं।

३. सनि मी-मा-घु-रभ-लभ-शक-पत-पदामच इस् (७।४।५४)। अत्र लोपोऽभ्यासस्य (७।४।५८)।

४. तनि-पति-दरिद्रातिभ्य उपसंख्यानम् (वा०)।

५. सनि ण्वुलि ल्युटि च न (वा०)।

लभ्	प्राप्त करना	लिप्स	लिप्सते
शक्	समर्थ होना	शिक्ष	शिक्षति
शक्	जिज्ञास्य विषय में समर्थ होने की इच्छा करना	शिक्ष	शिक्षते[1]
पत्	जाना, गिरना	पित्स पिपतिष	पित्सति पिपतिषति
पद्	जाना, प्राप्त करना	पित्स	पित्सते
दरिद्रा	दुर्गत होना	दिदरिद्रास दिदरिद्रिष	दिदरिद्रासति दिदरिद्रिषति

४४५-क—आप्, ज्ञपि, ऋध् इन अङ्गों के अच् को 'ई' आदेश होता है सकारादि सन् परे होने पर।[2] ज्ञपि और ऋध् को वक्ष्यमाण सूत्र से सन् प्रत्यय को इट् का विकल्प कहा है। इडभाव-पक्ष में यह विधि होगी।

४४५-ख—सनि मी-मा—सूत्र से प्रारम्भ होने वाले इस प्रकरण में अभ्यास का लोप होता है। ज्ञपि स्वार्थ-ण्यन्त चुरादि है।

४४६ – हिंसार्थक राध् (जो प्रायः प्रति अथवा अप-पूर्वक प्रयुक्त होती है) के अच् को इस् आदेश होता है सन् परे होने पर।[3]

४४७—तन् धातु की उपधा को विकल्प से दीर्घ हो जाता है झलादि सन् परे रहते।[4] तन् को सन् परे रहते इट् का विकल्प कहा है।

४४८—कॄ, गॄ, दृङ्, धृङ्, प्रच्छ्—इनसे परे सन् को इट् आगम होता है।[5] कॄ, गॄ सेट् हैं, पर (४३१) से सन् परे इट् का निषेध प्राप्त था। शेष तीन धातुएँ अनिट् हैं, उनसे इट् की प्राप्ति नहीं थी। इस सूत्र से विहित इट् को वैकल्पिक दीर्घ जो (१६४) से प्राप्त होता है वह नहीं होता। प्रच्छ्

---

१. शिक्षेर्जिज्ञासायाम् इस वार्तिक से 'जिज्ञास्य विषय में शक्त होने की इच्छा करना अर्थ में सन्नन्त शक् से आत्मनेपद होता है।

२. आप्ज्ञप्यृधामीत् (७।४।५५)। अत्र लोपोऽभ्यासस्य (७।४।५७)।

३. राधो हिंसायां सनीस् वक्तव्यः (वा०)।

४. तनोतेर्विभाषा (६।४।१७)।

५. किरश्च पञ्चभ्यः (७।२।७५)।

से परे सन् प्रत्यय कित् माना जाता है (४४०), अतः (१२८) से सम्प्रसारण होता है।

४४६—वृङ्, वृञ् तथा ॠकारान्त धातुओं से परे सन् को इट् विकल्प से होता है।[1] नित्य प्राप्त था।

धातु	अर्थ	सन्नन्त धातु	लट् प्र० पु० ए०
आप्	प्राप्त करना	ईप्स	ईप्सति
प्रतिराध्	मारना	प्रतिरित्स (संयोगादि होने से इस् के स् का लोप)	प्रतिरित्सति
आराध्	सिद्ध करना	आरिरात्स	आरिरात्सति
तन्	फैलाना	तितंस तितांस तितनिष	तितंसति-ते तितांसति-ते तितनिषति-ते
हन्	मारना	जिघांस (४३५)	जिघांसति
कॄ	बिखेरना	चिकरिष	चिकरिषति
गॄ	निगलना,	जिगरिष	जिगरिषति
दृङ्	आदर करना	आदिदरिष[2]	आदिदरिषते
धृङ्	अवस्थित होना	दिधरिष	दिधरिषते
प्रच्छ् (तुदा०)	पूछना	पिपृच्छिष	पिपृच्छिषति
वृङ्	वरना, पसन्द करना	विवरिष विवरीष वुवूर्ष	विवरिषते विवरीषते वुवूर्षते
वृञ्	ढाँपना	प्राविवरिष[3] प्राविवरीष प्रावुवूर्ष	प्राविवरिषति-ते प्राविवरीषति-ते प्रावुवूर्षति-ते
तॄ	तैरना, पार जाना	तितरिष तितरीष तितीर्ष	तितरिषति तितरीषति तितीर्षति

१. इट् सनि वा (७।२।४१)।

२. दृङ् का आङ्पूर्वक प्रयोग होता है।

३. प्र आङ् पूर्वक वृञ् से सन्। उपसर्ग-योग ओढ़ना अर्थ को झलकाने के लिए है।

धातु	अर्थ	सन्नन्त धातु		लट् प्र० पु० ए०
स्तॄ	ढांपना	आतिस्तरिष आतिस्तरीष आतिस्तीर्ष	(३३०)	आतिस्तरिषति-ते आतिस्तरीषति-ते आतिस्तीर्षति-ते
ग्रह्	पकड़ना	जिघृक्ष[1]		जिघृक्षति-ते
नह्	बांधना	निनत्स		निनत्सति-ते
स्वप्	सोना	सुषुप्स[2]		सुषुप्सति
पा	पीना	पिपास		पिपासति
ख्या	कहना	चिख्यास		चिख्यासति
या	जाना	यियास		यियासति
स्ना	नहाना	सिष्णास[3]		सिष्णासति
ज्ञा	जानना	जिज्ञास		जिज्ञासते[4]
सा (सो)	समाप्त करना	सिषास		सिषासति
स्था	ठहरना	तिष्ठास		तिष्ठासति
प्रस्था	चलना	प्रतिष्ठास		प्रतिष्ठासते
हा	छोड़ना	जिहास		जिहासति
हाङ्	जाना	जिहास		जिहासते
ह्वे	बुलाना	जुहूष (३४४)		जुहूषति-ते
दा	देना	दित्स		दित्सति-ते
धा	रखना	धित्स		धित्सति-ते
मा (अदा०)	मापना	मित्स		मित्सति
माङ्	,,	,,		मित्सते

---

१. ग्रह् स । (४३१) से इट् का निषेध । (४४०) से सन् कित् है । कित् होने से (१२८) से सम्प्रसारण । गृह् स । गृह् गृह् स (द्वित्व) । गृ गृह् स । हलादिः शेष । गर् गृह् स । उरत्, ऋ को रपर अ । पुनः हलादिः शेषः —ग गृह् स । जिगृह् स । अभ्यास कार्य । जिघृक्ष । ढत्व, कत्व, षत्व ।

२. सन् के कित् होने से पहले सम्प्रसारण, पीछे द्वित्व । सम्प्रसारणं तदाश्रयं च कार्यं बलवत्—ऐसी परिभाषा है ।

३. ष्णा शौचे । आदेश स् को ष् ।

४. सन्नन्त 'ज्ञा' से आत्मनेपद ।

मेङ्	"	**मित्स**	**मित्सते**
द्रा	मन्द गति होना	**दिद्रास**	**दिद्रासति**

४५०—इङ् को गम् आदेश होता है सन् परे होने पर।[1]

४५१—इण् को गम् आदेश होता है सन् परे होने पर, जब जानना अर्थ न हो।[2]

४५२—दम्भ् के अच् को 'ई' होता है और 'इ' भी सादि सन् परे होने पर।[3] हलन्ताच्च (१।२।१०) में हल् जातिपरक लिया जाता है। दकारोत्तर-वर्ती इ के समीप म्भ् का हल्त्वेन ग्रहण होने से हल् से परे सन् है, अतः कित् है।

४५३—च्छ् (=सतुक् छ्) तथा व् को क्रम से श्, ऊ (ठ्) आदेश होते हैं क्विप् परे तथा झलादि कित् ङित् अथवा अनुनासिक परे रहते।[4]

धातु	**अर्थ**	**सन्नन्त धातु**	**लट् प्र० पु० ए०**
अधि इङ्	पढ़ना	**अधिजिगांस**[5]	**अधिजिगांसते**
इ (ण्)		**जिगमिष (४५१)**	**जिगमिषति**
प्रति इ (ण्)	जानना	**प्रतीषिष**[6]	**प्रतीषिषति**
मृ	मरना	**मुमूर्ष**[7]	**मुमूर्षति**
स्मृ	स्मरण करना	**सुस्मूर्ष**[8]	**सुस्मूर्षते**

१. इङश्च (२।४।४८)।

२. सनि च (२।४।४७)।

३. दम्भ इच्च (७।४।५६)।

४. च्छ्वोः शूडनुनासिके च (३।४।१९)।

५. यहाँ आदेश-भूत गम् के 'अ' को (४३५) से दीर्घ होता है।

६. अबोधन अर्थ में इण् को सन् परे गम् आदेश होता है, बोधन अर्थ में नहीं। प्रत्येतुं ज्ञातुमिच्छति प्रतीषिषति। प्रति इ स। द्वितीय एकाच् 'स' को द्वित्व होता है।

७. मृ स। (४३२) से सन् कित् है। गुण न हुआ। (४३५) से दीर्घ—मॄ। (११४ क) से उत्—मुर् स। (११४-ख) से दीर्घ। मूर् को द्वित्व। अभ्यास-ह्रस्व। मुमूर्षति। मृङ् केवल आत्मनेपद का निमित्त नहीं, अपि तु शित् प्रत्यय भी और उसका सन् परे रहते सम्भव नहीं, अतः यहाँ आत्मनेपद नहीं हुआ।

८. सन्नन्त स्मृ से आत्मनेपद का नियम है।

पिपतिषति (पित्सति), (मुमूर्षति आदि में सन् प्रत्यय आशङ्का अर्थ में होता है, और इच्छा में भी। 'मुमूर्षति श्वा'—डर है कि कुत्ता मर जाय। आशङ्का=तर्क, अनुमान।

४५४—इवन्त, ऋध्, भ्रस्ज्, दम्भ्, श्रि, स्वृ, यु, ऊर्णु, भर्, ज्ञपि, सन्—इनसे परे सन् प्रत्यय को इट् विकल्प से होता है।[1]

धातु	अर्थ	सन्नन्त धातु	लट् प्र० पु० ए०
दिव्	जूआ खेलना	दिदेविष, दुद्यूष [2]	दिदेविषति (इट्), दुद्यूषति (ऊठ्)
सिव्	सीना	सिसेविष, सुस्यूष	सिसेविषति (इट्), सुस्यूषति (ऊठ्)
ऋध्	बढ़ना, समृद्ध होना	अर्दिधिष, ईर्त्स [3]	अर्दिधिषति, ईर्त्सति
भ्रस्ज्	भूनना	बिभ्रज्जिष, बिभ्रक्ष, बिभर्जिष, बिभर्क्ष [4]	बिभ्रज्जिषति-ते, बिभ्रक्षति (इडभाव), बिभर्जिषति (इट् रमागम), बिभर्क्षति (रमागम)

---

१. सनीवन्तर्ध-भ्रस्ज-दम्भु-श्रि-स्वृ-यूर्णु-भर-ज्ञपि-सनाम् (७।२।४९)।

२. दिव् स। (४५४) से इडभाव। इडभाव पक्ष में (४३३) से झलादि सन् कित् है। कित् होने से (४५३) से दिव् के व् को ऊ (ठ्)। द्यू स। द्वित्व। हलादि शेष, अभ्यास-ह्रस्व। अभ्यासोत्तरखण्ड में स् को ष्। ऐसे ही सुस्यूषति के विषय में जानें।

३. (४५४) से पाक्षिक इट्। गुण। द्वित्व। अच् (अ) से परे संयोग के आदि न्, द्, र् को द्वित्व नहीं होता। अतः द्वितीय एकाच् 'धि' को द्वित्व होता है। अभ्यास कार्य। अर्दिधिषति। इडभाव पक्ष में (४३३) से सन् के कित् होने से गुणाभाव। (४४५) से ऋध् के 'ऋ' को ई (रपर ईर्)। ई र्ध् स। द्वितीय एकाच् 'ध्स' को द्वित्व। संयोग के आदि र् को नहीं। हलादिशेष। ईर् ध् ध् स। झरो झरि सवर्णे (८।४।६५) से 'ध्' का वैकल्पिक लोप होने पर परले 'ध्' को चर्त्व (त्) होने से 'ईर्त्स' यह सन्नन्त धातु बनती है।

४. भ्रस्ज् अनुदात्त (अनिट्) धातु है। इसे (४५४) से सन् परे रहते विकल्प से इट् का विधान किया है। और आर्धधातुक प्रत्यय परे होने पर

दम्भ्	धोखा देना	दिदम्भिष धिप्स धीप्स	दिदम्भिषति धिप्सति धीप्सति
श्रि	आश्रय लेना	शिश्रयिष शिश्रीष[1]	शिश्रयिषति-ते शिश्रीषति-ते
स्वृ	शब्द करना	सिस्वरिष सुस्वूर्ष [2]	सिस्वरिषति सुस्वूर्षति
यु	मिलाना, जुदा करना	यियविष युयूष (४५४)	यियविषति युयूषति
ऊर्णु	ढाँपना	ऊर्णुनविष ऊर्णुनुविष [3] ऊर्णुनूष	ऊर्णुनविषति-ते (गुण) ऊर्णुनुविषति-ते (गुणाभाव, उवङ्) ऊर्णुनूषति-ते (इडभाव, दीर्घ)

इसके र् तथा उपधा (स्) के स्थान में रम् (र्) आगम विकल्प से होता है (२०८)। इडागम होने पर और रम् आगम न होने पर बिभ्रज्जिषति। श्चुत्व, जश्त्व। इडागम तथा रमागम दोनों के न होने पर बिभ्रक्षति। झल् परे होने से संयोग के आदि स् का लोप। रमागम तथा इट् होने पर 'बिभर्जिषति'। केवल रमागम होने पर बिभर्क्षति।

१. श्रिञ् सेट् है, पर (४५४) से इट् का विकल्प कर दिया है। तब इडभाव पक्ष में (४३२) से झलादि सन् के कित् होने से गुण नहीं होता। (४३५) से दीर्घ होता है।

२. (१९०) से 'स्वृ' वेट् है। पर उगन्त होने से (४३१) से सन् परे रहते इट् का निषेध प्राप्त होता है। उस निषेध के वारण के लिए 'स्वृ' के विषय में इड्-विकल्प का (४५४) से विधान किया है। इडभाव पक्ष में स्वृ की सन्प्रत्यय-विषया प्रक्रिया वैसी ही है जैसे मृङ् की, जिसे हम पूर्व दिखा चुके हैं।

३. इडादि प्रत्यय के विभाषा ङित्वत् होने से गुण-विकल्प। गुणाभाव पक्ष में उवङ्। इडभाव पक्ष में 'नुस्' को द्वित्व। इट् पक्ष में ऊर्णु इ स—यहाँ सन्नन्त के कार्यी होने से 'इस्' को निमित्त नहीं माना जा सकता। तो इस

भृञ् (भ्वा०) पोषण करना	बिभरिष बुभूर्ष		बिभरिषति-ते बुभूर्षति-ते
ज्ञप् (जतलाना, मित्)	जिज्ञपयिष ज्ञीप्स	[1]	जिज्ञपयिषति-ते ज्ञीप्सति
सन् (भ्वा०) देना	सिसनिष सिषास		सिसनिषति सिषासति

झलादि सन् प्रत्यय परे सन् को आकार अन्तादेश हो जाता है। सन् धातु को सन् प्रत्यय परे (४५४) से इट् विकल्प से होता है।[2]

४५५—स्रु, श्रु, द्रु, प्रु, प्लु, च्यु के अभ्यास 'उ' को अवर्णपरक यण् परे होने पर विकल्प से 'इ' होता है सन् परे होने पर।

स्रु + णिच्	स्रावयितुमिच्छति	सिस्रावयिषति सुस्रावयिषति
श्रु + णिच्		शिश्रावयिषति शुश्रावयिषति

अवस्था में द्विर्वचनेऽचि से आदेश-निषेध अथवा स्थानिवद्भाव से रूपातिदेश न होने से नव् को द्वित्व होने पर अभ्यास के 'अ' को 'इ' (सन्यतः) होने पर ऊर्णिनविषति ऐसा अनिष्ट रूप प्रसक्त होगा। इसका समाधान ऐसे है—कार्यमनुभवन्नेव कार्यी निमित्ततया नाश्रीयते न त्वननुभवन्नपि। प्रकृत में 'नु' को द्वित्व होने से कार्यी 'इस' कार्य को अनुभव नहीं कर रहा, अतः इस का निमित्ततया आश्रयण हो सकता है। अतः द्विर्वचनेऽचि की प्रवृत्ति होने से आदेश-निषेध होने से 'नु' को द्वित्व होगा (संयोग के आदि र् को द्वित्व नहीं होता)।

१. ज्ञपि सन्। अनेकाच् होने से नित्य इट् प्राप्त था। (४५४) से सन् परे विकल्प विधान किया है। ज्ञपि स्वार्थण्यन्त चुरादि धातु है और यह मित् मानी गई है। ज्ञप मिच्च। अतः णिच् होने पर वृद्धि होकर ह्रस्व हो गया—ज्ञपि। इडभाव पक्ष में 'णेरनिटि' (२७७) से णिच् का लोप। (४४५—ख) से अभ्यास का लोप। (४४५—क) से ज्ञप् के 'अ' को 'ई'। इट् पक्ष में मित् संज्ञा अवस्थित रहेगी, अभ्यास का लोप नहीं होगा। जिज्ञपयिषति। ज्ञा-णिच्-सन्—**जिज्ञपयिषति**। (मारण, तोषण, निशामन अर्थों में मित् होने से)। अन्यत्र **जिज्ञापयिषति**।

२. स्रवति-शृणोति-द्रवति-प्रवति-प्लवति-च्यवतीनां वा (७।४।८१)।

द्रु+णिच्	दिद्रावयिषति दुद्रावयिषति
प्रुङ्+णिच्	पिप्रावयिषति-ते पुप्रावयिषति-ते
प्लुङ्+णिच्	पिप्लावयिषति-ते पुप्लावयिषति-ते
च्युङ्+णिच्	चिच्यावयिषति-ते चुच्यावयिषति-ते

४५६—सन्परक णि परे होने पर तथा चङ्परक णि परे इङ् को विकल्प से गाङ् आदेश होता है।[1]

४५७—सन्परक तथा चङ्परक णि परे होने पर 'श्वि' को विकल्प से सम्प्रसारण होता है।[2]

४५८—सन्परक तथा चङ् परक णि परे होने पर ह्वे को नित्य सम्प्रसारण होता है।[3]

४५९—ण्यन्त स्विद्, स्वद्, सह्, के सन्प्रत्यय को षत्व होने पर अभ्यासोत्तर सकार सकार ही रहता है (षत्वनिमित्त होने पर भी)।[4]

ण्यन्त धातुओं के सन्नन्त रूप—

अधि इङ्+णिच् (=अधिगापि)	अधिजिगापयिषति[5]
अधि इङ्+णिच् (=अध्यापि)	अध्यापिपयिषति
श्वि+णिच्	शिश्वाययिषति[6] शुशावयिषति (सम्प्रसारण)

---

१. णौ च संश्चङोः (२।४।५१)।

२. णौ च संश्चङोः (६।१।३१)।

३. ह्वः सम्प्रसारणम् (६।१।३२)।

४. सः स्विदि-स्वदि-सहीनाम् (८।३।६२)।

५. गाङ् आदेश होकर आकारान्त होने से (१७४) से पुक्। गापि स। गाप् को द्वित्व। अभ्यासकार्य। गाङ् आदेश के अभाव में इङ् णिच् स—इस अवस्था में (३९८) से इ (ङ्) को आत्व। पुक्। द्वितीय एकाच् 'पि' को द्वित्व।

६. सम्प्रसारण के अभाव में अद्विर्वचन-निमित्त णि परे होने पर भी स्थानिवद्भाव होने से णित् निमित्तक वृद्धि, तथा आय् आदेश होने पर भी 'श्वि' को द्वित्व। सम्प्रसारण पक्ष में 'शु' को द्वित्व।

ह्वेञ् + णिच्	जुहावयिषति-[1]ते (सम्प्रसारण)
सिध्, साध् + णिच	सिषाधयिषति-ते सिषेधयिषति [2]
स्विद् + णिच्	सिस्वेदयिषति-ते
स्वद् + णिच्	सिस्वादयिषति-ते
सह् + णिच्	सिसाहयिषति-ते
स्वप् + णिच्	सुष्वापयिषति-ते[3]
पूङ् + णिच्	पिपावयिषति-ते (३०४)
भू + णिच्	बिभावयिषति-ते
यु + णिच्	यियावयिषति-ते
रु + णिच्	रिरावयिषति-ते
लू + णिच्	लिलावयिषति-ते
जु (सौत्र धातु) + णिच्	जिजावयिषति-ते
प्रति इण + णिच् (=प्रत्यायि)	प्रत्यायियियिषति[4] (यि को द्वित्व)

द्वित्व के विषय में विशेष वक्तव्य

कण्डु आदि गण की धातुओं के तृतीय अक्षर को द्वित्व होता है—कण्डूयितुमिच्छति=कण्डूयियिषति। असूयितुमिच्छति=असूयियिषति।

नामधातुओं में इष्टानुरोध से आद्य तीन अक्षरों में से किसी एक को—पुतित्रीयिषति (त्री को द्वित्व)। पुत्रीयियिषति (यि को द्वित्व)। यदि नाम-धातु के आदि में अच् हो, तो पहले अक्षर को छोड़कर दूसरे, तीसरे अक्षर को

१. सम्प्रसारण और पूर्वरूप होकर वृद्धि के पश्चात् स्थानिवद्भाव होने से 'हु' को द्वित्व।

२. परलोक प्रयोजन होने पर सिध् के अच् 'इ' को आत्व नहीं होता।

३. द्युति-स्वाप्योः सम्प्रसारणम् (७।४।६७), द्युत् तथा ण्यन्त स्वापि के अभ्यास को सम्प्रसारण होता है अभ्यास-निमित्त प्रत्यय के अनन्तर होने पर। **दिद्युतिषते। दिद्योतिषते।**

४. इण् णिच् सन्। इण् णिच् इट् सन्। आयि इ स। द्वितीय एकाच् 'यि' को द्वित्व। आयि यि इ स। आयि ये इ स। गुण। आयियियिष (सन्नन्त धातु)।

द्वित्व होता है—अश्वीयितुमिच्छति = अशिश्वीयिषति (श्वी को द्वित्व)। अश्वीयियिषति (यि को द्वित्व)।

इन्द्रीयितुमिच्छति। यहाँ भी आद्य अक्षर को द्वित्व नहीं होगा। संयोग के आदि न् द् र् को द्वित्व निषेध है, पर वह तभी है जब न् द् र् अच् से परे हों। सो यहाँ इन्द्रीय से सन् परे होने पर 'द्री' शब्द अथवा 'यि' शब्द को द्वित्व होगा —**इन्दिद्रीयिषति। इन्द्रीयियिषति।** नकार अच् से परे है, अतः इसे द्वित्व नहीं होता।

ईर्ष्य्—इसके द्वित्व विषय में मतभेद है। कोई तृतीय व्यञ्जन को द्वित्व चाहते हैं। ईर्ष्यिष (सन्नन्त धातु)। यहाँ तृतीय व्यञ्जन 'य्' है। सो 'यि' (एकाच्) को द्वित्व होकर **ईर्ष्यियिषति** रूप होगा। दूसरे लोग तृतीय एकाच् को द्वित्व चाहते हैं। उनके अनुसार सन् (स) को द्वित्व होगा—**ईर्ष्यिषिषति** रूप होगा। यहाँ अभ्यास 'स' के 'अ' को 'सन्यतः' से इ हुआ है।

प्रयोगमाला

१. **गुरो! श्रुतं रामायणम्, भारतं सम्प्रति शुश्रूषामहे।**
   गुरुजी हमने रामायण सुन ली है अब महाभारत सुनना चाहते हैं।

२. **व्याख्यातास्तद्धिताः, सम्प्रति कृतो व्याचिख्यासामः।**
   तद्धितों की व्याख्या हो चुकी, अब कृत्प्रत्ययों की व्याख्या करना चाहते हैं।

३. **घर्मार्तोऽस्मीति सिष्णासामि।**
   मैं गर्मी से तंग हूँ, अतः स्नान करना चाहता हूँ।

४. **अत्र विषये किंचिद् विवक्षे, अवसरो मे दीयताम्।**
   मैं इस विषय में कुछ कहना चाहता हूँ, मुझे अवसर दिया जाए।

५. **ये नियुयुत्सन्ते तेऽक्षवाटमवतरन्तु।**
   जो कुश्ती लड़ना चाहते हैं, वे अखाड़े में उतर आएं।

६. **य ईर्त्संन्ति ते श्राम्यन्ति।**
   जो समृद्ध होना चाहते हैं वे परिश्रम करते हैं।

७. **न हि कश्चिद् दिदरिद्रासति, अवशं तु दरिद्राति।**
   कोई दुर्गत नहीं होना चाहता, विवशता से दुर्गत होता है।

८. **यस्त्वं न प्रतीषिषसि तं त्वा कथं प्रत्याययिष्यामः।**
   जो तू नहीं जानना चाहता तो तुझे कैसे जतलायें?

९. **ऋजुभिरभ्युपायै धंनिको बुभूषेत्, नानृजुभिः ।**
सरल उपायों से धनी होना चाहे, कुटिल उपायों से नहीं ।

१०. **वरमन्तःस्थाञ्शत्रूंस्तावज्जिगीषेत्, तेषु जितेषु बहिःस्थाः सुजया भवन्ति ।**
अच्छा यह है कि पहले अन्दर के शत्रुओं को जीतने की इच्छा करे । उनके जीते जाने पर बाहर के शत्रुओं को जीतना आसान हो जाता है ।

११. **कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः । (यजुः)**
इस लोक में कर्म करता हुआ ही सौ बरस जीने की इच्छा करे ।

१२. **विद्यामुपादित्ससे चेच्छुश्रूषस्व गुरून् ।**
विद्या ग्रहण करना चाहते हो तो गुरुचरणों की सेवा करो ।

१३. **चिरन्तनाय मे मित्राय वसुमित्राय पत्रं लिलेखिषामि ।**
अपने पुराने मित्र वसुमित्र को पत्र लिखना चाहता हूँ ।

१४. **अधीतमनेन व्याकरणम् अधुना छन्दोधिजिगांसते ।**
इसने व्याकरण पढ़ लिया है, अब यह छन्द पढ़ना चाहता है ।

१५. **हेयोपादेये विदित्वा हेयं जिहास, उपादेयं चादित्सस्व ।**
त्यागने और लेने योग्य पदार्थ को जानकर त्यागने योग्य को छोड़ने की इच्छा कर, लेने योग्य को लेने की इच्छा कर ।

१६. **तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन, दानेन, तपसाऽनाशकेन** (बृ० उ० ४।४।२२) ।
उस आत्मा को ब्राह्मण स्वाध्याय से, यज्ञ से, दान से, तप से, उपवास से जानना चाहते हैं ।

१७. **आम्रावले कञ्चिदेव कालं तिष्ठासामि, अत्यन्ताय च जालन्धरे ।**
अम्बाला में कुछ समय के लिये रहना चाहता हूँ, जालन्धर में तो सदा के लिये ।

१८. **धर्मं जिज्ञाससे चेच्छास्त्राणि शीलय ।**
यदि तू धर्म को जानना चाहता है, शास्त्रों का अभ्यास कर ।

१९. **चिरं क्रीडारतः शिशुः श्रान्त इति सुषुप्सति ।**
चिरकाल तक खेलने से बच्चा थक गया है अतः सोना चाहता है ।

२०. **ये भवाम्भोधिं तितरीषन्ति तेऽदृढान्यज्ञरूपान्प्लवानुत्सृज्य पोतभूतान्वेदान्तान् संश्रयेयुः ।**

जो संसार-सागर को तरना चाहते हैं, उन्हें यज्ञ-रूपी दुर्बल नौकाओं को छोड़कर जहाज रूपी उपनिषदों का आश्रय लेना चाहिये।

२१. **यद्यध्ययनेन नेह तिष्ठासिस, अद्यैवेतो निरिहि, नात्र निष्कर्म्मणां कृतेऽवकाशः।**

यदि तू यहाँ अध्ययन के निमित्त नहीं ठहरना चाहता, तो आज ही यहाँ से निकल जा। निकम्मे लोगों के लिये यहाँ स्थान नहीं।

२२. **विस्रब्धं ब्रूहि यत्पिपृच्छिषसि।**

निःशङ्क होकर कहो जो पूछना चाहते हो।

२३. **ये बुभुक्षन्ते वसुमतीं ते भुञ्जन्त्यपि ताम्।**

जो पृथिवी का भोग करना चाहते हैं वे उसकी रक्षा भी करते हैं।

२४. **यदि गामुत्तमं पयो दुधुक्षसि, उत्तमं तां चारय।**

यदि तू गौ से उत्तम दूध दोहना चाहता है, तो उसे उत्तम खाना दो।

२५. **यन्महतोऽपभाषसे, ततो जाने पित्ससीति।**

जो तू बड़ों की निन्दा करता है, इससे मैं समझता हूँ तेरा पतन निकट है।

२६. **इमे माणवकाः संस्कृताध्ययनं प्रारिप्सन्त इतीमानभिनन्दामः।**

२७. **लोभनीयमपि परस्वं न मुमुषिषेत्पातित्यमात्मनोऽनिच्छन्।**

२८. **ये वेदार्थं मीमांसन्ते ते श्रेयसा युज्यन्ते।**

जो वेदार्थ पर विचार करते है वे कल्याण के भागी होते हैं।

२९. **ये यशो लिप्सन्ते ते तदर्थमुत्तिष्ठन्ते।**

जो यश को प्राप्त करना चाहते हैं वे उसके लिए उद्यम भी करते हैं।

३०. **किमाग आस वरुण ज्येष्ठं यत्स्तोतारं जिघांससि सखायम्** (ऋ० ७।८६।४)।

हे वरुण ! कौन सा बड़ा अपराध हो गया जो तू अपने स्तोता मित्र को मारना चहता है।

३१. **नैनं पात्रे न तल्पे मीमांसन्ते** (तै० सं० ६।२।६।४)।

३२. **ये सूर्यं न तितिक्षन्त आतपन्तममुं दिवः** (अथर्व० ८।६।१२)।

जो द्युलोक को तपाते हुए उस सूर्य के तेज को नहीं सह सकते।

३३. **नान्तं सर्वविधित्सानां गतपूर्वोऽस्ति कश्चन।**

सभी चिकीर्षित कर्मों के अन्त को आज सक कोई नहीं पहुँचा।

३४. **आरिरात्सामि परार्थं शक्तश्चेत्स्यां न तु प्रतिरित्सामि।**

हो सके तो दूसरे के अर्थ को सिद्ध करना चाहता हूँ। बिगाड़ना नहीं चाहता।

३५. **वाचि शिक्षमाणस्य प्रथमवैयाकरणस्य साचिव्यं किमपि चिकीर्षामीति वाक्यमुक्तावलीं प्रकृतोऽस्मि।**
वाणी में शक्त होना चाहते व्याकरणाध्ययन प्रारम्भ करने वाले (शिष्य) की कुछ सहायता करना चाहता हूँ, अतः **वाक्यमुक्तावली** को प्रारम्भ कर रहा हूँ।

३६. **आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः** (बृ० उ० २।४।५)।

३७. **यदि नास्मद्वचसि प्रत्ययस्ते, न वयं त्वां प्रत्याययियिषामः।**
यदि हमारे कथन में तेरा विश्वास नहीं, तो हम तुझे विश्वास दिलाना नहीं चाहते।

३८. **आशिष्ठोऽयमश्वः कैश्चित्क्षणैर्दीर्घमेतमध्वानमशिशिषते।**
अत्यन्त शीघ्रगामी यह घोड़ा कुछ क्षणों में ही इस लम्बे मार्ग को तय करना चाहता है।

३९. **लोकयात्रागतस्य सर्वस्येह कस्य चिदर्थस्यादित्सा भवति, कस्यचिज्जिहासा।**

४०. **यत्स्वान् द्वेक्षि परांश्चानुगृह्णासि तेन जाने विपित्सस इति।**
जो तू अपनों से द्वेष करता है और औरों पर कृपादृष्टि रखता है, इससे मैं जानता हूँ कि तू विपत्ति चाहता है।

४१. **न चाजिहीर्षीद् बलिमप्रवृत्तं न चाचिकीर्षीत्परवस्त्वभिध्याम्।**
न चाविवक्षीद् द्विषतामधर्मं न चाविवक्षीद् हृदयेन मन्युम्॥
(बुद्ध चरित २।४४)।
स्वयम् अनुपहृत बलि (कर) को वह (महाराज शुद्धोदन) (बलात्कार से) नहीं लेना चाहता था। दूसरे की वस्तु को लेने का चिन्तन नहीं चाहता था। शत्रुओं को भी अधर्म का उपदेश नहीं करना चाहता था और हृदय में क्रोध को धारण करना नहीं चाहता था।

इति सन्नन्त प्रक्रिया ऽपूरि।

यङन्तप्रक्रिया

संस्कृत में बार-बार (उत्पन्न) होता है, बार-बार प्रसन्न होता है, बार-बार बोलता है, बार-बार भ्रम करता है, बार-बार जन्म लेता है, अत्यधिक बोलता है, अत्यधिक होता है, अति प्रसन्न होता है, अत्यधिक भ्रम करता है इत्यादिक वाक्यों के अर्थों को कहने के दो प्रकार हैं—या तो हम पुनः पुनर् मोदते, पुनः पुनर् वक्ति, पुनः पुनर् भ्रमति, पुनः पुनर् जायते, भृशं वक्ति, भृशं भवति, भृशं मोदते, भृशं भ्रमति—ऐसे कह सकते हैं, या उस-उस धातु से यङ् प्रत्यय करके सन्नन्त की तरह नई धातु बनाकर ऐसे—बोभूयते, मोमुद्यते, बम्भ्रम्यते, वावच्यते, जाजायते—जञ्जन्यते (बार-बार जन्म लेता है)।

४६०—इस विषय में आचार्य का सूत्र है—धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ् (३।१।२२)। क्रिया-समभिहार के दो अर्थ हैं—पौनः पुन्य तथा भृश (आधिक्य)। अतः यङन्त धातु प्रायः दोनों अर्थों को कहती है। पर यङ् (य) प्रत्यय सभी धातुओं से नहीं आ सकता। इसके लिये धातु एकाच् होनी चाहिए और साथ ही हलादि।[1] अतः भृशमीक्षते यहाँ यङ् नहीं होता। ईक्ष् अजादि है, हलादि नहीं। पुनः पुनर् अर्चति—यहाँ भी धातु के अजादि होने से यङ् नहीं होता। पुनः पुनर्जागर्ति—यहाँ भी यङ् नहीं होता। जागृ हलादि तो है पर एकाच् नहीं। भृशं शोभते, भृशं रोचते—यहाँ भी यङ् नहीं होता, इसमें भाष्यकार का वचन प्रमाण है। पौनः पुन्य अर्थ में तो होगा—शोशुभ्यते। रोरुच्यते।

सूचि, सूत्रि, मूत्रि, अट्, ऋ, अश् (स्वादि आ०, क्र्या० प०), ऊर्णु से यङ् प्रत्यय होता ही है ऐसा वार्तिककार कात्यायन का वचन है[2]। सोसूच्यते,

---

१. धातोरेकाचो हलादेः क्रिया-समभिहारे यङ् (३।१।२२)।

२. सूचि-सूत्रि-मूत्र्यटत्यर्त्य-शूर्णोतीनां ग्रहणं यङ्विधावनेकाजहलाद्यर्थम् (वा०)। अट् ऋ, अश् से यङ् होने पर इन धातुओं के अजादि होने से ट्य, र्य, श्य को द्वित्व होता है। संयोग के आदि न्, द्, र् को द्वित्व का जो

मोमूत्र्यते। इन धातुओं में से पहली तीन तो चुरादिगण में अदन्त पढ़ी हैं अतः अनेकाच् हैं। शेष अजादि हैं और अन्तिम अजादि भी है, और अनेकाच् भी। इनसे यङ् का प्रसङ्ग ही न था। अतः विशेष विधान कर दिया है। यङ् सन् आदि प्रत्ययों में से एक है अतः यङन्त की धातु संज्ञा है(१६७)। यङन्त धातु से सार्वधातुक परे रहते शप् आता है (७)। (८) से पर-रूप एकादेश हो जाता है। वलादि न होने से यङ् को इडागम नहीं होता। यङ् आर्धधातुक प्रत्यय है। **ङित् होने से यङन्त धातु से आत्मनेपद प्रत्यय ही आते हैं। अनेकाच् होने से सभी यङन्त धातुएं सेट् हैं।**

अब यङन्त धातुओं की रचना के विषय में कहते हैं—

यङ् (य) प्रत्यय आने पर यङन्त धातु को द्वित्व होता है।[1] द्वित्व के नियम वही हैं जो सन्प्रत्यय परे रहते लगते हैं। हाँ, अभ्यास को जो विशेष कार्य होता है उसे नीचे देते हैं—

४६१—(१) अकित् अभ्यास के 'अ' को दीर्घ होता है।[2] यङ्लुक् होने पर भी यह दीर्घ होता है।

४६२—(२) अभ्यास के इक् को गुण होता है।[3] यङ्लुक् होने पर भी यह गुण विधि होती है।

४६३—(३) अनुनासिकान्त धातुओं के अकारान्त अभ्यास को नुक् (न्) का आगम होता है यङ् और यङ्लुक् में [4]। नुक् अनुस्वार का उपलक्षण है। नुक् अर्थात् अनुस्वार को विकल्प से पदान्तवद्भाव होता है जिस से विकल्प से परसवर्ण होता है।

४६४—(४) जप्, जभ्, दह्, दश्, भञ्ज्, पश् (सौत्र धातु)—इनके अभ्यास को भी यङ् और यङ्लुक् में नुक् (=न्) का आगम होता है।[5] कित् होने से नुक्(न्)अभ्यास का अन्तावयव बनता है। जप् आदि के अनुनासिकान्त न होने से (४६३) से नुक् अप्राप्त था।

निषेध कहा है, उस के विषय में ऐसा जानें कि 'अरार्यते' ऐसा भाष्यकार का प्रयोग होने से यकारपरक रेफ को द्वित्व होता ही है।

१. सन्यङोः (६।१।६)।

२. दीर्घोऽकितः (७।४।८३)।

३. गुणो यङ्लुकोः (७।४।८२)।

४. नुगतोऽनुनासिकान्तस्य (७।४।८५)।

५. जप-जभ-दह-दश-भञ्ज-पशां च (७।४।८६)।

४६५—(५) चर् तथा फल् के अभ्यास को भी नुक् (=न्) आगम होता है। अभ्यास से परे चर्, फल् के 'अ' को 'उ' हो जाता है यङ् तथा यङ्लुक् में।[1]

४६६—(६) वञ्च्, स्रंस्, ध्वंस्, भ्रंस्, कस्, पत्, पद्, स्कन्द् के अभ्यास को यङ् तथा यङ्लुक् में नीक् (=नी) आगम होता है।[2]

४६७—(७) ह्रस्व ऋ उपधावाली धातुओं के अभ्यास को रीक् (री) आगम होता है यङ् तथा यङ्लुक् में।[3]

४६८—(८) ह्रस्व ऋ वाली धातुओं के अभ्यास को भी रीक् (री) आगम होता है यङ् तथा यङ्लुक् में।[4]

४६९—यङ् प्रत्यय आने पर ऋ धातु तथा संयोगादि ऋकारान्त धातुओं को गुण हो जाता है।[5]

४७०—ह्रस्व ऋकारान्त धातु को रीङ् (री अन्तादेश) होता है अकृद्य-कार (जो य् कृत् प्रत्यय सम्बन्धी न हो) असार्वधातुक यकार तथा च्वि प्रत्यय परे रहते। पश्चात् द्विर्वचन। ङित् होने से यह आदेश धातु के अन्त्य अल् ऋ को होता है।[6]

४७१(क)—स्वप्, स्यम्, व्ये (व्)को सम्प्रसारण होता है[7] यङ् परे रहते (य् को इ, व् को उ)।

४७१ (ख)—घ्रा, ध्मा को यङ् परे रहते ई अन्तादेश होता है। पश्चात् द्विर्वचन।[8]

४७२—'श्वि' को विकल्प से सम्प्रसारण[9]।

---

१. चर-फलोश्च (७।४।८७)। उत्परस्यातः (७।४।८८)।
२. नीग् वञ्चु-स्रंसु-ध्वंसु-भ्रंसु-कस-पत-पद स्कन्दाम् (७।४।८४)।
३. रीगृदुपधस्य च (७।४।९०)।
४. रीगृत्वत इति वक्तव्यम् (वा०)।
५. यङि च (७।४।३०)।
६. रीङ् ऋतः (७।४।२७)।
७. स्वपि-स्यमि-व्येञां यङि (६।१।१९)।
८. ई घ्रा-ध्मोः (७।४।३१)।
९. विभाषा श्वेः (६।१।३०)।

४७३—ओप्यायी (प्याय्) को 'पी' आदेश होता है ।[1] पश्चात् द्विर्वचन ।

४७४—'हि' के अभ्यास के उत्तर खण्ड में ह् को कुत्व (घ्) हो जाता है ।[2] पर यह आदेश चङ् प्रत्यय परे रहते नहीं होता ।

४७५—हिंसार्थक हन् की 'घ्नी' आदेश होता है ।[3]

४७६—चायृ(चाय्)पूजा करना, देखना भ्वा०, उ० को 'की' आदेश होता है यङ् परे रहते ।[4] 'की' यह जो दीर्घ पढ़ा है वह यङ्लुक् के लिए है। अन्यथा (४८०) से दीर्घ हो जाता ।

४७७—वश् (चाहना, अदादि) को जो ङित्-प्रत्यय परे रहते सम्प्रसारण प्राप्त था उसका यङ् परे रहते निषेध कर दिया गया है ।[5]

४७८—'कु' धातु के अभ्यास को चुत्व (च्) नहीं होता है ।[6] सामान्य विधि 'कुहोश्चुः' से प्राप्त था ।

४७९—सिच् के स् को (जो आदेश सकार है) उपसर्गवशात्, अभ्यास के इण् से उत्तर होने से षत्व प्राप्त था वह यहाँ=यङ् परे रहते रुक जाता है ।[7]

४८०—अकृद्यकार (जो य् कृत्प्रत्यय का नहीं), तथा असार्वधातुक यकार परे रहते इगन्त अङ्ग को दीर्घ हो जाता है ।[8]

घुसंज्ञक धातुओं के 'आ' को तथा मा, स्था, गै (गा), पा (पीना), हा (त्यागना), सो (सा, समाप्त करना) के 'आ' को 'ई' होता है हलादि कित्, ङित् प्रत्यय परे होने पर (१८६) ।

अभ्यास को गुण

चि—**चेचीयते** (४६२) । जि—**जेजीयते** । नी—**नेनीयते** । श्रु—**शोश्रूयते** ।

---

१. लिड्यङोश्च (६।१।२९) ।
२. हेरचङि (७।३।५६) ।
३. हन्ते हिंसायां यङि घ्नीभावो वाच्यः (वा०) ।
४. चायः की (६।१।२१) ।
५. न वशः (६।१।२०) ।
६. न कवतेर्यङि (७।४।६३) ।
७. सिचो यङि (८।३।११२) ।
८. अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः (७।४।२५) ।

पू—**पोपूयते** । लू—**लोलूयते**। ऊर्णु—**ऊर्णोनूयते** ।[1] ह्वेञ्—**जोहूयते**[2] (सम्प्रसारण) । क्री—**चेक्रीयते** । डी—**डेडीयते** । भी—**बेभीयते** । रुद्—**रोरुद्यते** । रुध्—**रोरुध्यते** । छिद्—**चेच्छिद्यते** । भिद्—**बेभिद्यते** । लिह्—**लेलिह्यते** । भुज्—**बोभुज्यते** । बुध्—**बोबुध्यते** । मुद्—**मोमुद्यते** । तुद्—**तोतुद्यते** नुद्—**नोनुद्यते** । दुह्—**दोदुह्यते** । लुप्—**लोलुप्यते** । दा—**देदीयते** ।[3] धा—**देधीयते** । मा—**मेमीयते** । स्था—**तेष्ठीयते** ।[4] गै—**जेगीयते** । पा (पीना)—**पेपीयते** । पा (रक्षा करना)—**पापायते** । या—**यायायते** । स्ना—**सास्नायते** । यहाँ धात्वाकार को यङ् परे रहते 'ई' होने का कोई प्रसङ्ग ही नहीं । अतः अभ्यास में ई न होने से गुण न हुआ । हा (त्याग करना)—**जेहीयते** । हा (जाना) **जाहायते** । सो—**सेसीयते** । अवपूर्वक—**अवसेसीयते** । दीप्—**देदीप्यते** ।

अभ्यास-दीर्घ

पच्—**पापच्यते** (४६१)। पठ्—**पापठ्यते** । वद्—**वावद्यते** ।[5] ब्रू (वच्)—**वावच्यते** । वश्—**वावश्यते** (४७७) । वप्—**वावप्यते** । वह्—**वावह्यते** ।

---

१. वाच्य ऊर्णोर्णुवद्भावः इस वचन से धातु 'णु' मानकर एकाच् हलादि धातु हो जाने से यङ् आता है । 'नु' को द्वित्व होता है ।

२. (३४४) से सम्प्रसारण होकर पीछे द्वित्व होता है ।

३. दा को (१८६) से 'दी' होकर दी-दी ऐसा द्विर्वचन होकर अभ्यास को गुण होकर रूपसिद्धि होती है ।

४. (१८६) से स्था को स्थी होकर उसे द्वित्व होता है । (२८१) से खय् (थ्) शेष रहता है जिसे (१०९) से चर् (त्) हो जाता है । तब 'ती' को (११६) से ह्रस्व 'ति' होता है । तदनन्तर (४६२) से गुण होता है और अभ्यासोत्तरखण्ड में स् को मूर्धन्य आदेश होकर रूपसिद्धि होती है । 'अभ्यासविकारेषु बाध्यबाधकभावो नास्ति' इस परिभाषा से सामान्य विधि से प्राप्त अभ्यास-ह्रस्व विशेष-विहित गुण से बाधित नहीं होता । अतः ह्रस्व होकर गुण होता है । ऐसा ही यहाँ दी हुई दूसरी धातुओं के विषय में जानो ।

५. (३४२) से कित् प्रत्यय परे रहते वद् को सम्प्रसारण होता है । यहाँ प्रत्यय (यङ्) ङित् है, अतः सम्प्रसारण प्राप्त ही नहीं । ऐसे ही 'वावप्यते' 'वावह्यते' 'यायज्यते' में जानो ।

सह्—**सासह्यते**। रभ्—**रारभ्यते**। लभ्—**लालभ्यते**। यज्—**यायज्यते**। गद्—**जागद्यते**। नद्—**नानद्यते**। नह्—**नानह्यते**। शद्—**शाशद्यते**। सद्—**सासद्यते**। ज्वल्—**जाज्वल्यते**।

अभ्यास को नुक् आगम

गम्—**जंगम्यते**। **जङ्गम्यते**। (परसवर्ण)। क्रम्—**चंक्रम्यते**—चङ्क्रम्यते (परसवर्ण)। यम्—**यंयम्यते**। रम्—**रंरम्यते**। नम्—**नंनम्यते-नन्नम्यते**। भ्रम् -**बंभ्रम्यते-बम्भ्रम्यते**। शम्—**शंशम्यते**। तन्—**तंतन्यते-तन्तन्यते**। द्रम्—**दंद्रम्यते-दन्द्रम्यते**। हन्—**जंघन्यते-जङ्घन्यते**। जप्—**जंजप्यते-जञ्जप्यते**। जभ्—**जंजभ्यते-जञ्जभ्यते**। दह्—**दंदह्यते-दन्दह्यते**। दंश्—**दंदश्यते-दन्दश्यते**। जन्—**जंजन्यते-जञ्जन्यते**। चर्—**चंचूर्यते**[1]**-चञ्चूर्यते**। फल्—**पंफुल्यते-पम्फुल्यते**।

अभ्यास को रीक्-आगम

वृत्—**वरीवृत्यते**। वृध्—**वरीवृध्यते**। चृत्—**चरीचृत्यते**। तृद्—**तरीतृद्यते**। नृत्—**नरीनृत्यते**। दृश्—**दरीदृश्यते**। मृज्—**मरीमृज्यते**। तृप्—**तरीतृप्यते**। दृप्—**दरीदृप्यते**। मृश्—**मरीमृश्यते**। क्लृप्—**चलीक्लृप्यते** (२६)। स्पृश्—**परीस्पृश्यते**।[2] प्रच्छ्—**परीपृच्छ्यते**।[3] व्रश्च्—**वरीवृश्च्यते**। (सम्प्रसारण होकर धातु ऋकार वाली हो जाती है)। ग्रह्—**जरीगृह्यते** (सम्प्रसारण, पश्चात् द्वित्व)।

अभ्यास को नीक् आगम

वञ्च्—**वनीवच्यते**[4]। स्रंस्—**सनीस्रस्यते**—। ध्वंस्—**दनीध्वस्यते**।

---

१. हलादिः शेष होकर (४६५) से अभ्यास को नुक्। अभ्यास से उत्तर धातु के 'अ' को 'उ' चं चुर् य। (११४—ख) से दीर्घ, चंचूर्य (चञ्चूर्य) यङन्त धातु।

२. शपूर्वाः खयः (२८१) से अभ्यास का 'पृ' शेष रहता है। उरत्। अब धातु (स्पृश्) के ऋकारोपध होने से अभ्यास को री (क्) आगम होता है।

३. यहाँ (१२८) से सम्प्रसारण होने पर धातु ह्रस्व ऋकारवान् हो जाती है। अतः (४६८) से अभ्यास को री (क्) आगम हुआ।

४. यहाँ अभ्यासोत्तर खण्ड में (१३१) से उपधा-नकार का लोप हो जाता है।

भ्रंस्—**बनीभ्रस्यते**—[१] । कस्—**चनीकस्यते** । पत्—**पनीपत्यते**। **पद्—पनीपद्यते**—स्कन्द्—**चनीस्कद्यते** [२]।

ऋ—अरार्यते। धातु को गुण (अर्) होने पर 'र्य' को द्वित्व। अच् से परे संयोग के आदिभूत न् द् र् को द्वित्व नहीं होता, पर 'अरार्यते' ऐसा भाष्यकार का प्रयोग है, इससे ज्ञापित होता है कि यकारपरक 'र्' को द्वित्व होता ही है। अभ्यास के 'अ' को दीर्घ (४६१)। स्मृ—**सास्मर्यते**।[3]

ऋ (ह्रस्व) कारान्त धातुओं को यङ् परे रहते रीङ् (री) अन्तादेश हो जाता है (४७०)—कृ—**चेक्रीयते**। कृ को क्री होकर द्वित्व होता [४]। हृ—**जेह्रीयते**। सृ—**सेस्रीयते**। वृ (ङ्), वृ (ञ्)—**वेव्रीयते**। स्तु—**तोष्टूयते**। अभ्यास् में खय् (तु) शेष रहता है। यह हलादिः शेष का अपवाद है। अभ्यास के इण् से परे आदेश सकार (उपदेश में धातु ष्टुञ् है) को मूर्धन्यादेश (ष्) होता है।

स्वप्, स्यम्, व्येञ्—**सोषुप्यते**। **सेसिम्यते**। **वेवीयते**। सम्पूर्वक—**संवेवीयते**। सम्प्रसारण होकर 'वी' को द्विर्वचन होता है। अभ्यास को लघु होकर गुण।

श्वि—**शेश्वीयते** [५]। **शेशूयते**। सम्प्रसारण होने पर पूर्वरूप होकर 'शु' को द्वित्व होता है।

घ्रा—**जेघ्रीयते**। (४७४—ख)। ध्मा—**देध्मीयते** (बार-बार शङ्खादि पूरता है)। ओप्यायी (प्याय्)—**पेपीयते** (अत्यधिक बढ़ता है)। पी को द्वित्व। गुण।

हि—**प्रजेघीयते** (४७४)। बार-बार भेजता है)।

हन्—**जेघ्नीयते** (बार-बार मारता है)। गति अर्थ में **जङ्घन्यते**। (४६३) से अभ्यास को नुक्। (३३६) से अभ्यासोत्तर जो हन् का 'ह्' उसे कुत्व।

---

१. भ्वादि धातु भ्रंस् भी है और भ्रंश् भी पाठान्तर माना जाता है।

२. अभ्यास का शर्पूर्वाः खयः से 'क' शेष रहता है, उसे (१०७) से 'च्' हो जाता है। अभ्यासोत्तर खण्ड में (१३१) से उपधा-न् का लोप।

३. 'स्मृ' को (४६६) से गुण होकर स्मर् को द्वित्व, हलादिः शेष, स को (४६१) से दीर्घ।

४. रीङ् विधायक शास्त्र (७।४।२७) द्वित्वविधायक (६।१।६) से परे है अतः इसकी पहले प्रवृत्ति होती है।

५. सम्प्रसारण का विकल्प है। सम्प्रसारणाभाव में अभ्यास को भी सम्प्रसारण नहीं होता—श्वयतेरभ्यासलक्षणप्रतिषेधः। (३४१) से प्राप्त था।

कु—**कोकूयते** (बार-बार शब्द करता है)। यहां कु भ्वादि का ग्रहण है, कु अदादि०, कू तुदा० का नहीं। उनके अभ्यास को तो चुत्व होता ही है—**चोकूयते**।

सिच्—**सेसिच्यते। निसेसिच्यते**। (४६९)

कॄ—**चेकीर्यते**। तॄ—**तेतीर्यते**। यहाँ यङ् परे रहते ॠ को (४८०) से दीर्घ हो जाता है। कीर्, तीर् को द्वित्व होता है।

कॄत्—**चेकीर्त्यते**। कॄत् चुरादि ण्यन्त धातु है। यङ् परे रहते णिच् का लोप हो जाता है। यङ् अनिडादि आर्धधातुक प्रत्यय है। यहाँ भी उपधा ॠ को इर् होता है।

४८१—गॄ—नि पूर्वक—**निजेगिल्यते**। ॠ को इर् होकर नित्य ही लत्व हो जाता है।

यङ् क्रिया-समभिहार अर्थ में होता है यह हम कह आये हैं पर कुछ धातुओं से यह भाव-गर्हा(क्रिया की निन्दा) अर्थ में आता है। वे धातुएं ये हैं—

४८२—लुप्, सद्, चर्, जप्, जभ्, दह्, दश्, गॄ। **लोलुप्यते**=गर्हितं लुम्पति, बुरी तरह से काटता है। **चञ्चूर्यते**=बुरी तरह से खाता है। **निजेगिल्यते**=बुरी तरह से निगलता है।

४८३—गत्यर्थक धातुओं से यङ् गति की कुटिलता (टेढ़ा चलना) इस अर्थ में आता है—**जङ्गम्यते। दन्द्रम्यते। सरीसृप्यते** (इति सर्पः)। **चङ्क्रम्यते** जो थोड़ी सी जगह में घूमने से टेढ़ा चलता है उसे कहा जाता है—स चङ्क्रम्यते।

लुट् में लू—**लोलूयिता**। पू—**पोपूयिता**। पर भिद्, छिद् आदि से परे यङ् का लोप हो जाता है। **बेभिदिता। चेच्छिदिता**। यहाँ यङ् (य) हल् से परे है और तास् आर्धधातुक प्रत्यय परे है। यहाँ 'य्' का लोप होकर पीछे अतो लोपः (४१) से 'अ' का लोप होता है। अल्लोप आर्धधातुक प्रत्यय-निमित्तक है, वह तास् प्रत्यय को निमित्त मान कर हुआ है। 'बेभिदिता' आदि

---

१. हल् से परे य शब्द का लोप हो जाता है आर्धधातुक परे होने पर। यस्य हलः (६।४।४९)। सूत्र में 'य'—यह संघात-ग्रहण है (य्+अ)। (य्) का लोप होने पर (४१) से 'अ' का लोप होता है। 'लोलूयिता' आदि में यङ् का 'य' हल् से परे नहीं है यद्यपि परे आर्धधातुक प्रत्यय तास् पड़ा है, अतः 'य' का लोप नहीं होता।

में पूर्वविधि उपधा गुण की कर्तव्यता में अल्लोप रूप अजादेश के स्थानिवत् होने से उपधा गुण की प्राप्ति ही नहीं रहती। इसी प्रकार वरीवृत्य-तास् डा= **वरीवृतिता**। दरीदृश्य-तास्-डा=**दरीदृशिता**।

लिट् में प्रत्ययान्त धातु होने से आम् प्रत्यय आकर लिट् का लुक् होकर लिट् परक कृ, भू, अस् का अनुप्रयोग होने से **लोलूयाञ्चक्रे**, **लोलूयाम्बभूव**, **लोलूयामास**। **सोसूचाञ्चक्रे**, **वरीवृताञ्चक्रे**, **सेसिचाञ्चक्रे**, **पापठाञ्चक्रे** **सोसूचाम्बभूव**, **सोसूचामास** इत्यादि रूप होंगे। **सोसूचाञ्चक्रे** आदि में (पृ० ३९९, टि० १) से 'य' का लोप हो जाता है। शेष लकारों के सम्बन्ध में कुछ विशेष वक्तव्य नहीं।

प्रयोगमाला

१. अन्तरा प्रातराशं सायमाशं च नाश्नीयादिति स्मरन्त्यृषयः। अयं चाशाश्यत इति रुज्यते।

प्रातर्भोजन और सायंकाल-भोजन के बीच में कुछ न खाये ऐसा ऋषि कहते हैं। यह तो बार-बार खाता है, अतः रोगी रहता है।

२. किमिति वृथाऽटाटचसे। अधीत्यां किं न व्याप्रियसे?

वृथा क्यों घूमते हो, पढ़ाई में क्यों नहीं लगते हो?

३. अयं पयः पेपीयत इत्यापेपीयते।

यह बहुत दूध पीता है, अतः बहुत मोटा हो रहा है।

४. जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः।

(मुण्डक उ० १।२।८)

अन्धों से ले जाये जा रहे अन्धों की तरह मूढ़ लोग कुटिलता से गति करते हुए घूमते हैं।

५. एष चेक्रीयते वाचि स्खलितानि गर्हितानि। तेन गुरुणा गर्ह्यते शिष्यते च।

यह बोलने में बार-बार निन्दनीय प्रमाद करता है, अतः गुरु इस की गर्हणा करते हैं और इसे दण्ड देते हैं।

६. अपशब्दान् वावच्यमान एष धृष्टः किमिति न वार्यते।

बार-बार गालियाँ देते हुए इस ढीठ को क्यों नहीं रोका जाता ?

७. **किमितीहैव चङ्क्रम्यसे सङ्कटेऽजिरे ? बहिर्ग्राममारामे किं न रमसे ?**
तुम यहाँ तंग अंगन में ही क्यो चक्कर लगा रहे हो; ग्राम से बाहर बागीचे में क्यों नहीं रमते ?

८. **यन्नाहं पितरावसेविषि तेन विप्रतीसारो दन्दह्यते माम् ।**
मैं ने माता पिता की सेवा नहीं की, इस कारण पश्चात्ताप मुझे बुरी तरह जला रहा है ।

९. **नृशंसा इमे लुण्टाका लोलुप्यन्ते परस्वानि जेघ्नीयन्ते चानागांसि सत्त्वानि ।**
ये निर्दय लुटेरे दूसरों के धन को बुरी तरह लूटते हैं और निरपराध प्राणियों को बार-बार मारते हैं ।

१०. **अर्थेऽशुचय इमे गृहिणो यायज्यमाना अपि न सुखं लभन्ते ।**
अशुद्ध-जीविका वाले ये गृहस्थ बार-बार यज्ञ करते हुए भी सुख को प्राप्त नहीं होते ।

११. **अकारणं ममोपकृतवन्तं सास्मर्ये तं महाभागम् ।**
बिना स्वार्थ मेरा भला करने वाले उस पुण्यात्मा को बार-बार स्मरण करता हूँ ।

१२. **सरीसृप्यन्ते कुटिलं सर्पन्तीति सरीसृपा उच्यन्ते व्यालादयः ।**
टेढ़ा चलते हैं इस लिये साँप आदि को 'सरीसृप' कहते हैं ।

१३. **अर्थार्थिनः कवयस्तोष्टूयन्तेऽस्तव्यमपि भूमिपम् ।**
धनार्थी कवि लोग स्तुति के अयोग्य राजा की भी बहुत स्तुति करते हैं ।

१४. **हेमन्ते शोशूयेते अस्य पादौ वराकस्य ।**
सरदी में इस बेचारे के पैर बहुत सूज जाते हैं ।

१५. **निदाघे घर्मार्ता लोकाः सास्नायन्ते न चातिसुखायन्ते ।**
गरमी की रुत में घाम से तंग आये हुए लोग बार-बार स्नान करते है, तिस पर भी बहुत सुख नहीं अनुभव करते ।

१६. **शिशिरे सनीस्रस्यन्ते वातेनाकम्पितानि तरूणां पर्णानि ।**
पतझड़ में वात से हिलाये हुए वृक्षों के पत्ते बार-बार गिरते हैं ।

१७. **वर्षासु पनीपत्यन्ते लोका मार्गेषु पङ्किलेषु ।**
बरसात में लोग कीचड़-भरे मार्गों पर बार-बार गिरते हैं ।

१८. **महात्मनः श्रीगान्धिनो जेगीयन्ते कवयो यशोऽवदातम् ।**

कवि लोग महात्मा गान्धी के शुभ्रयश का बार-बार गान करते हैं।

१९. **प्रतिकशोऽयमश्वः प्रवीयमाणोऽपि तेष्ठीयते ।**

यह अड़ियल (जो चाबुक को नहीं मानता) घोड़ा हाँकने पर भी बार-बार ठहर जाता है।

२०. **गीः काम्या नन्नम्यन्ते गुरूञ्शिष्याः ।**

भाषा पर अधिकार चाहने वाले शिष्य गुरुओं को बार-बार नमस्कार करते हैं।

इति यङन्तप्रक्रिया ।

यङ् लुगन्त प्रक्रिया

यङन्त रूपों का निरूपण कर चुके हैं।

४८४—इस यङ् प्रत्यय का अच् प्रत्यय परे रहते लुक् हो जाता है। बहुलतया बिना अच् के भी अर्थात् अनैमित्तिक रूप से भी यङ् का लुक् दीखता है।[1] प्रायः यङ् लुगन्त धातुओं के तिङन्त रूप वेद में पाए जाते हैं, पर लोक में भी इनका प्रयोग निषिद्ध नहीं है ऐसा कुछ वैयाकरण मानते हैं। **सोऽहं शरणमभ्येमि रोरवीमि च दुःखिता** (भा० १।७८०६)। **रोरवीति च वानरः** (भा०४।१६३३)। वेद में भू के लोट्-रूप 'बोभूतु' में गुणाभाव निपातन इस में ज्ञापक माना जाता है।[2]

यङ्लुगन्त रूपावलि के निर्माण में कुछ साधारण विधान हैं जिन्हें हम यङन्त प्रक्रिया में कह आए हैं और कुछ विशेष जिनका यङ् लुक् ही विषय है। प्रकृति (धातु) का उपादान करके जो कार्य सूत्रों में अनुशिष्ट किए हैं वे प्रायः यङ्-लुगन्त धातुओं को भी होते हैं, **प्रकृतिग्रहणे यङ्लुगन्तस्यापि ग्रहणम्**, कारण कि यहाँ धातु का केवल दो बार उच्चारण होता है, इससे कोई प्रकृत्यन्तर=नयी भिन्न धातु नहीं बन जाती। पर यहाँ संकोच कर दिया गया है। अनुबन्ध, श्तिप्, शप् अथवा गण का निर्देश करके जो कार्य विधान किए गए हैं तथा जहाँ एकाच् का ग्रहण है, वे यङ्लुगन्त को नहीं होते।

---

१. यङोऽचि च (२।४।७४)।

२. उनका कहना है कि प्रकृतिग्रहणे यङ्लुगन्तस्यापि ग्रहणम् इस परिभाषा से भूसुवोस्तिङि (७।३ ८८) से गुण निषेध प्राप्त ही था तो फिर गुणाभाव निपातन क्यों किया। वह इसलिये कि वेद में ही गुणाभाव हो, लोक में न हो। इससे लोक में भी यङ्लुक् का प्रयोग होता है यह सिद्ध हो जाता है। दूसरे लोगों का यह कहना है कि (७।४।६५) के भाष्य में ऐसा पाठ है—अत्रैव यङ्लुगन्तस्य गुणो न भवति, नान्यत्र। क्व वा मा भूद् बोभवीति। इस का अर्थ है—'अत्रैव'=बोभूतु इस लोट्—रूप में ही। यङ्लुगन्तस्य=भू धातु के यङ्लुगन्त का, क्योंकि 'बोभवीति' यह उदाहरण दिया है। इस प्रकार भाष्य का अभिप्राय होने पर बोभूतु में गुणाभाव ज्ञापक नहीं बनता।

एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' की प्रवृत्ति न होने से **सभी यङ्लुगन्त धातुएँ सेट्** हैं।

शितपा शपाऽनुबन्धेन निर्दिष्टं यद् गणेन च।
यत्रैकाज्ग्रहणं चैव पञ्चैतानि न यङ्लुकि ॥

यङ्लुगन्त धातुएं अदादि गण की समझी जाती हैं। 'चर्करीतं च' ऐसा गण-सूत्र है। अतः इनसे शप् का लुक् होता है (४६) और इनसे परस्मैपद प्रत्यय ही आते हैं। शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्। चाहे यङ् की प्रकृति अनुदात्तेत् अथवा ङित् क्यों न हो। यङन्त की तरह यङ्लुगन्त धातु भी 'अभ्यस्त' संज्ञक होती है।

४८५—यङ्लुगन्त (प्रत्यय-लक्षण से यङन्त) धातु से परे हलादि पित् सार्वधातुक प्रत्यय को 'ईट्' (ई) आगम विकल्प से होता है।[1] भू यङ्=भू भू (यङ्-लुक्)=भु भू (अभ्यास-ह्रस्व)=भो भू (अभ्यास-गुण)। बोभू (अभ्यास को आदेश)। इसकी प्रत्यय लक्षण से धातु संज्ञा होकर लट्, तिप्, शप्। अदादि होने से शप् का लुक्। पाक्षिक ईट्, गुण, अवादेश होकर बोभवीति रूप सिद्ध होता है। ईट् के अभाव में बोभोति।

यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि यङ् लुक् होने पर 'न लुमताङ्गस्य' से प्रत्यय-लक्षण कार्य का प्रतिषेध हो जाने से ईट् आगम नहीं होना चाहिये। उत्तर—लुमान् शब्द (लुक्, श्लु, लुप्) से प्रत्यय लुप्त होने पर प्रत्यय-निमित्तक अङ्ग-कार्य का ही निषेध होता है। हलादि पित् को जो ईट् विधान किया है वह अङ्ग-कार्य नहीं।

लट्

बोभोति (४६२) **बोभवीति** (४८५)	**बोभूतः**	**बोभुवति**[2] (९४) (उवङ्)
बोभोषि **बोभवीषि**	**बोभूथः**	**बोभूथ**

---

१. यङो वा (७।३।९४)। यङन्त से परे हलादि पित् सार्वधातुक का सम्भव नहीं। अतः यङ्लुगन्त उदाहरण होता है।

२. अभ्यस्त होने से झ् को अत् आदेश। प्रत्यय के अपित् होने से गुण न होकर 'ऊ' को उवङ्।

बोभोमि / बोभवीमि	बोभूवः	बोभूमः

लङ्

अबोभोत् / अबोभवीत्	अबोभूताम्	अबोभवुः[1]
अबोभोः / अबोभवीः	अबोभूतम्	अबोभूत
अबोभवम्	अबोभूव	अबोभूम

लोट्

बोभोतु / बोभवीतु / बोभूतात्	बोभूताम्	बोभुवतु
बोभूहि / बोभूतात्	बोभूतम्	बोभूत
बोभवानि	बोभवाव	बोभवाम

लुङ्

अबोभूवीत्[2] / अबोभोत् [यङ् (ईट्)]	अबोभूताम्	अबोभूवुः[3]

---

१. अभ्यस्त होने से (७८) से 'झि' को 'जुस्) हुआ और फिर (९५) से उस् परे रहते इगन्ताङ्ग अबोभू को गुण। अवादेश।

२. बोभू को 'भू' प्रकृति मानकर (२६५) से सिच् का लुक्। तब (४८५) से वैकल्पिक ईट् होने पर (२६६) से वुक् (व्) आगम होता है जो नित्य होने से (गुण किये जाने पर और न किये जाने पर भी प्राप्त होने से) गुण को बाध लेता है। भुवो वुको नित्यत्वात् ऐसा भाष्यग्रन्थ है। वुक् होने पर गुण का अवकाश नहीं रहता।

३. सिच् का लुक् होने पर आतः (३।४।११०) अर्थात् आकारान्त से झि को जुस् होता है ऐसा मानकर माधव का विचार है कि यहाँ जुस् न होकर 'अभूवन्' ऐसा रूप होना चाहिऐ। यह ठीक नहीं। सिच् से परे जो झि को जुस् प्राप्त होता है उसी के विषय में यह नियम (आतः) लागू होता है, अभ्यस्त अङ्ग को मानकर जो जुस् होता है उस के विषय में नहीं। यहाँ अभ्यस्ताश्रय झि को जुस् हुआ है।

लिट्—**बोभवाञ्चकार**[1]। लिङ्—**बोभूयात्** । **बोभूयाताम्** इत्यादि। लुट्—**बोभविता**। लृट्—**अबोभविष्यत्**। आशीर्लिङ्। **बोभूयात्**। **बोभूयास्ताम्**।

लू—**लोलवीति**। **लोलोति** (४६२)। **पू**—**पोपवीति**। **पोपोति**। **यु**—**योयवीति**। **योयोति**[2]। लङ्—**अयोयवीत्**। **अयोयोत्**। लिङ्—**योयुयात्**। आशीर्लिङ्—**योयूयात्**[3]। लुङ्—**अयोयावीत्** (सिचि वृद्धि)।

हु—**जोहोति**। **जोहवीति** (ईट्)। **जोहुतः**। **जोह्वति** (१७, यण्)।

पच्—**पापचीति** (४६१)। **पापक्ति**। **पापचीषि**। **पापक्षि**। लङ्—**अपापचीत्** (ईट्)। **अपापक्** (ईडभाव)। **अपापक्ताम्**। **अपापचुः**। **अपापचीः**। **अपापक्** इत्यादि। लोट्—**पापचीतु**। **पापक्तु**। बहु०—**पापचतु**। म० पु० ए० **पापग्धि** (५२)। लुङ्—**अपापचीत्** (सिच् इट्, ईट् त)। **अपापाचीत्**। विकल्प से वृद्धि (२५५)। लुट्—**पापचिता**। लृट्—**पापचिष्यति**।

हय्—जाहयीति। जाहति[4]। जाहतः। जाहयति। जाहामि (उ०, ए०)। जाहयीमि। लोट्—जाहयीतु। जाहतु। जाहतात्। जाहहि। जाहतात्। जाहयानि। लङ्—अजाहयीत्। अजाहत्। अजाहताम्। अजाहयुः[5]। लुङ्—अजाहयीत्। अजाहयिष्टाम् (प्र० पु०, द्वि०)। (२५६) से धातु के यकारान्त होने से वृद्धि-निषेध।

---

१. आम् प्रत्यय का 'आ' लिट् सम्बन्धी नहीं है अतः वुक् आगम की प्राप्ति नहीं। अभ्यास को ह्रस्व होकर गुण।

२. यो यु ति। ईट् अभाव पक्ष में। योयोति (गुण)। (६७) से वृद्धि नहीं हो सकती, कारण कि 'नाभ्यस्तस्याचि—' से 'नाभ्यस्तस्य' की अनुवृत्ति आ रही है। 'योयु' अभ्यस्त धातु है अतः यहाँ वृद्धि का प्रसङ्ग नहीं।

३. (४८०) से असार्वधातुक यकार परे अजन्त अङ्ग को दीर्घ।

४. लोपो व्योर्वलि (६।१।६६) से 'य्' का लोप वल् (त्) परे होने पर। ऐसे ही जाहतः। जाहामि। जाहतु। जाहहि। जाहतात् आदि में जानो। जाहामि में य् का लोप होने पर (६) से 'अ' को दीर्घ।

५. धातु के अभ्यस्त होने से 'झि' को जुस् (उस्)। वल् परे न होने से 'य्' का लोप न हुआ।

ग्रह्—जाग्रहीति। जाग्राढि[1]। जागृढः[2]। जाग्रक्षि (म० पु०, एक०), जाग्रहीषि। लोट्—जाग्रहीतु। जाग्राढु। लुट्—जाग्रहीता (माधव-मत में)। जाग्रहिता (दीक्षित मत में)।

नह्—नानहीति। नानद्धि[3]। नानद्धः। लङ्—अनानहीत्। अनानत्। अनानद्। अनानः[4]। अनानत्। लुङ्—अनानहीत्। अनानाहीत्।[5]

वह्—वावोढि[6]। वावहीति। वावोढः। वावहति।

सह्—सासोढि। सासहीति। सासोढः। सासहति। सासक्षि (म०, ए०)। लोट्—सासोढि।

इगुपध-धातुएँ

भिद्—बेभिदीति[7]। बेभेत्ति। बेभित्तः। बेभिदति। लङ्—अबेभिदीत्। अबेभेत्। अबेभेः[8] (म० पु० ए०)। लुट्—बेभेदिता[9]।

---

१. ईट् के अभाव में धातु के ह् को ढ्, तिप् के त् को ध्, ष्टुत्व विधि से ढ्। ढो ढे लोप। उससे पूर्व अण् (अ) को दीर्घ।

२. तस् परे रहते उसके ङित्वत् होने से (१२८) से ग्रह् को सम्प्रसारण, पूर्वरूप। गृह् को द्वित्व। ढ्-लोप होने पर भी पूर्व अण् न होने से दीर्घ न हुआ। ङित् प्रत्यय तस् को मान कर हुआ बहिरङ्ग सम्प्रसारण अन्तरङ्ग विधि अभ्यास को रुक्, रिक् आगम के लिए असिद्ध है, अतः ऋदुपध न होने से रुक्, रिक् आदि नहीं हुए। असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे।

३. नहो धः (८।२।३४)। नह् धातु के ह् को ध् होता है झल् परे रहते तथा पदान्त विषय में।

४. ह् को ध् होने पर, ध् को जश्त्व से द् होने पर (७७) से द् को वैकल्पिक रुत्व। 'रु' को विसर्ग।

५. (२५५) से वैकल्पिकी वृद्धि।

६. ईट् अभाव पक्ष में वा वह् ति इस अवस्था में ढत्व, धत्व, ढत्व (ष्टुत्व विधि से), ढ् लोप। पूर्व अण् (अ) को दीर्घत्व प्राप्ति, उसे बाधकर (पृ० २२६, टिप्पण १) से ओ।

७. (१२३) से उपधा-गुण का निषेध।

८. (७७) द् को वैकल्पिक रुत्व, विसर्ग।

९. एकाच उपदेशेऽनुदात्तात् की प्रवृत्ति न होने से सभी यङ्लुगन्त धातुएँ सेट् हैं। उपधागुण।

दिव्[1]—

स्रिव्—सोस्रोति। सोस्रूतः। सेस्रिवति। सोस्रोषि इत्यादि।[2]

रुद्—रोरोत्ति। रोरुदीति। रोरुत्तः। लङ्—अरोरुदीत्। अरोरोत्। अरोरोः। अरोरोत् (म० पु०, एक०)। लुङ्—अरोरोदीत्।

मुद्—मोमुदीति। मोमोत्ति। मोमुत्तः। मोमुदति। लङ्—अमोमुदीत्। अमोमोत्। अमोमुत्ताम्। अमोमुदुः। लुङ्—अमोमोदीत्। अमोमोदिष्टाम्। लुट्—मोमोदिता।

क्रुश्—चोक्रुशीति। चोक्रोष्टि।

वृत्—वर्वृतीति। वरिवृतीति। वरीवृतीति[3]। वर्वर्ति[4]। वरिवर्ति। वरीवर्ति। वर्वृत्तः इत्यादि। लृट्—वर्वर्तिष्यति[5]। लङ्—अवर्वर्त्। अवर्वाः[6]।

---

१. ऊठ्-भावी यकारान्त वकारान्त धातुओं का यङ्लुक् नहीं होता ऐसा च्छ्वोः शूडनुनासिके च (६।४।१९) सूत्र के भाष्य से ध्वनित होता है।

२. ज्वर-त्वर—(६।४।२०) से जिन्हें ऊठ् होता है उन यकारान्त वकारान्त धातुओं का यङ्लुक् होता ही है। अतः स्रिव् के व् और उपधा-इ के स्थान में ऊ (ठ्) होकर 'स्रू' रूप होकर द्विर्वचन होने पर अभ्यास को गुण होकर अभ्यासोत्तरखण्ड में सार्वधातुक गुण होकर सोस्रोति (झलादि तिप् परे ऊठ्)। सोस्रूतः। सेस्रिवति (प्रत्यय के झलादि न होने से ऊठ् नहीं हुआ)। स्रिव् को द्वित्व हुआ है।

३. वृत् के ऋदुपध होने से अभ्यास को रुक्, रिक्, रीक् आगम हुए हैं।

४. झरो झरि सवर्णे। (८।४।६५) से विकल्प से 'त्' का लोप।

५. न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः (७।२।५९) इस शास्त्र से गण निर्देश करके इट् का निषेध किया है, सो यहाँ यङ्लुगन्त में यह निषेध नहीं होगा।

६. अवर्वृत् स् (सिप्)। गुण रपर। अवर्वर्त् स्। हल्ङ्याप् सूत्र से अपृक्त स् का लोप। रात्सस्य=रेफ से परे संयोगान्त स् का ही लोप होता है इस नियम से 'त्' का लोप नहीं हुआ। जश्त्व होकर त् को द्। द् को पाक्षिक रुत्व (७७)। रो रि। पूर्व रेफ का लोप। पूर्व अण् (अ) को दीर्घ। रु को विसर्ग। अवर्वाः।

लुङ्—अवर्वर्तीत् । गणनिर्देश करके विधान होने से द्युतादि होने पर भी च्लि को अङ् नहीं हुआ ।

गृध्—जर्गृधीति । जरिगृधीति । जरीगृधीति । जर्गर्द्धि—इत्यादि । जर्गृद्धः इत्यादि । लङ्—म० पु०, एक० अजर्घाः[1] । अजर्त्रर्त्-द् ।

सृप्—सर्सर्प्ति । सरिसर्प्ति । सरीसर्प्ति । सर्स्रप्ति[2] । सर्सृपीति ।

व्ये (ञ्)—वाव्येति[3] । वाव्याति । वाव्यीतः[4] । वाव्यति[5] ।

ह्वे (ञ्)—जोहोति[6] । जोहवीति । जोहूतः । जोहुवति[7] ।

---

१. अजर्गृध् स् । गुण रपर । अजर्गर्ध् स् । हल् ङ्यादि-लोप । अजर्गर्ध् । झषन्त होने से पदान्त विषय में एकाचो बशो भष् (८।२।३७) से ग् को घ् । अजर्घर्ध् । जश्त्वेन ध् को द् । द् को (७७) से पाक्षिक रु । अजर्घ र् र् । रो रि (८।३।१४) । पूर्व रेफ का लोप । पूर्व अण् (अ) को दीर्घ । रु को विसर्ग ।

२. प्रकृतिग्रहणे यङ्लुगन्तस्यापि ग्रहणम् इस न्याय से जो कार्य अनुदात्त ऋदुपध सृप् को कहा है जैसे अम् आगम (२०७) वह यङ्लुगन्त सर्सृप्, सरिसृप्, सरीसृप् को भी होता है ।

३. व्येञ् को यङ् परे सम्प्रसारण विधान किया है (४७१-क) । पर यहाँ यङ् का लुक् हो जाने से प्रत्यय-निमित्तक अङ्गकार्य सम्प्रसारण नहीं होता । प्रत्यय-लोपे प्रत्ययलक्षणम् (१।१।६२) का 'न लुमताऽङ्गस्य' (१।१।६३) अपवाद है, अर्थ है—लुमान् (लुक्, श्लु, लुप्) शब्द से लोप होने पर अङ्ग-सम्बन्धी कार्य नहीं होता । व्ये यङ् । व्या यङ् (१८७) । व्या । यङ्लुक् । व्या व्या (द्वित्व) । यङन्त को द्वित्व होता है—सन्यङोः, अतः द्वित्व आङ्ग कार्य नहीं । अतः प्रत्यय का लुक् होने पर प्रत्यय-लक्षण कार्य द्वित्व होता है । हलादि शेष हो वाव्याति । तिप् आने पर पाक्षिक ईट्—वा व्या ईति= वाव्येति ।

४. वा व्या तस् । (११७) से अभ्यस्त 'वाव्या' के अन्त्य आ को 'ई'— वाव्यीतः ।

५. (६७) से अभ्यस्त 'वाव्या' के अन्त्य 'आ' का लोप ।

६. (३४४) से अभ्यासाश्रय ह्वे को सम्प्रसारण, पूर्वरूप । 'हु' को द्वित्व ।

७. अभ्यस्त होने से झ् को अत् । उवङ् ।

घ्रा—जाघ्रेति ।[1] जाघ्राति । जाघ्रीतः । जाघ्रति ।

ध्मा—दाध्मेति । दाध्माति । दाध्मीतः । दाध्मति ।

ऋकारान्त

४८६—**ऋदन्त** धातु के अभ्यास को रुक्, रिक्, रीक् आगम होते हैं यङ्लुक् में ।[2]

कृ—चर्करीति । चर्कर्ति । चरिकरीति । चरिकर्ति । चरीकरीति । चरीकर्ति । चर्कृतः । चर्कृति । लङ् (तिप्, सिप्)—अचर्कः । तिप्—अचर्करीत् । सिप्—अचर्करीः । लिङ्—चर्कृयात् । आशीर्लिङ्—चर्क्रियात् । तीनों आगमों के उदाहरण स्वयम् बना लें ।

मृ—मर्मरीति । मर्मर्ति । कृ की तरह ।

वृ (ङ्(—वर्वरीति । वर्वर्ति । कृ की तरह ।

कॄ—चाकरीति[3] । चाकर्ति । चाकीर्तः । चाकिरति । लङ्—अचाकरीत् । अचाकः । अचाकीर्तम्[4]। अचाकरुः । लुङ्—अचाकारीत्[5]—अचाकारिष्टाम् । लोट्—चाकर्तु । चाकरीतु । चाकीर्हि । चाकराणि । लिङ्—चाकीर्यात् । आशीर्लिङ्—चाकीर्यात् । चाकीर्यास्ताम् ।

---

१. (४७१-ख) से घ्रा और ध्मा को यङ् परे 'ई' अन्तादेश विधान किया है । यङ्लुक् में उसकी प्राप्ति नहीं । धात्वाकार और ईट् के स्थान में गुण एकादेश ।

२. ऋतश्च (७।४।९२) ।

३. कॄ दीर्घ ऋकारान्त धातु है, अतः (४६८) से अभ्यास को रुक् आदि आगम नहीं हो सकते । अभ्यास के ऋ को उरत् से 'अ' (रपर अ) होकर हलादि शेष होने पर (४६१) से दीर्घ । अभ्यासोत्तर खण्ड में तिप्, ईट् होने पर गुण होकर 'चाकरीति' रूप सिद्ध होता है । (१२३) से उपधा-गुण का निषेध होता है, सो यहां इगन्त अङ्ग को गुण निर्बाध होता है । ईट् के अभाव में चर्कर्ति । लङ् में गुण होकर हल्ङ्यादि से त्, स् का लोप होकर र् को विसर्जनीय होने पर 'अचाकः' यह ईट के अभाव में रूप होगा ।

४. (१४१) से ॠ को इर् होकर (११४-ख) से दीर्घ ।

५. लुङ्—(२५०) से नित्य वृद्धि होकर 'अचाकारीत्' ऐसा तिप् परे रहते रूप होगा ।

तॄ—तातरीति। तार्तति। तातीर्तः। लिङ्—तातीर्यात्। आशीर्लिङ्—तातीर्यात्। तातीर्यास्ताम्। इत्यादि कृ की तरह।

अनुनासिकान्त धातुएँ

गम्—जङ्गमीति। जङ्गन्ति[1]। जङ्गतः[2]। जङ्ग्मति(५४)। जङ्गमीषि। जङ्गंसि। जङ्गमीमि। जङ्गन्मि[3] (म्वोश्च)। जङ्गन्वः। जङ्गन्मः। लिट्—जङ्गमाञ्चकार। लुट्—जङ्गमिता[4]। लृट्—जङ्गमिष्यति। लोट्—जङ्गमीतु। जङ्गन्तु। जङ्गतात्। जङ्गहि[5]। लङ्—अजङ्गमीत्। अजङ्गन्[6]। अजङ्गताम्। अजङ्ग्मुः[7]। लुङ्—अजङ्गमीत्[8]। अजङ्गमिष्टाम्। अजङ्गमिषुः।

हन्—जङ्घनीति। जङ्घन्ति[9]। जङ्घतः। जङ्घ्नति। लुट्—

---

१. जङ्गम्। (४६३) से अभ्यास को नुक् आगम। अभ्यास के कित् होने से (४६१) से दीर्घ न हो सका। ईट् के अभाव में जङ्गम् ति इस अवस्था में (५३) से अनुनासिकलोप नहीं हो सकता, कारण कि तिप् पित् है, कित् अथवा ङित् नहीं। 'म्' को अनुस्वार होकर परसवर्ण हुआ है।

२. यहाँ तस् प्रत्यय सार्वधातुक अपित् होने से ङित्वत् हो जाने से (५३) से अनुनासिक का लोप हुआ है।

३. म्वोश्च (८।२।६५)। धातु के म् को म्, व् परे रहते न् आदेश हो जाता है।

४. इट् निषेध एकाच्-ग्रहण करके किया गया है—एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्। सो वह निषेध यङ्लुक् में नहीं लगता।

५. (५३) से अनुनासिक लोप। इसके आभीयत्वेन असिद्ध होने से ह्रस्व अ से परे 'हि' नहीं है, अतः (अतो हेः) से 'हि' का लुक् नहीं हुआ।

६. मो नो धातोः (८।२।६४)। धातु के पदान्त म् को 'न्' होता है। ईट् के अभाव में हल्ङ्यादि से 'त्' का लोप होने पर 'म्' को 'न्'।

७. 'उस्' के ङित्वत् होने से (५४) से उपधा (अ) का लोप।

८. गम् को ऌदित् होने से च्लि' के स्थान में अङ् विधान किया है। यह विधि अनुबन्ध के आश्रित है, अतः यङ्लुगन्त में अङ् नहीं होता, सिच् होता है। मकारान्त होने से गम् से परे सिच् आने पर (२५६) से वृद्धि का निषेध होता है, अतः (२५५) से प्रसक्त वैकल्पिकी वृद्धि नहीं होती।

९. जङ्घन्ति—अभ्यासाच्च (७।३।५५) में पूर्वसूत्र हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु

लुट्—जङ्घनिता । लोट्—जङ्घहि[1] । लङ्—अजङ्घनीत् । अजङ्घन् । लिङ्—जङ्घन्यात् । आशीर्लिङ्—वध्यात्[2] । लुङ्—अवधीत् । अवधिष्टाम् ।

यम्—यंयमीति[3] । यंयन्ति । यंयतः । यंयमति । लङ्—अयंयमीत् । अयंयन् । अयंयताम् । लुङ्—अयंयंसीत्[4] । अयंयंसिष्टाम् । अयंयंसिषुः । लोट्—यंयहि ।

रम्—रंरमीति । रंरन्ति । रंरतः[5] । रंरमति । रंरण्मि[6] । रंरण्वः । लङ्—अरंरमीत् । अरंरन् । अरंरताम् । लुङ्—अरंरंसिष्टाम् । अरंरंसिषुः । लोट्—रंरहि ।

(७।३।५४) से श्तिप् से निर्दिष्ट 'हन्ति' की अनुवृत्ति करके अभ्यासोत्तरखण्ड में हन् के ह् को कुत्व (घ्) विधान किया है, सो यह विधि यङ्लुगन्त में नहीं होनी चाहिए, पर होती है, ऐसा न्यासकार कहता है । 'श्तिपा शपाऽनुबन्धेन—' यह निषेध अनित्य है ।

१. अनुनासिक-लोप के असिद्ध होने से ह्रस्व अ से परे 'हि' नहीं है, अतः 'हि' का लुक् नहीं हुआ ।

२. वध्यात्—यहाँ अभ्यस्त धातु जङ्घन् के स्थान में वध् आदेश हुआ है । स्थानिवद्भाव से यह भी अभ्यस्त है । अनभ्यास धातु के एकाच् को द्वित्व कहा है । अतः 'वध' को द्वित्व नहीं होता ।

३. अभ्यास को (४६३) से नुक् कहा है । यह नुक् अनुस्वार का उपलक्षण है । और इस अनुस्वार को 'स च पदान्तवद्वाच्यः' इस वार्तिक से पदान्त समझा जाता है, जिससे विकल्प से इसे परसवर्ण भी हो जाता है । नुक् से यदि 'न्' का ही ग्रहण इष्ट होता तो यहाँ यंयमीति आदि में झल् परे न होने से अनुस्वार न हो सकता और जञ्जपीति आदि में अनुस्वार होकर पदान्त न होने से नित्य परसवर्ण होता, जंजपीति आदि न कह सकते ।

४. प्रकृतिग्रहणे यङ्लुगन्तस्यापि ग्रहणम् इस वचन से जो केवल 'यम्' को सक् आगम और सिच् को इट् आगम होता है वह यहाँ भी होता है ।

५. अनुदात्तोपदेश रम् के 'म्' का झलादि ङित् तस् परे रहते (५३) से लोप ।

६. म्वोश्च (८।२।६५) से जो धातु के म् को 'न्' होता है वह णत्व-विधायक शास्त्र (८।४।१) के लिये सिद्ध है अतः णत्व हो जाता ।

नम्—नंनमीति । नंनन्ति । नन्नतः । नन्नमति । लङ्—अनंनमीत् । अनंनन् ।[1] अनन्नताम् । लुङ्—अनंनंसीत् । लोट्—नंनहि ।

जन्, सन्, खन्—इन को आकार अन्तादेश होता है झलादि सन् तथा झलादि कित् ङित् प्रत्यय परे होने पर[2]। सूत्र में सन् धातु के लिये ही झलादि सन् का ग्रहण किया है। (४५४) से सन् प्रत्यय परे इट् का विकल्प होने से। जन्, खन् से परे झलादि सन् दुर्लभ है। जन्, खन् नित्य सेट् हैं।

जन्—जञ्जनीति । जञ्जन्ति[3]। जञ्जातः[4]। जञ्ज्ञति[5]। लङ्—अजञ्जनीत्। अजञ्जन्। लोट्—जञ्जाहि। लिङ्—जञ्जन्यात् । जञ्जायात्[6]। लुङ्—अजञ्जनीत् । अजञ्जानीत् ।

खन्—चङ्खनीति । चङ्खन्ति । चङ्खातः । चङ्ख्नति । लोट्—चङ्खाहि । लिङ्—चङ्खन्यात् । चङ्खायात् । लुङ्—अचङ्खनीत् । अचङ्खानीत् ।

४८७—अनुनासिकान्त अङ्ग की उपधा को दीर्घ होता है क्विप् परे तथा झलादि कित् ङित् प्रत्यय परे रहते ।[7]

तन्—तन्तनीति । तन्तन्ति । तन्तान्तः[8]। तन्तनति । तन्तनीमि । तन्तन्मि । लङ्—अतन्तनीत् । अतन्तन् । अतन्तान्ताम् । लुङ्—अतन्तनीत् । अतन्तानीत् । वैकल्पिकी वृद्धि । (२५५) ।

---

१. ईट् के अभाव में हल्ङ्यादि से 'त्' का लोप होने पर मो नो धातोः से धातु के म् को न् ।

२.

३. जञ्जन् ति । 'यहाँ नश्चापदान्तस्य झलि (८।३।२४) से अपदान्त 'न्' को झल् परे होने पर अनुस्वार होता है और अनुस्वार को नित्य पर सवर्ण ।

४. (२४५) से झलादि ङित् प्रत्यय तस् परे होने पर जन् के 'न्' को आकार आदेश । पर होने से यह (४७४) को बाधता है ।

५. यहां (५४) से 'अति' परे जन् की उपधा 'अ' का लोप । श्चुत्व विधि से न् को ञ् । ज्ञोर्योगे ज्ञः ।

६. (३६२) से विकल्प से जन् को आकार अन्तादेश ।

७. अनुनासिकस्य क्वि-झलोः (६।४।१५) ।

८. तन्तन् तः । उपधा-दीर्घ । न् को अनुस्वार । पर सवर्ण । 'अनुदात्तोपदेश—' सूत्र में 'तनोत्यादीनाम्' ऐसा गण-निर्देश होने से अनुनासिक (न्) का लोप नहीं होता ।

शम्—शंशमीति। शंशन्ति। शंशान्तः (४८७)। शंशमति। शंशमीमि। शंशन्मि। लङ्—अशंशमीत्। अशंशन्। अशंशान्ताम्। लुङ्—अशंशमीत्। (२५६) से वृद्धि का निषेध हो गया।

इसी प्रकार श्रम्, भ्रम्, तम्, दम् के रूप जानो।

अन्य धातुएं

जप्—जञ्जपीति।[1] जञ्जप्ति। जञ्जप्तः। जञ्जपति। लङ्—अजञ्जपीत्। अजञ्जब्।[2] अजञ्जप्। लुङ्—अजञ्जपीत्। अजञ्जापीत्। लोट्—जञ्जब्धि। जञ्जप्तात्। लिङ्—जञ्जप्यात्।

जभ्—जञ्भीति। जञ्जब्धि। जञ्जभीषि। जञ्जप्सि। लङ्—अजञ्जभीत्। अजञ्जप्। लोट्—जञ्जब्धि। जञ्जब्धात्।

दह्—दन्दग्धि। दन्दहीति। दन्दग्धः[3]। लङ्—अदन्धक्[4]। अदन्दहीत्। लुङ्—अदन्दहीत्। अदन्दाहीत्।

दंश्—दन्दशीति[5]। दन्दष्टि। दन्दशति। दन्दशीषि। दन्दक्षि। श् को ष्। ष् को (षढोः कः सि) से क्।

प्रच्छ्—पाप्रच्छीति। पाप्रष्टि[6]। पाप्रष्टः[7]। पाप्रच्छति। पाप्रश्मि[8]।

---

१. (४६३) से अभ्यास को नुक्।

२. (८।२।३६) से पदान्त प् को ब्। पक्ष में इस ब् को चर्त्व विधि से प्।

३. दकारादि धातु दह् के ह् को घ। झषन्त से परे त्, थ्, को ध्। जश्त्व विधि से घ् को ग्।

४. अदन्दह् त् (ईट् अभाव पक्ष में)। हल्ङ्यादि से त् का लोप। ह् को घ्। झषन्त होने से बश् द् को भष्। जश्त्व से घ् को ग्। चर्त्व से क् (वैकल्पिक)।

५. यङ्विधि (लुपसदचरजपजभदहदशगॄभ्यो भावगर्हायाम्) में तथा नुगागम विधि (जप जभदहदशभञ्जपशां च) में न्-लोप करके 'दश्' ऐसा पढ़ा है इससे अकित् प्रत्यय परे भी यङ्लुक् में (१३१) से न्-लोप होता है—दन्दशीति। दन्दष्टि। श् को ष्।

६. व्रश्च-भ्रस्ज—सूत्र से छ् को ष्। ष्टुत्व।

७. ग्रहिज्या—सूत्र में 'पृच्छति' ऐसा श्तिप् से निर्देश किया है। सो यङ्लुक् में ङित् तस् प्रत्यय परे रहते सम्प्रसारण नहीं होता।

८. च्छ्वोः शूडनुनासिके च (१६१) से च्छ् को श्।

पाप्रच्छ्वः । पाप्रश्मः । लङ्—अपाप्रच्छीत् । अपाप्रट् । अपाप्रष्टाम् । अपाप्रच्छुः । लिङ्—पाप्रच्छ्यात् । आशीर्लिङ्—पाप्रच्छ्यात् । पाप्रच्छ्यास्ताम् । लुङ्—अपाप्रच्छीत् । लुट्—पाप्रच्छिता । लृट्—पाप्रच्छिष्यति । पाप्रड्ढि । पाप्रच्छानि ।

स्पर्ध्—पास्पर्धीति । पास्पर्धि । पास्पर्धः । पास्पर्धति । पास्पर्त्सि । लोट्—पास्पर्द्धु । पास्पर्धात् । पास्पर्धि । पास्पर्द्धात् । लङ्—अपास्पर्धीत् । अपास्पर्त्—द् । अपास्पर्द्धाम् । अपास्पर्द्धीः । अपापर्त्—द् । अपास्पाः [1]। लुङ्—अपास्पर्द्धीत् । अपास्पर्धिष्टाम् ।

खाद्—चाखादीति । चाखात्ति । चाखात्तः । चाखादति । चाखादीषि । चाखात्सि । लङ्—अचाखादीत् । अचाखात् । अचाखात् । अचाखाः (७७) । लुङ्—अचाखादीत् । अचाखादिष्टाम् ।

गाध्—जागाधीति । जागाद्धि [2]। जाघात्सि [3]। लङ्—अजागाधीत् । अजाघात् । अजागाद्धाम् । अजागाधुः । अजाघाः[4] (म०पु० एक०) । लुङ्—अजागाधीत् । अजागाधिष्टाम् । लोट्—जागाधीतु । जागाद्धु ।

व्रश्च्—वाव्रश्चीति । वाव्रष्टि । वाव्रश्चति ।[5]

---

१. ईट् के अभाव में हल्ङ्याप् सूत्र से सिप् का लोप होने पर पदान्त झल् होने से स्पर्ध् के ध् को जश्त्व (द्) होने पर उस द् को (७७) से विकल्प से 'रु' हो जाता है—अपास्पर् र् । इस अवस्था में रो रि से पूर्व रेफ का लोप । लोप होने पर पूर्व अण्=पकारोत्तरवर्ती 'अ' को दीर्घ ।

२. ईट् के अभाव में जागाध्ति । इस अवस्था में झषन्त से परे ति के त् को ध् (पृ० १५७, टि० १) । जश्त्व । जागाद्धि ।

३. जागाध्—एकाचो बशो भष्—(८।२।३७) से बश् ग् को भष् घ् । खरि च (८।४।५५) से ध् को चर्त्व त् । ईट् पक्ष में जागाधीषि ।

४. ईट् के अभाव में अजागाध् स् इस अवस्था में झषन्त के एकाच् बश् गा को भष् घा । हल्ङ्याप् से स् का लोप होने पर ध् को जश्त्व विधि से द् । इस 'द्' को (७७) से वैकल्पिक 'रु' । विसर्ग ।

५. सम्प्रसारण विधायक शास्त्र (ग्रहि-ज्या—) में 'वृश्चति' ऐसा श्तिप् से निर्देश होने से यङ्लुक् में यह विधि नहीं होती ।

नन्द्—नानन्दीति। नानन्ति [1]। लङ्—अनानन्दीत्। अनानन् [2]। लोट्—नानन्द्धि। नानन्धि।

चर्—चञ्चुरीति। चञ्चूर्ति [3]। चञ्चूर्तः [4]। चञ्चुरति। लङ्—अचञ्चुरीत्। अचञ्चूः [5]। लुट्—चञ्चुरिता [6]।

फल्—पम्फुलीति। पम्फुल्ति। पम्फुल्तः। पम्फुल्मि।

चाय्—चेकेति [7]। चेकयीति। चेकीतः। चेक्यति [8]। (यण्)। लङ्—

---

१. ईट् के अभाव में ना नन्द् ति। द् को चर्त्व 'त्'। 'त्' का सवर्ण झर् (त्) परे विकल्प से लोप।

२. ईट् के अभाव में अनानन्द् त्। हल्ङ्याप्—सूत्र से त् का लोप। द् का संयोगान्तस्य लोपः' से लोप। अनानन्।

३. (४६५) से अभ्यास को नुक् आगम। (४६५) से चर् के 'अ' को 'उ'। (१२३) से उपधा-गुण का निषेध।

४. चञ्चर् तः। इस अवस्था में (४६५) से चर् के 'अ' को 'उ' और उसे (११४-ख) से हल् परे रहते दीर्घ। चञ्चूर्ति। चञ्चुर् ति—यहाँ लघूपध-गुण की दृष्टि में 'हलि च' दीर्घ असिद्ध है तो भी उ-विधि में जो उत्व किया है वह विकार-निवृत्ति के लिये है, अतः गुण नहीं होता। इस न्याय से तो दीर्घ भी नहीं होना चाहिये। यह ठीक है, तपर करने से (उत् पढ़ने से) दीर्घत्व की निवृत्ति भी प्रसक्त होती है, पर दीर्घत्व असिद्ध है इसलिए उसकी निवृत्ति नहीं होती।

५. तिप्, सिप् के त्, स् का हल्ङ्यादि—से लोप। पदान्त रेफ की उपधा इक् को दीर्घ। र् को विसर्ग।

६. चर् के 'अ' को उ आदेश तपर किया है, अतः तपरकरण-सामर्थ्य से यहाँ उपधा-गुण नहीं होता।

७. चाय् को यङ्लुक् में भी 'की' होता है, यद्यपि सूत्र में यङ् परे रहते ही यह आदेश विधान किया है, कारण कि यङ् परे रहते तो (४८०) से दीर्घ हो ही जाता तो दीर्घ (की) पढ़ना व्यर्थ होता। चे की ति=चेकेति। गुण। चे की ई ति। वार्णादाङ्गं बलीयः, इस न्याय से वार्ण विधि, सवर्ण दीर्घ को बाधकर आङ्ग विधि गुण (की को के) होता है। चे के ई ति= चेकयीति।

८. चे की अति। यहाँ (१११) से अनेकाच् अङ्ग के असंयोगपूर्वक 'ई' को यण्।

अचेकयीत् । अचेकेत् । अचेकीताम् । अचेकेः [1]। (म० पु० एक०) । लोट्—चेकीहि । चेकीतात् । लुट्—चेकयिता । लृट्—चेकयिष्यति ।

दृश्—दर्दृशीति । दरिदृशीति । दरीदृशीति । दर्द्रष्टि[2] । दरिद्रष्टि । दरीद्रष्टि । दर्द्रष्टः । दर्दृशति (प्र० पु० ब०) । लोट्—दर्द्रड्ढि[3] (म० पु० एक०) । दर्दृशानि[4] (उ० पु० एक०)। लङ्—अदर्दृशीत् । अदर्द्रक् । लुङ्—अदर्दर्शीत् ।

तृप्—तर्तृपीति । तरितृपीति । तरीतृपीति । तर्तर्प्ति । तर्त्रप्ति[5] । तर्त्रप्तः (प्र० पु० द्वि०) । तर्तृपति (प्र० पु० बहु०) ।

नृत्—नर्नर्ति । नरिनर्ति । नरीनर्ति । नर्नृत्तः इत्यादि ।

कृष्—चर्कृषीति । चर्कर्ष्टि । चर्क्रष्टि । चर्कृष्टः । चर्क्रष्टः ।

मृज्—मर्मार्जीति[6] । मर्मार्ष्टि । मरिमार्जीति । मरिमार्ष्टि । मरीमार्जीति । मरीमार्ष्टि । मर्मृष्टः । मरिमृष्टः । मरीमृष्टः । मर्मृजति[7] । मर्मार्जति ।

आकारान्त

दा—दादेति ।[8] दादाति । दात्तः ।[9] दादति । लङ्—अदादेत् । अदा-

---

१. अचे की सिप् । गुण । अचे के सिप् । सिप् के 'इ' का लोप । इत्संज्ञक प् का लोप । स् को रुत्वविसर्ग ।

२. (२०६) से अकित् झल् परे होने पर अम् आगम ।

३. 'हि' को धि । षत्व (श् को ष्) । व्रश्च भ्रस्ज—(८।२।३६) । ष्टुत्व । जश्त्व (ष् को ड्) ।

४. आनि मिप्स्थानिक होने से पित् है और स्वरूप से अजादि है अतः (१२३) से उपधा-गुण का निषेध हो गया ।

५. (२०७) से ऋकारोपध धातु को अकित् झल् परे रहते अम् आगम विकल्प से होता है । मित् होने से यह आगम ऋ से परे होगा । तृप् । तृ अ प् । त्रप् (यण्) ।

६. ईट् पक्ष में (१२३) से उपधा-गुण का निषेध प्राप्त होता है, पर (८७) से नित्य वृद्धि होती है ।

७. 'मृजेरजादौ सङ्क्रमे विभाषा वृद्धिरिष्यते' इस वचन से विकल्प से वृद्धि । सङ्क्रम=गुणवृद्धि प्रतिषेधविषय ।

८. दादाईति=दादेति (गुण एकादेश) । अभ्यास को 'ह्रस्वः' (११६) से ह्रस्व होकर (४६१) से दीर्घ ।

९. दादातः । यहाँ (६७) से 'आ' का लोप हुआ है । दा घु-संज्ञक है अतः (११७) से 'आ' को 'ई' नहीं हुआ ।

दात् । लोट्—दादातु । दादेतु । देहि ।[1] लिङ्—दाद्यात् । आशीर्लिङ्—दादेयात् ।

धा—दाधेति । दाधाति । धात्तः ।[2] दाधति । लङ्—अदाधेत् । अदाधात् । लोट्—दाधातु । दाधेतु । धेहि (म० पु० ए०) ।

धेट् (=**धा**)—दाधेति । दाधाति । दाद्धः (प्र० पु० द्वि०) । अदाधुः । लुङ्—अदाधात् । सिच्-लुक् । लोट्—धेहि (म० पु० एक०) । लिङ्—दाध्यात् । आशीर्लिङ्—दाधेयात् ।

पा—पापाति । पापेति । पापीतः ।[3] पापति । लङ्—अपापेत् । अपापात् । अपापुः (प्र० पु० बहु०) । लिङ्—पापीयात् । आशीर्लिङ्—पापेयात् ।[4] लुङ्—अपापात् ।[5]

स्था—तास्थाति । तास्थेति ।[6] तास्थीतः ।[7] तास्थति । लोट्—तास्थीहि ।[8] तास्थीतात् । लिङ्—तास्थीयात् । आशीर्लिङ्—तास्थेयात् ।

हा—जाहेति । जाहाति । जाहीतः ।[9] जाहति । लङ्—अजाहेत् (ईट्) ।

---

१. प्रकृतिग्रहणे यङ्लुगन्तस्यापि ग्रहणम् इस परिभाषा के अनुसार घु-संज्ञकों के विषय में लोट् म० पु० ए० में 'हि' परे होने पर जो कार्य (=एत्व व अभ्यास-लोप) कहा है वे घु-संज्ञक यङ्लुगन्त धातुओं को भी होगा । जिस से 'देहि' रूप साधु निष्पन्न होता है ।

२. दा धा तः—इस अवस्था में (९७) से धा के 'आ' का लोप हो जाता है । दा ध् तः । द ध् तः (११६) । दा ध् तः । दीर्घ । (१२१) से एकाच् बश् 'द' को भष् (ध) । ध् को चर्त्व विधि से त् । तस् प्रत्यय के 'त्' को झषन्त धाध् से परे होने से ध् नहीं होता, कारण कि धत्व विधि में 'धाञ्' धातु का पर्युदास किया है—झषस्तथोर्धोऽधः (८।२।४०) ।

३. (११७) से पा (पीना) के 'आ' को 'ई' ।

४. (३८५) से 'पा' के 'आ' को 'ए' ।

५. (२६५) से सिच् का लुक् ।

६. शर्पूर्व होने से खय् शेष रहता है, आदि हल् नहीं ।

७. यहाँ (११७) से स्था के 'आ' को 'ई' ।

८. सिप् के स्थान में जो 'हि' विधान किया है उसे अपित् माना है । अपित् सार्वधातुक ङित्वत् होता है, अतः यहाँ भी स्था के 'आ' को 'ई' होता है ।

९. जा हा तः । यहां हलादि ङित् प्रत्यय तस् परे होने पर ई हल्यघोः

अजाहात् । लोट्—जाहीहि[1] (म० पु० एक०) । लुङ्—अजाहासीत् । अजाहासिष्टाम् । अजाहासिषुः । लिङ्—जाहीयात् ।[2] आशीर्लिङ्—जाहायात् ।[3] जाहायास्ताम् ।

अकारोपध धातुएँ

पठ्—पापठीति । पापट्ठि । पापट्ठः । पापठति । लङ्—अपापठीत् । अपापठीः । ईडभाव में अपापट् । लुङ्—अपापाठीत् । अपापठीत् । (वैकल्पिकी वृद्धि) ।

घट्—जाघटीति । जाघट्टि (ईडभाव) । जाघट्टः । जाघटति । लङ्—अजाघटीत् । अजाघट् । लिङ्—जाघट्यात् । आशीर्लिङ्—जाघट्यात् । लुङ्—अजाघटीत् । अजाघाटीत् (वै० वृद्धि) ।

वद्—वावदीति । वावत्ति । वावत्तः । वावदति । लङ्—अवावदीत् । अवावत् । अवावदीः ।[4] अवावः । (ईडभाव में म० पु० ए०) । लिङ्—वावद्यात् । आशीर्लिङ्—वावद्यात् । वावद्यास्ताम् । गणनिर्देश-पूर्वक (यजादि) विधान होने से यङ्लुक् मे सम्प्रसारण नहीं होता ।

लप्—लालपीति । लालप्ति । लालपति । लङ्—अलालपीत् । अलालप ।

शप्—शाशपीति । शाशप्ति । शाशपति । लङ्—अशाशपीत् । अशाशप् । लुङ्—अशाशपीत् । अशाशापीत् ।

---

(११७) से 'हा' के 'आ' को ई । वैकल्पिक इत्व-विधायक शास्त्र जहातेश्च (६।४।११६) में श्तिप् निर्देश होने से विकल्प से 'आ' को 'इ' नहीं होता ।

१. यहाँ आ च हौ (६।४।११७) में पूर्व सूत्र से जहातेः की अनुवृत्ति आ रही है । अतः श्तिप् निर्देश होने से आ और इ अन्तादेश नहीं होते ।

२. यहाँ 'लोपो यि' से यकारादि प्रत्यय परे होने पर 'हा' के 'आ' का लोप नहीं होता । इस सूत्र में 'जहातेः' की अनुवृत्ति आ रही है । श्तिप् निर्देश करके कार्य विधान किया है ।

३. आर्धधातुक लिङ् में एर्लिङि (६।४।६७) से घु-संज्ञक, मा, स्था, गा, पा, हा, सो को 'ए' अन्तादेश विधान किया है, वहाँ भी पूर्व सूत्र से 'जहाति' की अनुवृत्ति आ रही है । श्तिप् निर्देश होने से यह विधि भी यङ्लुक् में नहीं होती ।

४. अवावद् स् । हल्ङ्याप् से स् का लोप । (७७) से द् को विकल्प से रु । रु को विसर्ग । रुत्वाभाव में अवावत्—द् ।

रभ् (आङ् पूर्वक)—आरारम्भीति।[1] आरारब्धि।[2] आरारब्धः। आरारभति। लङ्—आरारम्भीत्। आरारप्। लुङ्—आरारम्भीत्।[3] आरारम्भिष्टाम्।

स्वप्—सास्वपीति। सास्वप्ति[4]। सास्वप्तः। लङ्—असास्वपीत्। असास्वप्। लुङ्—असास्वपीत्। असास्वापीत्। लिङ्—सास्वप्यात्। आशीर्लिङ्—सासुप्यात्[5]।

वच्—वावचीति। वावक्ति। वावक्तः। वावचति। लङ्—अवावचीत्। ईट् के अभाव में अवावक्। लुङ्—अवावचीत्[6]। अवावाचीत्। लोट्—वावग्धि।

यज्—यायजीति। यायष्टि[7]। यायजति।

वश्—वावशीति। वावष्टि। वावष्टः[8]। वावशति।

नश्—नानशीति। नानंष्टि[9]। नानष्टः[10]। नानशति[11]। लङ्—अनान-

---

१. (२९४) से अजादि प्रत्यय 'ईति' परे होने पर नुम्।

२. अजादि प्रत्यय न होने से रभ् को नुम् नहीं हुआ। धातु के झषन्त होने से तस् के 'त्' को ध्। पूर्व भ् को जश्त्व होकर ब्।

३. हलन्तलक्षणा वृद्धि का (२५३) से निषेध। नुम् आने से 'अ' के गुरु हो जाने से वैकल्पिकी वृद्धि का प्रसङ्ग नहीं।

४. रुदादिभ्यः—इस प्रकार गणनिर्देश करके हलादि सार्वधातुक को इट् विधान किया है, सो वह यङ्लुक् में नहीं होता। प्रत्यय (तिप्) के कित् न होने से सम्प्रसारण नहीं होता। 'स्वप्' को द्वित्व होता है। सास्वप् यह यङ्लुगन्त धातु है।

५. यासुट् के कित् होने से (३४२) से सम्प्रसारण।

६. अस्यति-वक्ति—(३।१।५२) इस अङ् विधायक शास्त्र में वच् का श्तिप् से निर्देश होने से यङ्लुक् में च्लि को अङ् आदेश नहीं हुआ है।

७. व्रश्च-भ्रस्ज-सृज-मृज-यज—इस सूत्र से यज् के ज् को ष।

८. ग्रहि-ज्या—इस सम्प्रसारण-विधायक शास्त्र में 'वष्टि' यह श्तिबन्त पढ़ा है, अतः यङ्लुगन्त में ङित् प्रत्यय तस् परे रहते सम्प्रसारण नहीं होता।

९. २१९ पृ० पर दिये टि० के अनुसार नश् से झलादि प्रत्यय परे रहते नुम् आगम होता है।

१०. यहाँ भी उपर्युक्त कारण से नुम् हुआ, पर (१३१) से ङित् प्रत्यय तस् परे रहते इसका लोप हो गया।

११. झल् परे न होने से यहाँ नुम् का प्रसङ्ग ही नहीं।

शीत्। अनानट्।[1] अनानक्।

४८८—ज्वर्, त्वर्, स्रिव्, अव्, मव् की उपधा और 'व्' के स्थान में ऊ (ठ्) आदेश होता है क्विप्, झलादि प्रत्यय तथा अनुनासिक परे होने पर[2]।

मव्—मामोति[3]। मामवीति। मामूतः। मामवति। मामवीषि। मामोषि। मामूथः। मामूथ। मामोमि[4]। मामवीमि। मामावः[5]। मामूमः। लङ्—अमामवीत्। अमामोत्। सिप्—अमामवीः। अमामोः। लोट्—मामूहि। मामवानि। मामवाव। मामवाम।

हर्य्—जाहर्यीति। जाहर्ति।[6] जाहर्तः। जाहर्यति। लोट्—जाहर्हि। लङ्—अजाहर्यीत्। अजाहः[7]। अजाहर्ताम्। अजाहर्युः।

शी (ङ्)—शेशयीति[8]। शेशेति। शेशीतः। शेश्यति। लङ्—अशेशयीत्। अशेशेत्। अशेशेः। अशेशीताम्। अशेशयुः। लोट्—शेशीहि। शेशीतात्।

---

१. अनानश्—तिप्, सिप्। तिप् सिप् का लोप होने पर नश् के पदान्त श् को विकल्प से कुत्व (ख्) होता है जिसे चर्त्व विधि से क् हो जाता है। पक्ष में व्रश्च-भ्रस्ज-सूत्र से श् को ष्, जिसे जश्त्व विधि से ड्, जिसे वैकल्पिक चर्त्व से ट्।

२. ज्वर-त्वर-स्रिव्यवि-मवामुपधायाश्च (६।४।२०)।

३. (४८८) से उपधा तथा व् के स्थान में ऊठ्। गुण।

४. अनुनासिक परे होने पर (४८८) से उपधा तथा व् के स्थान में ऊ (ठ्)।

५. मा मव् वः इस अवस्था में लोपो व्योर्वलि (६।१।६६) से मव् के व् का लोप। (६) से दीर्घ।

६. ईट् के अभाव में 'जाहर्य् ति' इस अवस्था में वल् (त्) परे रहते 'य्' का लोप।

७. अजाहर्य् त्। इस अवस्था में वलि लोप होकर हल्ङ्यादि लोप। र् को विसर्जनीय। अजाहः। सिप् में भी ईडभाव-पक्ष में अजाहः।

८. शे शे ईति। शे शे ईति। (२) से गुण। पित् सार्वधातुक-निमित्तक यह गुण हुआ है। 'शीङः सार्वधातुके' से नहीं, कारण कि वह गुण विधि, अनुबन्ध (ङ्) निर्देश करके की है। अतएव शेशीतः—यहाँ अपित् सार्वधातुक तस् परे रहते गुण नहीं हुआ। अनुबन्ध निर्देश के कारण ही 'शेश्यति' यहाँ रुट् नहीं हुआ। (१११) से अनेकाच् अङ्ग के असंयोगपूर्वक धात्ववयव 'ई' को यण् हुआ है।

मन्थ्—मामन्थीति। मामन्ति। लङ् (तिप्, सिप्)—अमामन्। अपृक्त, त्, स् का लोप होने पर संयोगान्त थ् का लोप।

वञ्च्—वनीवञ्चीति। वनीवङ्क्ति[1]। वनीवक्तः[2]। वनीवचति। लङ्—अवनीवञ्चीत्। अवनीवन्[3]। अवनीवक्ताम्। अवनीवचुः। लुङ्—अवनीवञ्चीत्। अवनीवञ्चिष्टाम्। अवनीवञ्चिषुः। लोट्—वनीवग्धि।

स्रंस्—सनीस्रंसीति। सनीस्रंस्ति। सनीस्रस्तः। सनीस्रसति। लङ्—असनीस्रंसीत्। असनीस्रद्। इत्यादि। इसी प्रकार ध्वंस् भ्रंस् के रूप जानो—दनीध्वंसीति। दनीध्वंस्ति इत्यादि।

स्कन्द्—चनीस्कन्दीति। चनीस्कन्ति। चनीस्कत्तः।

कस्—चनीकसीति। चनीकस्ति। चनीकस्तः। चनीकसति। लङ्—अचनीकसीत्। (ईट्)। ईडभाव में तिप्, सिप् परे—अचनीकः।

पत्—पनीपतीति। पनीपत्ति (ईट् अभाव में)। लङ्—अपनीपतीत्। अपनीपत्। लुङ्—अपनीपतीत्। अपनीपातीत्। वृद्धि-विकल्पः।

पद्—पनीपदीति। पनीपत्ति। लङ्—अपनीपदीत्। अपनीपद्—त्। लुङ्—अपनीपदीत्। अपनीपादीत् (वृद्धि-विकल्प)। लुट्—पनीपदिता। लृट्—पनीपदिष्यति। लिट्—पनीपदाञ्चकार।

तुर्वी (तुर्व्)—तोतूर्वीति[4]। तोतोर्ति[5]। तोतूर्तः। तोतूर्वति। तोतूर्वीषि।

---

१. यङ् का लुक् शब्द से लोप होने से ङित् प्रत्यय परे न होने से (१३१) से न् का लोप नहीं हुआ।

२. तस् प्रत्यय के अपित् (ङित् वत्) होने से (१३१) से उपधा-भूत 'न्' का लोप। ऐसे ही वनीवचति, अवनीवचुः में उपधा न् का लोप होता है।

३. अवनीवञ्च् त् (ईट् अभाव में)। हल्ङ्यादि-लोप। संयोगान्त लोप। च् के लुप्त होने पर निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः से नकार को चवर्गादेश से जो ञ् हुआ था वह भी निवृत्त हो जाता है।

४. तो तुर्व् ई ति। यहाँ झल् परे न होने से (६।४।२१) से 'व्' का लोप नहीं हुआ। (३७) से उपधा रेफ से पूर्व इक् को दीर्घ।

५. तो तुर्व् तः—यहां वल् (त्) परे रहते लोपो व्योर्वलि (६।१।६६) धातु के (व्) का लोप प्राप्त हुआ। उसे च्छ्वोः शूडनुनासिके च (६।४।१६) ऊठ् विधायक शास्त्र बाधता है। उसे राल्लोपः (६।४।२१) यह शास्त्र बाधता है। तो तुर् तः। (११४-ख) से दीर्घ।

तोतोर्षि ।

मुर्छा (मुर्छ्)—मोमूर्छीति । मोमोर्ति । मोमूर्तः [1]। मोमूर्छति ।
लङ्—अमोमूर्छीत् । अमोमूः । सिप्—अमोमूर्छीः । अमोमूः [2]। लुङ्—अमोमूर्छीत् । अमोमूर्छिग्राम् ।

शितपा शपाऽनुबन्धेन निर्दिष्टं यद् गरोन च ।
यत्रैकाज्ग्रहणं चैव पञ्चैतानि न यङ्लुकि ।।

(की सविस्तर व्याख्या)

शितप् निर्देश के द्वारा जो कार्य विधान किया गया है वह, यङ्लुगन्त धातु को नहीं होगा । नेर्गदनदधुमास्यतिहन्ति—इत्यादि सूत्र जो उपसर्ग निमित्त से 'नि' के 'न्' को णत्व विधान करता है, में हन् का निर्देश 'हन्ति' इस प्रकार शितप् प्रत्यय द्वारा किया गया है । अतः यह णत्व प्रन्यजङ्घनीत् यहाँ (प्र-नि-हन्-यङ् लुक्-लङ्-तिप्) में नहीं हुआ । भवतेरः (७।४।७३) । यहाँ भू का शितप् से निर्देश किया है । लिट् में अभ्यास को 'अ' विधान किया है । यह 'अ' यङ्लुगन्त के लिट् में नहीं होगा—बोभवाञ्चकार । तुम्प् को हिंसार्थ में गो के कर्ता होने पर सुट् आगम होता है । इसका विधायक शास्त्र है—प्रात्तुम्पतौ गवि कर्तरि (वा०) । यहाँ तुम्पति—यह शितप् से निर्देश है । अतः यङ्लुक् में सुट् नहीं होगा—प्रतोतुम्पीति । शप् निर्देश द्वारा --सनीवन्तर्ध-भ्रस्ज—में भर (भृ का शबन्त रूप) का ग्रहण करके सन् को इड्-विकल्प कहा है । सो यह इड्विकल्प यङ्लुगन्त 'बभृ' से सन् आने पर नहीं होता । बर्भरिषति(नित्य इट्)। अनुबन्ध-निर्देश दो तरह से होता है । स्वरूप से जैसे—शीङः सार्वधातुके गुणः,यहाँ,अथवा दीङो युडचि,यहाँ । शीङ् के यङ्लुगन्त से लट् तस् में शेशीतः रूप होगा । गुण नहीं होगा । दीङ् के यङ्लुगन्त से सेट् निष्ठा में देदीत—यहाँ युट् आगम नहीं हुआ । इत्संज्ञकत्वेन जैसे—अनुदात्तङित आत्मनेपदम्, यहाँ । स्पर्ध, शीङ् के यङ्लुगन्त से आत्मनेपद नहीं होगा—पास्पर्धीति । शेशयीति ।

---

१. मोमुर्छ् तः (६।४।२१) से छ् का लोप । (३७) से दीर्घ ।

२. अमोमूः—यह तिप्, सिप् में ईट् अभाव में समान रूप है । हल्ङ्यादि—सूत्र से अपृक्त त्, स् का लोप हो जाने पर (६।४।२१) से छ् लोप । अब प्रत्ययलक्षण से 'अमोमुर्' यह पद है और रेफान्त धातु भी । (८।२।७६) से उपधा इक् (उ) को दीर्घ । र् को विसर्ग ।

गण-निर्देश द्वारा --रुधादिभ्यः श्नम्। यह श्नम् बेभिदीति (भिद्-यङ्लुक्-लट्-तिप्) में नहीं हुआ। किन्तु, शप् हो जाता है जिसका **चर्करीतं च**, इस वचन के अनुसार यङ्लुगन्त का अदादिगण में पाठ होने से लुक् हो जाता है। धेट् के यङ्लुगन्त के लुङ् में घु-संज्ञा होने से नित्य सिच् का लुक् होगा—अदाधात्। 'विभाषा घ्रा-धेट्-शाच्छासः' से विकल्प से नहीं, कारण कि 'ट्' अनुबन्ध पढ़ा है। इसी हेतु 'विभाषा धेट्-श्व्योः' से च्लि को चङ् भी नहीं होता। रधादि-भ्यश्च (७।२।४५)। यहाँ अवान्तर रधादि गण का निर्देश करके इट् का विकल्प से विधान किया है सो यह विकल्प यङ्लुक् में नहीं होगा, किन्तु यथा-प्राप्त नित्य इट् होगा—ररधिता।

जिस विधि में एकाच् का ग्रहण है वह भी यङ्लुगन्त में नहीं होती। एकाच उपदेशेऽनुदात्तात् (७।२।१०)। एकाच् को इट् का निषेध। भिद्, छिद् के यङ्लुगन्त बेभिद्, चेच्छिद्, से तास् (वलादि आर्धधातुक) परे होने पर इट् का निषेध नहीं होता—बेभेदिता। चेच्छेदिता। प्रकृतिग्रहणे यङ्लुगन्तस्यापि ग्रहणम् इस परिभाषा से बेभिद्, चेच्छिद्, से भी वलादि लक्षण इट् निषेध प्राप्त होता है। कारण कि बेभिद्, चेच्छिद् दो बार उच्चारित (भिद्, छिद्, ही हैं। भिद्, छिद् के अनुदात्त एकाच् होने से इट् का निषेध होता है। वह यहाँ भी प्राप्त होता है उस को रोकने के लिए कहा है—यत्रैकाज्ग्रहणं चैव।

इति यङ्लुगन्तप्रक्रिया वृत्ता।

नाम-धातु-प्रक्रिया

इससे पूर्व (१६७) में हम दिखा चुके हैं कि धातु-पाठ में पढ़ी हुई धातुओं से णिच्, सन्, यङ् आदि प्रत्यय लगाकर किस प्रकार नई धातुएँ बनाई जाती हैं। अब यह बताना है कि नामों (प्रातिपदिकों) से किस तरह नयी धातुओं की कल्पना होती है। प्रायः द्वितीयान्त व प्रथमान्त नामों से क्यच्, काम्यच्, क्यङ्, क्यष्, क्विप् आदि प्रत्यय लगाये जाते हैं और धातु के अन्तर्वर्ती सुप् विभक्तियों का लुक्[1] कर दिया जाता है। 'सुपो धातु-प्रातिपदिकयोः' सूत्र में षष्ठी अवयवार्थ में हुई है—धातु तथा प्रातिपदिक का अवयव जो सुप्, उसका।

क्यच् (य)

४८९—कर्मवाची द्वितीयान्त पद से क्यच् (य) प्रत्यय होता है इच्छा अर्थ में, जब इच्छा करने वाला द्वितीयान्त पद के अर्थ को अपने लिये चाहता है[2]।

४९०—क्यच् परे होने पर अन्तिम 'अ' को 'ई' हो जाता है[3]—**पुत्रम् आत्मन इच्छति** (अपने लिये पुत्र चाहता है (—इस अर्थ को कहने के लिये 'पुत्रअम्—य' ऐसी धातु बनाकर द्वितीया के 'अम्' का लुक् करके 'त्र' के 'अ' को 'ई' करके 'पुत्रीय' ऐसी नई धातु कल्पना कर ली जाती है। कर्तृवाची सार्वधातुक प्रत्यय परे होने पर शप् आता है (७) अर्थात् भ्वादिगण की धातुओं की तरह रूप चलते हैं। क्यजन्त धातु से परस्मैपद प्रत्यय आते है, क्योंकि यहाँ आत्मनेपद का कोई निमित्त नहीं। शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्। यह क्यच् विधि वैकल्पिक है, पक्ष में आत्मनः पुत्रमिच्छति इत्यादि वाक्य भी रहेंगे। पुत्रीयअति (य के अ और शप् के अ को पररूप एकादेश)= **पुत्रीयति** (८)। **अपुत्रस्य न सन्ति लोकाः शुभा इति पुत्रीयन्ति लोकाः। आत्मनः सुखमिच्छति=सुखीयति जनः। पित्रीयत्यनाथः** (अनाथ अपने लिये पिता चाहता है)। **पितरमात्मन इच्छति=पित्रीयति।**

---

१. सुपो धातु-प्रातिपदिकयोः (२।४।७१)।

२. सुप आत्मनः क्यच् (३।१।८)।

३. क्यचि च (७।४।३३)।

४६१—क्यच् (जो कृत् का यकार नहीं, और सार्वधातुक यकार भी नहीं) परे होने पर 'ऋ' को 'री' (ङ्) हो जाता है[1]।

(यह आदेश 'च्वि' प्रत्यय परे रहते भी होता है)। ऐसा ही सभी ऋकारान्त शब्दों के विषय में समझो। **नाकमिच्छति=नाकीयति जनः** (लोग स्वर्ग चाहते हैं)। **राजानमिच्छति=राजीयति राष्ट्रम्** (राष्ट्र राजा को चाहता है)। यहाँ राजन् की पदसंज्ञा होने से 'न्' का लोप हो जाता है।[2]

४६२—क्यच्, क्यङ् परे होने पर केवल नान्त की ही पद संज्ञा होती है।[3] प्रत्यय-लक्षण से सुबन्तमात्र की पद-संज्ञा प्राप्त थी। सो नियम कर दिया। **गव्यति गोधुक्** (ग्वाला गौ चाहता है)। यहाँ 'गो' के 'ओ' को 'अव' आदेश होता है। **नावमिच्छति=नाव्यति** (औ को आव् आदेश)। **नाव्यन्ति च्छात्रा नौचालनमभ्यसितुकामाः**। यकारादि प्रत्यय परे रहते 'ओ' को 'अव्' तथा 'औ' को 'आव्' आदेश होता है।[4]

गव्यति, नाव्यति में लोपः शाकल्यस्य (८।३।१६) से वकार का लोप नहीं होता, कारण कि वकार पदान्त नहीं, क्यच्, क्यङ् परे होने पर 'नान्त' की ही पद संज्ञा है।

हल् से परे 'य' का लोप हो जाता है आर्धधातुक प्रत्यय परे होने पर। गव्य आम् कृ लिट्—**गव्यांचकार**। यहाँ य का लोप प्राप्त होता है पर सन्निपात परिभाषा (सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य) से रुक जाता है। 'य' के संनिपात (संश्लेष) को निमित्त बनाकर वान्तादेश होने से वकार का जन्म हुआ है, वह वकार ऐसी विधि का निमित्त नहीं बन सकता जो उसके आश्रय-भूत 'य' का नाश करे। यकार उपजीव्य है और वकार उपजीवक है—उपजीव्य-उपजीवक विरोध युक्त नहीं। यामेव शाखामाश्रयते तामेव च्छिन्द्याद् इति न युक्तम्।

वाचमात्मन इच्छति वाच्यति मूकः। चकार के अपदान्त होने से कुत्व नहीं हुआ। **समिधमात्मन इच्छति माणवक उपनेष्यमाणः, समिध्यति**। धकार के पदान्त न होने से जश्त्व (द्) नहीं हुआ।

---

१. रीङ् ऋतः (७।४।२७)।

२. नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य (८।२।७)।

३. नः क्ये (१।४।१५)।

४. वान्तो यि प्रत्यये (६।१।७५)।

४६३—मान्त प्रकृति वाले सुबन्त से तथा अव्यय से क्यच् नहीं होता—**किमिच्छति** [1]। **इदमिच्छति । स्वर् इच्छति** । यहाँ वाक्य ही रहता है ।

काम्यच् (काम्य)

४६४—**क्यच्** के विषय में कर्मवाची द्वितीयान्त पद से काम्यच् प्रत्यय भी होता है [2]। यहाँ ल-श-क्वतद्धिते (१।३।८) से प्रत्यय के आदि क् की इत्संज्ञा नहीं होती, फलाभावात् । **आत्मनः पुत्रमिच्छति=पुत्रकाम्यति । सुखकाम्यति । पितृकाम्यति । नाककाम्यति । राजकाम्यति । गोकाम्यति ।** काम्यच् प्रत्ययान्त की धातु संज्ञा होने से तिप् शप् आदि होते हैं । काम्यच् प्रत्यय मान्त-प्रकृतिक सुबन्त तथा अव्यय से भी आता है—**किंकाम्यति । स्वः काम्यति** । स्वर्ग चहता है । **यशस्काम्यति । सर्पिष्काम्यति** । घी चाहता है । पाश-कल्प-क-काम्येषु इस वार्तिक से विसर्जनीय को सकार । इण् से परे होने पर इणः षः (८।३।३९) से स् को ष् ।

क्यच् (य)

४६५—अशनाय, उदन्य, धनाय—ये **क्यच्**-प्रत्ययान्त निपातन किये हैं जब अर्थ क्रम से बुभुक्षा, पिपासा और गर्ध (लोभ) हो [3]—**उदकम् इच्छति** (क्यच्) = **उदकीयति** (पानी चाहता है), पर **उदन्यति** (प्यासा है) । **अशनीयति** (खाना चाहता है), **अशनायति** (भूखा है) । **धनीयति** (धन चाहता है), पर **धनायति** (धन का लालच करता है) । क्यच् प्रत्यय परे रहते उदक आदि के अन्त्य 'अ' को सर्वत्र ईकार प्राप्त था । अर्थविशेष में 'अ' को दीर्घनिपातन किया है । साथ ही 'उदक' को 'उदन्य' आदेश भी । वाजसनेयी संहिता (२३।३०) में क्यजन्त 'धनाय' का धनविषयक लोभ में नहीं किन्तु सामान्यतया लोभ मात्र अर्थ में प्रयोग मिलता है—**शूद्रा यदर्यजारा न पोषाय धनायति** । इसी प्रकार महाभारत में भी—**न प्राणानां धनायते पण्डितः** (उद्योग) ।

४६६—क्य तथा च्वि प्रत्यय परे होने पर हल् से परे आपत्य (अपत्य अर्थ में विहित) यकार का लोप हो जाता है । [4] **गार्ग्यमात्मन इच्छति गार्गीयति**, गार्ग्य (गर्ग के गोत्रापत्य) को चाहता हे ।

---

१. मान्तप्रकृतिकसुबन्तादव्ययाच्च क्यज्न (वा०) ।

२. काम्यच्च (४।१।९) ।

३. अशनायोदन्यधनाया बुभुक्षा-पिपासा-गर्धेषु (७।४।३४) ।

४. क्यच्व्योश्च (६।४।१५२) ।

गिरम् इच्छति=**गीर्यति** । गिर् क्विबन्त है, और क्विबन्त कृत्प्रत्ययान्त प्रातिपदिक होने पर भी धातुत्व को नहीं छोड़ते, धातु ही रहते हैं । **क्विबन्ता** धातुत्वं न जहति । अतः क्यच् (अर्थात् हल्=यकार) परे रहते रेफान्त (तथा वकारान्त) इगुपध धातु की उपधा इक् को दीर्घ हो जाता है (११४—ख) । इसी प्रकार **पुरमिच्छति=पूर्यति । दिवम् इच्छति = दिव्यति** (स्वर्ग चाहता है) । **सर्वो दिव्यति, नहि कश्चिन्नरकीयति** । यहाँ दिव् क-प्रत्ययान्त है, अतः धातु न होने से उपधा इक् को दीर्घ नहीं होता ।

४६७—अश्व, क्षीर, वृष, लवण—इन को क्यच् परे रहते असुक् (= अस् आगम होता है जब अश्वादि-विषयक कर्ता की मैथुनेच्छा अथवा लालसा प्रतीयमान हो[1]—**अश्वस्यति वडवा** (घोड़ी मैथुनेच्छा से घोड़े को चाहती है) । **क्षीरस्यति बालः** (बच्चा दूध चाहता है, बच्चे की दूध में प्रीति (प्रसन्नता) है) । **लवणस्यत्यश्वः** । **वृषस्यति गौः** (गौ मैथुनेच्छा से बैल को चाहती है) ।

४६८—सभी प्रातिपदिकों को लालसा अर्थ में सुक् (स्) तथा असुक् (अस्) आगम होते हैं जब क्यच् परे हो[2]—**दधिस्यति । दध्यस्यति** (दही में बहुत चाह रखता है) ।

४६९—(लुट् में) आर्धधातुक प्रत्यय (तास्) परे होने पर हल् से उत्तर क्यच् (और क्यङ्) के 'य्' का लोप हो जाता है विकल्प से[3]—**समिधम् आत्मन इच्छति=समिध्यति** । लुट् में **समिध्यिता । समिधिता** । य् का लोप होने पर (४१) से 'अ' का लोप होता है । पर **गाम् आत्मन इच्छति=गव्यति** । लुट् में **गव्यिता । ग्लावम् आत्मन इच्छति=ग्लाव्यति** (चाँद को चाहता है) । लुट् में **ग्लाव्यिता**—यहाँ विकल्प से क्यच् (य्) का लोप नहीं होता सन्निपात परिभाषा का विरोध होने से । यकार को मान कर गो के ओ को तथा ग्लौ के औ को वान्तादेश (अव्, आव्) हुए हैं । वे अपने उपजीव्य 'य्' का नाश करें यह तो उचित नहीं ।

५००—उपमान-भूत कर्मवाची द्वितीयान्त पद से 'क्यच्' प्रत्यय होता है

---

१. अश्व-क्षीर-वृष-लवणानामात्मप्रीतौ क्यचि (७।१।५१) ।

२. सर्वप्रातिपदिकानां क्यचि लालसायां सुगसुकौ (वा०) ।

३. क्यस्य विभाषा (६।४।५०) ।

आचरण अर्थ में [1]। **पुत्रमिव आचरति शिष्यं गुरुः** (गुरु शिष्य के साथ पुत्र का सा व्यवहार करता हैं),इस अर्थ को '**पुत्रीयति शिष्यम्**' ऐसे भी कह सकते हैं। **मात्रीयति जन्मभुवम्**' (जन्म भूमि के साथ माता का सा व्यवहार करता है)।

५०१—अकृद्यकार (जो यकार कृत् प्रत्यय-सम्बन्धी न हो) तथा असार्व-धातुक यकार परे होने पर अजन्त अङ्ग को दीर्घ हो जाता है।[2]

विष्णुमिवाचरति द्विजम्=विष्णूयति द्विजम्—ब्राह्मण के साथ विष्णु का सा व्यवहार करता है। यहाँ क्यच् का य न तो सार्वधातुक है और न कृत् प्रत्यय का है, अतः 'विष्णु' के उ को दीर्घ हुआ।

५०२—उपमान-भूत अधिकरण-वाची सप्तम्यन्त पद से भी क्यच् प्रत्यय आता है आचार अर्थ में[3]—**कुट्यां प्रासादे इवाचरति=प्रासादीयति कुट्यां भिक्षुः** (भिक्षु कुटी में ऐसे व्यवहार करता है जैसे महल में हो)। **पर्यङ्कीयति मञ्चके दरिद्रः श्रमी**=दरिद्र मेहनती मञ्चक (चारपाई, खाट) पर ऐसा व्यवहार करता है जैसे वह पलंग पर हो। अर्थात् मञ्च में पर्यङ्क बुद्धि रखता है, पर्यङ्क का सा सुख अनुभव करता है।

५०३—क्रिया-विशेष अर्थात् पूजा, परिचर्या (=सेवा), विस्मित होना अथवा विस्मित करना इन अर्थों में क्रम से नमस्, वरिवस्, चित्र (ङ्) से क्यच् प्रत्यय होता है।[4] क्यजन्त धातु के अवयव चित्र में ङ् अनुबन्ध क्यजन्त से आत्मनेपद हो, इसलिए है। अवयवे कृतं लिङ्गं समुदायस्य विशेषकं भवति। अन्यथा ङित्करण व्यर्थ हो जाय। क्रम से उदाहरण—**नमस्यति गुरुम्** (गुरु को नमस्कार करता है)। क्यङ्, क्यच्, परे रहते नान्त की ही पदसंज्ञा होती है इस नियम से यहाँ पदत्व न होने से 'स्' को 'रु' नहीं हुआ। **वरिवस्यति पितरम्। चित्रीयते=विस्मयते, विस्मापयते वा।** भट्टि का प्रयोग भी है—**ततश्चित्रीय-माणोऽसौ रामशालां न्यविक्षत** (५।४८)। तब वह विस्मय उत्पन्न करता हुआ राम कुटीर में प्रविष्ट हुआ। **ततोऽचित्रीयतास्त्रौघैः** (भट्टि१७।६४)। तब (राम ने) अस्त्रों की बौछार से विस्मित किया।

---

१. उपमानादाचारे (३।१।१०)।

२. अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः।(७।४।२५)।

३. अधिकरणाच्चेति वक्तव्यम् (वा०)।

४. नमो-वरिवश्चित्रङः क्यच् (३।१।१९)।

क्यङ् (य)

५०४—उपमान-भूत कर्तृवाची प्रथमान्त पद से क्यङ् प्रत्यय आता है विकल्प से आचार अर्थ में। यहाँ आचार क्रिया का ही कर्ता विवेक्षित है। यदि वह पद सान्त हो तो उसके 'स्' का लोप भी हो जाता है[1]। सूत्र में 'सलोपश्च' यहाँ चकार अन्वाचय-शिष्ट है——**श्येन इवाचरति=श्येनायते (काकः)**=(कौआ) बाज़ का सा व्यवहार करता है। **क्वचित् सिंहायते श्वा** =कहीं-कहीं कुत्ता सिंह का सा व्यवहार करता है)। **राजेवाचरति=राजायते**। **कुलगस्यातरोऽम्भोधिः सर्पारेर्गोष्पदायते** (यो० वा० ५।६७।३)। गोष्पदमिवाचरतीति गोष्पदायते। क्यङ् (=य) आर्धधातुक यकार है। क्यङ्-प्रत्ययान्त धातु ङित् होने से आत्मनेपदी होती है।

५०५—**ओजः** (ओजस्वी) **इवाचरति ओजायते**। **अप्सरा इवाचरति=अप्सरायते**। परन्तु **काश्मीरेषु क्वचित् पय इवाचरति** (जलम्) **पयायते (पयस्यते)** (जलम्)। **विद्वानिवाचरति=विद्वायते, विद्वस्यते**। इत्यादि में स्-लोप विकल्प से होता है[2] **कविरिवाचरति=कवीयते**। (५०१) से अजन्त अङ्ग को दीर्घ। **कुमारी इवाचरति=कुमारायते**। यहाँ क्यङ् परे रहते पुंवद्भाव होता है। क्यङ्मानिनोश्च (६।३।३६)। **गौरी इवाचरति=गौरायते**। **गुर्वी इवाचरति=गुरूयते** (हल्की होती हुई भी भारी स्त्री की तरह व्यवहार करती है)। **हरिणी इवाचरति=हरितायते**। हरित=पीत वर्णवाली स्त्री की तरह व्यवहार करती है। हरित का स्त्रीलिङ्ग में हरिता और हरिणी—ये दो रूप होते हैं। **सपत्नी इवाचरति=सपत्नायते**। शत्रुवाची जो अव्युत्पन्न सपत्न शब्द है, उससे स्त्रीत्व-विवक्षा में ङीन् होकर जो सपत्नी शब्द बनता है उसे यहाँ क्यङ् परे रहते पुंवद्भाव। (५०१) से दीर्घ हुआ है। समाना पतिर्यस्याः सा सपतिः सपत्नी इति वा। समानस्वामिका जो सम्पत्त्यादि तद्वाचक सपत्नी शब्द (विकल्प से नकारादेश और ङीप्) स्पष्ट ही भाषितपुंस्क है उसे यहाँ पुंवद्भाव होगा तो **सपत्नी इवाचरति=सपतीयते** ऐसा रूप होगा। समान है पति=परिणेता, भर्ता जिसका इस

---

१. कर्तुः क्यङ् सलोपश्च (३।१।११)।

२. ओजसोऽप्सरसो नित्यमितरेषां विभाषया (वा०)।

अर्थ में जो सपत्नी शब्द है वह नित्यस्त्रीलिङ्ग है, भाषितपुंस्क नहीं, सो उसे क्यङ् परे रहते पुंवद्भाव की प्राप्ति ही नहीं, तो **सपत्नी इवाचरति=सपत्नीयते** ऐसा ही रूप होगा।

५०६—भृश आदि शब्दों से भवनविषयकच्व्यर्थ (=अभूततद्भाव) में क्यङ् प्रत्यय आता है, और इन शब्दों के अन्त्य हल् का लोप हो जाता है[1]—**अभृशो भृशो भवति** (जो पहले बहुत नहीं था वह बहुत हो जाता है)=**भृशायते। अमन्दो मन्दो भवति=मन्दायते**=सुस्त हो रहा। **सम्प्रति शीघ्रायतेऽश्वः**=अब घोड़ा तेज हो रहा है। **किमिति मन्दायसे सखे, त्वरितं क्राम**, मित्र तुमने धीरे चलना क्यों शुरू कर दिया? जल्दी चलिये। **अनुन्मना उन्मना भवति=उन्मनायते**,उत्सुक होता है। **असुमनाः सुमना भवति सुमनायते**, प्रसन्नचित्त होता है। लङादि में उद्, सम् आदि उपसर्ग-समानाकार पूर्वपद को पृथक् करके उससे परे अट् का आगम किया जाता है—**उदमनायत। स्वमनायत।**

क्यष् (=य)

५०७—लोहित शब्द तथा डाजन्त(डाच् + अन्त) शब्दों से अभूत-तद्भाव अर्थ में क्यष् प्रत्यय होता है और क्यष्-प्रत्ययान्त धातु से दोनों पद आते हैं[2]—**अलोहितो लोहितो भवति=लोहितायति। लोहितायते। आदित्ये लोहितायति गृहात्सन्ध्यार्थे नदीं निरगाम्**, सूर्यास्त होने वाला था, अतः मैं सन्ध्योपासन के लिये नदी की ओर घर से निकल पड़ा। लिङ्गविशिष्ट परिभाषा से लोहिनी शब्द से भी क्यष् होगा—**अलोहिनी लोहिनी भवति=लोहिनीयति। लोहिनीयते।** 'लोहित' का स्त्रीलिङ्ग में लोहिता और लोहिनी रूप होते हैं। डाच्—**पटपटायति। पटपटायते।**

क्यङ्

५०८—रोमन्थ, तपस् इन कर्मवाची द्वितीयान्त पदों से वर्तयति, चरति—

---

१. भृशादिभ्यो भुव्यच्वेर्लोपश्च हलः (३।१।१२)।

२. लोहितादि-डाज्भ्यः क्यष् (३।१।१३)। लोहित-डाज्भ्यः क्यष्वचनं भृशादिष्वितराणि (वा०)।

३. वा क्यषः (१।३।९०)।

इन अर्थों में क्यङ् प्रत्यय होता है[1]—**रोमन्थं वर्तयति = रोमन्थायते** (गौः)= (गौ) जुगाली करती है। परन्तु कीटो रोमन्थं वर्तयति, यहाँ क्यङ् नहीं होगा। अपानदेश (=गुद) से निकले हुए द्रव्य को रोमन्थ कहते हैं, कीट उसे खाता हैं, ऐसा अर्थ है। **तपस्यति (यतिः) तपश्चरति** (यतिः)=(यति) तपस्या करता है। क्यङ् प्रत्ययान्त 'तपस्य' धातु से परस्मैपद ही होता है। क्यङ् के ङित् होने से आत्मनेपद प्राप्त था।

५०६—कर्मवाची द्वितीयान्त बाष्प और ऊष्मन् शब्दों से क्यङ् प्रत्यय होता है 'उद्वमति'=उगलता है, इस अर्थ में[2]—**बाष्पमुद्वमति = बाष्पायते** = भाप बाहर निकालता है। **ऊष्माणमुद्वमति = ऊष्मायते** = गरमी बाहर निकालता है।

५१०—वार्तिक के अनुसार 'फेन' से भी—**फेनमुद्वमति**[3] = **फेनायते** = फेन बाहर निकालता है।

महाभारत में कई एक स्थलों पर 'धूम' से भी उद्वमन अर्थ में क्यङ् किया हुआ मिलता है—

मुहूर्त्तं ज्वलितं श्रेयो न च धूमायितं चिरम् (उ० १३६।१५)।

क्षण भर जलना अच्छा है, चिर तक सुलगना अच्छा नहीं।

धूमायन्ते व्यपेतानि ज्वलन्ति संहितानि च।

धृतराष्ट्रोल्मुकानीव ज्ञातयो भरतर्षभ॥ (उ० ३६।६०)।

हे भरतश्रेष्ठ धृतराष्ट्र, जब बन्धु लोग जुदा-जुदा होते हैं तब तृणोल्काओं की तरह धूआँ देते हैं और जब संहत (जुड़े हुए) होते हैं तो प्रदीप्त होते हैं।

अलातं तिन्दुकस्येव मुहूर्तमपि हि ज्वल।

मा तुषाग्निरिवानर्चि र्धूमायस्व जिजीविषुः। (उ० १३३।१४)॥

जीना चाहते हुए तू तेंदुआ के उल्मुक की तरह चाहे मुहूर्त भर चमक, पर तुषानल की तरह ज्वाला-रहित हो धूआँ मत दो॥

५११—शब्द, वैर, कलह, अभ्र, कण्व, मेघ—इन द्वितीयान्त पदों से 'करने' अर्थ में क्यङ् प्रत्यय आता है[4]—**शब्दं करोति = शब्दायते** (५०१)

---

१. कर्मणो रोमन्थ-तपोभ्यां वर्तिचरोः (३।१।१५)। तपसः परस्मैपदं च (वा०)।

२. बाष्पोष्मभ्यामुद्वमने (३।१।१६)।

३. फेनाच्चेति वक्तव्यम् (वा०)।

४. शब्द-वैर-कलहाऽभ्र-कण्व-मेघेभ्यः करणे (३।१।१७)।

(शोर करता है)। **वैरं करोति=वैरायते । कलहं करोति=कलहायते । अभ्रं करोति=अभ्रायते । कण्वं पापं करोतीति कण्वायते । मेघं करोति मेघायते । मेघायते ऊष्मा वर्षासु ।**

५१२—कर्मवाची द्वितीयान्त सुदिन, दुर्दिन, नीहार से करने अर्थ में क्यङ् होता है ऐसा वार्तिक पढ़ा है[1]—**सुदिनं करोति सुदिनायते । दुर्दिनं करोति दुर्दिनायते ।** दुर्दिन मेघाच्छन्न दिन को कहते हैं। मेघाच्छन्नेऽह्नि दुर्दिनम् (अमर)। **नीहारं करोति नीहारायते ।** नीहार (पुं०)=धुंध ।

५१३—सुख आदि द्वितीयान्त शब्दों से अनुभव अर्थ में क्यङ् प्रत्यय होता है, जब अनुभव के कर्ता के साथ सुखादि सम्बद्ध हों[2] —**सुखं वेदयते** (विद् चुरा० आ०)=अनुभवति=**सुखायते**=सुख अनुभव करता है। **दुःखं वेदयते= दुःखायते**=दुःख अनुभव करता है ।

५१४—चतुर्थ्यन्त कष्ट[3] शब्द से तथा सत्र, कक्ष, कृच्छ्र, गहन से उत्साह करना अर्थ में क्यङ् प्रत्यय होता है[4]। क्यङन्त वृत्ति में कष्ट आदि ये शब्द कण्व=पाप के वाचक होते हैं—**कष्टाय क्रमते=कष्टं पापं कर्तुमुत्सहते**=पाप करने का उत्साह करता है, पाप करना चाहता है। ऐसे ही **सत्रायते, कक्षायते, कृच्छ्रायते, गहनायते** का अर्थ समझो। सत्र शब्द नानार्थक है। कोषकार इसके ये अर्थ बताते हैं—**नीहार-तिमिराङ्गार-श्वभ्राऽग्नि-वन-निम्नगाः । वदन्ति सत्रमित्यादि सत्रं छद्म प्रकीर्तितम् ॥** (का० नी० १६।६६ में उद्धृत कोष)।

णिङ्

५१५—पुच्छ, भाण्ड, चीवर—इन द्वितीयान्त सुबन्तों से क्रियाविशेष में णिङ् (इ) प्रत्यय आता है[5]। पुच्छ से उदसन (ऊपर की ओर फेंकना) अर्थ में, व्यसन (भिन्न, विरोधी दिशाओं में फेंकना) अर्थ में, पर्यसन (चारों ओर

---

१. सुदिन-दुर्दिन-नीहारेभ्यश्चेति वक्तव्यम् (वा०)।
२. सुखादिभ्यः कर्तृवेदनायाम् (३।१।१८)।
३. कष्टाय क्रमणे (३।१।१४)।
४. सत्र-कष्ट-कक्ष-कृच्छ्र-गहनेभ्यः कण्वचिकीर्षायामिति वक्तव्यम् ।
५. पुच्छ-भाण्ड-चीवराण्णिङ् (३।१।२०)।

फेंकना) अर्थ में णिङ् होता है।[1] प्रत्यय ङित् होने से णिङन्त से आत्मनेपद होता है। उक्त अर्थों के द्योतक क्रम से उद्, वि, तथा परि उपसर्ग लगाये जाते हैं। **पुच्छमुदस्यति=उत्पुच्छयते। पुच्छं व्यस्यति=विपुच्छयते। पुच्छं पर्यस्यति=परिपुच्छयते। पुच्छादि कर्म के धात्वर्थान्तभूत होने से ये णिङन्त धातुएँ अकर्मक हैं।**

भाण्ड से समाचयन (=राशीकरण, ढेर लगाना, इकट्ठा करना) अर्थ में[2]। यहाँ भी साहित्य का द्योतक सम् उपसर्ग लगाया जाता है—**भाण्डानि समाचिनोति=सम्भाण्डयते**। चीवर (=पटच्चर, चीथड़ा) से अर्जन (भिक्षा द्वारा प्राप्त करना अथवा पहिरना) अर्थ में—यहाँ भी प्रायः सम्पूर्वक प्रयोग होता है—**चीवराणि अर्जयते परिधत्ते वा=संचीवरयते भिक्षुः।**

णिजन्त नामधातु

५१६—मुण्ड, मिश्र, श्लक्ष्ण, लवण, व्रत, वस्त्र, हल, कल, कृत, तूस्त—इन प्रातिपदिकों से करने अर्थ में णिच् प्रत्यय आता है।[4]**मुण्डं करोति माणवकम् उपनेष्यमाणम्, मुण्डयति माणवकम्**। धात्वन्तर्वर्ती सुप् अम् का लुक् होकर मुण्ड णिच् इस अवस्था में 'अतो लोप आर्धधातुके' (४१) से मुण्ड अङ्ग के 'अ' का लोप हो जाता है। तब तिप्, शप्, गुण, अयादेश होकर मुण्डयति रूप सिद्ध हो जाता है। **मिश्रं करोति=मिश्रयति। मिश्रयति धाना गुडेन। श्लक्ष्णयति कचांस्तैलेन** (बालों को तेल से चिकना करता है)। **लवणं करोति लवणयति (शाकम्)। पयो व्रतयति द्विजः** (ब्राह्मण दूध का आहार करता है)। यहाँ 'व्रत' का अर्थ भोजन है।[5] जैसे 'पयोव्रतो ब्राह्मणः', यहाँ। **राजान्नं व्रतयति यतिः**[6] (यति राजा के अन्न का परिहार करता है)। यहाँ व्रत शब्द के भोजन अर्थ में माधवीय धातुवृत्ति में ब्राह्मण ग्रन्थ से यह उद्धरण

---

१. पुच्छादुदसने व्यसने पर्यसने वा (वा०)।

२. भाण्डात् समाचयने। (वा०)।

३. चीवरादर्जने परिधाने वा। (वा०)।

४. मुण्ड-मिश्र-श्लक्ष्ण-लवण-व्रत-वस्त्र-हल-कल-कृत-तूस्तेभ्यो णिच् (३।१।२१)।

५-६. व्रताद्भोजने तत्परिहारे च (वा०)।

दिया है—**यदस्य पयो व्रतं भवत्यात्मानमेव तद्वर्धयति । त्रिव्रतो वै मनुरासीत् । द्विव्रता असुराः । एकव्रता देवाः ।** विपरीत लक्षणा से 'व्रत' का अर्थ भोजन-निवृत्ति भी है । **वस्त्रमाच्छादयति संवस्त्रयति ।**[1] **हलिं कलिं वा गृह्णाति**[2]= **हलयति । कलयति ।** बड़े हल को 'हलि' कहते हैं । महद्धलं हलिः । णिच् प्रत्यय के संनियोग से हलि, कलि का अदन्त रूप 'हल', 'कल' सूत्र में निपातन किया है । ताकि 'अ' का लोप होने से ण्यन्त धातु के अग्लोपी हो जाने के कारण लुङ् में अभ्यास को सन्वद्भाव न हो—**अजहलत् । अचकलत् । कृतं गृह्णाति=कृतयति** (उपकार स्वीकार करता है) । **तूस्तानि विहन्ति=वि-तूस्तयति**=जटाओं को साफ करता है, अथवा पाप का नाश करता है । 'वि' विघात का द्योतक लगाया गया है ।

५१७—सत्य, पाश, रूप, वीणा, तूल, श्लोक, सेना, लोमन्, त्वच, वर्मन्, वर्ण, चूर्ण[3]—इन प्रातिपदिकों से क्रिया विशेष अर्थ में णिच् प्रत्यय आता है । 'सत्य' को आपुक् (आप्) आगम भी होता है । यह आगम 'अर्थ' तथा 'वेद' को भी होता है जब इनसे तत्करोति (उसे करता है) अथवा तदाचष्टे (उसे कहता है[4]) अर्थों में णिच् होता है—**सत्यमाचष्टे=सत्यापयति** (सच कहता है)। **सत्यापयति भाण्डं वणिक् ।** यहाँ **सत्यापयति=सत्यं करोति,** सच्चा करता है, भाण्ड खरीदने के सौदे को कुछ पेशगी देकर पक्का करता है । क्लीबे सत्यापनं सत्यंकारः सत्याकृतिः स्त्रियाम् (अमर) ।

---

१. वस्त्रात्समाच्छादने (वा०) ।

२. हल्यादिभ्यो ग्रहणे (वा०) । अजहलत् । अचकलत् । अचोञ्णिति (७।२।११५) । यह अजन्त अङ्ग को वृद्धि-विधायक शास्त्र 'पर' है, और टि-लोप-विधायक टेः (६।४।११५) शास्त्र 'पूर्व' है । इष्ठवद्भाव से प्राप्त टि-लोप को बाधकर पहले वृद्धि हुई, तब टि-लोप (आ का लोप) । ऐसे भी धातु अग्लोपी ही रही । यदि टि-लोप (हलि, कलि के 'इ' का लोप) पहले हो जाय, तो इतने से ही अग्लोप-निमित्तक कार्य की सिद्धि हो जाने से अदन्तत्व-निपातन व्यर्थ हो जाय ।

३. सत्याप-पाश-रूप-वीणा-तूल-श्लोक-सेना-लोम-त्वच-वर्म-वर्ण-चूर्ण-चुरादिभ्यो णिच् (३।१।२५) ।

४. तत्करोति तदाचष्टे (ग० सू०) ।

५१८—अर्थ व वेद को आपुक् आगम होता है णिच् परे होने पर। **अर्थमाचष्टे अर्थापयति। वेदमाचष्टे वेदापयति।**[1] **पाशान् विमोचयति=विपाशयति। पाशा ह्यस्यां व्यपाश्यन्त वसिष्ठस्य मुमूर्षतः** (निरुक्त ६।२६।१)। मरना चाहते हुए वसिष्ठ मुनि के पाश इस विपाश नदी में खुल गए। **रूपयति**= पश्यति। **वीणयोपगायति उपवीणयति**(=वीणा के साथ तान लेता है)। यहाँ टि-लोप ('आ' का लोप) इष्ठवद्भाव से होता है। **तूलेनानुकुष्णाति=अनुतूलयति** (तृणादि को रूई से लपेटता है)। **श्लोकैरुपस्तौति=उपश्लोकयति** (श्लोकों द्वारा स्तुति करता है)। **सेनयाऽभियाति=अभिषेणयति** (सेना के साथ चढ़ाई करता है)। (२१) से षत्व। **लोमान्यनुमार्ष्टि=अनुलोमयति** (लोमों के अनुकूल मर्दन करता है)। यहाँ लोमन् की 'टि'= अन् का लोप होता है। **त्वचं गृह्णाति=त्वचयति**=(चुटकी लेता है)। यह त्वच अच् प्रत्ययान्त अदन्त शब्द है। **वर्मणा संनह्यति=संवर्मयति** (कवच पहनता है)। **वर्णं गृह्णाति=वर्णयति**। **चूर्णैरवध्वंसयति=अवकिरति=अवचूर्णयति। व्रणमुखमवचूर्णयति।** घाव के मुंह पर चूर्ण फेंकता है।

५१९—प्रातिपदिक से धात्वर्थ (=क्रियासामान्य अथवा क्रियाविशेष में) णिच् होता है और णिच् परे रहते अङ्ग (प्रातिपदिक) को इष्ठवद्भाव होता है[2], अर्थात् जो कार्य इष्ठन् प्रत्यय परे रहते अथवा इष्ठन् की सम्भावना में होता है वह णिच् परे रहने पर भी होता है। इष्ठवद्भाव से टिलोप, पुंवद्भाव, यणादिपरलोप, रभाव, विनि और मतुप् का लुक्, कन् आदि आदेश यहाँ भी होंगे। धात्वर्थ से तत्करोति, तदाचष्टे और प्रयोगदृष्ट दूसरी क्रियायें ली जाती हैं। ऊपर मुण्ड आदि से तथा सत्य आदि से जो णिच् विधान हुआ है वह इसी का प्रपञ्च (विस्तार) है। प्रातिपदिक से यहाँ यथाकथंचित् लिङ्गविशिष्ट परिभाषा[3] से ङ्यन्त तथा आबन्तों का ग्रहण भी इष्ट है।

टिलोप—**पटुमाचष्टे=पटयति** (उ—लोप)। (४२) से स्थानिवद्भाव होने से (१६९) से उपधा-वृद्धि नहीं हुई।

रभाव—**पृथुं करोति। पृथुमाचष्टे=प्रथयति**। पृथु, मृदु, कृश, भृश, दृढ,

---

१. अर्थवेदयोरप्यापुग् वक्तव्यः (वा०)

२. प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे बहुलमिष्ठवच्च (ग० सू०)।

३. प्रातिपदिकग्रहणे लिंगविशिष्टस्यापि ग्रहणम् (परिभाषा)।

परिवृढ—इन छह के ऋकार को रकार होता है—**प्रथयति । म्रदयति । क्रशयति । द्रढयति । परिव्रढयति ।** परिवृढ प्रभु को कहते हैं । **वियोगो वैराग्यं द्रढयति** (दृढी करोति)—प्रबोध० ।

पुंवद्भाव—**एनीमाचष्टे=एतयति** । **हरिणीमाचष्टे=हरितयति** । एत, हरित वर्णवाचक शब्द हैं । इष्ठन् (जो अजादि प्रत्यय है) से पूर्व की 'भ' संज्ञा होने से 'भस्याढे तद्धिते' (वा०) से पुंवद्भाव होता है, वही यहाँ अतिदिष्ट किया गया है ।

यणादि पर लोप—स्थूल, दूर, युवन्, ह्रस्व, क्षुद्र, क्षिप्र—इन से ल, र, वन्, व, र का लोप हो जाता है और पूर्व उकार इकार को गुण हो जाता है—**स्थूलं करोति=स्थवयति । स्निग्धमन्नमासेव्यमानं स्थवयति देहम् । दूरं करोति=दवयति । युवानं करोति=यवयति ।** (यु को गुण, अवादेश) । **वृद्धमपि यवयति च्यवनप्राश इति वैद्याः । ह्रस्वं करोति=ह्रसयति । क्षुद्रं करोति=क्षोदयति । क्षिप्रं करोति=क्षेपयति** (इ को गुण) ।

प्रिय, स्थिर, स्फिर, उरु, बहुल, गुरु, वृद्ध, तृप्र, दीर्घ, वृन्दारक—इन्हें प्र, स्थ, स्फ, वर्, बंहि, गर्, वर्षि, त्रप्, द्राघि, वृन्द—ये आदेश होते हैं—**प्रियं करोति=प्रापयति** । यहाँ णिच् परे रहते 'प्र' को वृद्धि 'प्रा' होने पर पुक् आगम होता है । 'प्र' एकाच् है अतः प्रकृत्या रहता है । टिलोप नहीं होता । प्रकृत्यैकाच् । इसी तरह **स्थिरं करोति =स्थापयति** । स्फिर=**स्फापयति** । उरु—**वरयति** । बहुल—**बंहयति** । गुरु—**गरयति** । वृद्ध—**वर्षयति** । तृप्र—**त्रपयति** । तृप्र पुरोडाश तथा दुःख का नाम है । दीर्घ—**द्राघयति**=(लम्बा करता है) । वृन्दारक—**वृन्दयति** । वृन्दारक देवतावाचक है, श्रेष्ठ का नाम भी है ।

विनि, तथा मतुप् का लुक्—**स्रग्विणं करोति=स्रजयति** । विनि के लुक् होने पर कुत्व की निवृत्ति हो जाती है । शब्द अपने प्रकृति रूप में आ जाता है । णिच्-निमित्तक उपधा वृद्धि यहाँ नहीं होती । **गोमन्तं करोति=गवयति । मायाविनमाचष्टे=माययति ।** विन् का लुक् होने पर टि (माया का 'आ') का लोप हो जाता है । **वसुमन्तमाचष्टे=वसयति** । यहाँ भी मतुप् का लुक् होने पर टि (वसु का उ) का लोप हो जाता है ।

५२०—आख्यानवाची कृदन्त शब्दों से तदाचष्टे (उसे कहता है) इस अर्थ में णिच् आता है । कृत् प्रत्यय का लुक् हो जाता है । प्रत्यय की प्रकृति को जो आदेश आदि हुए हों वे निवृत्त हो जाते हैं अर्थात् प्रकृति अपने अविकृत

रूप में अवस्थित हो जाती है। तब शुद्ध णिच् प्रत्यय परे रहते जो कारक प्राप्त होता है वही तदाचष्टे इस अर्थ में विहित णिच् परे रहते होता है। प्रकृति को जो णिच् परे होने पर कुत्व तत्व आदि कार्य होता है वह यहाँ भी[1]। **कंसवधमाचष्टे=कंसं घातयति** (कंसवध की कहानी कहता है)। यहाँ 'कंसवध' आख्यानवाची कृदन्त शब्द है। अप् कृत् प्रत्यय हुआ है और साथ ही हन् (प्रकृति) को वध आदेश हुआ है। हनश्च वधः (३।३।७६)। प्रत्यय अप् की निवृत्ति होने पर तत्सन्नियोग-शिष्ट जो 'वध' आदेश था वह भी निवृत्त हो जाता है। अवशिष्ट अविकृत हन् प्रकृति रह जाती है। अब हेतुमण्ण्यन्त 'हन्इ' का कर्म होने से जैसे 'कंस' में द्वितीया होती है वैसे ही प्रकृत में। इसी प्रकार **बलिबन्धमाचष्टे बलिं बन्धयति** (बलि के बन्ध की कहानी कहता है)। यहाँ भी उक्त प्रक्रिया का अनुसरण होता है। राज्ञ आगमनं राजागमनम्। **राजागमनमाचष्टे=राजानमागमयति,** राजा के आगमन की बात कहता है। मृगाणां रमणं मृगरमणम्। **मृगरमणमाचष्टे इति मृगान् रमयति**। यहाँ मृग रमण करते हैं इसे दिखाने के लिए दूसरे से कहता है। रात्रेर्विवसो रात्रिविवासः। विवास परिसमाप्ति को कहते हैं। 'रात्रि विवास' के साथ आङ् का मर्यादा अर्थ में अव्ययीभाव समास —आरात्रिविवासम्। आरात्रिविवासमाचष्टे= **रात्रिं विवासयति**। यहाँ आङ् का लोप हो जाता है[2]—जब तक रात व्यतीत नहीं होती तब तक कथा कहता है।

५२१—सूर्यस्योद्गमनं=सूर्योद्गमनम्। आश्चर्य गम्यमान होने पर 'प्राप्त होता है' इस अर्थ में कृदन्त से णिच्।[3] **उज्जयिन्याः प्रस्थितो माहिष्मत्यां सूर्यमुद्गमयति**। सूर्योदय को प्राप्त होता है। यहाँ माहिष्मती से से उज्जयिनी दूरस्थ है तो भी सूर्योदय से पहले वहाँ पहुँच जाता है, यह आश्चर्य की बात है।

५२२—पुष्येण योगः=पुष्ययोगः। अर्थ है—पुष्यकर्तृक चन्द्रकर्मक योग।

---

१. आख्यानात्कृतस्तदाचष्ट इति णिच्, कृल्लुक् प्रकृतिप्रत्यापत्तिः प्रकृतिवच्च कारकम् (ग० सू०)। यहाँ 'च' भिन्नक्रम है। कारकं च। 'च' से कार्यं च' समुच्चित होता है।

२. आङ्लोपश्च कालात्यन्तसंयोगे मर्यादायाम् (ग० सू०)।

३. चित्रीकरणे प्रापि (ग० सू०)।

पुष्य यहाँ कर्ता है और नियम से गम्यमान चन्द्र कर्म है। नक्षत्र योगवाची कृदन्त से जानता है इस अर्थ में णिच् आता है।[1] **पुष्ययोगं जानाति=पुष्येण योजयति।** कृत् का लुक्, प्रकृति प्रत्यापत्ति इत्यादि सब कार्य होता है। घञ् निमित्तक कुत्व की निवृत्ति हो जाती है।

विद्वांसमाचष्टे=विदयति। यहाँ इष्ठवद्भाव से विद्वस् की भसंज्ञा होने पर नित्य होने से पहले सम्प्रसारण, अन्तरङ्ग होने से पूर्व रूप (व्-स्थानिक सम्प्रसारण 'उ' में ही परले 'अ' के मिल जाने से) होकर पीछे टि-लोप ('उस्' का लोप)। कोई लोग यहाँ अङ्गवृत्तपरिभाषा से आङ्गकार्य (=टिलोप) होने पर प्रयोगार्ह (परिनिष्ठित) रूप के निष्पन्न हो जाने पर एक और आङ्गकार्य (सम्प्रसारण) नहीं करते। उनके मत में **'विद्वयति'** रूप होगा। दूसरे पहले सम्प्रसारण करते हैं पीछे टि-लोप, वृद्धि (औ) और आवादेश करके **'विदावयति'** रूप मानते हैं।

व्याकरणस्य सूत्रं करोति=व्याकरणं सूत्रयति। सूत्र और व्याकरण की व्यतिरेक(=भेद) विवक्षा में वाक्य में व्याकरण से षष्ठी उपपन्न ही है। अव्यतिरेक (=अभेद) विवक्षा में तो व्याकरणं सूत्रं करोति—यही विग्रह-वाक्य होगा। व्याकरणस्य सूत्रं करोति इस वाक्य में सूत्र शब्द एक द्रव्य विशेष का वाचक है, पर व्याकरणं सूत्रयति इस वृत्ति में वह 'करना' (क्रिया सामान्य) को कहता है। अतः इसका व्याकरण के साथ सामर्थ्य है। इसलिये व्याकरण से अनुक्त कर्म में द्वितीया हुई।

पृथु णिच्, मृदु णिच्—इन धातुओं के लुङ् रूप की सिद्धि के विषय में विशेष वक्तव्य है—यदि यहाँ **परे** होने से पहले वृद्धि (औ) हो, पीछे टि-लोप, तो धातु के अग्लोपी न होने से सन्वद्भाव हो जायगा—**अपिप्रथत्, अमिम्रदत्।** यदि वृद्धि से पूर्व टिलोप होगा तो धातु अग्लोपी हो जाएगी, इससे सन्वद्भाव नहीं होगा—**अपप्रथत्। अमम्रदत्।**

भृश, कृश, दृढ, परिवृढ—इनसे णिच् होने पर दोनों अवस्थाओं में धातु के अग्लोपी बने रहने से सन्वद्भाव नहीं होगा तो एक-एक रूप ही होगा—

अबभ्रशत्। अचकृशत्। अददृढत्। पर्यवव्रढत्।

वह् से निष्ठा प्रत्यय 'त' करने पर सम्प्रसारण, पूर्वरूप, ह् को ढ्, 'त' को ध्, ष्टुत्व से इसी को ढ्, पूर्व ढ् का लोप, सम्प्रसारण, 'उ' को

---

१. नक्षत्रयोगे ज्ञि (ग० सू०)।

दीर्घ—इस प्रक्रिया से ऊढ शब्द निष्पन्न होता है। **ऊठमाख्यत्=औजढत्** (लुङ्)। द्वित्व की कर्तव्यता में ढत्वादिकों के असिद्ध होने से ऊ ह् त इस अवस्था में द्वितीय एकाच् ह् त को द्वित्व होता है। 'णौ कृतं स्थानिवत्' इस वचन से टि-लोप='त' के अ का लोप स्थानिवत् होता है। अग्लोपी होने से सन्वद्भाव नहीं हुआ। आट् के साथ वृद्धि एकादेश होने से अभ्यास में 'औ' हुआ है। अभ्यास ह् त का (११३) से 'ह' शेष रह जाता है। (१०७) से 'ह्' को चुत्व होकर झ् होने पर (१०६) से झ् को ज् होता है। यदि पूर्वत्रासिद्धीय कार्य द्विर्वचन करने में असिद्ध नहीं माने जाते(पूर्वत्रासिद्धीयमद्विर्वचने—परिभाषा)। ऐसा मत है तो 'ढ' को द्वित्व होगा और 'औडढत्' यह रूप होगा।

तत्कोति तदाचष्टे इस अर्थ में णिच् के अन्य उदाहरण—

पटयति परिभोगग्राहितामिन्द्रियाणां
श्रुतमपि विनिहन्ति श्रेष्ठतां प्रष्ठतां च।
चलयति हि विभूतिं भूयसीमप्यनीचै-
रपि विबुधमतीनां सप्तकोऽयं दुरन्तः (का० नी० सा० १५।६८)॥

यह सात व्यसनों का समुदाय जो दुष्परिणाम वाला है, यह प्रबुद्ध बुद्धि वालों की भी इन्द्रियों की भोग-शक्ति को तीव्र करता है, श्रुत (उपात्त विद्या), श्रेष्ठता तथा अग्रगामिता का नाश कर देता है, अत्यधिक समृद्धि को भी शीघ्र ही डावाँडोल कर देता है॥

अपि मर्माविधो वाचः सत्यं रोमाञ्चयन्ति माम् (महा० च० ३।१०)।

रोमाञ्चवन्तं कुर्वन्ति=रोमाञ्चमाञ्चयन्ति। इष्ठवद्भाव से मतुप् का लुक्। **कामं करुण-गम्भीरः प्रयोगः कन्दलयति मानसम्।** कन्दलवत् करोति=कन्दलयति। कन्दलं नवाङ्कुरः। यहाँ भी मतुप् का लुक् हुआ है।

बधिरयति कर्णविवरं वाचं मूकयति नयनमन्धयति।
विकृतयति गात्रयष्टिं सम्पद्रोगोऽयमद्भुतो राजन्॥

हे राजन्, यह अद्भुत सम्पदा-रूपी रोग कानों को वहिरा बना देता है, वाणी को गुंगी बना देता है, नेत्रों को अन्धा बना देता है और शरीर को विकृत कर देता है।

न हि तिरयति धर्मं छद्मना शत्रुघातः (का० नी० सा० १६।७१)। छल से शत्रु-हत्या धर्म का लोप नहीं करती। तिरः करोतीति तिरयति। तिरस् के के टि-भाग (अस्) का लोप होता है। तिरयति का मूलार्थ 'आच्छादयति' है।

योक्त्रयामास बाहुभ्यां पशुं रशनया यथा (भा० विराट०)।

उसे बाहों से ऐसे बाँध लिया जैसे मेखला से पशु को। योक्त्रयामास= योक्त्रावन्तं चकार।

क्विप्

५२३—सब प्रातिपदिकों से आचार अर्थ में विकल्प से क्विप् प्रत्यय होता है, पक्ष में वाक्य रहता है।[1] यह प्रत्यय ऊपर बताये हुए क्यङ् के अर्थ में होता है। क्विप् का सर्वापहारी[2] लोप हो जाता है अर्थात् प्रत्यय सारे का सारा लुप्त हो जाता है। **नाक इवाचरति=नाकति** (स्वर्ग का सा व्यवहार करता)। नाक शप् ति (८) से पररूप। **अश्व इवाचरति=अश्वति। गर्दभ इवाचरति=गर्दभति। इदम् इवाचरति=इदामति।** राजेवाचरति=राजानति (४८७)। **पितेवाचरति पितरति। पन्था इवाचरति पथीनति।** प्रातिपदिक से प्रत्यय है इसलिए पद कार्य नहीं होता। **कविरिवाचरति कवयति।** शप्। गुण। **विरिवाचरति वयति।** लिट्—**विवाय। विव्यतुः।** लुङ्—**अवयीत्, अवायीत्** (माधव के मत से वृद्धि)। **मालेवाचरति=मालाति। अमालात्** (लङ्)। यहाँ अपृक्त 'त्' का लोप नहीं होता। **अमालासीत्** (लुङ्)। (इट् और सक्)। **भूरिवाचरति भवति।** यहाँ लिट् में अभ्यास को अ, लुङ् तथा लिट् में वुक् का आगम तथा सिच् का लुक् नहीं होता। कारण कि प्रसिद्ध, धातुपाठ में पठित भू धातु से ही ये विधियाँ होती हैं। क्विबन्त धातु से नहीं। **बुभाव। अभावीत्। अभाविष्टाम्। अभाविषुः।**

प्रयोगमाला

१. **पुत्रिणोऽपि पुत्रीयन्ति किमुतापुत्राः।**
पुत्रों वाले भी पुत्र चाहते हैं, पुत्रहीनों का तो क्या कहना।

२. **मनस्विनः प्राणव्ययेनापि यशस्काम्यन्ति।**
धीर लोग प्राणों के बदले में यश की कामना करते हैं।

३. **दीर्घोऽध्वा गन्तव्य इत्यश्वीयामः।**

---

१. सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विब्वा वक्तव्यः (वा०)।

२. क्विप् के क्, प् की इत्संज्ञा होने से लोप हो जाता है। शेष 'वि' में 'इ' उच्चारण के लिए है। अपृक्त 'व्' का वेरपृक्तस्य (६।१।६७) से लोप हो जाता है।

हमें लम्बा सफर करना है, अतः घोड़ा चाहते हैं।

४. **आश्चर्यं यदि भीरुरपि वीरायेत।**

आश्चर्य हो यदि भीरु भी वीर का सा व्यवहार करे।

५. **मन्दायन्ते न खलु सुहृदामभ्युपेतार्थकृत्याः** (मेघ०)।

जिन्होंने मित्रों के कार्य को करना स्वीकार कर लिया है वे सुस्त नहीं होते।

६. **कदाचिदज्ञा अपि विद्वायन्ते।**

कभी-कभी मूर्ख भी विद्वानों का सा व्यवहार करते हैं।

७. **इहदेशे गुरूयन्ति गुरुपुत्रम्।**

इस देश में गुरुपुत्र के साथ गुरु का सा व्यवहार करते हैं।

८. **अल्पकेऽपि स्वके गेहे यथा सुखायामहे, न तथा विशालेऽपि परवेश्मनि।**

अपने छोटे से घर में भी हम जिस तरह सुख का अनुभव करते हैं वैसा दूसरे के विशाल भवन में भी नहीं।

९. **शब्दायन्तेऽमी छात्राः, तेन जानीमहेऽसंनिहितो गुरुरिति।**

ये जो छात्र शोर मचाते हैं, इससे हम जानते हैं कि गुरुजी उपस्थित नहीं हैं।

१०. **धनीयामो योगक्षेमं वहेमेति, न तु धनायामः।**

हम धन चाहते हैं कि निर्वाह हो सके, हमें धन का लालच नहीं।

११. **उदकीयामः स्नास्याम इति, न तूदन्यामः।**

हमें पानी चाहिए, स्नान करेंगे। हमें पीने के लिए पानी नहीं चाहिए।

१२. **वयमशनीयामः कालान्तरेऽशिष्याम इति, न तु सम्प्रत्यशनायामः।**

हमें भोजन चाहिए, कालान्तर में खाएँगे, इस समय हमें भूख नहीं।

१३. **पुस्तकी भवति पण्डित इति पुस्तकीयन्ति विद्वांसः।**

पुस्तकों वाला पण्डित होता है, इसलिए विद्वान् पुस्तकों को चाहते हैं।

१४. **वर्षासु ब्रह्मपुत्रादयो नदाः सागरायन्ते।**

बरसात में ब्रह्मपुत्र आदि नद समुद्र प्रतीत होते हैं।

१५. **वियति पतङ्गायते रविरिति पतङ्ग इत्युच्यते।**

आकाश में सूर्य पक्षी की तरह दीखता है इसलिए उसे 'पतङ्ग' कहते हैं।

१६. **यत्सत्यं विरहेण भृशायते स्नेहः स्वेषु।**

सच तो यह है कि विरह से अपनों में प्रेम बढ़ जाता है।

१७. **पश्य लोहितायतेऽस्य वदनं क्रोधेन। मास्म प्रहार्षीदित्यपवाहयाऽऽत्मानम्।**

देखो, इसका मुख क्रोध से लाल हो रहा है, ऐसा न हो कि यह प्रहार करे, इसलिये यहाँ से चले जाओ।

१८. **पर्यङ्कीयति मञ्चके दरिद्रः श्रमी।**

गरीब मेहनती खाट पर ऐसे व्यवहार करता है जैसे वह पलंग पर हो।

१९. **गोक्षीरं क्षीराणामुत्तमम् इति गव्यामः।**

गौ का दूध सब दूधों में उत्तम है, अतः हम गौ चाहते हैं।

२०. **राजा राष्ट्रीयति राष्ट्रं चापि राजीयति।**

राजा राष्ट्र को चाहता है, और राष्ट्र भी (अपनी रक्षा के लिए) राजा को चाहता है।

२१. **वृद्धायते कुमारी व्यसनप्रसक्ता, युवायते च जरठा व्यसनाप्रसक्ता।**

व्यसनासक्ता कुमारी बुढ़िया का सा व्यवहार करती है और व्यसनों में अनासक्त वृद्धा युवति का सा व्यवहार करती है।

२२. **पण्डितायते लोकः सद्भिः सङ्गेन।**

विद्वानों के सम्पर्क से अविद्वान् भी विद्वान् बन जाते हैं।

२३. **सुजना अपि स्वार्थप्रहाणिशङ्किता दुर्मनायन्ते स्वेषु।**

सज्जन भी जब उन्हें स्वार्थ-हानि की शङ्का होती है, अपनों के प्रति दुष्टभावना वाले हो जाते हैं।

२४. **चिरं विप्रोषिताः सम्प्रत्युन्मनायामहे स्वं देशं गन्तुम्।**

हम बहुत समय तक प्रवासी रहे हैं अब हम अपने देश जाने को उत्सुक हो रहे हैं।

२५. **पश्य निष्टप्तं पयो बाष्पायते, कालोऽयं तण्डुलावापस्य।**

देखो, पानी उबल कर भाप छोड़ रहा है, यह चावल डालने का समय है।

२६. **ऊष्मायते भूर् अभिवृष्टा नवोदकेन।**

पहली-पहली वृष्टि से भूमी गर्मी छोड़ रही है।

२७. **योऽयं नेतृमानी फेनायते मुखेन तेन मातृमुखोऽयमिति भाति।**

जो यह अपने को नेता समझने वाला मुँह से फेन छोड़ रहा है, इससे यह मूर्ख है ऐसा प्रतीत होता है।

२८. **वावदूकोऽयञ्जनः कलहप्रिय इत्यकारणं कलहायते ।**
यह पुरुष बहुत बोलता है, कलह-प्रिय है इसलिए बिना कारण झगड़ा करता है ।

२९. **इच्छावती कामुका स्यात् वृषस्यन्ती तु कामुकी (अमर) ।**
इच्छावती स्त्री को कामुका कहते हैं मैथुनेच्छावती को कामुकी ।

३०. **यत्सत्यं परोक्षस्तवेन भृशायते स्नेहः स्वेषु ।**
सच तो यह है कि पीठ के पीछे सराहने से अपनों में स्नेह पहले से अधिक हो जाता है ।

३१. **धर्मज्ञे धर्मदर्शिनि राजनि मर्त्यलोकोऽपि नाकति ।**
धर्मज्ञ तथा धर्मप्रदर्शक राजा के होते हुए यह मर्त्य लोक भी स्वर्ग सा बन जाता है ।

३२. **ओजायमानं यो अहिं जघान** (अथर्व० २०।३४।११) ।
ओजस्वी होते हुए वृत्र को जिसने मारा ।

३३. **अविद्वांसोऽपि बहवोऽत्र विद्वायन्ते । न च त्रपन्ते ।**
अविद्वान् होते हुए भी बहुत लोग विद्वानों का सा व्यवहार करते हैं और लज्जित नहीं होते हैं ।

३४. **यथाऽश्वो रथकाम्यति** (का० सं० ७।५) ।
जैसे घोड़ा रथ चाहता है (कि मैं इसे खींचूँ) ।

३५. **मति र्दोलायते नूनं सतामपि खलोक्तिभिः** (हितोप० ५।५३) ।
दुर्जनों के वचनों से सत्पुरुषों की बुद्धि भी डोल जाती है ।

३६. **इयं युवतिः पतीयति, अयं चाजानिर्जनीयति ।**
यह युवति पति चाहती है और यह अपत्नीक (युवा) पत्नी चाहता है ।

३७. **आत्मनि प्रबुद्धा न प्रजास्यन्ति कृतार्थाः** (भा० उद्योग०) ।
आत्म-बोध को प्राप्त कर कृतकृत्य हुए प्रजा (सन्तान) नहीं चाहते ।

३८. **तत्तदुपसर्गभीता योगक्षेमकामिन्यः प्रजा राजीयन्ति** (चरके सूत्र-स्थाने) ।
उस-उस उपद्रव से डरी हुई प्रजाएँ योग क्षेम की कामना करती हुई राजा को चाहती हैं ।

३९. **अकुर्वन्विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन् । प्रसक्तश्चेन्द्रियार्थेषु प्राय-श्चित्तीयते नरः ॥** (मनु० ११।४४)

शास्त्र-विहित कर्म को न करने और निन्दित कर्म को करने के कारण इन्द्रियों के विषयों में आसक्त पुरुष प्रायश्चित्ती बन जाता है ।

४०. **कीर्तिर्नः स्यादिति कवीयन्ति राजानः ।**

हमारी कीर्ति हो, अतः राजा लोग कवियों को चाहते हैं ।

४१. **येन नीतोऽनुशिष्टश्च मर्त्यलोकोऽपि नाकति ।**
लब्धालोकः सहामोदः स वाचां विषयोऽस्ति नः ॥ (अस्मत्कृति गान्धिचरितम्) ।

जिससे मार्ग दिखाया हुआ तथा सुशिक्षित किया यह मर्त्य लोक भी जिसमें प्रकाश और प्रमोद आगया है, स्वर्ग बन रहा है वह (महात्मा गान्धी) हमारी वाणी का विषय है ।

४२. **सविता विधवति विधुरपि सवितरति तथा दिनन्ति यामिन्यः ।**
यामिनयन्ति दिनान्यपि सुखदुःखवशीकृते मनसि ॥

मन के सुख तथा दुःख के अधीन होने पर सूर्य चाँद सा हो जाता है, चाँद सूर्य सा, रातें दिन बन जाती हैं और दिन रातें ।

४३. **वह्निस्तस्य जलायते जलनिधिः कुल्यायते तत्क्षणा-**
न्मेरुस्स्वल्पशिलायते मृगपतिः सद्यः कुरङ्गायते ।
व्यालो माल्यगुणायते विषरसः पीयूषवर्षायते
यस्याङ्गेऽखिललोकवल्लभतरं शीलं समुन्मीलति ॥

४४. **सखीयामो दरिद्रा वयं न च सखायं विन्दामः ।**

हम दरिद्र हैं मित्र चाहते हैं, पर मित्र मिलता नहीं ।

४५. **दवयति दुःखानि नेदयति च सुखानि सुकृतां सम्प्रयोगः ।**

पुण्यात्माओं की संगति दुःखों को दूर करती है और सुखों को निकट लाती है ।

इति नामधातुप्रक्रिया गता ।

कण्ड्वादि गण

५२४—कण्डूञ् आदि धातुओं से नित्य स्वार्थ में यक् प्रत्यय आता है। कण्डू आदि शब्द धातु रूप भी हैं और प्रातिपदिकरूप भी। भाष्य में कहा भी है—

धातुप्रकरणाद् धातुः कस्य चासञ्जनादपि।
आह चायमिमं दीर्घं मन्ये धातु विभाषितः॥

अर्थात् धातुप्रकरण में कण्डू आदि पढ़े हैं, इनसे यक् प्रत्यय स्वार्थ में विधान किया है, जो कित् पढ़ा है। क् इस के साथ अनुबन्ध लगाया है। इससे हम जानते हैं कि कण्डू आदि शब्द धातु हैं, अन्यथा क् अनुबन्ध जो गुण—निषेध के लिये लगाया है, व्यर्थ हो जाता है। पर कण्डू आदि को दीर्घ पढ़ा है इससे यह भी मानना पड़ता है कि कण्डू आदि शब्द प्रातिपदिक भी होते हैं। इससे जहाँ कण्डूयति-ते यगन्त प्रयोग होता है वहाँ कण्डूः (खुजली) आदि यक्-रहित प्रातिपदिक से सुप्-विभक्ति भी आती है।

कण्डूञ् ञित् पढ़ा है, अतः कर्तृगामी फल होने पर आत्मनेपद, अन्यथा परस्मैपद—**कण्डूयति शिरः कण्डूयते वा**। मन्तु अपराध करना—**मन्तूयति कश्चिदजानानः कश्चिच्च जानानः**। चान्द्र व्याकरण में इसे ञित् पढ़ा है उससे यह उभयपदी भी है—**मन्तूयति। मन्तूयते**। (५०१) से दीर्घ हुआ है। वल्गु—पूजा करना, मधुर=मृदु, सौम्य, सुन्दर होना—**वल्गूयति दैवतम्। वल्गूयति लोकः सुचरितेन, नाकल्पेन। बृहस्पतिं यः सुभृतं बिभर्त्ति वल्गूयति वन्दते पूर्वभाजम्** (ऋ० ४।५०।७)। असु, असू, असूञ्, उपतप्त होना, दूसरे के गुणों को न सहना—**असूयति लक्ष्मीः सरस्वत्यै**। इरस्, इरज्, इरञ् ईर्ष्या करना। यास्कीय निघण्टु में इरज्यति ईश्वर, समर्थ, स्वामी होना तथा सेवा(पूजा) अर्थ में पढ़ी है। **इरस्यति। इरज्यति**। ईर्यति-ते। यहाँ(११४-ख)से दीर्घ होता है। उषस् प्रभात होना—**उषस्यति रात्रिरिति सपदि प्रस्थेयं नः**। वेद धूर्तता करना,

सोना—**वेदितारोपि शास्त्राणां वेद्यन्तीति चित्रम्** । मेधा शीघ्र ग्रहण करना, जल्दी समझना—**सकृच्छ्रु तमप्यर्थं मेधायति मेधावी बटुः शरच्चन्द्रः** । मगध् निकृष्ट दास भाव को प्राप्त होना—**यदर्थवशान्मगध्यन्ति विप्रास्तदसदृशं तेषाम्** । सुख्, दुःख्, सुख, दुःख अनुभव करना—**पराभ्युदये सुख्यति परव्यसने च दुःख्यति सुकृती जनः** । सपर् पूजा करना—**सपर्यति देवान्** सपर्या पूजा अर्थ में प्रसिद्ध है। भिषज् चिकित्सा करना—**पीयूषपाणिरयं भिषग् भिषज्यतीममातुरमिति मन्ये सोचिराद् गदान्निर्यास्यति** । 'इषुध् शरधारण करना—**इषुध्यतीतीषुधिरुपासङ्ग उच्यते** । बाणों को धारण करने से उपासङ्ग को इषुधि कहते हैं। तुरण् शीघ्र चलना—**यथा वाजी तुरण्यति न तथा गर्दभः** । गद्गद् हकलाना—**गद्गद्यत्ययं शिशुः, सोऽस्य मातृको दोषः** । हृणीङ् रुष्ट होना, लज्जित होना—**स्वयमपराद्धः परस्मै हृणीयसे, अहो गर्ह्यमेतत्**, स्वयम् अपराधी हो और दूसरे से रूठ रहे हो, कितनी बुरी बात है ! महीङ् पूजा, आदर प्राप्त करना—**सर्वान् कामानवाप्नोति महीयते च स्वर्गलोके** । अगद् नीरोग होना—**पथ्याशी व्यायामी स्त्रीषु जितात्माऽगद्यति नरः** । उरस् बलवान् होना—**मांसाद उरस्यन्तीति भ्रमति जनः**, मांस खाने वाले बलवान् होते हैं यह लोगों का भ्रम है। कण्ड्वादि आकृति गण है, अतः दुवस् आदि भी कण्ड्वादि हैं—**समिधाऽग्निं दुवस्यत घृतैं बोंधयतातिथिम्** । (ऋ० ८।४४।१) ।

इति कण्ड्वादयः ।।

आत्मनेपद प्रक्रिया

५२५—अनुदात्तेत् तथा ङित् धातुओं से 'ल' के स्थान में आत्मनेपद प्रत्यय ही आदेश होते है [1]। 'तङ्' और 'आन' की आत्मनेपद संज्ञा की जा चुकी है। आस उपवेशने। आस यह बैठने अर्थ में अदादियों में अनुतात्तेत् पढ़ी है, अर्थात् में 'अ' अनुदात्त है और इत्संज्ञक है, अत एव इस का लोप हो जाता है। आस्ते। शीङ् स्वप्ने—यह आदादिक ङित् है, अतः इससे आत्मनेपद होता है—**शेते**।

५२६—भाव-व-कर्मवाची लकार के स्थान में आत्मनेपद प्रत्यय होते हैं [2]—**मया भूयते। मया दुःखमनुभूयते**।

५२७—कर्मव्यतिहार=क्रिया विनिमय (परस्पर करण, एक का दूसरे के योग्य क्रिया का करना) द्योत्य होने पर धातुमात्र से कर्तृवाची लकार के स्थान में आत्मनेपद होता है [3]—**व्यतिलुनते कृषीवलाः कृषिम्**, किसान एक दूसरे की खेती को काटते हैं। **व्यतिलुनीते क्षेत्रं द्विजः**, ब्राह्मण शूद्रादि के योग्य सस्य-लवन करता है।

५२८—(उपसर्ग योग के बिना) जो धातुएँ गत्यर्थक तथा हिंसार्थक हैं उन से कर्मव्यतिहार के द्योत्य होने पर आत्मनेपद नहीं होता [4]—**व्यतिगच्छन्ति प्रभुप्रेरिताः प्रैष्याः**, स्वामी से प्रेरित हुए सेवक एक-दूसरे के लिए जाते हैं। **व्यतिघ्नन्ति ज्ञातयो विघटिताः**, भेद को प्राप्त हुए बान्धव एक-दूसरे को मारते हैं। **व्यतिहन्ति ब्राह्मणो गाम्**, ब्राह्मण चाण्डालादि के योग्य जो गोहत्या उसे करता है।

५२९—हस् आदि धातुओं से कर्मव्यतिहार में आत्मनेपद नहीं होता [5]—

---

१. अनुदात्तङित आत्मनेपदम् (१।३।१२)।

२. भाव-कर्मणोः (१।३।१३)।

३. कर्तरि कर्म-व्यतिहारे (१।३।१४)।

४. न गति-हिंसार्थेभ्यः (१।३।१५)।

५. प्रतिषेधे हसादीनामुपसंख्यानम् (वा०)।

व्यतिहसन्ति च्छात्रा नर्मप्रसक्ताः, विनोदासक्त छात्र एक-दूसरे पर हंसते हैं। **व्यतिजल्पन्त्यध्यायका अध्यापकेऽसंनिहिते**, अध्यापक के अनुपस्थित होने पर विद्यार्थी एक-दूसरे से बातें करते हैं।

५३०—सम्प्र-पूर्वक हृ (मारना, प्रहार करना) से कर्म-व्यतिहार के द्योत्य होने पर जो (५२८) से आत्मनेपद का निषेध प्राप्त होता है, वार्तिककार उसका निषेध करते हैं[1]—**सम्प्रहरन्ते राजानः**, राजा लोग एक दूसरे पर प्रहार करते हैं।

५३१—इतरेतर, अन्योन्य, परस्पर इन उपपदों से यदि कर्मव्यतिहार द्योत्य हो तो धातु से आत्मनेपद नहीं होता है।[2] यह निषेध सिद्धार्थानुवाद है। उपपद द्वारा कर्म व्यतिहार के द्योतित हो जाने पर आत्मनेपद का कुछ प्रयोजन नहीं रहता। **इतरेतरस्यान्योन्यस्य परस्परस्य वा व्यतिलुनन्ति कृषाणाः।**

५३२—निपूर्वक विश् से आत्मनेपद होता है[3]—**निविशते यदि शूकशिखा पदे।** यदि शूक की नोक पाओं में लग जाती है। **क्वचिद् अपवादविषयेप्युत्सर्गोऽभिनिविशते**, कहीं अपवाद के विषय में भी उत्सर्ग (सामान्य नियम) चला जाता है। **कदा निवेक्ष्यसे? कालोयं ते द्वितीयमाश्रममुपसङ्क्रमितुम्**, तू कब (दारग्रहण-पूर्वक) गृह प्रवेश करेगा? यह समय तेरे द्वितीय आश्रम में जाने का है। **सन्तः सन्मार्गमभिनिविशन्ते**, सज्जन सन्मार्ग पर स्थिरतया चलते हैं।

५३३—क्रीञ् उभयपदी धातु है। परि-वि-अव-पूर्वक क्री से आत्मनेपद होता है क्रिया-फल के अकर्तृगामी होने पर भी[4]। परि क्री का अर्थ कुछ काल के लिये भृति द्वारा अपने अधीन करना है। **शतेन शताय वा परिक्रीणीते दासम्।** शतपथ ब्राह्मण में परिक्री 'कुछ तपश्चरणादि करके छुड़ाना, अपने वश में करना' इस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, अतः वहाँ आत्मनेपद नहीं हुआ है—**अथ यदात्मानं दरिद्रीकृत्येव अह्री भूत्वा भिक्षते य एवास्य मृत्यौ पादस्तमेव तेन परिक्रीणाति** (११।३।३।५)। विक्री (बेचना)—**अयं क्रयविक्रयिकः कनीयसाऽर्घेण पुस्तकानि क्रीणीते ज्यायसा च विक्रीणीते**, यह बनिया थोड़े मूल्य

---

१. हृतेरप्रतिषेधः (वा०)।

२. इतरेतरान्योन्योपपदाच्च (१।३।१६)। परस्परोपपदाच्चेति वक्तव्यम् (वा०)।

३. नेर्विशः (१।३।१७)।

४. परिव्यवेभ्यः क्रियः (१।३।१८)।

से पुस्तकें खरीदता है और बड़े दामों पर बेचता है। अव-क्री का अर्थ 'किराये पर लेना है। 'अव' उपसर्ग क्रिया की अपरिपूर्णता का द्योतक है। किराये पर लेने की क्रिया में खरीदने की क्रिया पूरी नहीं होती, कारण कि किराये पर ली हुई वस्तु पर खरीदी हुई वस्तु की तरह पूर्ण अधिकार नहीं होता। **अवक्रीणीते गेहकमल्पागमो जनः**, थोड़ी आय वाला पुरुष छोटा सा घर किराये पर लेता है।

५३४—वि-परा-पूर्वक 'जि' से आत्मनेपद होता है[1]—**शत्रून् विजयते। शत्रून्पराजयते। अहमिन्द्रो न पराजिग्य इद् धनम्** (ऋ० १०।४८।५)। मैं इन्द्र ने धन को हारा नहीं। पराजिग्ये=पराभावयम् (सायण)। **परा भाग-मोषधीनां जयन्ताम्** (अथर्व० ८।३।१६)। पराजयन्ताम्=हारयन्ताम्। **गच्छ त्वं कितवं गत्वा सभायां पृच्छ सूतज। किं नु पूर्वं पराजैषीरात्मान-मथवा नु माम्** (भा० सभा० ६७।७)॥ यहाँ परस्मैपद अपाणिनीय है। पराजि अकर्मक भी है—**उभा जिग्यथु नं पराजयेथे** (अथर्व० ७।४५।१), तुम दोनों जीतते हो, हारते नहीं। **इन्द्रो जयति न पराजयातै** (अथर्व० ६।१०।१) इन्द्र जीतता है, हारता नहीं। **अध्ययनात्पराजयते**, पढ़ने से उकता जाता है।

५३५—आङ् पूर्वक दा (जुहोत्यादि) से आत्मनेपद होता है जब इसका मुखादि का खोलना अर्थ न हो[2]—**सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः** (रघु० १।१८)। **पथः श्रुतेर्दर्शयितार ईश्वरा मलीमसामाददते न पद्धतिम्** (रघु ३।४६)। **प्रदीपः स्नेहमादत्ते दशयाभ्यन्तरस्थया** (शिशु० २।८५)। **श्रद्दधानः शुभां विद्यामाददीतावरादपि** (मनु० २।२३८)। सूत्र में आस्यवि-हरण (मुख का खोलना) के सदृश क्रिया का ग्रहण भी इष्ट है—**मुखं व्या-ददाति। विपादिकां व्याददाति**, बिवाई को खोलता है। **नदी कूलं व्याददाति**, नदी अपने किनारे को फाड़ती है। यदि मुख दूसरे का हो, तो आत्मनेपद यथाप्राप्त निर्बाध होगा—**व्याददते पिपीलिकाः पतङ्गस्य मुखम्**। च्यूंटियाँ पतंगे के मुख को (खाने के लिये) खोलती हैं।

५३६—आङ्, अनु, सम्, परि—इन उपसर्गों से युक्त क्रीड् से परे आत्मने-

---

१. वि-पराभ्यां जेः (१।३।१९)।

२. आङो दोऽनास्य-विहरणे (१।३।२०)। आस्यग्रहणमविवक्षितम्। पराङ्गकर्मकान्न निषेधः (वा०)।

पद होता है[1]—**आक्रीडन्ते लोका अत्रेत्याक्रीड उद्यानम्। आभोगवति गृहाङ्गने परिक्रीडन्ते शिशवः सुखम्। अल्पावकाशे समं क्रीडितुमक्षमा बाला अनुक्रीडन्ते।** अनुक्रीडन्ते=अनुक्रमेण क्रीडन्ति। **पश्य, अध्ययनादुपरताश्छात्राः सोत्साहं संक्रीडन्ते** (एक साथ खेलते हैं)। कूजन अर्थ में आत्मनेपद नहीं होगा—**संक्रीडन्ति शकटानि।**

५३७—आङ्पूर्वक ण्यन्त गम् से आत्मनेपद होता है जब इसका प्रयोग धैर्य रखना अर्थ में हो[2]—**आगमयस्व तावन्माणवक, अभित आयाति तेऽम्बा।** हे लड़के, धीरज धरो, तेरी माता अभी आरही है।

५३८—सन्नन्त शक् से आत्मनेपद होता है, जब जिज्ञास्य विषय में शक्त होने की इच्छा करना अर्थ हो[3]—**वाचि शिक्षमाणानां प्रथमवैयाकरणानां साचिव्यं किमपि चिकीर्षामीति ग्रन्थमिमं प्रकृतोऽस्मि,** वाणी में समर्थ होना चाहते हुए व्याकरण शास्त्र में नौसिखिये लोगों की मैं कुछ सहायता करना चाहता हूँ, अतः मैंने इस ग्रन्थ को प्रारम्भ किया है।

५३९—नाथृ नाधृ याच्ञोपतापैश्वर्याशीःषु ऐसा धातु पाठ है। ये दोनों अनुदात्तेत् पढ़ी हैं। इन से आत्मनेपद होना चाहिये। पर वार्तिककार नियम करते हैं—आशीर्वाद अर्थ में ही नाथ् धातु से आत्मनेपद हो अर्थान्तर में न हो[4]—**सर्पिषो नाथते, सर्पिर्मे स्यादिति प्रार्थयते,** मुझे घी मिले (भगवान् से) ऐसी प्रार्थना करता है।

५४०—हृ (जो उभयपदी है) से आत्मनेपद ही होता है जब गत (वृत्त, व्यवहार) का परिशीलन अर्थ हो[5]—**पैतृकमश्वा अनुहरन्ते, मातृकं गावः,** घोड़े पितृप्राप्त वृत्त का अभ्यास करते हैं, गौएँ मातृ-प्राप्त वृत्त का।

५४१—कॄ से आत्मनेपद होता है जब हर्ष, जीविका, कुलायकरण (घोंसला बनाना, आश्रय बनाना) विषय-भूत हों[6]। कॄ अपने मूल-भूत अर्थ विक्षेप

---

१. क्रीडोऽनु-सं-परिभ्यश्च (१।३।२१)। समोऽकूजने (वा०)।
२. आगमेः क्षमायाम् (वा०)।
३. शिक्षे र्जिज्ञासायाम्। (वा०)।
४. आशिषि नाथः (वा०)।
५. हरतेर्गत-ताच्छील्ये (वा०)।
६. किरते र्हर्ष-जीविका-कुलायकरणेषु इति वाच्यम् (वा०)।

(फेंकना, कुरेदना) को ही कहती है। हर्ष विक्षेप का हेतु होने से विषय है। जीविका तथा कुलायकरण विक्षेप का फल होने से उसका विषय हैं।

५४२—अप-पूर्वक कृ को सुट् (=स्) आगम (क् से पूर्व) होता है जब चौपायों अथवा पक्षियों का आलेखन (उल्लेखन, कुरेदना) विषयभूत हो। सुट् तभी होता है जब आलेखन हर्षादि-निमित्तक हो और सुट् होने पर ही आत्मनेपद होता है, उसके अभाव में नहीं।[1] **अपस्किरते वृषभो हृष्टः। अपस्किरते कुक्कुटो भक्षार्थी। अपस्किरते श्वाऽऽश्रयार्थी।** इन उदाहरणों में कर्म (भूमि) का उपादान नहीं किया प्रसिद्ध होने से, जैसे देवो वर्षति में 'जलम्' प्रसिद्धिवश छोड़ दिया जाता है।

५४३—आङ् पूर्वक नु, प्रच्छ् से आत्मनेपद होता है[2]। णु स्तुतौ अदादि। उपसर्गवशात् शब्द करना अर्थ हो जाता है। स्तुति शब्दविशेष है। विशेष का परित्याग होकर सामान्य में धात्वर्थ की स्थिति हो जाती है—**आनुते शृगालः,** क्रोशतीत्यर्थः। वेद में आङ्-पूर्वक 'नु' का बुलाना अर्थ है—**आ वामृताय केशिनीरनूषत** (ऋ० १।१५१।६), तुम दो (मित्र तथा वरुण) को अग्नि की ज्वालाएँ यज्ञ के प्रति बुलाती हैं। आङ् प्रच्छ् का अर्थ विदाई लेना है। आप्रच्छनम्। आमन्त्रणम्। **आपृच्छस्व प्रियसखममुं तुङ्गमालिङ्ग्य शैलम्** (मेघ० १।१२)।

५४४—शप् स्वरितेत् पढ़ी है अतः उभयपदी है। जब इसका अर्थ शपथ लेना हो तो इससे आत्मनेपद होता है परस्मैपद नहीं[3]—**देवदत्ताय शपते।** देवदत्त को जतलाता हुआ शपथ लेता है। **लोके यद्यप्रियं मे तेन तेन ते शपे।** आक्रोश (शाप, गाली देने अर्थ में यथाप्राप्त आत्मनेपद निर्बाध होगा—**सोऽकारणं मामशप्त, नाहं तस्मा अपारात्सम्,** उसने मुझे अकारण ही गाली दी, मैं ने उसका कुछ नहीं बिगाड़ा।

५४५—सम्, अव, वि, प्र—पूर्वक स्था से आत्मनेपद होता है[4]—**तीक्ष्णादुद्विजते मृदौ परिभवत्रासान्न सन्तिष्ठते** (मुद्रा० ३।५) सन्तिष्ठते=समीपं

---

१. अपाच्चतुष्पाच्छकुनिष्वालेखने (६।१।१४२)।

२. आङि नु-प्रच्छ्योः (वा०)।

३. शप उपालम्भे (वा०)।

४. समव-प्र-विभ्यः स्थः (१।३।२२)।

तिष्ठति । **दारिद्र्यात्पुरुषस्य बान्धव जनो वाक्ये न सन्तिष्ठते** (मृच्छक० १।३६), दरिद्रता के कारण बन्धु जन कहना नहीं मानते । **उद्यतैराहवे शस्त्रैः क्षत्रधर्महतस्य च । सद्यः सन्तिष्ठते यज्ञस्तथाऽऽशौचमिति स्थितिः** (मनु० ५।९८) ॥ सन्तिष्ठते=समाप्यते, समाप्त होता है, अर्थात् उसकी मृत्यु के साथ ही ज्योतिष्टोमादियाग के समाप्त होने पर भी उसे याग का सम्पूर्ण फल मिलता है । **सन्तिष्ठते श्वा**, कुत्ता मर रहा है । **इदं व्यवतिष्ठत इतः प्रभृति सत्यपि मतद्वैधे न मिथः कलहायिष्यामहे**, यह ठहरा कि आज से मत-भेद होने पर भी हम आपस में नहीं लड़ेंगे । **प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते** (गीता २।६५) । पर्यवतिष्ठते, स्थिर हो जाती है । **पारसीकांस्ततो जेतुं प्रतस्थे स्थलवर्त्मना** (रघु० ४।६०) । प्रतस्थे=प्रययौ, प्रस्थान किया । **वनेषु वितिष्ठन्ते यतयो न गृहेषु । वितिष्ठत उदरे इति वितिष्ठतेऽनयेति वा विष्ठा** । मलायत्तं बलं पुंसामित्युक्तेः । अत एव वर्चस् मल का भी पर्याय है । वर्चोनिरोधः, टट्टी का रोकना । वर्चःस्थानम्=संडास ।

५४६—आङ् पूर्वक स्था से आत्मनेपद होता है जब इसका प्रतिज्ञान (=अभ्युपगम, स्वीकार) अर्थ हो[1]—**शब्दं नित्यमातिष्ठन्ते वैयाकरणाः**, वैयाकरण शब्द को नित्य मानते हैं । **नेदमनीदृशं जगदित्यातिष्ठन्ते जैमिनीयाः**, जैमिनि के शिष्य यह जगत् ऐसा ही रहता है (अर्थात् प्रलय कभी नहीं होती) ऐसा मानते हैं ।

५४७—स्था से आत्मनेपद होता है जब आत्मनेपद से प्रकाशन (स्वाभिप्रायाविष्करण) तथा स्थेय (स्थेय=विवाद-पद-निर्णेता) द्योतित हों—[2] **यतये तिष्ठतेऽप्सराः** । अप्सरा यति के प्रति अपने अभिप्राय को प्रकाशित करती है । **जहातु नैनं कथमर्थसिद्धिः संशय्य कर्णादिषु तिष्ठते यः** । (किरात० ३।१४) । यः कर्णादिषु तिष्ठते, जो कर्ण आदियों में 'ये विवाद पद-निर्णेता हैं' ऐसी बुद्धि रखता है । **किमार्यं धनदं यामि किं तिष्ठे परमेष्ठिनि** (अभिनन्दकृत रामचरित २४।१३५) ।

५४८—उद्-पूर्वक स्था से आत्मनेपद होता हे जब चेष्टा (ईहा=यत्न) अर्थ हो—[3]—**मुक्तावुत्तिष्ठन्ते यतयो योगेन साङ्ख्येन वा । इति त्याज्ये भवे भव्यो मुक्तावुत्तिष्ठते जनः** (किरात० ११।२३)। **राजानमुतिष्ठमानमनूत्तिष्ठन्ते**

१. आङः स्थः प्रतिज्ञाने (वा०) ।

२. प्रकाशन-स्थेयाख्ययोश्च (१।३।२३) ।

३. उदोऽनूर्ध्व-कर्मणि (१।३।२४) । उद ईहायामिति वक्तव्यम् (वा०)।

भृत्याः (को०अ०शा०१।१६)। यत्न अर्थ न होने पर आत्मनेपद नहीं होगा—**आसनादुत्तिष्ठति संमुखमागते गुरौ। अस्मात्क्षेत्राच्छतमुत्तिष्ठति। सोऽयमल्पीयानागमः।** इस खेत से सौ रुपया उठता है, यह बहुत थोड़ी आय है।

५४९—उप-पूर्वक स्था से आत्मनेपद होता है जब मन्त्र क्रिया का करण (साधकतम कारक) हो[1]—**ऐन्द्र्या गार्हत्यमुपतिष्ठते**, इन्द्रदेवताक ऋचा से गार्हपत्य अग्नि की स्तुति करता है। मन्त्रकरणक स्तुति अर्थ न होने पर आत्मनेपद नहीं होता—**भर्तारमुपतिष्ठति यौवनेन**, यौवन द्वारा पति को प्राप्त होती है।

५५०—उप-पूर्वक स्था से देवपूजा, संगतिकरण, मित्रकरण (मित्र बनाना), मार्ग को प्राप्त करना—इन अर्थों में आत्मनेपद होता है।[2] **आदित्यमुपतिष्ठते**, सूर्योपस्थान करता है, सूर्य की पूजा करता है। **तत आदित्यमुद्यन्तमुपातिष्ठत माधवः** (भा० उ०९२।६)। देव पूजा अर्थ में आत्मनेपद (और उसके अभाव में परस्मैपद) का उदाहरण देते हुए भगवान् भाष्यकार अतिरोचक दो श्लोक पढ़ते हैं उन्हें यहां देते हैं—

बहूनामप्यचित्तानामेको भवति चित्तवान्।
पश्य वानरसैन्येऽस्मिन्यदर्कमुपतिष्ठते॥
मैवं मंस्थाः सचित्तोऽयमेषोपि हि यथेतरे।
एतदप्यस्य कापेयं यदर्कमुपतिष्ठति॥

बहुत से बोधरहितों में कोई एक बोध-युक्त भी होता है, देख, इस वानर समूह में (एक) आदित्य की पूजा कर रहा है। मत समझ, यह सबोध है, यह भी वैसा ही है जैसे दूसरे (इस के सजाति)। यह तो इस का बन्दरपना है जो सूर्योपस्थान का अनुकरण कर रहा है। संगतिकरण—**अश्वारोहा रथिकानुपतिष्ठन्ते**, घुड़सवार रथिकों (रथस्वामियों) के साथ संग करते हैं। **गङ्गा यमुनामुपतिष्ठते**, गङ्गा यमुना में जा मिलती है। संगति=उपश्लेष=समीपस्थिति। **देवदत्तो यज्ञदत्तमुपतिष्ठते**, देवदत्त यज्ञदत्त को मित्र बनाता है। उपश्लेष न होने पर भी मैत्री होती है। **अयं पन्था नाकोदरमुपतिष्ठते**, यह मार्ग नाकोदर (जालन्धर के समीप एक छोटा नगर) को पहुंचता है।

---

१. उपान्मन्त्रकरणे (१।३।२५)।

२. उपाद् देवपूजा-संगतिकरण-मित्रकरण-पथिष्विति वाच्यम् (वा०)।

५५१—प्राप्ति की इच्छा से पास जाने अर्थ में उपस्था से आत्मनेपद विकल्प से होता है[1]—**भिक्षाका धनिकद्वाराण्युपतिष्ठन्त उपतिष्ठन्तीति वा।**

५५२—उप-स्था जब अकर्मक हो तो इससे आत्मनेपद होता है[2]—**सर्वदिक्स्थान्यस्योपतिष्ठन्ते रत्नानि** (योगभाष्य २।३७)। **यावद्भुक्तमुपतिष्ठते,** जब-जब भोजन का समय होता है तब-तब उपस्थित हो जाता है। 'यावद्भुक्तम्' यह वीप्सा में अव्ययीभाव है—भोजने भोजने=यावद्भुक्तम्। भुक्तम्= भोजनम्। **किमिति ह्यो नोपातिष्ठाः,** तू कल क्यों नहीं आया? सकर्मक होगा तो आत्मनेपद नहीं होगा—**न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः** (शाकुन्तल)। **मूलपुरुषावसाने सम्पदः परमुपतिष्ठन्ति,** वंशकृत् (अनपत्य) के मरने पर सम्पत्ति पर पुरुष को प्राप्त हो जाती है (शाकुन्तल)।

५५३—उद्, वि-पूर्वक तप् से आत्मनेपद होता है जब इस का अकर्मक-तया प्रयोग हो अथवा स्वाङ्ग कर्म हो—**उत्तपते वितपते वा सूर्यो मध्यं नभसो गतः। उत्तपते वा पादौ शीतेन बाधितः पथिकः।** पर **उत्तपति स्वर्णं स्वर्ण-कारः,** यहाँ आत्मनेपद नहीं होता, कारण कि धातु न तो अकर्मक है और न स्वाङ्ग-कर्म्मक है। **नृशंस! कथमुत्तपेत करुणा तव।** उत्तपेत=प्रकाशेत।

५५४—आङ् पूर्वक यम्, तथा हन् से आत्मनेपद होता है जब आ-यम्, आ-हन् या तो अकर्मक हों या स्वाङ्गकर्मक हों[3]—**ग्रीष्म आयच्छन्ते लोहानि,** लोह गरमी की रुत में लम्बे हो जाते हैं। **ये व्यायच्छन्ते ते न मेद्यन्ति,** जो व्यायाम करते हैं वे मोटे नहीं होते। **सङ्कटे शकटेनाहते शकटम्,** तंग रास्ते में एक छकड़ा दूसरे से टकरा जाता है। स्वाङ्गकर्म—**भित्तावाहते शिरः,** अपने सिर को दीवार पर मारता है। **सद्यः सुप्तोत्थितः स्वाङ्गमायच्छते,** अभी सोकर उठा हुआ अकड़ाई ले रहा है। पर **आयच्छति कूपाद् रज्जुम्,** कूएँ से रस्सी को खींचता है। **कः कपाटमाहन्ति,** कौन दर्वाजा खटखटा रहा है?—यहाँ अप्राप्त होने से आत्मनेपद नहीं हुआ। **यत्पशुर्मायुमकृतोरो वा पद्भिरा-हते। अग्निर्मा तस्मादेनसो विश्वान्मुञ्चत्वंहसः॥** (तै० सं० ३।१।४।३)।

---

१. वा लिप्सायाम् (वा०)।
२. अकर्मकाच्च (१।३।२६)।
३. उद्विभ्यां तपः (१।३।२७)। स्वाङ्गकर्मकाच्चेति वक्तव्यम्(वा०)।
४. आङो यम-हनः (१।३।२८)।

५५५—सम्-पूर्वक गम् तथा ऋच्छ् (तुदा०) से आत्मनेपद होता है[1]—**संजग्मिरे पथ्या रायो अस्मिन्** (ऋ० ६।१६।५)। **दारैर्मेधन्ते=सङ्गच्छन्त इति गृहमेधिनो गृहिणः। त्वदुक्तं न सङ्गच्छते।** सकर्मक से आत्मनेपद नहीं होगा—**संगच्छति संवसथम्**, ग्राम को जाता है। **समृच्छन्ते सखायः।** मित्र इकट्ठे होते हैं।

५५६—सम्पूर्वक विद् (अदा० जानना), प्रच्छ्, स्वृ से आत्मनेपद होता है, जब ये अकर्मक हों[2]—**संवित्ते। संविदाते। संविदते** (**संविद्रते**)[3]। रुट् (र्) आगम विकल्प से होता है। टित् होने से यह आगम 'अत' से पूर्व लगता है, 'अत' का पूर्वावयव बन जाता है। **संवित्स्व सौम्य! नाना हि विद्या चाविद्या च। सम्पिपृच्छिषे कुतो भवान्।** मैं पूछना चाहता हूँ आप कहाँ से आये हैं। सम्पिपृच्छिषे=अयं मे सम्प्रश्नः। **वारिता अपि संस्वरन्ते वाचाला विद्यार्थिनः।** संस्वरन्ते=शब्दायन्ते।

५५७—ऋ, श्रु, दृश्—इन सम्पूर्वक अकर्मक धातुओं से भी आत्मनेपद होता है[4]—ऋ से यहाँ भ्वादि, जुहोत्यादि दोनों का ग्रहण इष्ट है। **समारन्त ममाभीष्टाः सङ्कल्पास्त्वय्युपागते** (भट्टि ८।१६)। **सम्शृणुष्व सखे! कथयामि ते रहस्यम्। सम्पश्यस्व, अयमायाति व्याघ्र आघ्रातुमिच्छन्।** यहाँ दिए हुए गम् आदि के उदाहरणों में कर्म की अविवक्षा में अकर्मकता बनती है ऐसा जानें।

५५८—उपसर्ग से परे अस् दिवा० तथा ऊह् से आत्मनेपद विकल्प से होता है।[5] अस् उदात्तेत् है और ऊह् अनुदात्तेत्। पर उपसर्ग के योग से दोनों से विकल्प से आत्मनेपद आता है—**वेदमभ्यस्यति अभ्यस्यते वा। उदस्यति पुच्छं वृष उदस्यते वा,** बैल पूंछ को ऊपर की ओर फेंकता है। **अनुक्तमप्यभ्यूहतेऽभ्यूहति वा पण्डितः।**

---

१. समो गम्यृच्छिभ्याम् (१।३।२६)।

२. विदि-प्रच्छि-स्वरतीनामुपसंख्यानम्। (वा०)।

३. वेत्ते र्विभाषा (७।१।७)। विद् (जानना) से परे झ के 'अत' को रुट् आगम विकल्प से होता है।

४. अर्ति-श्रु-दृशिभ्यश्चेति वक्तव्यम् (वा०)।

५. उपसर्गादस्यत्यूह्योर्वेति वक्तव्यम् (वा०)।

५५९—नि, सम्, उप, वि-पूर्वक ह्वे से आत्मनेपद ही होता है।[1] ञित् होने से परगामी क्रियाफल होने पर परस्मैपद प्राप्त था। **निह्वयते। देवान् संह्वयन्ते देवभक्ताः। मातरमुपह्वयते कष्टश्रितो बालः। विह्वयन्ते लोकाः पुरुहूतमिन्द्रम्,** पुरुहूत (बहुतों से बुलाए हुए) इन्द्र को लोग नाना नामों से पुकारते हैं।

५६०—आङ्पूर्वक ह्वे से स्पर्धा (संघर्ष, पराभिभवेच्छा)-विषयक बुलाने अर्थ में आत्मनेपद होता है[2]—**कृष्णश्चाणूरमाह्वयते,** कृष्ण चाणूर-नामक मल्ल को ललकारता है। **आह्वत चेदिराण् मुरारिम्** (शिशु० २०।१)। ललकारना अर्थ न होगा तो ह्वे से यथाप्राप्त दोनों पद आएँगे—**आह्वयामि वयस्यम् आह्वये वा, तेन विजिहीर्षामीति,** मैं मित्र को बुलाता हूँ, मुझे उसके साथ विहार करने की इच्छा है।

५६१—गन्धन (=हिंसार्थ सूचन), अवक्षेपण (भर्त्सन, अभिभूत करना, दबाना), सेवन, साहसिक्य (साहसवृत्ति का विषय बनाना), प्रतियत्न (गुणान्तराधान, नए गुण का उत्पादन), प्रकथन (कथा करना), उपयोग (विनियोग)—इन अर्थों में कृ से आत्मनेपद ही आता है[3]—**यो ह्यन्यमुत्कुरुते स तस्मिञ्शत्रूयते,** जो किसी के गोप्य अवद्य का आविष्करण करता है, उसकी लोगों को सूचना देता है वह उसके साथ शत्रुता करता है। **श्येनो वर्तिकामुदाकुरुते,** बाज़ बटेर को दबा लेता है। **यो हि महत उपकुरुते स एधते,** जो बड़ों की सेवा करता है वह बढ़ता है। **यः परदारान्प्रकुरुते** (धर्माधर्म का विचार किए बिना परस्त्री के साथ अशिष्टव्यवहार करता है) **स आयुषा हीयते। न हि प्रकर्मणोऽन्यदनायुष्यतरं नाम।** प्रकर्म=परस्त्रीगमन। **एधोदकस्योपस्कुरुते,** ईन्धन जल में नया गुण (उष्णत्व) लाता है। प्रतियत्न अर्थ में उपपूर्वक कृ को सुट् आगम(क् से पूर्व)भी आता है। एध सान्त भी है और अदन्त भी। उदक का पर्याय 'दक' भी है—**जीवनममृतं जीवनीयं दकं च**—हलायुध। **गाथाः प्रकुरुते,** कहानियाँ कहता है। **जनापवादान् प्रकुरुते,** लोक-निन्दा को विस्तार से कहता है। **यो रामायणं प्रकुरुते स साधिष्ठमुपकरो-**

---

१. नि-सम्-उप-विभ्यो ह्वः (१।३।३०)।

२. स्पर्धायामाङः (१।३।३१)।

३. गन्धनाऽवक्षेपण-सेवन-साहसिक्य-प्रतियत्न-प्रकथनोपयोगेषु कृञः (१।३।३२)।

लोकस्य, जो रामायण की कथा कहता है वह लोक का सबसे बड़ा उपकार करता है ।

५६२—अधिपूर्वक कृ से प्रसहन (अभिभव करना, अधिकार पाना) अर्थ में आत्मनेपद होता है[1]—**शत्रुमधिकुरुते,** शत्रु को जीतता है (उससे हारता नहीं) । **भवादृशाश्चेदधिकुर्वते रतिं निराश्रया हन्त हता मनस्विता** (किरात० १।४३) । इस पद्य में अधिपूर्व कृ का स्वीकार अर्थ है । कर्तृगामी क्रियाफल की विवक्षा में ञित् होने से कृ से आत्मनेपद हुआ है ।

५६३—विपूर्वक शब्दकर्मक कृ से आत्मनेपद होता है—**क्रोष्टा विकुरुते स्वरान्** । विकुरुते=उच्चारयति । शब्दकर्मक न होने पर आत्मनेपद का नियम नहीं—**चित्तं विकरोति कामः** ।

५६४—विपूर्व अकर्मक कृ से आत्मनेपद होता है[2]—**ओदनस्य पूर्णाश्छात्रा विकुर्वते,** पेट भरे छात्र व्यर्थ चेष्टा करते हैं । **विकुर्वते सैन्धवाः,** अच्छी तरह सिधाये हुए घोड़े सुन्दर चाल चलते हैं । **वायोरपि विकुर्वाणाद् विरोचिष्णु तमोनुदम् । ज्योतिरुत्पद्यते**... (मनु० १।७७)॥ विकुर्वाणाद्=विकारमापद्यमानात् । **यस्मादुद्विजते लोकः कथं तस्य भवो भवेत् । अन्तरं तस्य दृष्ट्वैव लोको विकुरुते ध्रुवम्** (भा० ३।१०५०) ॥ **रक्षिता यत्नतोऽपीह भर्तृष्वेता विकुर्वते** (मनु० ६।१५) । **यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे** (अथर्व० १२।१।५) । **विचक्रिरे**=युयुधिरे, **विरुद्धं चिचेष्टिरे**=विरोध किया, लड़ाई की । **हीनान्यनुपकर्तृणि प्रवृद्धानि विकुर्वते** (रघु० १७।५८) । हीन असमर्थ (मित्र) उपकार नहीं कर सकते, बढ़े हुए विगाड़ करते हैं । **उभौ विनिश्चयं कृत्वा विकुर्वाते वधैषिणौ**(भा० आ० २१०।१६)। विकुर्वाते=नाना आकार धारण करते हैं ।

५६५—सम्मानन (सम्मान करना), उत्सञ्जन (उत्क्षेपण, ऊपर उठाना), आचार्य-करण (आत्म-सामीप्य द्वारा, अपने समीप लाने से, अपने को आचार्य बनाना), ज्ञान (जानना), भृति (वेतनादि द्वारा अपने पास रखना), विगणन (ऋणादि का चुकाना), व्यय (द्रव्य का खर्च करना)—इन अर्थों में 'नी' से

---

१. अधेः प्रसहने (१।३।३३) ।
२. वेः शब्दकर्मणः (१।३।३४) ।
३. अकर्मकाच्च (१।३।३५) ।

आत्मनेपद ही होता है[1]—**शास्त्रे नयते,** शास्त्रसिद्धान्त को शिष्यों को प्राप्त कराता है, जिससे वे संमानित होते हैं। **माणवकमुदानयते,** लड़के को उछालता है। **दण्डमुन्नयते,** डंडे को उठाता है। **अद्य शरच्चन्द्रमुपनयामहे,** आज शरच्चन्द्र का उपनयन करते हैं (स्वयं आचार्य बनते हुए उसे अपने समीप लाते हैं)। **समिधं सोम्याहर, उप त्वा नेष्ये**(छां० उ० ४।४।५),भद्र समिधा लाओ, मैं तेरा उपनयन करूँगा (जाबाल को हारिद्रुमत गौतम ऋषि का वचन)। वेद में उपसर्ग व्यवहित भी प्रयुक्त होते हैं अतः यहाँ 'त्वा' शब्द का व्यवधान है। **तत्त्वं नयते**=तत्त्व का निश्चय करता है। **कर्मकरानुपनयते,** नौकरों को वेतनादि देकर अपनी सेवा में रखता है। **ऋणं विनयते,** ऋण चुकाता है। **करं विनयते,** टैक्स देता है। **धर्मे शतं विनयते,** सौ (रुपया) धर्मार्थ लगाता है। विनयते= व्यययति, विनियुङ्क्ते।

५६६—नी धातु से कर्तृस्थ कर्म होने पर जो धातु के ञित् होने से आत्मनेपद प्राप्त होता है वह तभी होता है जब वह कर्म शरीर का अङ्ग न हो[2]—**कोपं विनयते।** कोप को दूर करता है। कोप कर्तृस्थ है, पर शरीर का अङ्ग नहीं। **गण्डं विनयति।** गाल को परे हटाता है। यहाँ आत्मनेपद नहीं हुआ। गण्ड (कपोल, गाल) शरीरस्थ अङ्ग है।

५६७—क्रम् से आत्मनेपद होता है जब इसका वृत्ति (अप्रतिबन्धेन प्रवृत्ति, बे रोक-टोक चलना), सर्ग (उत्साह दिखाना, शूरवत् व्यवहार करना), तायन (बढ़ना, विकसित होना) अर्थ हो[3]—**ऋक्ष्वस्य क्रमते बुद्धिः,** ऋचाओं में इसकी बुद्धि बेरोकटोक चलती है। **नहि वाचनिकेर्थे युक्तयः क्रमन्ते। तथा च समानायामप्युत्पत्तौ पुत्र एव पतति न दुहिता।** 'वृत्त' शब्द का अप्रतिहत, अप्रतिबद्ध अर्थ में मनु (१।६) में प्रयोग है—**'वृत्तौजाः प्रादुरासीत् तमोनुदः'।** **धन्योसि यद् व्याकरणाध्ययनाय क्रमसे।** तू धन्य है जो व्याकरण के अध्ययन में उत्साहवान् है। सृज् के क्तान्त रूप सृष्ट का उत्साहवान् अर्थ में प्रयोग मिलता है—**प्रयतः प्रसन्नमनाः सृष्टो भोजयेद् ब्राह्मणान्** (आप० ध० सू०

---

१. सम्माननोत्सञ्जनाऽऽचार्यकरण-ज्ञान-भृति-विगणन- व्ययेषु नियः (१।३।३६)।

२. कर्तृस्थे चाशरीरे कर्मणि (१।३।३७)।

३. वृत्ति-सर्ग-तायनेषु क्रमः (१।३।३८)।

२।१७।४)। रामायण में 'सृष्ट' का अर्थ 'निश्चयवान्' है—**यत्सृष्टासि मया सार्धं वनवासाय मैथिलि** (रा० २।३०।२९)। (सृष्टा=कृतनिश्चया=धृता, धृतमतिः)। रघुवंश में 'सर्ग' शब्द का निश्चय अर्थ में प्रयोग है—**गृहाण शस्त्रं यदि सर्ग एष ते** (३।५१)। तायन अर्थ में—**क्रमन्ते नाम शास्त्राणि प्रतिभावतिच्छात्रे**, प्रतिभाशाली छात्र में निश्चय ही शास्त्र विस्तार को प्राप्त करते हैं।

५६८—वृत्त्यादि अर्थों में उप-परा-पूर्वक क्रम् से आत्मनेपद होता है, उपसर्गान्तर-योग होने पर नहीं होता[1]—**उपक्रमते**=क्रमते। **देवा देवेषु पराक्रमध्वम् प्रथमा द्वितीयेषु पराक्रमध्वम्** (शाङ्खायन ४।१०।१—२)। यहाँ पराक्रम्=उत्साह दिखाना। **गाण्डीवमुक्ता हि यथा पुरा मे पराक्रमन्ते न शराः किराते** (किरात० १६।१८)। पराक्रमन्ते=क्रमन्ते=अप्रतिबन्धेन वर्तन्ते। **महान्महत्स्वेव विक्रामति**, महान् महान् लोगों के प्रति ही शूरता दिखाता है। यहाँ उत्साह अर्थ में उपसर्गान्तर 'वि' होने से आत्मनेपद नहीं हुआ। ऐसे ही—**बलीयसि प्रणमतां काले विक्रमतामपि** (का० नी० ६।५१) यहाँ भी। 'विक्रमताम्' में छन्दोवश उपधा-दीर्घ नहीं किया।

५६९—आङ्पूर्वक क्रम् से ज्योतिः (सूर्यचन्द्रादि) के उद्गमन अर्थ में आत्मनेपद होता है[2]—**आक्रमते सूर्यः। जागृहि। अतिनिद्रं शेषे।** पर **आक्रामति धूमो हर्म्यतलात्**, भवन के ऊपर से धूआँ उठ रहा है। **आक्रामति धूमो हर्म्यतलम्** ऐसा पाठ होने पर आक्रम् का अर्थ उद्गमन-पूर्वक व्याप्ति है। **नभः समाक्रामति चन्द्रमाः**, यहां व्याप्ति ही विवक्षित है, उद्गमन नहीं, अतः आत्मनेपद नहीं हुआ।

५७०—वि-पूर्वक क्रम् से पाद-विहरण (पादविक्षेप=पाओं धरना, चलना) अर्थ में आत्मनेपद होता है[3]—**विक्रमते वाजी**=साधु वल्गति। अन्यत्र **विक्रामति सन्धिः**, जोड़ टूटता है।

५७१—समर्थ=समानार्थक प्र तथा उप से युक्त क्रम् से आत्मनेपद होता है[4]। इन दो उपसर्गों की आरम्भ अर्थ में समानार्थता है। **अध्येतुमुप-**

---

१. उप-पराभ्याम् (१।३।३९)।
२. आङ उद्गमने (१।३।४०)। ज्योतिरुद्गमन इति वक्तव्यम्(वा०)।
३. वेः पादविहरणे (१।३।४१)।
४. प्रोपाभ्यां समर्थाभ्याम् (१।३।४२)।

क्रमते । अध्येतुं प्रक्रमते । पढ़ना प्रारम्भ करता है । **अन्यत्र इतः प्रक्राम** (यहाँ से आगे बढ़ो) । **मामुपक्राम** (मेरे पास आओ) में आत्मनेपद नहीं होता ।

५७२—अनुपसृष्ट (उपसर्ग-योग-रहित) क्रम् से आत्मनेपद विकल्प से होता है[1]—**क्रामति । क्रमते ।** वृत्त्यादि अर्थों में तो उपसर्ग न होने पर भी नित्य आत्मनेपद होता है ।

५७३—ज्ञा का जब अपह्नव (अपलाप, इन्कार) अर्थ हो तब इससे आत्मनेपद आता है[2] । इस अर्थ में अप उपसर्ग द्योतक रूप से लगता है, केवल 'ज्ञा' से इस अर्थ की प्रतीति नहीं होती—**शतं मे धारयसि । यदि न शक्नोषि दातुं मा दाः, अपजानीषे किम्,** तू ने मेरे सौ (रुपए) देने हैं, यदि नहीं दे सकते हो, मत दो, इन्कार क्यों करते हो ? **आत्मानमपजानानः शशमात्रोऽनयद् दिनम्** (भट्टि ८।२६) । यहाँ अप-ज्ञा छिपाने अर्थ में प्रयुक्त हुई है ।

५७४—अकर्मक ज्ञा से भी आत्मनेपद होता है[3] । 'ज्ञानपूर्विका प्रवृत्ति' अर्थ में ज्ञा धातु अकर्मक होती है—**सर्पिषो जानीते,** घृत रूप उपाय से प्रवृत्त होता है । ज्ञोऽविदर्थस्य करणे (२।३।५१) से सर्पिस् से षष्ठी हुई है । **सर्पिरादेर्ये जानते ते न पदं विपत्त्याः,** जो घृतादि होम-साधन से प्रवृत्त होते हैं वे विपत्ति का भाजन नहीं होते ।

५७५—सम्, प्रति-पूर्वक 'ज्ञा' से आत्मनेपद होता है, पर आध्यान (उत्-कण्ठा-पूर्वक स्मरण) अर्थ में नहीं[4]—**शतं संजानीते**=शतमभ्युपैति (वाररुच सङ्ग्रह में नारायण) । शतमवेक्षते (सौ की देखभाल करता है)—दीक्षित । **सञ्जानानान् परिहरन् रावणानुचरान् बहून्** (भट्टि० ८।२७)—यहाँ सं-ज्ञा का अर्थ 'सावधान होना' है । इसी के अनुसार भट्टोजि ने शतं संजानीते का 'शतमवेक्षते' अर्थ किया है । अन्यत्र सम्-ज्ञा का अनुकूलता से बर्तना, एकमति होना अर्थ है—मातरं मात्रा वा संजानीते । वेद में इस अर्थ में बहुत प्रयोग है । आध्यान (उत्कण्ठा-पूर्वक स्मरण) अर्थ में यथाप्राप्त परस्मैपद होगा—**मातुः संजानाति** (=आध्यायति) । मातृ शब्द से कर्म की शेषत्व विवक्षा में षष्ठी हुई है । प्रतिपूर्वक ज्ञा का प्रतिज्ञा करना, स्वीकार करना, मानना अर्थ

---

१. अनुपसर्गाद्वा (१।३।४३) ।
२. अपह्नवे ज्ञः (१।३।४४) ।
३. अकर्मकाच्च (१।३।४५) ।
४. सम्प्रतिभ्यामनाध्याने (१।३।४६) ।

है—**करिष्ये प्रतिजाने च रामो द्विर्नं विभाषते** (रा० २।१८।३०), करूंगा, प्रतिज्ञा करता हूँ, राम दुबारा अपने कथन को बदलता नहीं।

५७६—भासन (चमकना), उपसम्भाषण (उपसान्त्वन, शान्ति के वचन कहना, मनाना), ज्ञान, यत्न, विमति (मतद्वैध), उपमन्त्रण (रहस्युपच्छन्दनम्, एकान्त में फुसलाना)—इन अर्थों में वद् से आत्मनेपद होता है।[1] इनमें उपसम्भाषण और उपमन्त्रण तो धातु का वाच्यार्थ हैं, दूसरे अर्थ धात्वर्थ के उपाधि (विशेषण) हैं—**शास्त्रे वदते सारस्वतसर्वस्वज्ञ आचार्यः**, भासमानो ब्रवीति। **कर्मकरानुपवदते**=उपसान्त्वयति, वचनों द्वारा शान्त करता है, मनाता है। **नहि सर्वः शास्त्रे वदते**, वदितुं जानाति, हर कोई शास्त्र का प्रवचन नहीं जानता। **कूपस्य खानका वदन्ते**, कूआँ खोदने वाले बोल-बोलकर यत्न करते हैं। **अन्यत्र विवदमानान्यपि शास्त्राणि अहिंसा परमो धर्म इत्यत्र संवदन्ति। धर्ममतिचरन्परदारानुपवदते।**

५७७—वद् से आत्मनेपद होता है जब व्यक्तवाक् मनुष्यादिकों का समुच्चारण (एक साथ बोलना) अर्थ हो[2]—**अन्योन्यस्य मतमसहमानाः सम्प्रवदन्ते वैद्याः।** इस अर्थ में नियम से वद् से पूर्व सम्, प्र इन दो उपसर्गों का प्रयोग देखा जाता है। यदि वाणी व्यक्त नहीं, (जिसमें वर्ण पृथक्-पृथक् नहीं सुनते), जैसे पशु-पक्षियों के शब्द में, तो एकसाथ उच्चारण होने पर भी आत्मनेपद नहीं होगा—अरुणकरोदय एष वर्तते वरतनु! **सम्प्रवदन्ति कुक्कुटाः** (जानकी० क्षेमेन्द्र के अनुसार)।

५७८—अनुपूर्वक व्यक्तवाक्—विषयक अकर्मक वद् से आत्मनेपद होता है[3]—**अनुवदते कठः कालापस्य**, कठशाखा का प्रवक्ता कलाप शाखा के प्रवक्ता का अनुकरण करते हुए उच्चारण करता है। **अधुनैवान्ववदिष्ट मे चेतस्त्वोक्तस्य**, अभी-अभी मेरा मन तुझसे कही हुई बात को ही कह रहा था।

५७९—विप्रलाप (विरोधोक्ति, एक दूसरे के विरुद्ध कथन करना) अर्थ में व्यक्त वाक् वालों के समुच्चारण में वद् से विकल्प से आत्मनेपद होता है[4] **विप्रवदन्ति विप्रवदन्ते वा नैयायिका वैयाकरणाश्च।**

---

१. भासनोपसंभाषा-ज्ञान-यत्न-विमत्युपमन्त्रणेषु वदः (१।४।४७)।
२. व्यक्तवाचां समुच्चारणे (१।३।४८)।
३. अनोरकर्म्मकात् (१।३।४९)।
४. विभाषा विप्रलापे (१।३।५०)।

५८०—अव-पूर्वक गॄ (निगलना) से आत्मनेपद होता है[1]—**अवगिरते ग्रासम्।** इस सूत्र में गॄ तुदादि लिया जाता है। गॄ क्र्यादि का तो अव-पूर्वक प्रयोग नहीं होता, ऐसा भाष्यकार का वचन है।

५८१—सम्पूर्वक गॄ से प्रतिज्ञा अर्थ में आत्मनेपद होता है[2]—**शब्दं नित्यं संगिरन्ते वैयाकरणाः,** वैयाकरणों की प्रतिज्ञा है कि शब्द नित्य है। वेद में क्र्यादि गॄ (श्ना-विकरणक) का भी प्रतिज्ञा अर्थ में प्रयोग मिलता है—**न रेवता पणिना सख्यमिन्द्रोऽसुन्वता सुतपाः संगृणीते** (ऋ० ४।२५।७)। भाष्यकार अवपूर्वक गॄ (क्र्यादि) के प्रयोग का अभाव कहते हैं, सम्पूर्वक का नहीं। अतः वेद का प्रयोग लोक में भी मान्य है। हमारा विचार है कि समः प्रतिज्ञाने सूत्र में गॄ शब्दे क्र्यादि का ही ग्रहण होना चाहिए अर्थ सामर्थ्य से। प्रतिज्ञा अर्थ की संगति इस धातु के ग्रहण से ही बैठती है। यास्काचार्य भी स्पष्ट रूप से प्रतिज्ञा अर्थ में सम्पूर्वक गॄ क्र्यादि का ही प्रयोग मानते हैं। 'गर्त' की निरुक्ति बताते हुए वे कहते हैं—**गर्तः सभास्थाणुर्गृणातेः। सत्य सङ्गरो भवति** (निरुक्त ३।५।१)। किं च। अन्यत्र भी धातुओं के अनेकार्थत्व का अनाश्रयण करते हुए यास्काचार्य गॄ तुदा० तथा गॄ क्र्यादि० को प्रतिनियत-विषय मानते हैं। तथा हि ग्रीवा शब्द की निरुक्ति में दोनों का पृथक्तया आश्रयण करते हैं—**ग्रीवा गिरतेर्वा गृणातेर्वा** (निरु० २।२८।१)।

५८२—उद्-पूर्वक सकर्मक चर् से आत्मनेपद होता है—**ये धर्ममुच्चरन्ते तेऽवगीयन्ते,** जो धर्म का उल्लङ्घन करते हैं वे निन्दा को प्राप्त करते है। अकर्मक होने पर उद्पूर्वक चर् से आत्मनेपद नहीं होगा, यथाप्राप्त परस्मैपद होगा—**बाष्पमुच्चरति,** भाप ऊपर उठती है। **नोच्चरन्तमादित्यमीक्षेत,** उदय होते हुए सूर्य को न देखे। **तिरस्कृत्योच्चरेत्काष्ठलोष्टपत्रतृणादिना** (मनु० ४।४९)। तिरस्कृत्य=ढांप करके। उच्चरेत्=उत्सृजेत्=मलं त्यजेत्।

५८३—तृतीयान्त के साथ प्रयुक्त तथा सम् उपसर्ग से युक्त चर् से आत्मनेपद होता है—[3]**क्वचित्पथा संचरते सुराणाम्** (रघु० १३।१९)। कहीं देवमार्ग से (विमान) जा रहा है। **संचरतेऽनेनेति सञ्चरो मार्गः।** तृतीयान्त

---

१. अवाद्ग्रः (१।३।५१)।

२. समः प्रतिज्ञाने (१।३।५२)।

३. उदश्चरः सकर्मकात् (१।३।५३)।

४. समस्तृतीया-युक्तात् (१।३।५४)।

का साथ प्रयोग न होने पर आत्मनेपद नहीं होता—**उभौ लोकौ सञ्चरसि इमं चामुं च देवल** (भाष्य)।

५८४—दाण् (देना) जब सम् उपसर्ग से युक्त हो और चतुर्थी के अर्थ में जो तृतीया, उस से भी युक्त हो तो उससे आत्मनेपद होता है।[1] अशिष्ट व्यवहार में चतुर्थी के अर्थ में तृतीया होती है ऐसा वार्तिककार कहते हैं—**दास्या सम्प्रयच्छते कामुकः**। पूर्व सूत्र से 'समः' षष्ठ्यन्त है, पञ्चम्यन्त नहीं। अतः सम् उपसर्गान्तर से व्यवहित भी हो सकता हैं, जैसा कि दिये हुए उदाहरण में स्पष्ट है। देने अर्थ में प्रायः 'प्र' अथवा 'सम्प्र' पूर्वक दाण् का प्रयोग होता है, केवल का नहीं।

५८५—उप-पूर्वक यम् से पाणिग्रहण पूर्वक स्वीकरण अर्थ में आत्मनेपद होता है[3]—**रामः सीतामुपयेमे**, राम ने सीता से विवाह किया। **देवदत्तो भार्यामुपयच्छते**। पर **परभार्यामुपयच्छति**, दूसरे की स्त्री को दासी-रूप से ग्रहण करता है, यहाँ आत्मनेपद नहीं होता। भट्टि तो स्वीकार मात्र अर्थ में आत्मनेपद समझता है, उसका ऐसा करना वृत्ति के विरुद्ध है—**उपायंस्त महास्त्राणि**, बड़े अस्त्रों का ग्रहण किया (१५।२१)।

५८६—सन्नन्त ज्ञा, श्रु, स्मृ, दृश् से आत्मनेपद होता है[4]—**धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः** (मनु० १।१३)। **शुश्रूषस्व गुरून् कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने** (शाकुन्तल ४।१८)। **चिरातीतमपि प्रियं सुस्मूर्षते जनः**। **सर्वः स्वाकृतिं दिदृक्षते**।

५८७—अनु-पूर्वक सन्नन्त ज्ञा से आत्मनेपद नहीं होता। **प्रवासो हित इति जानन्नपि जनकः स्नेहेन परवान् सुतं नानुजिज्ञासति**, यह जानता हुआ भी कि विदेश जाना हितकर है, पिता स्नेहवश पुत्र को अनुज्ञा देना नहीं चाहता। यह प्रतिषेध अनन्तर (पूर्व) सूत्र का है। अनन्तरस्य विधि र्वा भवति प्रतिषेधो वा ऐसी परिभाषा है। वक्ष्यमाण व्यवहित सूत्र 'पूर्ववत्सनः' (१।३।६२) का नहीं। अकर्मक अनु-पूर्वक सन्नन्त ज्ञा से तो 'पूर्ववत्सनः' से आत्मनेपद

---

१. दाणश्चतुर्थ्यर्थे (१।३।५५)।

२. उपाद्यमः स्वकरणे (१।३।५६)।

३. ज्ञा-श्रु-स्मृ-दृशां सनः (१।३।५७)।

४. नानोर्ज्ञः (१।३।५८)।

निर्बाध होगा—**सर्पिषोऽनुजिज्ञासते**=सर्पिषोपायेन प्रवर्तितुमिच्छति । यह हम ने दीक्षित के अनुसार लिखा है । हमारी इसमें श्रद्धा नहीं । केवल ज्ञा तो ज्ञानपूर्वक प्रवृत्ति अर्थ में प्रयुक्त होता है और अकर्मक है । अनुपूर्वक ज्ञा सर्वत्र सकर्मक है । वैसे भी प्रवृत्ति अर्थ में अनु व्यर्थ रहता है । 'कश्चित्तमनुवर्तते' इस वचन के अनुसार अनुपूर्वक ज्ञा भी 'ज्ञा' के अर्थ को कहता है, ऐसी कल्पना युक्त नहीं; कारण कि 'अनु ज्ञा' अनुमति देने अर्थ में रूढ है ।

५८८—प्रति-आङ् पूर्वक सन्नन्त श्रु से आत्मनेपद नहीं होता है ।[1] प्रतिपूर्व तथा आङ् पूर्व श्रु का प्रतिज्ञा करना (किसी को कुछ देने का वचन देना, अथवा उसके लिय कुछ करने का वचन देना) अर्थ है । **विप्राय गां प्रतिशुश्रूषति । दयार्द्रचेता धनिको दरिद्राय धनदानमाशुश्रूषति ।**

५८९—सन् प्रत्यय से पूर्व जो धातु जिस निमित्त से आत्मनेपदी है, उसी निमित्त से उसके सन्नन्त रूप से भी आत्मनेपद होता है ।[2] अनुदात्तेत् ङित् धातु से आत्मनेपद होता है, सन्नन्त से भी उसी निमित्त से आत्मनेपद होगा—**आस्ते** । **शेते** । सन्नन्त से—**आसिसिषते** । **शिशयिषते** । निपूर्वक विश् से आत्मनेपद होता है, सन्नन्त से भी नि उपसर्ग के निमित्त से आत्मनेपद होगा—**निविशते** । **निविविक्षते** । आङ् पूर्वक क्रम् से उद्गमन अर्थ में आत्मनेपद होता है, इसी निमित्त से सन्नन्त से भी होगा—**आक्रमते सूर्यः** । **आचिक्रंसते सूर्यः** । प्र—युज् से आत्मनेपद होता है—**प्रयुङ्क्ते** । सन्नन्त से भी—**प्रयुयुक्षते** । पर **शिशत्सति** । **मुमूर्षति** । यहाँ शद् और मृ के सन्नन्त से आत्मनेपद नहीं हुआ, कारण कि आत्मनेपद का निमित्त केवल शद् और मृ नहीं हैं अपितु शित् प्रत्यय भी, और वह यहाँ है नहीं । अनु, परापूर्वक कृ से (जैसा परस्मैपद प्रक्रिया में कहेंगे) परस्मैपद ही होता है, ञित् होने से कर्तृगामी क्रियाफल की विवक्षा में जो आत्मनेपद प्राप्त था उस का निषेध कर दिया है, अर्थात् अनु-परा-पूर्वक कृ में आत्मनेपद का निमित्त नहीं है, तो सन्नन्त होने पर भी यह कृ आत्मनेपद का निमित्त नहीं रहा, अतः सन्नन्त से परस्मैपद ही होगा—**योऽधमाननुचिकीर्षति स पित्सति**, जो नीचों का अनुकरण करना चाहता है वह गिरना चाहता है । **निस्तेजा मा स्म**

---

१. प्रत्याङ्भ्यां श्रुवः (१।३।५९) ।

२. पूर्ववत्सनः (१।३।६२) ।

भूवमिति पराचिकीर्षति राज्ञः प्रतिग्रहं विप्रः, मैं निस्तेज न होऊँ इसलिये ब्राह्मण राजा के दान को ठुकराना चाहता है।

५६०—प्र-उप-पूर्वक युज् से आत्मनेपद होता है जब यज्ञ-पात्र-विषयक प्रयोग न हो[1]—**आशिषं प्रयुयुजे न वाहिनीम्** (रघु० ११।६)। **गृहस्थधर्मान्प्र-युञ्जान इमानि व्रतान्यनुकर्षेत्** (गौ० ध० १।६।१)। **यत्किं च समाहितो ब्रह्म प्याचार्यादुपयुङ्क्ते** (उपयुङ्क्ते=नियमपूर्वमादत्ते)। (आप० ध० १।२।५।७)। इस सूत्र में ब्रह्म प्याचार्यात्—यहाँ कर्कन्धु की तरह पररूप एकादेश हुआ है। पर यज्ञपात्र-विषयक प्रयोग में आत्मनेपद नहीं होता—**द्वन्द्वं न्यञ्चि पात्राणि प्रयुनक्ति**, यज्ञ पात्रों को दो-दो करके औंधे मुंह रखता है।

५६१—वार्तिककार का कहना है कि न केवल प्र-उप-पूर्वक युज से आत्मनेपद होता है अपितु जो भी कोई उपसर्ग स्वरादि अथवा स्वरान्त हो उसके योग से युज् से आत्मनेपद होता है।[2] **सर्वः स्वार्थं उद्युङ्क्ते, विरलस्तु परार्थे। भवन्तमभियोक्तुम् उद्युङ्क्ते** (दशकु०)। **असाधुदर्शी तत्र भवान् काश्यपः, य इमामाश्रमधर्मे नियुङ्क्ते** (शाकुन्तल)। पर **यं देवा रक्षितुमिच्छन्ति बुद्ध्या संयुञ्जन्ति तम्।** यहाँ सम् उपसर्ग न स्वरादि है और न स्वरान्त है, अतः आत्मनेपद नहीं हुआ। इसी प्रकार '**स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु**' (श्वेताश्व० उ० ३।४), यहाँ भी।

५६२—सम्-पूर्वक क्ष्णु (तेज करना) से आत्मनेपद होता है[3]—**संक्ष्णुते शस्त्रम्।**

५६३—भुज् धातु अवन (पालन, रक्षण) अर्थ को छोड़कर अर्थान्तर में प्रयुक्त हुई आत्मनेपदी होती है[4]—**यो हि भुक्तवन्तं ब्रूयान्मा भुक्थाः किं तेन कृतं स्यात्** (भाष्य), जो भोजन किये हुए पुरुष को कहे मत खा, उसने क्या किया? मा भुक्थाः, माङ् उपपद होने पर भुज् का लुङ् म० पु० ए० है। **वृद्धो जनो दुःखशतानि भुङ्क्ते। कृतसीतापरित्यागः स रत्नाकरमेखलाम्। बुभुजे पृथिवीपालः पृथिवीमेव केवलाम्** (रघु० १५।१)। पालन अर्थ में तो

१. प्रोपाभ्यां युजेरयज्ञपात्रेषु (१।३।६४)।
२. स्वराद्यन्तोपसर्गादिति वाच्यम् (वा०)।
३. समः क्ष्णुवः (१।३।६५)।
४. भुजोऽनवने (१।३।६६)।

यथाप्राप्त परस्मैपद होता है—**अध्यापिता ये गुरून्नाद्रियन्ते विप्रा वाचा मनसा कर्मणा वा। यथैव ते न गुरोर्भोजनीयास्तथैव तान्न भुनक्ति श्रुतं तत्** ॥ (निरुक्त २।४।३)।

५६४—अण्यन्तावस्था का कर्म यदि ण्यन्तावस्था का कर्ता बन जाय (और दूसरा कोई कर्म हो नहीं) तो ण्यन्त से आत्मनेपद होता है, पर आध्यान=उत्कण्ठापूर्वक स्मरण अर्थ में ऐसा नहीं होता।[1] **आरोहन्ति हस्तिनं हस्तिपकाः**, महावत हाथी पर चढ़ते हैं। आरोहन्ति=न्यग्भावयन्ति। **आरोहयते हस्ती स्वयमेव** (आरोहयते=न्यग्भवति)। कर्मस्थक्रियक धातुओं को कर्मवद्भाव होता है। अथवा कर्मस्थभावकों को, अतः रुह् जो कर्तृस्थ-क्रियक है उससे प्राप्त नहीं था, सो यहाँ विधान किया है। इसी प्रकार **पश्यन्ति भृत्या राजानम्। दर्शयते राजा स्वयमेव** (दर्शनविषयो भवति)। दृश् कर्तृस्थ-भावक है, अतः कर्मवद्भाव न होने से आत्मनेपद प्राप्त न था। आध्यान अर्थ में आत्मनेपद नहीं होता— **स्मरति वनगुल्मस्य कोकिलः। स्मरयति वनगुल्मः स्वयमेव** =उत्कण्ठापूर्वकस्मृतेर्विषयो भवति। कर्मान्तर होने पर ण्यन्त से आत्मनेपद का नियम नहीं होगा—**आरोहन्ति हस्तिनं हस्तिपकाः। आरोहयमाणो हस्ती स्थलमारोहयति मनुष्यान्**—यहाँ आत्मनेपद नहीं हुआ। 'णिचश्च' से ण्यन्त से कर्तृगामी क्रियाफल की विवक्षा में आत्मनेपद सिद्ध है, अकर्तृ-गामित्व में भी आत्मनेपद हो, एतदर्थ यह विधान है।

५६५—ण्यन्त गृध्, वञ्च् से प्रलम्भन (धोखा देना) अर्थ में आत्मनेपद ही होता है[2]—**माणवकं गर्धयते** (=विप्रलभते=ठगता है)। **धूर्ताः पथिकमर्थाद् वञ्चयन्ते**, धूर्त यात्री को धोखा देकर धन से वञ्चित करते हैं। अर्थान्तर में यथाप्राप्त परस्मैपद भी होगा—**श्वानं गर्धयति**, भोज्यान्नदर्शनेन, कुत्ते में भोज्य अन्न दिखाकर इच्छा उत्पन्न करता है। **दुर्जनः स्वाद्वन्नदर्शनेन गर्धयति शिशून्, जातगर्धांश्चापहरति। पथ्युपस्थितमर्हिं वञ्चयति धीरः।** वञ्चयति=लङ्घयति, फाँद जाता है।

५६६—मिथ्या शब्द उपपद (उपोच्चारित पद) होने पर ण्यन्त कृ से 'असकृत् उच्चारण करना' अर्थ में आत्मनेपद होता है[3]—**पदानि मिथ्या कारयते,**

---

१. णेरणौ यत्कर्म स चेत्कर्ता ऽनाध्याने (१।३।६७)।

२. गृधि-वञ्च्योः प्रलम्भने (१।३।६९)।

३. मिथ्योपपदात्कृञोऽभ्यासे (१।३।७१)।

स्वर विषयक दोष-युक्त पदों का बार-बार उच्चारण करता है। अर्थात् उदात्त आदि के स्थान में अनुदात्त आदि का उच्चारण करता है।

५६७—अप-पूर्व वद् से क्रियाफल के कर्तृगामी होने पर आत्मनेपद होता है[1]—**धनकामो न्यायमपवदते,** न्यायापवादेन धनमर्जयिष्यामीति मन्यते, धनार्थी पुरुष न्याय का अपवाद (निराकरण) करता है, न्याय का निराकरण करने से धन कमाऊँगा ऐसा मानता है। क्रियाफल के परगामी होने की विवक्षा में अपपूर्व वद् से आत्मनेपद नहीं होगा—**असत्ये प्रतिनिविष्टो वा पक्षपातसंसृष्टो वा ऽक्षदर्शको न्यायमपवदति।** अक्षदर्शकः=आधिकरणिकः= न्यायाधीश।

५६८—सम्, उद्, आङ्-पूर्वक यम् से क्रियाफल के कर्तृगामी होने पर आत्मनेपद होता है जब ग्रन्थ-कर्मक प्रयोग न हो[2]। इस से पूर्व आङ्पूर्वक यम्, हन् से जब वे अकर्मक हों अथवा स्वाङ्ग-कर्मक हों, आत्मनेपद विधान किया जा चुका है। इस सूत्र का भिन्न विषय है, अतः यह इस अंश में भी उससे गतार्थ नहीं। **व्रीहीन् संयच्छते क्षेत्रिकः,** खेती का स्वामी धान इकट्ठा करता है। **संयच्छते पर्याकुलान् मूर्धजान्वामा,** सुन्दरी अपने बिखरे हुए बालों को बाँधती है। **भारमुद्यच्छते कर्मकरो वृत्तिं सम्पादयिष्यामीति,** मजदूर भार उठाता है इसलिये कि मैं अपनी जीविका बनाऊँगा। **उल्लोचमायच्छते,** चँदोए को फैलाता है। पर **वेदमुद्यच्छति,** वेद विषय में उद्यम करता है, यहाँ ग्रन्थ कर्म होने से आत्मनेपद नहीं हुआ।

५६९—अनुपसर्ग (अनुपसृष्ट, उपसर्गयोग-रहित) (सकर्मक) ज्ञा से कर्त्रभिप्राय क्रियाफल में आत्मनेपद होता हैं, अन्यथा यथाप्राप्त परस्मैपद—**गां जानीते,** अपनी गौ को पहचानता है। **दोषान् परकीयाञ्जानातीति दोषज्ञः।** उपसर्ग योग होने पर यह विधि नहीं होगी—**पन्थानं प्रजानातीति पथिप्रज्ञः,** यहाँ क्रियाफल के कर्तृगामी होने पर भी उपसर्ग-योग के कारण आत्मनेपद नहीं हुआ। **स्वर्गं लोकं न प्रजानाति मूढः।** (उपनिषद्)। भट्टि ने **इत्थं नृपः पूर्वमवालुलोचे ततोऽनुजज्ञे गमनं सुतस्य** (१।२३) यहां 'अनुजज्ञे' में आत्मनेपद कैसे कर दिया। स्थितस्य गतिः समर्थनीया, ऐसा प्रयोग किया है, इसका ज्यों त्यों समाधान करना है इसलिये कहते हैं—यहाँ

---

१. अपाद्वदः (१।३।७३)।

२. समुदाङ्भ्यो यमोऽग्रन्थे (१।३।७५)।

३. अनुपसर्गाज्ज्ञः (१।३।७६)।

कर्मणि लिट् मानकर नृपः के स्थान में 'नृपेण' ऐसा विपरिणाम करके साधुत्व बनायेंगे । प्रक्रमभङ्ग तो होगा । वस्तुतः भट्टि का यह स्खलन है ।

६००—स्वरित ञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले(१।३।७२)से लेकर अनुपसर्गाज्ज्ञः (१।३।७६) तक के पांच सूत्रों से जो क्रियाफल के कर्तृगामी होने पर आत्मनेपद विधान किया है वह उपपद से कर्तृगामित्व के प्रतीत होने पर विकल्प से होता है।[1]—**स्वं यज्ञं यजति यजते वा । स्वं कटं करोति कुरुते वा । स्वं पुत्रमपवदति अपवदते वा । स्वं यज्ञं कारयति कारयते वा । स्वान्व्रीहीन्संयच्छति संयच्छते वा । स्वां गां जानाति जानीते वा ।**

इत्यात्मनेपद प्रक्रिया परिसमाप्ता ।

---

१. विभाषोपपदेन प्रतीयमाने (१।३।७७) ।

परस्मैपद प्रक्रिया

गत प्रकरण से आत्मनेपद का नियम किया है, परस्मैपद का नहीं किया। परस्मैपद धातुमात्र से प्राप्त होता है, अतः उसके विषय में कहा जाता है।

६०१—**शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्** (१।३।७८)। जिस धातु से जिस विशेषण को निमित्त मानकर आत्मनेपद का नियम किया है, उससे अन्य विशेषण 'शेष' शब्द का अर्थ है। शेष से कर्ता के लकार-वाच्य होने पर परस्मैपद होता है, अन्य से नहीं। अनुदात्तेत् तथा ङित् धातु से आत्मनेपद का नियम किया है। **आस्ते**। **शेते**। उससे अन्यत्र परस्मैपद होता है—**याति**। **वाति**। निपूर्वक विश् से आत्मनेपद का विधान किया है—**निविशते**। अन्यत्र परस्मैपद होगा—**प्रविशति**। **आविशति**। **संविशति** (सोता है, लेटता है)। **उपविशति**। (बैठता है)। कर्ता में परस्मैपद विधान किया जा रहा है। कर्म के वाच्य होने पर तो यथाप्राप्त आत्मनेपद होगा—**पच्यते ओदनः**।

६०२—अनु-परा-पूर्वक कृ से क्रियाफल के कर्तृगामी होने पर परस्मैपद होता है लकार के कर्तृवाचक होने पर[1]—**सतोऽनुकुर्यान्नासतः**। **हितमप्युपदेशं पराकरोत्यधन्यः**। पराकरोति=निराकरोति, स्वीकार नहीं करता।

६०३—अभि-प्रति-अति-पूर्व क्षिप् (स्वरितेत्) से परस्मैपद ही होता है[2]—**कशामभिक्षिपति तुरङ्गे**, घोड़े पर चाबुक लगाता है। **अभिक्षिपन्तमैक्षिष्ट रावणं पर्वतश्रियम्** (भट्टि० ८।५१)। अभिक्षिपन्तम्=अभिभवन्तम्=अतिशयानम्। **स्वं मतं व्याकृत्य परमतं प्रतिक्षिपति** (=निरस्यति, खण्डयति)। **एकेनैव यत्नेनातिक्षिपति पारेनदि कन्दुकम्**। अतिक्षिपति=दूर फेंकता है।

---

१. अनुपराभ्यां कृञः (१।३।७९)।

२. अभि-प्रत्यतिभ्यः क्षिपः (१।३।८०)।

६०४—प्र-पूर्वक वह् (स्वरितेत्) से परस्मैपद ही होता है[1]—**कुसरिदियं या वर्षासु प्रवहति ग्रीष्मे च शुष्यति।**

६०५—परिपूर्वक मृष् (दिवादि स्वरितेत्) से परस्मैपद ही होता है[2]—**परिमृष्यति देवदत्ताय** (क्रुध्यति ईर्ष्यति वा)। कुछ लोग पूर्व सूत्र से वह् की अनुवृत्ति मानते हैं—**अहो रागेण परिवहति गीतिः।**

६०६—वि, आङ्-परि-पूर्वक रम् (अनुदात्तेत्) से परस्मैपद ही आता है[3]—**प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः** (भर्तृहरि)। **आरमन्त्यत्रेत्यारामः,** उपवन को 'आराम' कहते हैं क्योंकि इसमें लोग रमण करते हैं। **विरामोऽस्त्विति चारमेत्** (मनु० २।५३)। विराम हो ऐसा कहने पर ठहर जाय। **योगात् स चान्तः परमात्मसंज्ञं दृष्ट्वा परं ज्योतिरुपारराम** (कुमार० ३।५८)। उपारराम=विरराम। यहाँ रम् आङ् पूर्वक है, अतः सूत्र की प्रवृत्ति का विषय है। उप अधिक उपसर्ग है। वह परस्मैपद का बाधक नहीं हो सकता। परिरम्—**अनध्याय इति परिरमन्ति च्छात्राः क्रीडास्थलीषु।**

६०७—उप-पूर्वक रम् (जब सकर्मक हो) से परस्मैपद होता है[4]—**उपरमति पिता पुत्रं द्यूतव्यासङ्गात्।** उपरमति=उपरमयति। अन्तर्भावित-ण्यर्थ (णिजर्थ=प्रेरणा को अन्तर्भावित करके) प्रयोग है।

६०८—उप-पूर्वक रम् जब अकर्मक हो तब इससे परस्मैपद विकल्प से आता है[5]—**नाद्याप्युपरमति वाक्कलहो वणिजाम्। संगतादुपरराम च लज्जा** (किरात० ६।४४)। परस्मैपद के अभाव में आत्मनेपद होगा—**यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया** (गीता ६।२०)। उपरमते= अवस्थित हो जाता है, ठहर जाता है। **स्थिरकर्मा नाऽसमाप्य कर्मोपरमते** (कौट० अ० शा० ७।८।११४)।

६०९—ण्यन्त बुध्, युध्, नश्, जन्, इङ्, प्रु, द्रु, स्रु से परस्मैपद होता है[6]। कर्तृगामी फल की विवक्षा में आत्मनेपद प्राप्त था—**बोधयति सर-**

---

१. प्राद्वहः (१।३।८१)।
२. परेर्मृषः (१।३।८२)।
३. व्याङ्परिभ्यो रमः (१।३।८३)।
४. उपाच्च (१।३।८४)।
५. विभाषाऽकर्मकात् (१।३।८५)।
६. बुध-युध-नश-जनेङ्-प्रु-द्रु-स्रुभ्यो णेः (१।३।८६)।

सिजानि दिवसकरः । वेदार्थं बोधयति विनेयम्, शिष्य को वेदार्थ समझाता है। **रामो रावणं योधयति । काष्ठानि योधयति विचेष्टमानो बालः,** बालक व्यर्थ चेष्टा करता हुआ लकड़ियों को एक-दूसरे से टकराता है। **शास्त्रशीलनं नाशयत्यज्ञानम् । तं भुवनत्रयतिलकं जनयति जननी सुतं विरलम्** (हितोप०)। **अध्यापयामास पितृन् शिशुराङ्गिरसः कविः** (मनु० २।१५१)। **आचार्यो ब्रह्मचारिणं षडङ्गं वेदमध्यापयति । कटे प्रावयति कीटं तृणेन,** चटाई पर कीड़े को तृण से सरकाता है। **द्रावयति संशीनं घृतं पावकेन,** जमे हुए घी को अग्नि से पिघलाता है। **विद्रावयति देशद्रुहः प्रजेशः,** राजा देशद्रोहियों को भगाता है। **कुण्डिकां स्रावयति,** कूंडी में पड़े हुए जलादि को बहाता है।

६१०—निगरण (निगलना, खाना, पीना) अर्थ वाली तथा चलना अर्थ वाली ण्यन्त धातुओं से परस्मैपद ही होता है[1]—**गुडजिह्विकया निगारयति कटुकमौषधं कुमारम् । विप्रानाशयति** (भोजयति, अभ्यवहारयति) **श्राद्धं गृही । चलयति** (कम्पयति) **वृक्षशाखाः कपिः ।** चलनार्थ से अन्यत्र चल् (ण्यन्त) से यथाप्राप्त आत्मनेपद भी होगा—**चित्तं चालयति चालयते वा कामः ।** चालयति (चालयते)=विकरोति।

६११—जो धातु अण्यन्तावस्था में अकर्मक है तथा चेतन-कर्तृक है, उससे ण्यन्तावस्था में परस्मैपद ही होता है[2]—**शिशुं बोधयत्यम्बा,** बच्चे को माता जगाती है। शिशुर्बुध्यते (=जागर्ति), तमम्बा बुध्यमानं प्रयुङ्क्ते (=प्रेरयति) इति बोधयति। **शिशुं शाययति प्रसूः,** माता बच्चे को सुलाती है। शिशुः शेते तं शयानं प्रेरयति प्रसूरित्यर्थः।

६१२—पा (पीना), दम्, आयम्, आयस्, परिमुह्, रुच्, नृत्, वद्, वस्—इन ण्यन्त धातुओं से परस्मैपद का नियम नहीं।[3] पा निगरणार्थक है। नृत् अकर्मक भी है और चलनार्थक भी है, शेष सभी चित्तवत्कर्तृक तथा अकर्मक हैं। अतः पूर्व दो सूत्रों से परस्मैपद-नियम प्राप्त था—**पिबत्यसौ पाययते च सिन्धूः** (रघु० १३।९)। धेट् चूसना के विषय में भी परस्मैपद का नियम नहीं, ऐसा वार्तिककार कहते हैं[4]—**स्तनन्धयं धापयतेऽम्बा । धापयेते शिशुमेकं समीची** (ऋ० १।९६।५)। इस परस्मैपद-नियम-निषेध से ज्ञापित

१. निगरण-चलनार्थेभ्यश्च (१।३।८७)।
२. अणावकर्मकाच्चित्तवत्कर्तृकात् (१।३।८८)।
३. न पा-दम्याङ्यमाङ् यस-परिमुह-रुचि-नृति-वद-वसः (१।३।८९)।
४. पादिषु धेट उपसंख्यानम् (वा०)।

होता है कि दम्(दिवा०)अकर्मक भी है। **दमयते वत्सम्**। क्रिया के कर्तृगामी न होने पर परस्मैपद भी होगा—**दमयन्ती कमनीयतामदम्** (नैषध)। **मेदस्वी मा स्म भूवमिति व्यायच्छते**। णिचि—**व्यायामयते स्वाङ्गम्**। **परीक्षां साधीय उत्तरेयमित्यायस्यतितराम्**। णिचि—**आयासयतेतरां शरीरम्**। **नवतन्त्रो यत्र तत्र परिमुह्यति भिषक्**, नौसिखिया वैद्य जहाँ-तहाँ मूढभाव को प्राप्त होता है। णिचि—**परिमोहयते आत्मानम्**। **अहरहः स्वाध्यायमधीयानो देवदत्तो मेऽभिरोचते**, प्रतिदिन वेद पढ़ता हुआ देवदत्त मुझे अच्छा लगता है।······**देवदत्तमभिरोचये**। **नृत्यति मयूरः**। **नर्तयते मयूरं मेघः**। **वदति शुकः पञ्जरस्थः**। **वादयते शुकं पञ्जरस्थं दारिका**। **कुट्यां वसति भिक्षुः**। णिचि—**कुट्यां वासयते भिक्षुं शासिता प्रजानाम्**। इन सब उदाहरणों में पूर्वसूत्रद्वय से प्राप्त परस्मैपद-नियम का निषेध किया है, अकर्त्रभिप्राय क्रियाफल की विवक्षा में शेषात्कर्तरि परस्मैपदम् (१।३।७८) से परस्मैपद निर्बाध होगा।

इति परस्मैपद प्रक्रिया समाप्ता।

उपग्रहे स्खलितानि

अब आत्मनेपद परस्मैपद-विषयक बोध की परिपूर्णता के लिए हम यहाँ शास्त्र के सुगृहीत न होने से संभाव्य स्खलनों का वाक्यों द्वारा अनुक्रमण करते हैं और चाहते हैं कि छात्र इन्हें पहचानें और अपने प्रयोगों में इनका परिहार करें।

१. किमित्यज्ञवदनुकुरुषे परेषाम्। सदसती विविच्य प्रवर्तस्व।
२. देवदत्तो विशिखातो विशिखां विपणीतश्च विपणीं संचरते।
३. वसुमित्रोऽनवग्रहं ब्रूते न च विरमते। अप्रसक्तं च बहु भाषते।
४. एहि, आरामेऽत्रारमामहे।
५. अयमाक्रीडः। अत्राक्रीडन्ति च्छात्रा विहरन्ति च लोका अहर्मुखे।
६. किं विस्मृतोसि यदेभिः समक्रीडः पांसुषु शैशवे।
७. यो ह्यधीतस्य प्रणाशनमिच्छत्यधन्यः स षण्मासान् ग्रामेऽवतिष्ठेत्।
८. ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्येत्यातिष्ठन्ति शाङ्कराः।
९. अमी बालाः खेलन्ति च कूर्दन्ति चोच्छलन्ति चान्योन्यमुपहसन्ति च रमन्ति च चिराय।
१०. यो गुरून्नाभ्युत्तिष्ठते सोऽपध्वस्यते।
११. अस्माद् ग्रामाच्छतमुत्तिष्ठते। सोऽयमल्पीयानायः।
१२. अयं लोकोऽर्थकामयोरासक्तो धर्मेपि नोत्तिष्ठति किमुताऽपवर्गे।
१३. बहुरूपोऽसौ यस्य कस्यापि रूपमातिष्ठते स्वेच्छया। न च निपुणमीक्ष्यमाणोऽपि व्यक्तितः परिच्छिद्यते।
१४. अद्य संस्थास्यते यज्ञ इति प्रस्थास्यन्तीतो याज्ञिकाः।
१५. वर्षास्वयं सरोवरो जलधिमनुहरते, नास्यावारपारे दृश्येते।
१६. वञ्चयन्ति वणिजः स्वानपि किम्पुनः परान्।
१७. न पदा कृमिकीटादीनाक्रमेत न चाघ्नीत।
१८. ते युत्सु महतीषु पराक्रामन् यशश्चानल्पमवाप्नुवन्।
१९. पश्य, आक्रमते धूमः कुटीरेभ्यः, मन्येऽग्निहोत्रं जुह्वति वनौकसः।

२०. नास्य गणितेऽप्रतिबन्धेन वर्तते बुद्धिः, न्याये तु साधीयः क्रामति ।
२१. यो यज्ञगतोऽपशब्दान्प्रयुनक्ति स पापभाग् भवति ।
२२. द्वन्द्वं न्यञ्चि यज्ञपात्राणि प्रयुङ्क्ते ।
२३. सुहृदं देवदत्तमनुयोक्ष्यामि ह्यो मद्गेहे किमिति नोपातिष्ठ इति ।
२४. विजये ! जानीहि कः प्रतीहारमुपतिष्ठते ।
२५. भोजनकाल उपतिष्ठसि, कार्यकाले क्व यासि ?
२६. श्यामः पितरि प्रतिकूलो मात्रा तु संजानाति ।
२७. नित्यः शब्द इति वैयाकरणाः प्रतिजानन्ति कार्य इति च नैया-
यिकाः ।
२८. कौन्तेय प्रतिजानीहि, न मे भक्तः प्रणश्यति (गीता) ।
२९. न हि शास्त्रं विधवापुनरुद्वाहमभ्यनुजानीते व्यपेक्ष्यते तु सः ।
३०. अहमचिरेण वैद्यकाध्ययनमुपक्रमिष्यामि । अधीतं मया ज्योतिषम् ।
३१. इह नगर्यां साधूपक्रमत आतुरान्पीयूषपाणि र्ध्रुवसिद्धिर्नाम वैद्यः ।
३२. नवतन्त्रोऽयं भिषक् । साधु चिकित्सत्यसाधु वेति विचिकित्सते जनः ।
३३. शतं मे धारयसि । यदि न सहसे दातुं मा दाः । अपजानासि किम् ?
३४. अयमध्ययनाय क्रामति, अयं च खेलनाय । सहोदरावपीमौ विसदृशौ
शीलेन ।
३५. ते नाम जयिनो येऽन्तः स्थान् रिपूनधिकुर्वन्ति ।
३६. ये श्रियं प्राप्य न विकुर्वन्ति ते जितेन्द्रियाः ।
३७. अहो विक्रामन्ति वाजिनः । साधु विनीता अमी गतिचातुर्ये ।
३८. दृश्यते लोके वृत्तिकर्शितो ब्राह्मणो व्यतिकृषति हलेन ।
३९. अकृतात्मानो व्यतिघ्नते विवेकविधुराः ।
४०. सान्द्रायां तरुच्छायायामपस्किरन्ति श्वान आश्रयार्थिनः ।
४१. स्मृतमात्रो भगवान् विघ्नानपोहति प्रणतानाम् । (अत्र साधुत्वमुप-
पाद्यम्)
४२. अनुक्तमप्यूहति पण्डितो जनः । परेङ्गितज्ञानफला हि बुद्धयः ।
४३. राजान्नं तेज आदत्त इति पराकुरुते राजप्रतिग्रहं द्विजः ।
४४. इमे नेतारो जनानां संशयेषु महात्मनि श्रीगान्धिनि तिष्ठन्ति स्म ।
४५. सत्योऽयमाभाणकः, मातृकं गावोऽनुहरन्ति पैतृकमश्वा इति ।
४६. अन्यत्र विसंवदन्तोपि न प्रेत्यभावे व्यूदिरे प्राञ्चः ।
(साधुत्वमुपपाद्यम्) ।

४७. यो हि केवलं वृत्तिहेतोरध्यापयतेच्छात्रांस्तं ज्ञानपण्यं वणिजं वदन्ति ।

४८. महात्मानो हि न चिराय कुप्यन्ति । अनुनायिताश्च कोपं विनयन्ति शापादि च निवर्तयन्ति ।

४९. न वयमभ्यूहामस्तच्चेतसि किं वर्तत इति । (अत्र साधुत्वमुपपाद्यम्)।

५०. यदीच्छसि लोकस्य प्रियः स्यामिति तर्हि सन्ततमभ्यस्यस्व संस्कृतेन संभाषाम् । (अत्र साधुत्वमुपपाद्यम्) ।

५१. धन्योऽयं द्विजन्मा योऽगाधे शब्दशास्त्रे शिक्षति ।

५२. श्लोकैरुपतिष्ठते राजानं कविः पारितोषिकं चादभ्रं लभते ।

५३. कृष्णश्चाणूरमाह्वयति युद्धं मे देहीति ।

५४. शाङ्गरं धनुर्नमयित्वा रामः सीतामुपायच्छत् ।

५५. अयं पन्थाः स्त्रुघ्नमुपतिष्ठत्ययं च पाटलिपुत्रम् ।

५६. इह जगति विरला एव शमदमादिषट्कसम्पत्तिमासाद्य ब्रह्म जिज्ञासन्ति विरलतरा एव च तद् विजानन्ति ।

५७. नेदमनीदृशं जगदिति जैमिनीयाः संगिरन्ति ।

५८. स्वर्णमुत्तपते स्वर्णकारो मूषायाम् ।

५९. केचिदाहुर्न वयं गृध्यामोऽर्थेषु किन्तर्ह्यर्था नो गर्धयन्ति । (साधुत्वमुपपाद्यम्) ।

६०. ये कापथमभिनिविशन्ति ते दुःख्यन्ति ।

६१. दृश्यतां तावत्कः कपाटमाहन्तीति । (अत्र साधुत्वमुपपाद्यम्) ।

६२. ह्यः संक्रीडत उदग्रेणाश्मनाऽभिहतस्य तस्योरुपर्व व्यक्रमत ।

६३. स साधिष्ठमुपकरोति लोकस्य यो रामायणं प्रकरोति ।

६४. संकटेनानेन मार्गेण संचरन्ति यानानि मिथ आहन्यन्ते ।

६५. निपानं प्रति गा उपह्वयति गोपः ।

६६. तस्माद्यदेवं किं चानूचानोऽभ्यूहत्यार्षं तद्भवति । (निरुक्त १३।१।१२) (अत्र साधुत्वमुपपाद्यम्) ।

६७. किं मन्यसे महीं भुङ्क्त इति महीभुगित्युच्यतां महीं भुनक्तीति वा ।

६८. विप्रतिष्ठन्ति स्फुलिङ्गा इति हसन्तीं मोपश्लिषः ।

६९. ये समुदाचारमुच्चरन्ते तेऽवगीयन्ते । (अत्र साधुत्वमुपपाद्यम्) ।

७०. संक्ष्णुहि शस्त्रीम् । इयं कुण्ठिताश्रि नं किमपि कृन्तति ।

७१. अम्बा दण्डेन भीषयते चापलमाचरन्तं किशोरम्, न चासौ बिभेति वियातः ।

७२. अनुजानीष्व मां गमनाय । उत्सुकोऽहं मातृदर्शनेन ।

७३. प्रवहन्ते सरितः सागराय, न च सर्वाः समुद्रगा भवन्ति ।

७४. यावद्वेदं विप्रान्भोजयाते, यावदमत्रं च बालान्प्राशयति ।

७५. शयालुरेष शिशुः । एनं शाययस्व ।

७६. महदिदमाग इति परिमृष्यते गुरुः शिष्याय ।

७७. काष्ठं काष्ठेन योधयते, अग्निं जनयिष्य इति च मन्यते ।

७८. धन्यः स माणवको यो वेदे व्याकरणे च सममुद्युङ्क्ते ।

७९. प्रदीपप्रभा हि बाह्यं तमो नाशयते नान्तरम् ।

८०. अहं तेन पथि समगच्छं चिरं च समलपम् ।

८१. यो हितानि सुहृद्वाक्यानि न संशृणुते स विपद्यते ।

८२. मुहूर्तमिह तिष्ठ, ततः प्रतिष्ठ । नाहं त्वामुपरोत्स्यामि ।

८३. सुहृदं देवदत्तमभिक्रुद्धो गुरुरिति तमभ्यर्थयामि । मर्षयाऽर्हन् ! इमम् प्रथमापराद्धम् ।

८४. आयुषो रागिचित्तस्य वित्तस्य पिशुनस्य च ।
अथ स्नेहस्य देहस्य नाऽस्ति कालो विकुर्वतः ॥

८५. उषः प्रशंसते गर्गः शकुनं च बृहस्पतिः ।
अङ्गिरा मन उत्साहं ब्रह्मवाक्यं जनार्दनः ॥

८६. अनुवदेऽहं गुरोर्वाक्यानि, नाहं किञ्चिदपूर्वं ब्रुवे ।

८७. पौर्विकीं संस्मरञ्जातिं ब्रह्मैवाभ्यस्यते पुनः ।

८८. पितरावपि मां न संविदाते किमुतेतरे ।

८९. विक्रामत्यनिलात्मजे दशमुखः कां कामवस्थां गतः । (अत्र साधुत्वमुपपाद्यम्) ।

९०. अस्थाने विचिकित्सस्यस्त्यात्मा न वेति । अहमस्मीति कोऽसंमूढोऽपलपेत ?

९१. सविता पङ्कजान्येव बोधयते शशाङ्कश्च कुमुदान्येव ।

९२. सप्ताहात्परेण सूर्यं ग्रसिष्यति ग्रहः ।

९३. सङ्गृह्य शूलमादाय पाशहस्त इवान्तकः।
९४. नास्तिकं बलवज्जुगुप्सन्त्यार्य्याः। वेदनिन्दको हि सः।
९५. यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः॥ (गीता)

९६. इष्टं चेन्नाप्नुते प्रयतमानः कश्चिन्न स आत्मानमवसादयेत्।
९७. नायं मे प्रैष्यः सत्ये स्थित इति गृहगमनमस्य नानुजिज्ञासे।
९८. इदं ते दुर्वृत्तं पितुः कोपं जनयिष्यते मातुश्च शोकम्।
९९. योऽनृतां पिशुनां च वाचमुच्चरति न तस्य श्रद्दधति लोकाः।
१००. दुर्दाना अर्था भवन्तीति याचितं नाशुश्रूषते धनिको विप्राय।
१०१. यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते। (उपनिषद्)
१०२. आकाशे वा पाताले वा गतिर्नो सज्जते क्वचिदिति हरयः प्रतिजज्ञिरे। (अत्र साधुत्वमुपपाद्यम्)
१०३. अयं ते कामः समृध्यतामिति नित्यमाशास्महे।
१०४. इदं कविभ्यः पूर्वेभ्यो नमोवाकं प्रशास्महे। (उ० रा० च०)
१०५. युक्तं नाम सभापतिं सभ्या वयं संभूयेदं प्रार्थयेमेति।
१०६. प्रथमं यत्स्पृशेद्बालो रिङ्गमाणः स्वयं तदा।
जीविका तस्य बालस्य तेनैव तु भविष्यति॥
१०७. यदि ते प्रतिवेशी भ्रश्यते सत्पथाद्, भ्रश्यताम्। किं तवानेनेति केचिन्मिथ्योदासीना अनुशासति लोकम्।
१०८. सिध्यन्तां नः कर्माणि लौकिकानि पारलौकिकानि चेति नित्यमाशंसामहे। (अत्र साधुत्वमुपपाद्यम्)
१०९. उच्चरति धूमो हर्म्यतलाद् गगनं व्याप्नुवानः।
११०. विश्वामित्रः किल वसिष्ठेन पराजितो निर्विवेद।
१११. तपस्तप्यति तापसस्त्वगस्थिभूतः।
११२. गुरुं नित्यं वरिवस्यमानोऽभीष्टां विन्दते विद्याम्।
११३. विसृजन् कफपित्ते कृपणं च परिदेवयन् यो राजन्यः शय्यायां म्रियते सोऽधमः।
११४. दास्या सम्प्रयच्छति मुक्ताहारं कामुको राजापसदः।

११५. न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च। (गीता)
११६. सर्वतः सारमादद्यात्। (श्रीमद्भागवत)
११७. नान्यथा शाण्डिली माता विक्रीणाति तिलैस्तिलान्। (पं० त०)
११८. अभिवादयामि देवदत्तोऽहं भोः।
११९. इदं नाटकं प्रयोगेणाधिकुर्वन्तु कुशीलवाः, नान्दीं च कुर्वन्तु रङ्ग-विघ्नोपशान्तये।
१२०. पश्य नभोमध्यमाक्रामति सूर्यः।
१२१. चिरतरं मया त्वयि स्थितम्। समुत्सुकाश्च मे बान्धवा मद्दर्शनेन। तेनापृच्छामि त्वाम्।
१२२. अयि कोकि! आमन्त्रय सहचरम्। उपस्थिता रजनी।
१२३. नूनं वैयाकरणपाशोऽसि यदेवं पदानि मिथ्या कारयसे। (साधु-त्वमुपपाद्यम्)।
१२४. नवनवा अर्थाः समुदयन्ति मनसि प्रहर्षं च कमपि जनयन्ति।
१२५. यदि वृत्तिकर्शितो विप्रः कृषति भूमिं हलेन तदा स व्यतिकरोति।
१२६. आगमय तावन्माणवक! एत आयान्ति गुरुचरणाः।
१२७. किमिति मुधा भर्त्सयसि शिशून्। निर्दुष्टं सहजं ह्येषां चापलम्।
१२८. समर्थोऽपि त्वं कस्मादृणं न विनयसि पैतृकम्।
१२९. बह्वस्य श्रेष्ठिन आवेशनेषु कार्यमिति बहूनुपनयते कर्मकरान्। (अत्र साधुत्वमुपपाद्यम्)
१३०. स्वं कृत्यं सुष्ठु संविदन्प्राज्ञो मातापितृभ्यां संवित्ते। (अत्र साधु-त्वमुपपाद्यम्)।
१३१. तयोर्भ्रात्रोराकृती प्रायेण संवदेते इत्येकं दृष्ट्वा ऽपरोऽयमिति भ्रमति लोकः।
१३२. सबला दुर्बलान् दुन्वीरन्निति न युक्तम्।
१३३. नियोगिनो राजानमुपकुर्वन्ति राजप्रसादमिच्छन्तः, हृदयेन त्वनुवृत्तिं नेच्छन्ति।
१३४. युद्धश्रद्धां च तेऽद्याहं विनेष्यामि महाहवे। (भारत)
१३५. स्वगोत्राद् भ्रश्यते नारी उद्वाहात्सप्तमे पदे।
१३६. यो नित्यं मातरं वरिवस्यते स आशीर्भिस्तत्प्रयुक्ताभिरेधते।
१३७. यत्स्वयं नमते दारु न तत्सन्नामयन्त्यपि। (साधुत्वमुपपाद्यम्)

१३८. स महीमखिलां भुञ्जन् राजर्षिप्रवरः पुरा ।
वर्णानां संकरं चक्रे कामोपहतचेतनः ।। (मनु० ९।६७) ।

१३९. अत्रार्थे पठकानां पाठकानां चावधानमाकर्षामहे ।

१४०. ते विक्रान्तवद् अयुत्सन्, परं रिपूञ्जेतुं नापपारन् ।

१४१. अङ्गाङ्गिभावो गौणमुख्यतामेव जनयति न तु हेयोपादेयभावं प्रयुनक्ति ।

१४२. सत्त्वोद्रेकसिद्धयेऽहर्निशं तपश्चरन्तं महर्षिनिवहं न न निशामयाम-स्तथापि कृत्ये न जागृमः ।

१४३. यश्च मूढतमो लोके यश्च बुद्धेः परं गतः ।
उभौ तौ सुखमेधेते क्लिश्यत्यन्तरितो जनः ।। (भारत)

१४४. कुतुकिनो हि बाला इति तेषां हृत्स्वेवंविधाः प्रश्नाः स्वत उत्ति-ष्ठन्ते ।

१४५. ग्रहणधारणशक्ति हि च्छात्रेषु ह्रसमाना लक्ष्यते, तत्र हेतुर्मृग्यः ।

१४६. सुजनेषु तिष्ठत्सु दुर्जनास्तरन्तीति खिद्यति नश्चेतः ।

१४७. इदं च प्रतिपन्नं पण्डितराजस्य शैली तत्कालैर्भाषान्तरकविवर्यैः संवदते ।

१४८. श्रीजवाहरलाले महामन्त्रिणि भरतभुवं शासति भूयांसमभ्युदय-माशंसँल्लोकाः ।

१४९. इहदेशे भूसरा अभीतवन्मृत्युना सङ्ग्रामयाञ्चक्रुः ।

१५०. ये प्रकृत्याऽजिह्मा वरीवृतते तैर्जितम् ।

१५१. सुहृदो भोजनेन निमन्त्रयति तदर्थं च महतः संभारान् कुरुते ।

१५२. सख्यः शपामि यदि किंचिदपि स्मरामि (अमरु शतक) ।

१५३. वारिपूर्णां महीं कृत्वा पश्चात्संक्रमते गुरुः ।

१५४. आजघ्ने विषमविलोचनस्य वक्षः (किरात १७।६३) ।

१५५. कदाचित्कुप्यते माता नोदरस्था हरीतकी ।

१५६. समस्थमनुरज्यन्ति विषमस्थं त्यजन्ति च । (अत्र साधुत्वमुपपाद्यम्)

१५७. अद्य चिरं तं परिचिनोमीति सोऽसंशयं विरहे स्मिन्मामनुसुस्मूर्षेत् ।

१५८. अहो मलीमसं ते चरितम् । अल्पजले क्वचिदित्वा निलोहि सरसि ।

१५९. श्याम ! सृजस्व तनुं न विलम्बय ।

१६०. अहं च तस्मिञ्जने विश्वस्तस्तूष्णीमस्थिषि ।

१६१. पातालहंसाः पटुभिर्निनादैः प्रबोधयन्ते नृप ! नागकन्याः ।

१६२. न वयं परस्वेष्वातिष्ठामहे ।

१६३. आहि आहि न आपद्गतान् । कमन्यं शरणं यामः ।

१६४. नृपात्मजौ चिक्लिशतुः ससीतौ ममार राजा विधवा भवत्यः (भट्टि) ।

१६५. उपायंस्त महास्त्राणि निरगाच्च व्रतं पुरः (भट्टि १५।२१) ।

१६६. ग्रहीतुं न ते शेकिरे दक्षिणाशाम् ।

१६७. परं ह्युद्येमिरे प्राञ्चो योगेनात्मोपलब्धये । (अत्र साधुत्वमुपपाद्यम्)

१६८. तस्याकृतिं कामपि वीक्ष्य दिव्यामन्तर्भवच्छद्मविहङ्गमग्निम् ।
विचिन्तयन्संविविदे स देवः ...।। (कुमार० ६।५)

१६९. तमार्यगृह्यं निगृहीतधेनुं मनुष्यवाचा मनुवंशकेतुम् ।
विस्माययन् विस्मितमात्मवृत्तौ...।। (रघु० २।३३)

१७०. अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते । (मनु० ३।७६)

१७१. गुरोरासनमधितिष्ठते, अहो अन्याय्यमेतत् ।

१७२. वाचिकषडिकौ न संवदेते (१।१।५७ सूत्र भाष्ये) ।

१७३. तमणुमात्रमात्मानमनुविद्यास्मीत्येवं सम्प्रजानीते (योग सूत्र १।३६ पर व्यासभाष्य) ।

१७४. स एवायं नागः सहति कलभेभ्यः परिभवम् ।

१७५. यथा पृथिव्यां बीजानि रत्नानि निधयो यथा ।
एवमात्मनि कर्माणि तिष्ठन्ति प्रसवन्ति च ।।

१७६. अथ यदात्मानं दरिद्रीकृत्येवाह्लीर्भूत्वा भिक्षते...य एवास्य मृत्यौ पादस्तमेव तेन परिक्रीणाति (श० ब्रा० ११।३।३।५) ।

१७७. याचितारश्च नः सन्तु मा च याचिष्म कञ्चन (मनु० ३।१२ के अनन्तर प्रक्षिप्त) ।

१७८. इमां किमाचामयसे न चक्षुषी (नैषध०) ।

१७९. त्रपामपाकृत्य निभान्निभालय (नैषध०) ।

१८०. अयि मूढ प्रसिद्धमप्यस्य शब्दस्यार्थं न संविजानीषे ।

१८१. भट्टेः शब्दशास्त्रनैपुणी तस्य वर्णनचातुरीं वर्णसंघटनां चोपस्करोति ।

१८२. विक्रमते स्म (इति) विक्रान्तः (अमरोद्घाटन में क्षीरस्वामी) ।

१८३. कुर्वन्...मेचका इव दिशो मेघः समुत्तिष्ठते(मृच्छक० ५।८॥१।३४)।

१८४. आभीरदेशे किल चन्द्रकान्तं त्रिभिर्वराटैं विपणन्ति गोपाः।

१८५. सम्पद्विनिमयेनोभौ दधतुर्भुवनद्वयम् (रघु० १।२६)।

१८६. आजघ्ने वक्षसि द्रोणो नाराचेन धनञ्जयम् (भा० द्रो० ६१।२३)।

१८७. ततः प्राक्रमद् इष्टिं तां पुत्रीयां पुत्रकारणात् (रा० १।१५।३)।

१८८. त्वां विजेष्यत्युपायेन विषादं वा गमिष्यति (रा० ५।१।१४०)।

१८९. कस्ते न सन्तिष्ठति वाङ् निदेशे (रा० ४।३३।४१)।

१९०. मिथोऽबोधाद् विवदति मैत्रीं भजति बोधतः (योगवा० ६ (२) ४५।६१)।

१९१. भृत्याः प्रियाः किल तथा सन्तिष्ठति स भिक्षुकः (योगवा० ६ (१) ६६।११)।

१९२. चिदेवेयं शिलाकारमवतिष्ठति बिभ्रती (योगवा० ६(२)७०।२१)।

१९३. रामं शुश्रूष भद्रं ते सुमित्रानन्दवर्धन (रा० ६।११९।२८)।

१९४. तमाचक्ष्व प्रदद्यान्मे यो हि युद्धं युयुत्सतः (रा०४।११।१९)।

१९५. अण्डभक्षणकर्मैतत्तव वाचमतीयते (=अतिक्रामति)। (भा० सभा० ४१।४०)

१९६. देवशुनीन्द्रेण प्रहिता पणिभिरसुरैः समूद[1] इत्याख्यानम् (निरुक्त ११।२५।१)।

१९७. अर्बुदेन गवां ब्रह्मन् मम राज्येन वा पुनः।
नन्दिनीं सम्प्रयच्छस्व...॥ (भा० १।६६६४)

१९८. असिभ्यां सम्प्रजह्लाते परस्परमरिन्दमौ (भा० द्रोण० १४२।३७)।

१९९. भुजौ दीर्घौ विकुर्वाणम् (रा० ३।७४।१८)। (साधुत्वमुपपाद्यम्)।

२००. इत्युक्त्वा मैथिलीं भर्तुरङ्के निविशतीं भयात् (रघु० १२।३८)।

---

१. सम्पूर्वक वद् का आत्मनेपद में प्रयोग वैदिक साहित्य में अन्यत्र भी पाया जाता है। सूक्ते प्रेति तु नद्यश्च विश्वामित्रः समूदिरे (बृहद् देवता ४।९९)। अथ हाग्नयः समूदिरे तप्तो ब्रह्मचारी कुशलं नः पर्यचारीत् (छां० उ० ४।१०।४)। वाचिकषडिकौ न संवदेते (१।१।५७ सूत्रभाष्य)। भाष्यकार को भी यह अभिमत है। अतः इसकी साधुता ही स्वीकार करनी होगी।

आत्मनेपदप्रक्रिया पर्यवसिता।

भाव-कर्म-प्रक्रिया

भाव तथा कर्म में जो लकार होता है उसके स्थान में तङ् प्रत्यय (आत्मनेपद प्रत्यय) आदेश होते हैं ऐसा पूर्व कह आये हैं। (भावकर्मणोः १।३।१३)। शुद्ध धात्वर्थ को 'भाव' कहते हैं। **धात्वर्थः केवलः शुद्धो भाव इत्यभिधीयते।** धातु मात्र का एक अर्थ है—भाव, जिसे क्रिया, भावना, उत्पादना नामों से भी व्याकरणशास्त्र में व्यपदिष्ट किया गया है। वस्तुतः भाव के धातु वाच्य होने पर लकार भाव का अनुवादक-मात्र ठहरता है।

६१३—भाव-कर्म-वाची सार्वधातुक परे धातुमात्र से यक् प्रत्यय आता है।[1]

६१४—भाव-कर्म वाची तङ् परे रहते धातु मात्र से परे च्लि को चिण् आदेश होता है 'त' शब्द परे होने पर और 'त' शब्द का लुक् हो जाता है।[2] यक् आर्धधातुक प्रत्यय है। सार्वधातुक प्रत्यय परे होने पर यक् कहा है, अतः आर्धधातुक प्रत्यय परे होने पर नहीं होगा।

धातु के सकर्मक होने पर जब लकार कर्ता अथवा कर्म को कहे और युष्मद् उसके साथ समानाधिकरण=समानकारक हो, अर्थात् कर्तृवाचक अथवा कर्मवाचक हो तो धातु से मध्यम पुरुष आता है—**त्वं दृश्यसे**। तू देखा जाता है। **त्वं द्रक्ष्यसि**। तू देखेगा। **त्वं द्रक्ष्यसे**। तू देखा जायगा। यहाँ केवल आत्मनेद हुआ है, 'स्य' के सार्वधातुक न होने से यक् नहीं हुआ। **अस्मद्** के साथ सामानाधिकरण्य न होने से धातु से प्रथम पुरुष ही होगा—**शेषे प्रथमः** (१।४।१०८)। कर्ता के अनुक्त होने से उसमें तृतीया होती है।

तिङ्वाच्य भावना के अद्रव्य होने से द्वित्वादि की प्रतीति न होने से धातु से द्विवचन आदि नहीं होते। एकवचन ही होता है। एकवचन औत्सर्गिक है, इसे द्वित्वादि की अपेक्षा नहीं। द्वित्वादि सङ्ख्यान्तर की अपेक्षा रखते हैं। **मया भूयते**। **त्वया भूयते**। **अस्माभिर्भूयते**। **तैर्भूयते**। **शिशुना शय्यते**। **शिशुभ्यां शय्यते**। **शिशुभिः शय्यते**। **मेघैर्वितानाय्यते** (=मेघा वितानायन्ते)।

ऐसे ही लकार के कर्मवाची होने पर कर्ता के अनुक्त होने से उसमें तृतीया

१: सार्वधातुके यक् (३।१।६७)।

२. चिण् भावकर्मणोः (३।१।६६)। चिणो लुक् (६।४।१०४)।

होती है। कर्म के उक्त होने पर उसमें प्रातिपदिकार्थ में प्रथमा—**कृषकै र्लूयते केदारः।**

भक्ष्यतां भुज्यतां नित्यं दीयतां रम्यतामिति।
गीयतां पीयतां चेति शब्दश्चासीद् गृहे गृहे (भा० आ० २२२।५)॥

यहाँ कर्म और कर्ता दोनों ही शब्दोक्त नहीं। 'रम्यताम्' यहाँ भाव में लोट् प्रत्यय है, अन्यत्र कर्म में। **नीचस्य गोचरगतैः सुखमास्यते कैः** (भर्तृ०), नीच के वश में पड़े हुए कौन सुख से रह सकते हैं। यहां आस् से भाव में लकार है। अनुक्त कर्ता में तृतीया हुई है। **रणरेणवो रुरुधिरे रुधिरेण सुरद्विषाम्** (रघु० ९।२३), सुर-शत्रुओं (असुरों) के रुधिर से (उठती हुई) युद्ध भूमि की धूल रोकी गई।

धात्वर्थ-निर्देश में ण्वुल् का उदाहरण देते हुए भाष्यकार कहते हैं—उष्ट्रासिका आस्यन्ते। हतशायिकाः शय्यन्ते। इन दो उदाहरणों का अर्थ है—उष्ट्राणां यादृशान्यासनानि तादृशानि देवदत्तादिकर्तृकाणि शयनानि भवन्ति, अर्थात् ऊँटों का जैसे बैठना है वैसा देवदत्तादि का बैठना है। मरे हुए लोगों का जैसा शयन (लेटना, सोना) होता है वैसा देवदत्तादि का शयन है। यहाँ भाव में भी बहुवचन का प्रयोग किया गया है। यह हमारी बुद्धि से परे है। एकवचन तो समझ में आता है, बहुवचन नहीं।

स्य-सिच्—सूत्र की इस ग्रन्थ में विधान नं० (३११) में व्याख्या कर चुके हैं। सिच्-विषयक इस की प्रवृत्ति दिखा चुके हैं। इसकी प्रवृत्ति भाव-कर्म-वाची लकार परे होने पर सिच् से व्यतिरिक्त स्य, सीयुट्, तास् प्रत्ययों के परे रहते भी होती है। पर सभी धातुओं से नहीं होती, किन्तु उपदेश में अजन्त, हन्, ग्रह्, दृश्, से होती है।

णिजन्त धातुओ से भी चिण्वद् इट् होता है यद्यपि वे उपदेशावस्था में अजन्त नहीं हैं। उनका अजन्तत्व औपदेशिक नहीं। णिच्-रहितों का उपदेश किया है, णिच्-सहितों का नहीं। यहाँ चिण्वद् भाव की प्राप्ति इस प्रकार दिखायी जाती है—उपदेश में जो अच् अर्थात् णि, वही व्यपदेशिवद्भाव से णिजन्त, वह है अवयव जिस अङ्ग का, वह 'अजन्त' हुआ। 'अङ्गस्य' यह व्यधिकरण षष्ठी है। अङ्ग का अजन्त, अर्थात् अङ्ग का अवयव अजन्त। ऐसा

व्याख्यान करने से 'शामिता' में चिण्वद् भाव इट् सिद्ध होता है। यहां 'शामि' ऐसा अङ्ग है।

यह चिण्वद्भाव वैकल्पिक है। भू—**भाविष्यते** (चिण्वद् इट्)। **भविष्यते** चिण्वद्भाव के अभाव में)। यहां वलादि लक्षण इट् हुआ है। इट् चिण्वद्भाव-संनियोग-शिष्ट है, चिण्वद्भाव के साथ ही इसका विधान किया है। चिण्वद्भाव के अभाव में यह इट् भी नहीं होगा। इस इट् के विषय में एक-दो बातें स्मर्तव्य हैं। यह इट् नित्य है और साप्तमिक (७।२।३५) में विहित इट् अनित्य है। वह वलादि लक्षण है, अर्थात् वलादि आर्धधातुक प्रत्यय को होता है। इस इट् के हो जाने पर वलादित्व का नाश हो जाने से उसकी प्राप्ति नही रहती, पर वलादिलक्षण इट् के होने पर भी इसका प्रसङ्ग रहता है, अतः यह नित्य है। नित्य होने से सेट् धातुओं से भी यही इट् होगा, वलादि-लक्षण नहीं। वलादि लक्षण इट् '**पर**' है, पर चिण्वद् इट् नित्य है, 'पर' को 'नित्य' बाधता है। पूर्वपर नित्यान्तरङ्गापवादानामुत्तरोत्तरं बलीयः, ऐसी परि-भाषा है। चिण्वद् इट् के अभाव में वलादिलक्षण इट् निर्बाध होगा।

अन्यच्च। चिण्वद् इट् आभीय है। णेरनिटि (६।४।५१) भी आभीय है। यह अनिडादि (जिस का आदि इट् न हो) आर्धधातुक परे रहते 'णि' का लोप करता है। चिण्वद् इट् की प्रवृत्ति होने पर भी वह णेरनिटि के लिये असिद्ध है, असिद्धवत् है, मानो हुआ ही नहीं, जिससे 'णि' का लोप हो जाता है—भावि इ स्यते=**भाविष्यते**। वलादि लक्षण इट् होने पर उसके सिद्ध होने से णि का लोप नहीं होगा। गुण, अय् आदेश होकर '**भावयिष्यते**' रूप होगा। कृ णिच्=कारि—**कारिष्यते** (चिण्वद् इट्)। **कारयिष्यते** (चिण्वद्भाव के अभाव में)। भू-णिच्=भावि—तास्=**भाविता**। **भावयिता**। **भाविषीष्ट**। **भावयिषीष्ट**। कारि—**कारिता**। **कारयिता**। **कारिषीष्ट**। **कारयिषीष्ट**।

६१५—चिण् तथा णमुल् परे होने पर ण्यन्त मित्संज्ञक धातुओं की उपधा को वैकल्पिक दीर्घ होता है[1]। सो चिण्वद्भाव पक्ष में यह विधि यहाँ भी होगी। **शामिता**। **शामिष्यते**। **शामिषीष्ट**। विकल्प होने से **शमिता**। **शमि-ष्यते**। **शमिषीष्ट** भी।

ञित्, णित् प्रत्यय परे होने पर जो हन् के 'ह्' को 'घ्' कहा है, वह

---

१. चिण्णमुलो दीर्घोऽन्यतरस्याम् (६।४।९३)।

चिण्वद्भाव में भी होगा—**घानिष्यते । हनिष्यते । घानिता । हन्ता । घानिषीष्ट । वधिषीष्ट ।** हन् को वध आदेश । **अघानि**—यहाँ तो चिण् प्रत्यय है । आतिदेशिक चिण्वद्भाव की अपेक्षा नहीं । **अघानिषाताम् । अघानिषत । अहसाताम् । अहसत ।** पक्ष में 'अवधि' भी होगा । अवधिषाताम् । अवधिषत । वध आदेश वैकल्पिक है ।

ग्रह् लिङ्-वर्जित वलादि आर्धधातुक प्रत्यय परे इट् को दीर्घ होता है । चिण्वद् इट् को दीर्घ नहीं होता—**ग्राहिता । ग्राहिष्यते । ग्राहिषीष्ट ।** पक्षान्तर में **ग्रहीता । ग्रहीष्यते । ग्रहीषीष्ट ।**

दृश्—**अदर्शि । अदर्शिषाताम् । अदर्शिषत** (चिण्वद् इट्) । **अदर्शि । अदृक्षाताम् । अदृक्षत ।** (चिण्वद् इट् के अभाव में) । (२३५) से सिच् के कित् होने से गुण नहीं हुआ । (न दृशः ३।१।४७) से क्स का निषेध होने से च्लि को सिच् होता है । **दर्शिता । द्रष्टा । दर्शिष्यते । द्रक्ष्यते । दर्शिषीष्ट । दृक्षीष्ट ।**

सामान्यतः जो-जो कार्य आशीर्लिङ् में यासुट् परे रहते होते हैं जैसे धातु के अन्त्य अच् को दीर्घ, क्वाचित्क ह्रस्व, गुण, अन्त्य ऋ को रिङ्, दीर्घ ॠ को इर्, ओष्ठ्य-पूर्व दीर्घ ॠ को उर्, वैभाषिक आत्व, सम्प्रसारण आदि—वह-वह यहाँ यक् परे रहते होते हैं ।

दीर्घ

इण्—**ईयते ।** क्षि—**क्षीयते ।** चि—**चीयते ।** जि—**जीयते ।** मिञ्—**मीयते ।** श्रिञ्—**श्रीयते ।** सिञ्—**सीयते ।** नी—**नीयते ।** भी—**भीयते ।** (पर्जन्यवत् सूत्र प्रवृत्ति) । ऊर्णु—**ऊर्णूयते ।** नु—**नूयते ।** क्षु—**क्षूयते ।** यु—**यूयते ।** रु—**रूयते ।** सु—**सूयते ।** षू (सू) प्रेरणा करना—**सूयते ।** श्रु—**श्रूयते ।** स्तु—**स्तूयते ।** क्ष्णु—**क्ष्णूयते ।** सु (भ्वा०)—**सूयते ।** हु—**हूयते ।** दिव्—**दीव्यते ।** सिव्—**सीव्यते ।** (११४—ख) ।

ह्रस्व

सम् ऊह्—**समुह्यतेऽग्निः** (=परितः सम्मृज्यते) । **समुह्यते ब्रह्म** (विचार्यते) ।

आत्व

खन्—**खायते । खन्यते ।** सन् **सन्यते । सायते ।** जन्—**जन्यते । जायते ।** (३९२) ।

गुण

जागृ—**जागर्यते**। (२५१)। ऋ—**अर्यते** (३६०)। स्मृ—**स्मर्यते**। ह्वृ—**ह्वर्यते**। स्तृ ञ्—**स्तर्यते**। आङ् पूर्वक—**आस्तर्यते**। अव पूर्वक—**अव-स्तर्यते**।

रिङ्

कृ—**क्रियते**। हृ—**ह्रियते**। भृ—**भ्रियते**। धृ—**ध्रियते**। सम् स् (सुट्)-कृ—**संस्क्रियते**।

इर् उर् आदेश

कॄ—**कीर्यते**। (१४१) से ऋ को रपर इ=इर्। (११४—ख) से दीर्घ। तॄ—**तीर्यते**। स्तॄ ञ्—**स्तीर्यते**। कॄत्—**कीर्त्यते**। यहाँ उपधा ऋ को को इर् होकर (३७) से दीर्घ हुआ है। जॄ—**जीर्यते**। दॄ—**दीर्यते**। शॄ—**शीर्यते**। गॄ—**गीर्यते**। पॄ—**पूर्यते**। (ओष्ठ्यपूर्व होने से उर्) (११४—क)। मॄ—**मूर्यते**। वॄ—**वूर्यते**।

सम्प्रसारण

वस्—**उष्यते**। प्रपूर्वक **प्रोष्यते**। अधिपूर्वक **अध्युष्यते**। वद्—**उद्यते**। अभिपूर्वक—**अभ्युद्यते**। अनुपूर्वक—**अनूद्यते**। वह्—**उह्यते**। वप्—**उप्यते**। स्वप्—**सुप्यते**। यज्—**इज्यते**। वच्—**उच्यते**। प्रपूर्वक—**प्रोच्यते**। वेञ्—**ऊयते**। प्रपूर्वक—**प्रोयते**=पिरोया जाता है। व्येञ्—(सं) **वीयते**। ग्रह्—**गृह्यते**। वश्—**उश्यते**। प्रच्छ्—**पृच्छ्यते**। व्यच्—**विच्यते**। व्रश्च्—**वृश्च्यते**। व्यध्—**विध्यते**। भ्रस्ज्—**भृज्ज्यते**। ज्या—**जीयते**। श्वि—**शूयते**। उद्-पूर्वक—**उच्छूयते**। ह्वे—**हूयते**। ऊयते, (सं) वीयते, शूयते, हूयते में सम्प्रसारण होकर (३८३) से दीर्घ हुआ है।

उपधा-न्-लोप

अञ्च्—**अच्यते**। उन्द्—**उद्यते**। अञ्ज्—**अज्यते** अभिपूर्वक—**अभ्य-ज्यते**। रञ्ज्—**रज्यते**। दंश्—**दश्यते**। भ्रंश्—**भ्रश्यते**। शंस्—**शस्यते**। प्रपूर्वक—**प्रशस्यते**। अभिपूर्वक—**अभिशस्यते** (=दूष्यते)=दोषेण युज्यते। स्रंस्—**स्रस्यते**। ध्वंस्—**ध्वस्यते**। मन्थ्—**मथ्यते**। स्कन्द्—**स्कद्यते**। आङ्पूर्वक—**आस्कद्यते**। उम्भ्—**उभ्यते**। (=पूर्यते)। गुम्फ्—**गुफ्यते**। तृम्फ्—**तृफ्यते**। बन्ध्—**बध्यते**।

इदित् होने से न् लोपाभाव

क्रन्द् (क्रदि)—**क्रन्द्यते**। नन्द्—**नन्द्यते**। निन्द्—**निन्द्यते**। काङ्क्ष्—**काङ्क्ष्यते**। वाञ्छ्—**वाञ्छ्यते**। इन्द्—**इन्द्यते**। खञ्ज्—**खञ्ज्यते**। हिंस्—**हिंस्यते**।

विशेष कार्य

यक् परे रहते कुछेक विशेष कार्य होते हैं उन्हें दर्शाते हैं—

घु-संज्ञक धातुओं के 'आ' को तथा मा, स्था, गा, पा, हा (त्यागना) के 'आ' को 'ई' आदेश होता है[1] देखो विधान सं० १८६।

दा—**दीयते**। दाण्—**दीयते**। दो—(दा)—**दीयते**। अवपूर्वक—**अवदीयते**। (काटा जाता है)। देङ् (रक्षा करना)—आत्व होकर—**दीयते**। धा—**धीयते**। धेट् (धा)—**धीयते**। मा—**मीयते**। स्था—**स्थीयते**। गै (गा)—**गीयते**। पा (पीना)—**पीयते**। रक्षा करने अर्थ में अदादि पा—**पायते**। हा—**हीयते**। हाङ् (जाना)—**हायते**। यहाँ ईत्व नहीं होता।

६१६—तन् धातु को आकार अन्तादेश विकल्प से होता है यक् परे होने पर[2]—**तन्यते**। **तायते**।

६१७—यकारादि कित्, ङित् प्रत्यय परे होने पर शीङ् को अय् अन्तादेश होता है[3]। यक् कित् है, अत: यक् परे रहते यह आदेश होगा—**शय्यते शिशुना**। **संशय्यतेऽत्र विदुषाऽपि**। **विशय्यते विशेषज्ञेनापि**। वि-शी तथा संशी का एक ही अर्थ है।

हेतुमण्ण्यन्त (प्रेरणा में ण्यन्त) धातु से परे यक् होने पर 'णि' का लोप होता है—कारि (कृ णिच्) यक् ते=**कार्यते**। श्रावि (श्रु-णिच्)—**श्राव्यते शास्त्रं शास्त्रज्ञेन**। यापि (या णिच्) —**याप्यतेदेहः कथं कथमपि दरिद्रेण**। शम् णिच्—शमि। मित् होने से ह्रस्व। **शम्यते मोहो मुकुन्देन**।

६१८—आकारान्त धातुओं को युक् (य्) आगम होता है, चिण् तथा ञित्, णित् कृत् प्रत्यय परे होने पर।[4] अत: चिण्वद्भाव पक्ष में दा को युक् आगम होकर **दायिता**, **दायिष्यते**, **दायिषीष्ट** रूप होंगे। लुङ् प्रथम पुरुष एक०

---

१. घु-मा-स्था-गा-पा-जहाति-सां हलि (६।४।६६)।

२. तनोते र्यकि (६।४।४४)।

३. अयङ् यि क्ङिति (७।४।२२)।

४. आतो युक्-चिण्कृतोः (७।३।३३)।

में **अदायि**। द्विवचनादि में सिच् परे रहते **अदायिषाताम्, अदायिषत** इत्यादि रूप होंगे। चिण्वद्भाव के अभाव में **अदिषाताम्, अदिषत** इत्यादि, जैसे कर्तरि लुङ् के रूप होते हैं। इण् को 'गा' आदेश होता है लुङ् परे। यहाँ कर्तृवाची अथवा कर्मवाची लुङ् ऐसा विशेष रूप से आदेश विधान नहीं किया। सो यह भाव-कर्मवाची लुङ् में भी होगा—**अगायि भवता** (=भवान् अगात्)। सिच् परे चिण्वद् इट् होने से—**अगायिषातां भवता ग्रामौ। अगायिषत भवता ग्रामाः**। चिण्वद्भाव होने से ही युक् आगम हुआ है। पक्ष में **अगायि। अगासाताम्। अगासत** इत्यादि रूप होंगे। इङ् (अध्ययने) को लुङ् परे वैकल्पिक गाङ् आदेश कहा है (१८५)। वह भाव-कर्मवाची लुङ् परे भी निर्बाधरूप से होगा—**अध्यगायि। अध्यगायिषाताम्। अध्यगायिषत** (चिण्वद् इट् होने पर)। पक्षान्तर में **अध्यगीषाताम्। अध्यगीषत** इत्यादि। सिच् प्रत्यय के ञित्-णित्-भिन्न होने से (१३६) से ङित् होने से (१८६) से 'गा' के 'आ' को 'ई'। गाङ् आदेश के अभाव में **अध्यायि, अध्यायिषाताम्, अध्यायिषत** इत्यादि (चिण्वद् इट् पक्ष में)। **अध्यायि, अध्यैषाताम्, अध्यैषत** इत्यादि (चिण्वद्भाव के अभाव में)।

क्रथ् घटादि है और घटादि होने से मित् है। (६१५) से चिण् परे रहते इसे वैकल्पिक दीर्घ होगा—**अक्रथि। अक्राथि। (अक्रथिषाताम्। अक्रथिषत)**।

६१६—अनुताप अर्थ में तप् धातु से भाव-कर्म में च्लि को चिण् नहीं होता[२]—**अन्वतप्त पापेन**=पाप से पीड़ित किया गया। कर्म में लुङ्। पापी पुरुष ने दुःख मनाया (पापी पुरुष अपने पाप के कारण पश्चात्तप्त हुआ)—भाव में लुङ्।

सन्नन्त चिकीर्ष, जिगमिष, शुश्रूष आदि धातुओं से यक् करने पर (४१) से सन् के सकारोत्तरवर्ती अकार का लोप हो जाता है—**चिकीर्ष्यते। जिगमिष्यते। शुश्रूष्यते**। ऐसे ही यङन्त—**बोभूय, लोलूय, पोपूय, तोष्टूय** आदि धातुओं के 'अ' का लोप हो जाता है—**बोभूय्यते। लोलूय्यते। पोपूय्यते। तोष्टूय्यते**। हल् से परे तो सङ्घात य (=य् अ) का लोप हो जाता है—**जङ्गम्यते। तन्तन्यते। दरीदृश्यते। सोषुप्यते**।

द्विकर्म्मक धातुओं के विषय में लकार व्यवस्था

गौणे कर्मणि दुह्यादेः प्रधाने नी-हृ-कृष्-वहाम् ।
बुद्धि-भक्षार्थयोः शब्दकर्मकाणां निजेच्छया ।
प्रयोज्यकर्मण्यन्येषां ण्यन्तानां लादयो मताः ॥

दुह् आदि बारह धातुओं के गौण कर्म में लकार होता है, नीञ् आदि चार के प्रधान कर्म में लकार होता है—

कर्तृवाच्य	कर्मवाच्य
१. गां (गौणकर्म) दोग्धि पयः (मुख्यकर्म)	गौर् (गौणकर्म) दुह्यते पयः (मुख्यकर्म, अनुक्त होने से द्वितीया)।
२. बलिं (गौणकर्म) याचते वसुधाम् (मुख्यकर्म)।	बलिर् (गौणकर्म) याच्यते वसुधाम्।
३. तण्डुलान् (गौणकर्म) ओदनं (मुख्यकर्म) पचति।	तण्डुला (गौणकर्म) ओदनं पच्यन्ते।
४. गर्गान् (गौणकर्म) शतं(मुख्यकर्म) दण्डयति।	गर्गाः (गौणकर्म) शतं(मुख्यकर्म, अनुक्त कर्म में द्वितीया)।
५. व्रजम् (गौणकर्म) अवरुणद्धि गाम् (मुख्यकर्म)।	व्रजो (गौणकर्म) ऽवरुध्यते गाम्।
६. माणवकं (गौणकर्म) पन्थानं (मुख्यकर्म) पृच्छति।	माणवकः(गौणकर्म)पन्थानं पृच्छ्यते।
७. वृक्षम् (गौणकर्म) अवचिनोति (मुख्यकर्म)[1]।	वृक्षो (गौणकर्म) ऽवचीयते फलानि (द्वितीया)।
८. माणवकं (गौणकर्म) धर्मं (मुख्य-कर्म) ब्रूते।	माणवको (गौणकर्म) धर्मम् (मुख्य-कर्म, अनुक्त होने से द्वितीया) उच्यते।
९. शिष्यं (गौणकर्म) शास्त्रं (मुख्य-कर्म) शास्ति।	शिष्यः (गौणकर्म) शास्त्रं (प्रधान कर्म, अनुक्त होने से द्वितीया) शिष्यते।
१०. शतं (मुख्य कर्म) जयति देवदत्तम् (गौणकर्म)।	शतं (मुख्यकर्म) जीयते देवदत्तः (गौण कर्म)।

---

१. तपोऽनुतापे च (३।१।६५)। सिच्यते चीयते चैव लता पुष्पफलार्थिना—यहाँ चीयते का मुख्य कर्म 'पुष्पफलानि' गम्यमान है। गौणकर्म 'लता' उक्त है।

११. सुधां (मुख्यकर्म) क्षीरनिधिं (गौणकर्म) मथ्नाति । — सुधां क्षीरनिधिर् (गौणकर्म) मथ्यते ।

१२. श्रेष्ठिनं (गौणकर्म) सर्वस्वं (मुख्यकर्म) मुष्णाति लुण्टाकः । — श्रेष्ठी (गौणकर्म) सर्वस्वं मुष्यते लुण्टाकेन ।

१३. अजां (मुख्यकर्म) ग्रामं (गौणकर्म) नयति हरति कर्षति वहति वा । — अजा ग्रामं नीयते ह्रियते कृष्यते उह्यते वा ।

अब गति-बुद्धि-प्रत्यवसानार्थ—इस सूत्र से जो ण्यन्त धातुएँ द्विकर्मक बन जाती हैं उनमें लादि-व्यवस्था कहते हैं—बोधार्थक, भक्षणार्थक (सूत्र में प्रत्यवसानार्थक) तथा शब्दकर्मक धातुओं के मुख्यकर्म में लकारादि हों अथवा गौणकर्म में, इसमें कामचार है, वक्ता की अपनी इच्छा ही प्रधान है। अवशिष्ट गत्यर्थक तथा अकर्मक धातुओं के प्रयोज्य कर्म में लादि (=लकार, कृत्य, क्त, खलर्थ प्रत्यय) होते हैं। गति-बुद्धि-सूत्र से जिसकी कर्म संज्ञा होती है वह प्रयोज्य कर्म होता है और वही गौणकर्म होता है। उससे भिन्न कर्म प्रधान होता है।

१. शिष्यान् (प्रयोज्य, गौणकर्म) वेदार्थं वेदयति गुरुः । — शिष्या वेदार्थं वेद्यन्ते गुरुणा ।
अथवा
शिष्यान् वेदार्थो वेद्यते गुरुणा ।

२. विप्राञ्श्राद्धं भोजयति गृही । — विप्राः श्राद्धं भोज्यन्ते गृहिणा ।
अथवा
विप्राञ्श्राद्धं (मुख्यकर्म, उक्त होने से प्रथमा) भोज्यते गृहिणा ।

३. बटून् (प्रयोज्य, गौणकर्म) व्याकरणमध्यापयत्याचार्यः । — बटवो व्याकरणम्(प्रधानकर्म, द्वितीया) अध्याप्यन्त आचार्येण ।
अथवा
बटून् व्याकरणम् (प्रधान कर्म, उक्त होने से प्रथमा) अध्याप्यत आचार्येण ।

४. कारून् आवेशनं यापयति स्वामी । स्वामी कारीगरों को कारखाने को भेजता है । — कारवः (प्रयोज्य, गौणकर्म, उक्त होने से प्रथमा) आवेशनं याप्यन्ते स्वामिना ।

५. यतीनासन्द्यां निषादयति गृहस्थः । — यतय आसन्द्यां निषाद्यन्ते गृहस्थेन ।

६. शिशुं शाययति पर्यङ्किकायाम् । — शिशुः शाय्यते (ऽम्बिकया) पर्यङ्किकायाम् ।

जहाँ एक ही (मुख्य) कर्म है, वहाँ वही लादि से अभिहित (उक्त) होगा —सूदेनौदनं पाचयति देवदत्तः। यहाँ अण्यन्तावस्था का कर्ता 'सूद' अनुक्त होने से तृतीयान्त है। गति-बुद्धि-सूत्र (जो नियामक सूत्र है) से उसकी कर्म संज्ञा नहीं हो सकती। अतः कर्मत्व विवक्षा में ओदन जो मुख्य कर्म है वही लकारोक्त होगा, सूद शब्द से पूर्ववत् तृतीया रहेगी—सूदेनौदनः पाच्यते देवदत्तेन।

कृ, हृ के प्रयोग में अण्यन्तावस्था का कर्ता ण्यन्तावस्था में विकल्प से कर्मसंज्ञक होता है—भृत्यं कटं कारयति देवदत्तः, भृत्येन वा। भृत्यं भारं हारयति यज्ञदत्तः, भृत्येन वा। प्रयोज्य कर्म के उक्त होने पर भृत्यः कटं कार्यते देवदत्तेन, भृत्यो भारं हार्यते यज्ञदत्तेन, ऐसा कहेंगे। प्रयोज्य कर्म के अभाव में—भृत्येन कटः कार्यते देवदत्तेन। भृत्येन हार्यते भारो यज्ञदत्तेन—ऐसा। यहाँ प्रधान कर्म 'कट', व 'भार' उक्त होने से प्रथमान्त हैं। अभ्यव-हृ का 'खाना' अर्थ है, अतः इसके प्रयोग में गौण व प्रधान कर्मों में से कोई एक उक्त हो सकता है—सक्तून् अभ्यवहारयति विप्रान् गृही। कर्मवाच्य होने पर सक्तवो (मुख्य कर्म) ऽभ्यवहार्यन्ते विप्रान् गृहिणा। अथवा सक्तून् अभ्यवहार्यन्ते विप्रा गृहिणा। यहाँ कर्म-संज्ञा वैकल्पिकी है, अतः सक्तवोऽभ्यवहार्यन्ते विप्रैर्गृहिणा ऐसा भी कहेंगे॥

यथाकथंचिल्लोकोऽयं दिनान्येतानि यत्नतः।
मयाऽतिवाहितः सर्वो न च कोपि व्यपद्यत (राजत० २।३४)॥

राजतरङ्गिणी के इस पद्य में अण्यन्तावस्था का मूल वाक्य होगा—एतानि दिनान्यत्यवहन्। यहाँ अति वह् अकर्मक है। ण्यन्तावस्था में सर्वोऽयं लोक एतानि दिनान्यतिवाहितवान् ऐसा वाक्य होगा। यहाँ 'दिनानि' प्रयोज्य कर्म है। पुनः णिच् करने पर अस्मदर्थ के प्रयोजक होने पर अहं सर्वेण लोकेन एतानि दिनान्यतिवाहितवान् ऐसा वाक्यस्वरूप होगा। कारण कि गत्यर्थक होने पर भी अण्यन्तावस्था का कर्ता (प्रयोज्य) कर्म बनता है। ण्यन्तावस्था का नहीं। अतः अनुक्त कर्ता में तृतीया हुई। अब कर्म की उक्तत्व विवक्षा में मया सर्वेणानेन लोकेन दिनान्येतान्यतिवाहितानि ऐसा वाक्य-विन्यास होना चाहिए। ऐसा हमारा विचार है।

इति भाव-कर्म-प्रक्रिया।

---

१. हृक्रोरन्यतरस्याम् (१।४।५३)।

कर्मकर्तृ-प्रक्रिया

ऐसा सुप्रतिष्ठित व्यवहार है कि क्रिया-सिद्धि के अतिसौकर्य को दिखाने की जब वक्ता की इच्छा होती है तब वह कर्ता के व्यापार को नहीं कहना चाहता। उस अवस्था में क्रिया के दूसरे साधन (उपकारक) जिन की प्रवृत्ति कर्ता के यत्न के अधीन होती है, कर्तृ-निरपेक्ष होकर स्वयम् साध्य-साधन में प्रवृत्त हो रहे हैं ऐसा दिखाया जाता है। दूसरे शब्दों में वे स्वयम् कर्तृभाव को प्राप्त हो जाते हैं और कर्तृ-संज्ञा को भी। असि (तलवार) काटने की क्रिया में साधन है। शास्त्र में इसे '**करण**' कहते हैं। **असिना च्छिनत्ति द्विषदां शिरांसि वीरः**। पर जब असि की अतितीक्ष्णता तथा दृढाघात-रूप पुरुष यत्न-विशेष की अनपेक्षा दिखानी अभिप्रेत होती है तब **असिश्छिनत्ति,** तलवार(ही) काट रही है, ऐसा कहने की रीति है। इसी प्रकार **काष्ठैः स्थाल्यां पचति,** ईन्धन द्वारा बटलोई में पकाता है। यहाँ स्थाली की अधिकरणता वस्तु-सिद्ध है। पर ईन्धन की अतिशुष्कता और धमन-फूत्कारादि कर्तृ-व्यापार की अनपेक्षा झलकाने के लिये स्थाली अतिलघु होने से अतिशीघ्रता से स्वयं पका रही है इस विवक्षा से '**स्थाली पचति**' ऐसा प्रयोग होता है। यहाँ भी स्थाली में जो अधिकरणता कर्तृ-व्यापार के होते हुए परतन्त्रतया प्रतीत होती है, कर्तृ-व्यापार की अविवक्षा होने पर वही अधिकरणता अपने अवान्तर व्यापार से जो अब स्वतन्त्र हो जाता है कर्तृभाव को प्राप्त हो जाती है। ऐसे ही दूसरे कारक भी कर्तृ-संज्ञा को प्राप्त होते हैं।

कर्मकारक जिस प्रकार कर्तृत्व तथा कर्तृसंज्ञा को प्राप्त होता है, उसे कहते हैं—कई एक सकर्मक धातुएँ कर्म के व्यापार को कह कर उन में ही पर्यवसितार्थ (परिसमाप्तार्थ) नहीं हो जातीं, किन्तु उसे गुणीभूत करती हुई कर्ता के व्यापार को भी कहती हैं। यथा भिद् द्विधा-भवन (दो टुकड़ों में होना) रूप कर्मव्यापार को उपसर्जन बना कर द्विधा-भावना (दो टुकड़ों में करना) रूप कर्तृ व्यापार को भी कहती है—**काष्ठानि भिनत्ति**। इसी प्रकार पच् विक्लित्ति (गल जाना) शिथिलावयव होना) रूप कर्म-व्यापार को कहती

हुई विक्लेदन (गिलाना) रूप कर्तृव्यापार को भी कहती है—**ओदनं पचति।** जब सौकर्यातिशय को कहने की इच्छा होती है और कर्तृ-व्यापार को कहने की इच्छा नहीं होती, तब कर्म जिस की कर्तृद्वारक प्रेषणा (प्रेरणा) समाप्त हो गई है, जो अपने ही क्रियांश में स्थित है, वस्तुतः कर्मत्व के निवृत्त हो जाने से कर्तृत्व में अवस्थित हो जाता है। धातु भी केवल कर्म-व्यापार को ही कहती है। इस प्रकार धातु के कर्मव्यापारमात्रवाची होने पर काष्ठादिकों की कर्तृता ही होती है, उनमें कर्मत्व कुछ भी नहीं रहता। **भिद्यते काष्ठं स्वयमेव। पच्यत ओदनः स्वयमेव।** ऐसे कर्ता को **कर्म-कर्ता** कहते हैं। एवं कर्म की कर्तृत्व रूप से विवक्षा होने पर जो धातुएं पहले सकर्मक थीं वे अब प्रायः अकर्मक हो जाती हैं। अतः उनसे भाव में लकार उपपन्न हो जाता है। **भिद्यते काष्ठेन। पच्यत ओदनेन** (ओदनपाक हो रहा है)।

६२०—कर्म-कर्ता जब लकार वाच्य होता है तब शास्त्र व्यवस्था-विशेष करता है—ऐसा कर्ता जिसमें कर्मावस्था में जैसी क्रिया लक्षित होती है, वैसी ही अब कर्तृ-रूप को प्राप्त हुए कर्म-कर्ता में भी दीखती है, कर्मवत् होता है, अर्थात् उसे कर्माश्रय कार्य—यक्, आत्मनेपद, चिण्, चिण्वद्-भाव इट् होते हैं।[1] कर्ता के लकार वाच्य होने से उसमें प्रथमा।

सूत्र में 'कर्मणा' में जो कर्म शब्द है वह कर्मस्थ क्रियापरक है, कर्म-कारक-परक नहीं। कर्मकारक के साथ क्रिया की तुल्यता ही नहीं बनती।

उदाहरणों में जो 'स्वयम्' पद का न्यास किया है वह उदाहरणों का अंग नहीं। उसका उपादान अन्य कर्ता की व्यावृत्ति के लिये किया जाता है।

यहाँ यह शङ्का होती है कि जब भाव में लकार होता है जैसे पच्यत ओदनेन, यहाँ, तब कर्मवद्भाव का अतिदेश होने से कर्ता में (प्रकृत में ओदन से) द्वितीया क्यों नहीं आती? जब कर्ता लकार वाच्य होता है, तभी कर्मवद्भाव होता है। यहाँ लकार का वाच्य भाव है। कर्ता 'ओदन' अनुक्त होने से तृतीयान्त होता है।

ऊपर कह आये हैं कि कर्म की कर्तृरूप से विवक्षा होने पर सकर्मक धातुएं भी प्रायः अकर्मक हो जाती हैं। यहाँ 'प्रायः' क्यों कहा है? यह इसलिये कि यद्यपि एककर्मक धातुओं से सर्वत्र ऐसा होता है, पर द्विकर्मक धातुओं के गौण कर्म के कर्तृत्व को प्राप्त करने पर मुख्य कर्म अपने स्वरूप

---

१. कर्मवत् कर्मणा तुल्यक्रियः (३।१।८७)।

में अवस्थित रहता है, जिस से उसकी सकर्मकता बनी रहती है—स्वयं प्रदुग्धेऽस्य गुणैरुपस्नुता वसूपमानस्य वसूनि मेदिनी (किरात० १।१८)।

यहाँ यह विशेष अवधेय है—कर्मस्थभावक (जिनका भाव रूप अर्थ कर्म में स्थित=समवेत है) तथा कर्मस्थक्रियक (जिन की क्रिया कर्म में स्थित है) धातुओं का कर्ता कर्मवत् होता है। कर्तृस्थभावक तथा कर्तृस्थक्रियकों का नहीं। भाव तथा क्रिया यद्यपि अन्यत्र पर्यायवाची समझे जाते हैं पर यहाँ इनका भेद अभिप्रेत है। अपरिस्पन्दो धात्वर्थो भावः, परिस्पन्दरूपस्तु क्रिया। पच्यते घटः। यहां घट के देश में स्पन्दन-रहित पाक हो रहा है, अतः वह भाव-रूप है। पच्यत ओदनः। यहाँ विक्लित्ति को प्राप्त होते हुए तण्डुल कणों में स्पन्दन होता है, अतः ओदनपाक क्रिया है। गच्छति ग्रामः। आरोहति हस्ती। यहाँ गम् तथा रुह् कर्तृस्थ-क्रियक हैं। **अधिगच्छति शास्त्रार्थः स्मरति श्रद्-धाति च। यत्कृपावशतस्तस्मै नमोस्तु गुरवे सदा।।** अधिगच्छति=अधिगमविषयो भवति। इत्यादि। यहाँ अधिगम्,स्मृ, श्रद्-धा कर्तृस्थभावक हैं। अतः यहाँ कर्म-वद्भाव नहीं हुआ। जिन के कर्म में क्रिया-कृत-विशेष (विशेष=भेद) दीखता है जैसे पक्व तण्डुलों में अपक्व तण्डुलों से भेद दीखता है अथवा छिन्न काष्ठों में अच्छिन्न काष्ठों से भेद देखा जाता है, वे धातुएँ कर्मस्थक्रियक हैं। पक्वाऽ-पक्व तण्डुलों की तरह गताऽगत-ग्रामों (जिनमें कोई गया है, जिनमें कोई नहीं गया) में कोई विलक्षणता (भेद) नहीं लक्षित होता, अतः गम् कर्तृस्थक्रियक है, कर्मस्थक्रियक नहीं। अतः गच्छति ग्रामः में कर्मवद्भाव नहीं हुआ। दीक्षित यहाँ भाव व क्रिया में भेद नहीं करते।

पदमञ्जरीकार हरदत्त का कहना है कि जब प्रधान क्रिया कर्ता अथवा कर्म में समवेत होती है तब वह कर्तृस्था अथवा कर्मस्था कही जाती है। प्रधान क्रिया वह है जिसके लिये कारक-व्यापार हुआ है, जैसे पच् की विक्लित्ति और गम् की देशान्तरप्राप्ति प्रधान क्रिया है। आरोहन्ति हस्तिनं हस्तिपकाः—यहाँ रुह् कर्तृस्थक्रियक ही है। उपरिदेशप्राप्ति जिसके लिये कारक-व्यापार हुआ है वह कर्ता में समवेत है।

कृ धातु का अर्थ उत्पत्ति है, यत्न नहीं। उत्पत्ति अर्थ होने से यहाँ क्रिया कर्मस्था है। यत्न अर्थ होने पर तो ज्ञान इच्छा की तरह कर्तृस्था होती और कारिष्यते घटः ऐसा कर्मवद्भाव के आश्रित प्रयोग न बन पाता। अनुव्यवस्य-

मानोर्थः—यहाँ भी अनुवि अव-पूर्वक षो अन्तकर्मणि की निश्चय अर्थ में प्रवृत्ति होने से और निश्चय के कर्म में वैलक्षण्य-जनक न होने से कर्मकर्ता जो अर्थ वह कर्मस्थ क्रियक नहीं। अतः अनुव्यवस्यमानोर्थः=स्वयमेव निश्चय-मुपपद्यमानः—यहाँ कर्मवद्भाव न होने से यक् नहीं हुआ। श्यन् हुआ है। और 'सो' के 'ओ' का (१२६) से लोप हुआ है। शानच् जो आत्मनेपदसंज्ञक है वह कैसे हो गया? यहाँ शानच् नहीं हो रहा है किन्तर्हि ताच्छील्य में चानश् प्रत्यय हुआ है ऐसा जानें।

प्रकृत-सूत्र अतिदेश-सूत्र है। अतिदेश नानारूप होता है—रूपातिदेश, निमित्तातिदेश, तादात्म्यातिदेश, व्यपदेशातिदेश, शास्त्रातिदेश, कार्यातिदेश। प्रकृत में पहले तीन का तो सम्भव ही नहीं। व्यपदेशातिदेश तो संज्ञा का ही अतिदेश है। उसका आश्रयण करने पर सूत्र में वत् ग्रहण व्यर्थ हो जाता है। शेष रहे शास्त्रातिदेश और कार्यातिदेश। इन दोनों में कार्यातिदेश मुख्य है। कार्य के लिए ही सभी अतिदेश स्वीकार किये जाते हैं। अतः यहाँ कार्यातिदेश ही माना जाता है। शास्त्रातिदेश मानने पर तो वह-वह शास्त्र यहाँ अतिदिष्ट होते हैं, अर्थात् उस-उस शास्त्र से (जो कर्मवाच्य होने पर प्रवृत्त होते हैं) यहाँ यक् आदि कार्य होंगे। यदि यह सूत्र शास्त्रातिदेश का विधान करता हो तो कर्मकर्ता में शप् आदि **पर** होने से यक् आदि के बाधक होंगे। वहाँ अनिष्ट का प्रतिविधान (निवारण) करने के लिए यत्न करना होगा। कार्या-तिदेश मानने पर तो यह सूत्र स्वयं यक् आदि का विधान करता है, अतः कर्ता के आश्रित जो कर्मकर्ता में शप् आदि प्राप्त होते हैं वे इस शास्त्र के **पर** होने से यक् आदि से बाधित हो जाते हैं, तो कुछ भी प्रतिविधातव्य नहीं रहता।

किं च। अनुपराभ्यां कृञः (१।३।७९) से अनु-परा-पूर्वक कृ से परस्मैपद विधान किया है जब कर्तृवाची लकार हो, क्रिया-फल चाहे कर्तृगामी हो। इस सूत्र में शेषात्कर्तरि परस्मैपदम् (१।३।७८) से 'कर्तरि' की अनुवृत्ति आती है। इससे भाव-कर्म के वाच्य होने पर परस्मैपद नहीं होगा। पर कर्मकर्ता के वाच्य होने पर **अनुक्रियते शब्दः स्वयमेव**—यहाँ परस्मैपद की शङ्का होती है। कार्यातिदेश पक्ष मानने पर प्रकृत सूत्र (कर्मवत्—) आत्मनेपद आदि का विधायक है। अनुपराभ्यां कृञः से **पर** है, सो उससे प्राप्त परस्मैपद को बाध लेगा। यदि शास्त्रातिदेश पक्ष स्वीकार करते हैं तो भावकर्मणोः (१।३।१३) शास्त्र यहाँ प्राप्त होगा उससे आत्मनेपद होगा। उसकी अपेक्षा अनुपराभ्यां—

पर है, अतः पर होने से आत्मनेपद को बाध कर परस्मैपद प्राप्त होगा, जो अनिष्ट है। इस अनिष्ट के वारण के लिए अनुपराभ्यां—में कर्तरि कर्मव्यतिहारे (१।३।१४) से द्वितीय कर्तृग्रहण की अनुवृत्ति की जायगी—अर्थ होगा—जो कर्ता ही हो, कर्मकर्ता न हो उसके वाच्य होने पर अनु-परा-पूर्वक कृ से परस्मैपद होता है।

६२१—कर्म की कर्तृत्व-विवक्षा होने पर जो एक-कर्मक धातुएँ अकर्मक हो जाती हैं जैसे छिद्, भिद्, उनका कर्त्ता कर्मवत् होता है, कर्माश्रित कार्यों को प्राप्त होता है। जो द्विकर्मक धातुएँ कर्म की कर्तृत्व विवक्षा में भी सकर्मक रहती हैं उनके कर्म-कर्त्ता को कर्मवद्भाव नहीं होता।[1] अन्योऽन्यं स्पृशतः—यहाँ यद्यपि स्पर्शन क्रिया एक है पर आश्रयभेद से उसे भिन्न मान लिया जाता है। एक (यज्ञदत्त) में स्थित स्पर्शन क्रिया के प्रति दूसरे (देवदत्त) की कर्मता है। और दूसरे में स्थित क्रिया के प्रति पहले की। देवदत्त तथा यज्ञदत्त—दोनों की कर्मता है। ऐसे ही स्पर्शन क्रिया में दोनों की कर्तृता है। दोनों के कर्त्ता व कर्म होने से जो एक कर्त्ता व कर्म में स्पर्शन क्रिया है वही दूसरे कर्त्ता व कर्म में है। आश्रय-भेद को लेकर क्रिया की तुल्यता बन जाती है। **भेदाधिष्ठानं हि सादृश्यम्**। ऐसे स्थल में कर्मवद्भाव प्रसक्त होता है, अतः वार्तिक से उसका निषेध कर दिया है। कर्मवद्भाव होने पर तो यक् और आत्मनेपद होकर अन्योयं स्पृश्यते ऐसा अनिष्ट प्रयोग होता। इसी प्रकार **अजा ग्रामं नयति**=अजा ग्रामं स्वयमेव प्राप्नोति। यहाँ भी 'ग्राम' कर्म का उपादान होने से कर्मवद्भाव नहीं हुआ।

इस वार्तिक का प्रतिप्रसव कहते हैं—दुह् और पच् द्विकर्मक हैं। एक कर्म की कर्तृत्व-विवक्षा होने पर भी दूसरे कर्म से ये सकर्मक रहती हैं, अतः पूर्ववार्तिक से इनके प्रयोग में कर्मकर्ता के कर्मवद्भाव का निषेध प्राप्त होने पर दूसरे वार्तिक से कर्मवद्भाव पुनः अभ्यनुज्ञात करते हैं—

६२२—दुह्, पच् का प्रयोग होने पर सकर्मकता होने पर भी बहुलतया कर्मकर्ता को कर्मवद्भाव होता ही है।[2]—

६२३—(पर) दुह्, स्नु, नम् से कर्मवद्भाव में यक् और चिण् नहीं होते।[3] इस सूत्र से दुह् से यक् का अत्यन्त निषेध कहा है। चिण् का तो

१. सकर्मकाणां प्रतिषेधो वक्तव्यः (वा०)।

२. दुहि-पच्योर्बहुलं सकर्मकयोरिति वाच्यम् (वा०)।

३. न दुह-स्नु-नमां यक् चिणौ (३।१।८९)।

विकल्प कहेंगे ऐसा जानना । **गौः पयो दुग्धे,** गौ स्वयमेव दूध छोड़ रही है। यहाँ यक् का निषेध होने पर शप् आया जिसका दुह् के आदादिक होने से लुक् हो गया । आत्मनेपद तो नियत रूप से होता है । **श्वगणिनां धेनुः श्वभ्यो दुग्धे न ब्राह्मणेभ्यः** । श्वगणिनः, शिकारी लोग ।

६२४—अजन्त धातु से विकल्प से च्लि को चिण् होता है कर्मकर्ता में 'त' शब्द परे होने पर ।[1] **अकारि कटः स्वयमेव** (चिण्) । **अकृत कटः स्वयमेव** । सिच् का (२३८) से लोप ।

६२५—दुह् से भी कर्मकर्ता में त शब्द परे होने पर च्लि को चिण् विकल्प से होता है ।[2] **अदोहि गौः स्वयमेव** (चिण्) । **अदुग्ध** । **अधुक्षत** । क्स । उसका (२७२) से पाक्षिक लुक् ।

पच् के द्विकर्मक होने पर भी उसके कर्मकर्ता को कर्मवद्भाव होता है ऐसा ऊपर कह आये हैं, उसका उदाहरण—**उदुम्बरः फलं पच्यते** ।

६२६—सृज् के प्रयोग में मुख्यकर्ता को (ही) कर्मवद्भाव होता है, पर यक् के स्थान में श्यन् होता है ।[3] **सृज्यते भक्तः स्रजम्**=श्रद्धया सृजति ग्रथ्नाति स्रजं भक्त इत्यर्थः । ऐसा अर्थ होने पर ही यहाँ कर्मवद्भाव होता है। इसलिये विषय-निर्देश करने के लिये दूसरा वार्तिक पढ़ा है—सृजेः श्रद्धोपपन्ने कर्तर्येवेति वाच्यम् ।

युज् से कर्मकर्ता में अन्य कर्म होने पर भी कर्मवद्भाव होता है—**युज्यते ब्रह्मचारी योगम्** । ब्रह्मचारी प्राणायामाभ्यासादि श्रमातिरेक के बिना स्वयमेव योग से युक्त हो जाता है ।

६२७—भूषा (अलंकार) क्रियावाचक धातुओं, कॄ आदि धातुओं तथा सन्नन्त धातुओं को कर्मवद्भाव में आत्मनेपद को छोड़कर यक्, चिण् आदि कार्य नहीं होता[4]—**अलंकुरुते कन्या स्वयमेव** । **अलमकृत** (सिच्, सिच् का लोप) । **अवकिरते हस्ती** । (हस्तिनमवकिरति पुष्पादिः—यहाँ मुख्यकर्ता में लकार है) । दिये हुए उदाहरण का अर्थ है—हाथी पुष्पित वृक्षादि के समीप

---

१. अचः कर्मकर्तरि (३।१।६२) ।

२. दुहश्च (३।१।६३) ।

३. सृजि-युज्योः श्यंस्तु (वा०) । सृजेः श्रद्धोपपन्ने कर्तर्येवेति वाच्यम् (वा०) ।

४. भूषाकर्म-किरादि-सनां चान्यत्रात्मनेपदात् (वा०) ।

जाता हुआ पुरुषयत्न के बिना स्वयं पुष्पावकर वाला हो जाता है। **अवाकीर्ष्ट हस्ती स्वयमेव**। सिच्। इडभाव पक्ष में रूप। ऐसे ही गॄ, आङ् दृङ् के प्रयोग में भी जानो—**गिरत ओदनः स्वयमेव। अगीर्ष्ट ओदनः स्वयमेव। आद्रियतेऽतिथिः** (अतिथिः स्वयमेव आदराश्रयो भवति)। **आदृत अतिथिः स्वयमेव**। सन्नन्त से—**चिकीर्षते कटः। अचिकीर्षिष्ट कटः।** यद्यपि इच्छा कर्तृस्थ होती है तथापि कृञ्-वाच्य क्रिया के कर्मस्थ होने से कर्मवद्भाव अव्याहत होता है।

६२८—रुध् धातु से च्लि को चिण् नहीं होता कर्म कर्ता के वाच्य होने पर[1]—**अवारुद्ध गौः स्वयमेव**। सिच् का (२३४) से लोप। अन्यत्र शुद्ध कर्म में **अवारोधि गौर्गोपालकेन**। यहाँ चिण् हुआ।

६२९—तप् धातु का कर्ता कर्मवत् होता है जब 'तपस्' कर्म हो।[2] अत्यन्त अप्राप्ति होने पर कर्मवद्भाव का विधान है। तप् धातु यहाँ अर्जन अर्थ में प्रयुक्त हुई है। **तप्यते तपस्तापसः**=तपोऽर्जयतीत्यर्थः। अर्जन कर्तृस्थ क्रिया है और 'तपस्' कर्म भी श्रूयमाण है, अतः कर्मवद्भाव की प्राप्ति बिल्कुल नहीं थी। मुख्य कर्ता में लकार है। **यजस्व देहि दीक्षस्व तपस्तप्यस्व सन्त्यज** (रा०२।१०९।१६)। (६१९)से चिण् का निषेध होने से सिच् होगा—**अतप्त तपस्तापसः**। (२३४) से सिच् का लोप। जब तपस् कर्म नहीं होगा (कोई और कर्म होगा) तब कर्मवद्भाव नहीं होगा—**उत्तपति स्वर्णं स्वर्णकारः**।

स्नु—**प्रस्नुते गौः स्वयमेव**। (६२३) से चिण् का निषेध कहा है, चिण्वद्भाव तथा तत्संनियुक्त इट् का निषेध नहीं कहा, अतः सिच् परे रहते **प्रास्नोष्ट गौः स्वयमेव**, (१९९) से इट् का अभाव। **प्रास्नाविष्ट गौः स्वयमेव**। चिण्वद्भाव इट् होकर रूप।

नम्—**नमति (नमयति) दण्डं कश्चित्। नमते दण्डः स्वयमेव**। यहाँ नम् का अन्तर्भावितण्यर्थ प्रयोग है। **अनंस्त दण्डः स्वयमेव**। यहाँ भी (६२३) से चिण् का निषेध हुआ है।

६३०—हेतुमत् अर्थ में (हेतु=प्रयोजक का व्यापार जब वाच्य होता है), श्रि, ब्रू से यक् तथा चिण् नहीं होते ऐसा वार्तिककार कहते हैं[3]—**कारयते**

---

१. न रुधः (३।१।६४)।

२. तपस्तपः कर्मकस्यैव (३।१।८८)।

३. यक्चिणोः प्रतिषेधे हेतुमण्णि-श्रि-ब्रूञामुपसंख्यानम् (वा०)।

देवदत्तः स्वयमेव । यक् नहीं हुआ । **अचीकरत देवदत्तः स्वयमेव** । चिण् नहीं हुआ । चिण्वदिट् तो होगा—**कारिष्यते** । **उच्छ्रयते दण्डः स्वयमेव** । यक् नहीं हुआ । शप् हुआ है । डंडा उठता है । **उच्छ्रायिष्यते** । चिण्वदिट् हुआ है । ब्रू—**कथां कश्चिद् ब्रवीति** । **ब्रूते कथा स्वयमेव** । **अब्रूत कथा स्वयमेव** ।

६३१—भारद्वाजीय लोग ऐसा पढ़ते हैं—**णि-श्रन्थि-ग्रन्थि-ब्रू आत्मनेपदाकर्मकाणामुपसङ्ख्यानम्**, अर्थात् ण्यन्त, श्रन्थ्, ग्रन्थ्, ब्रू तथा आत्मनेपद में अकर्मक धातुओं से यक् तथा चिण् नहीं होते । **श्रथ्नीते ग्रथ्नीते ग्रन्थः स्वयमेव** । यक् नहीं हुआ । श्ना हुआ है । आत्मनेपद का निषेध न होने से वह हुआ है । **अश्रन्थिष्ट** । **अग्रन्थिष्ट** । ब्रू का उदाहरण दिया जा चुका है । आत्मनेपद में अकर्मक—**विकुर्वते सैन्धवाः** । यहाँ अन्तर्भावितण्यर्थ मानकर पीछे उस प्रेषण (प्रेरण) व्यापार की अविवक्षा में कर्मवद्भाव होने पर वि-पूर्वक कृ से यक् व चिण् का निषेध विधान किया है । पर भारद्वाजीय लोगों का यह विधान व्यर्थ है । वि-पूर्वक कृ वल्गन (उछल-उछलकर चलना) अथवा विचेष्टा करना (जैसे यहां—ओदनस्य पूर्णाश्छात्रा विकुर्वते)अर्थ में आत्मनेपदी है । इस को कर्मवद्भाव की प्राप्ति ही नहीं 'विकृ' के कर्तृस्थ-क्रियक होने से । अतः अन्तर्भावित-ण्यर्थता आदि का आश्रय लेकर कर्मवद्भाव की प्राप्ति दिखाकर पुनः यक् तथा चिण् का निषेध करना द्राविड प्राणायाममात्र है । अनावश्यक व्यायाम है । बालमनोरमा में जो 'विकुर्वते' का पर्याय 'वल्गन्ति' वृत्ति तथा सि० कौ० में दिया है उसका 'शब्दं कुर्वन्ति' अर्थ निर्दिष्ट किया है, वह भ्रममात्र-विलसित है । 'वल्ग्' का यह अर्थ अत्यन्त दुर्लभ है । वृत्तिकार को भी यह अभिमत नहीं ।

६३२—कुष् तथा रञ्ज् के कर्मकर्ता के वाच्य होने पर यक् के विषय में श्यन् और आत्मनेपद के स्थान में परस्मैपद विकल्प से होता है[1]—**कुष्यति पादः स्वयमेव**, पैर अपने आप फट रहा है । **रज्यति वस्त्रं स्वयमेव**, वस्त्र अपने आप रंगा जा रहा है । पक्ष में **कुष्यते, रज्यते** भी कहेंगे । यक् के अ-विषय में न श्यन् होगा और न परस्मैपद—**चुकुषे पादः स्वयमेव** । **ररञ्जे वस्त्रं स्वयमेव** । **कोषिषीष्ट पादः स्वयमेव** । (आशीर्लिङ्) । **रङ्क्षीष्ट वस्त्रं स्वयमेव** । **कोषिष्यते पादः स्वयमेव** । **रङ्क्ष्यते वस्त्रं स्वयमेव** । **अकोषि पादः स्वयमेव** (चिण्) । **अरञ्जि वस्त्रं स्वयमेव** (चिण्) ।

इति कर्मकर्तृप्रक्रिया समाप्ता ।

---

१. कुषि-रञ्जोः प्राचां श्यन्परस्मैपदं च (३।१।९०) । राजनि रज्यन्ति (रज्यन्ते) प्रकृतयः, यह भी कर्मवद्भाव का उदाहरण है ।

लकारार्थ

तिङन्त-रूपावलि देते हुए हमने यथास्थान उस-उस लकार का सामान्य अर्थ दिया है। अब विशेष अर्थ प्रपञ्च सहित दिया जाता है।

६३३—वस् (रहना) से लुङ् आता है (लङ् नहीं) जब रात्रि-विशेष (अतीत रात्रि के चतुर्थ याम) में पूछा हुआ कोई व्यक्ति अपने वास के विषय में वाक्य प्रयुक्त करता है और जब कि वह गत रात के तीन पहर निरन्तर जागता रहा है।[1] यह विधि लङ् का अपवाद है, क्योंकि व्यतीत हुए रात्रि के तीन पहर उसके लिये अनद्यतन काल हैं। अतीत रात्रि के चतुर्थ याम से लेकर आगामिनी रात्रि के प्रथम याम तक का काल अद्यतन है, तद्भिन्न अनद्यतन है। **क्व भवानुषितः। इहैवावात्सम्।** यदि निरन्तर जागरण न हुआ हो तो यथा प्राप्त लङ् होगा—**क्व भवानुषितः। इहैवावसम्।**

अनद्यतन में लङ् का विधान हो चुका है। अनद्यतने लङ् (३।२।१११) सूत्र में 'अनद्यतन' बहुव्रीहि समास है—अविद्यमानोऽद्यतनो यत्र। अतः व्यामिश्र भूत (जहाँ अद्यतन और अनद्यतन क्रियाओं को एक तिङन्त से कहा जाता है) में लङ् नहीं होता, लुङ् ही होता है—**अद्य ह्यो वाऽभुक्ष्महि**, हमने आज या कल खाया। यहाँ 'अभुञ्ज्महि' नहीं कह सकते।

६३४—लोक प्रसिद्ध घटना जो भूत काल में हुई, जिसे प्रयोक्ता (घटना को वर्णन करने वाला वाक्य-प्रयोक्ता) देख सकता था, तुल्य-काल होने से, पर किसी कारण देख नहीं पाया, के निर्देश में धातु से लङ् का प्रयोग होता है, लुङ् व लिट् का नहीं[2]। वार्तिक में 'दर्शनविषये' का अर्थ है—शक्यदर्शन-विषये। **अरुणद् यवनः साकेतम्। अरुणद् यवनो माध्यमिकान्।** इन वाक्यों का प्रयोक्ता भगवान् भाष्यकार पतञ्जलि साकेत-रोध अथवा माध्यमिक-रोध के साथ समानकालिक था, वह इस रोध को देख नहीं पाया। वह उसके लिये

---

१. वसतेर्लुङ् रात्रिविशेषे जागरणसन्ततौ वक्तव्यः (वा०)।

२. परोक्षे च लोकविज्ञाते प्रयोक्तुर्दर्शनविषये लङ् वक्तव्यः (वा०)।

परोक्ष रहा। यह घटना लोकविज्ञात थी, जिसे बहुतों ने देखा होगा। कालान्तर में प्रणीत व्याकरण-ग्रन्थों में जो उदाहरण दिये हैं वे इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं, अतः उपादेय हैं। उन्हें यहाँ देते हैं—**अजयज्जरतो हूणान्** (चान्द्रवृत्ति)। **अरुणन्महेन्द्रो मथुराम्** (देवनन्दिकृत जैनेन्द्र व्याकरण)। **अदहद-मोघवर्षोऽरातीन्** (शाकटायन व्याकरण की अमोघ वृत्ति)। **अरुणत् सिद्धराजो-ऽवन्तीन्** (हेमचन्द्र)।

६३५—अभिज्ञा (स्मृति) वाची उपपद होने पर भूतानद्यतन काल में लृट् प्रत्यय होता है।[1] यह लङ् का अपवाद है। **अभिजानासि देवदत्त कश्मीरेषु वत्स्यामः। स्मरसि कृष्ण गोकुले वत्स्यामः।** देवदत्त तुम्हें याद है हम कश्मीर में रहते थे। कृष्ण तुम्हें स्मरण है, हम गोकुल में रहते थे। इसी प्रकार स्मृत्य-र्थक चेतयसे, बुध्यसे आदि के उपपद होने पर भी लृट् का प्रयोग होगा।

६३६—यद् शब्द सहित स्मृति वाचक उपपद होने पर भूतानद्यतन काल में लृट् का प्रयोग नहीं होगा[2]—**अभिजानासि देवदत्त यत्कश्मीरेष्ववसाम।**

६३७—स्मृतिवाचक उपपद होने पर, यद् शब्द हो चाहे न हो, पर यदि लक्ष्य-लक्षण-भाव सम्बन्ध में वाक्य-प्रयोक्ता की आकाङ्क्षा है, तो भूतानद्यतन में लृट् विकल्प से होता है[3]—**अभिजानासि वयस्य! बाल्ये पांसुषु सह क्रीडि-ष्यावः प्रणयकलहं च कदाचित् तत्र करिष्यावः। अभिजानासि वयस्य! बाल्ये पांसुषु सहाक्रीडाव प्रणयकलहं च कदाचित् तत्राकुर्व,** हे मित्र तुझे याद है हम दोनों बालकाल में धूलि में इकट्ठे खेलते थे और प्रेमवश कभी लड़ भी पड़ते थे। यद् शब्द के होने पर भी ऐसे ही लृट् का विकल्प होगा—**अभिजानासि वयस्य। यद् बाल्ये...यच्च तत्र** इत्यादि। यहां धूलि में इकट्ठे खेलना लक्षण (ज्ञापक) है। कलह करना लक्ष्य (ज्ञाप्य) है।

६३८—अत्यन्त अपह्नव (पूरा-पूरा इन्कार) अर्थ में अपरोक्ष अनद्यतन भूत में भी धातु से लिट् प्रत्यय होता है।[4] पीछे परोक्षे लिट् (३।२।११५) से परोक्ष अनद्यतन भूत में लिट् का विधान किया जा चुका है। अब अपरोक्ष में

---

१. अभिज्ञावचने लृट् (३।२।११२)।
२. न यदि (३।२।११३)।
३. विभाषा साकाङ्क्षे (३।२।११४)।
४. अत्यन्तापह्नवे लिड् वक्तव्यः (वा०)।

विधान किया जा रहा है। अत्यन्त अपह्नव से यहाँ प्रश्न-विषय-भूत क्रिया की कारणी-भूत क्रिया का अपलाप अभिप्रेत है—**किं कलिङ्गेष्ववात्सीः?** क्या तुम कलिङ्ग देश में रहे? **नाहं कलिङ्गान् जगाम** (लिट्)। मैं तो कलिङ्ग गया तक नहीं। अब गमन क्रिया के करने वाले अस्मदर्थ के लिये गमन क्रिया कैसे परोक्ष हो सकती है। परोक्षता के अभाव में लिट् का अवकाश नहीं था, अतः अत्यन्त अपह्नव अर्थ में नया विधान किया है।[1]

नानुशुश्रुम जात्वेतत्पूर्वेष्वपि जन्मसु।
शुल्कसंज्ञेन मूल्येन छन्नं दुहितृविक्रयम्॥ (मनु० ९।१००)

हम ने पूर्व कल्पों में भी (वर्तमान कल्प का तो क्या कहना) शुल्क द्वारा गुप्त कन्या-विक्रय नहीं सुना।

चित्त-व्याक्षेप से पारोक्ष्य हो जाता है, अतः उत्तमपुरुष में भी ऐसी स्थिति में धातु से लिट् होता है—

बहु जगद पुरस्तात्तस्य मत्ता किलाऽहं
चकर च किल चाटु प्रौढयोषिद्वदस्य।
विदितमिति सखीभ्यो रात्रिवृत्तं विचिन्त्य
व्यपगतमदयाह्नि व्रीडितं मुग्धवध्वा॥ (शिशु० ११।३९)।

दिन में विमद हुई मुग्ध युवति ने जब सखियों से अपने रात्रि-वृत्त को जाना कि मैंने उस अपने प्रिय के सामने बहुत कुछ कहा और प्रौढ स्त्री की तरह उसके प्रति चाटु वचन कहे, तो वह इसे सोचती हुई लज्जित हुई।

मद वश अथवा स्वप्न में चित्त व्याक्षेप होने पर पुरुष अपने किये हुए को भी नहीं जानता, पश्चात् दूसरों से बतलाये जाने पर कहता है—**सुप्तोऽहं किल विललाप,** कहते हैं (=किल) मैं ने सोते हुए बहुत विलाप किया।

६३९—ह, शश्वत् (उपपद होने पर भूतानद्यतन परोक्ष में धातु से लङ् भी होता है और यथाप्राप्त लिट् भी[2]—**रामो ह पितुर्वचनमकरोत्। रामो ह पितुर्वचनं चकार। रामः पितुर्वचनं शश्वदकरोत्। रामः पितुर्वचनं शश्वच्चकार।** ह और शश्वत् निपात हैं। इनका इन उदाहरणों में कुछ विशेष अर्थ नहीं।

६४०—समीपवर्ती अनद्यतन परोक्ष भूत काल में होने वाली क्रिया को

---

१. अङ्गबङ्गकलिङ्गेषु सौराष्ट्रमगधेषु च। तीर्थयात्रां विना गत्वा पुनः संस्कारमर्हति॥ ऐसी स्मृति है।

२. ह-शश्वतो लङ् च (३।२।११६)।

कहने वाली धातु से लङ् और लिट् प्रत्यय होते हैं। जब उस क्रिया के विषय में प्रश्न हो[1]। लिट् तो सिद्ध था, लङ् का विधान किया जा रहा है—**अपि देवदत्तो देशान्तरम् अगच्छत्। अपि देवदत्तो देशान्तरं जगाम। अद्य वर्षद्वयं तस्येतो गतस्य।** पाँच वर्ष तक के समय को आसन्नकाल (समीपवर्ती काल) कहते हैं।

६४१—स्म (निपात) उपपद होने पर अनद्यतन परोक्ष भूत में भी लट् प्रत्यय आता है[2]—**अयोध्यायां वसुमतीं स्म शास्ति रामः। कंसं किल हन्ति स्म वासुदेवः।**

६४२—अनद्यतन अपरोक्ष भूत में भी 'स्म' उपपद होने पर लट् प्रत्यय आता है[3]—**स परह्यो गेहं प्रतिष्ठते स्म, अद्य च प्रत्यागात्।** वह परसों घर को चला, आज लौट आया है। **इतः पञ्चस्वहःसु कार्यमिदं प्रक्रमे स्म, अद्य प्राह्णे परिणमयामि,** आज से पाँच दिन पूर्व मैं ने यह कार्य प्रारम्भ किया था, आज पूर्वाह्ण में समाप्त कर रहा हूँ।

६४३—प्रश्न के उत्तर वाक्य में ननु शब्द उपपद होने पर भूत-सामान्य में धातु से लट् प्रत्यय आता है[4]—**अकार्षीः कटं देवदत्त** (प्रश्न)। उत्तर—**ननु करोमि भोः,** जी हाँ मैं ने (चटाई) बनाली है। **विष्णुमित्र, स्वाध्यायात् प्रामदः किम्** (प्रश्न)। उत्तर—**ननु प्रमाद्यामि भोः,** जी हाँ मैंने (वेदपाठ से) प्रमाद किया। **नातः परं प्रमदिष्यामि,** आगे प्रमाद नहीं करूँगा। सूत्र में 'पृष्टप्रतिवचने' षष्ठी समास है। पृष्टस्य प्रतिवचनं तस्मिन्। द्वन्द्व नहीं।

६४४—न शब्द अथवा नु शब्द उपपद होने पर ऊपर कही विधि विकल्प से होती है[5]—**अकार्षीश्चापलं बटो** (प्रश्न)। उत्तर—**नाहमकार्षम्, न करोमि भोः,** मैंने (यह शरारत) नहीं की। **तेन संकथायामवादीरनृतं किम्,** उसके साथ बातचीत में क्या तू ने झूठ बोला था ? उत्तर—**अहं न्ववादिषम्, अहं नु वदामि भोः,** मेरा ख्याल है, मैंने (झूठ) बोला।

---

१. प्रश्ने चासन्नकाले (३।२।११७)।
२. लट् स्मे (३।२।११८)।
३. अपरोक्षे च (३।२।११९)।
४. ननौ पृष्टप्रतिवचने (३।२।१२०)।
५. नन्वो र्विभाषा (३।२।१२१)।

६४५—पुरा शब्द के योग में, 'स्म' उपपद न होने पर भूतानद्यतन काल में धातु से विकल्प से लुङ् और लट् होते हैं। पक्ष में यथाप्राप्त लङ् और लिट् भी। लिट् तो परोक्षता होने पर ही होगा[1]—**वसन्तीह पुरा छात्राः। अवात्सुरिह पुरा छात्राः। अवसन् इह पुरा छात्राः।** तीनों वाक्यों का एक ही अर्थ है—यहाँ पहले विद्यार्थी रहते थे (हमने उन्हें यहाँ रहते देखा)। पर **ऊषुरिह पुरा छात्राः** यहाँ पहले विद्यार्थी रहते थे (ऐसा हमने सुना है, देखा नहीं)। **यां न वायुर्नादित्यः पुरा पश्यति मे प्रियाम्** (भा ३।२३५३)। **अहं सो अस्मि यः पुरा सुते वदामि कानि चित्** (ऋ० १।१०५।७)। स्म शब्द के साथ 'पुरा' शब्द का योग होने पर तो लुङ् और लट् नहीं आयेंगे। पर **वसन्तीह स्म पुरा छात्राः।** यहाँ 'स्म' उपपद होने से 'लट् स्मे' (६४१) से लट् होता है। **उपाध्यायेन स्म पुराऽधीयते,** गुरु ने निरन्तर वेद पाठ किया। यहाँ 'पुरा' प्रबन्ध=नैरन्तर्य अर्थ में है।

६४६—यावत्, पुरा इन निपात-रूप उपपदों के योग में भविष्यत् काल में धातु से लट् प्रत्यय आता है।[2] भविष्यति गम्यादयः (३।३।३) से यहाँ भविष्यति' की अनुवृत्ति आ रही है। **उपनय रथं यावद् आरोहामि**(शाकुन्तल), रथ मेरे समीप लाइये, मैं चढ़ूँगा। **आलोके ते निपतति पुरा सा बलिव्याकुला वा** (मेघ०)। **पुराऽनुशेते तव चञ्चलं मनः** (किरात ८।८), तेरा चञ्चल मन थोड़ी देर में ही अनुतप्त होगा। **व्रजति हि पुरा परासुतां त्वदर्थे। प्रत्यासीदति मुक्तिस्त्वां पुरा मा भूरुदायुधः। विश्वमिदमपिदधाति पुरा।** (किरात१०।५०, ११।३६, १२।२६)। **त्वरय प्रस्थानम्, पुरा वर्षति देवः,** जल्दी प्रस्थान करो, मेंह बरसने को है। **उत्तिष्ठ पुरोदेति सूर्यः,** उठो, सूर्य निकलने को है। यावत् और पुरा—ये निपात निश्चय के द्योतक हैं ऐसा भट्टोजिदीक्षित कहते हैं। यद्यपि 'यावत्' अवधारण अर्थ में कोष में पढ़ा है, तो भी इसका **'यावदमत्रं ब्राह्मणानामन्त्रयस्व'** ऐसा प्रयोग-विषय है। काव्य-नाटकों में क्रियापद के योग में उसका 'निश्चय' अर्थ प्रतीत नहीं होता। यत्र तत्र यावद्-योग होने पर केवल क्रिया की भविष्यत्ता की प्रतीति होती है, निश्चयादि की नहीं। पुरा शब्द को तो कोषकार 'निश्चय अर्थ' में कहीं भी नहीं पढ़ते। अमर का पाठ है—**स्यात् प्रबन्धे चिरातीते निकटागामिके पुरा।** पुरा निकटागामी (आसन्न भविष्यत्) काल का द्योतक है। **गच्छ पुरा वर्षति देवः,** ऐसा उदाहरण देते

---

१. पुरि लुङ् चास्मे (३।२।१२२)।
२. यावत्पुरानिपातयोर्लट् (३।३।४)।

हुए भट्ट क्षीरस्वामी का भी यही मत है ऐसा स्पष्ट है । **आत्मा यक्ष्मस्य नश्यति पुरा** (ऋ०१०।६७।११) । यक्ष्मा रोग का स्वरूप अभी नष्ट हो जाएगा ।

पुराऽधर्मो वर्तते नेह यावत्तावद् गच्छामः सुरलोकं चिराय (भा० अनु० ४५५६) इससे पहले कि इस लोक में अधर्म हो जाय, हम चिरकाल के लिये देवलोक को चले जायें । **एकाग्रां पृथिवीं सर्वां पुरा राजन्करोति सः**(भा० वन० ५२।२६)। हे राजन् वह आसन्न भविष्यत् में सारी पृथिवी को एक सूत्र में बाँध देगा । **पुरा शिलाशितैर्बाणैर्मा त्वां विध्वंसयाम्यहम्**(रा० ३।६८।४४)। ऐसा न हो मैं तुम्हें शिलाओं पर तीक्ष्णीकृत बाणों से अभी नष्ट कर दूँ । **तदस्मिन्क्रियतां यत्नः क्षिप्रं पुरुषपुङ्गव । पुरा वानरसैन्यानि क्षयं नयति सायकैः** (रा० ६।७१।३६) ॥ हे पुरुषश्रेष्ठ, इस (रावण सुत अतिकाय) के विषय में शीघ्र यत्न कीजिये, यह बाणों से वानर सेनाओं को अचिरकाल में नष्ट कर देगा ।

६४७—कदा अथवा कर्हि के उपपद होने पर भविष्यदर्थ में धातु से लट् विकल्प से आता है[1]—**कदा कर्हि भुङ्क्षे, भोक्ष्यसे, भोक्तासे वा ?**

६४८—किंवृत्त (किम् शब्द से वृत्त=निर्वृत्त=निष्पन्न)शब्द का प्रयोग होने पर लिप्सा (प्राप्ति की इच्छा) की प्रतीति होने पर भविष्यदर्थ में विकल्प से लट् होता है[2]— **कं जनं कतरं वाऽऽवयोः कतमं वा नो भोजयसि, भोजयिष्यसि, भोजयितासि वा** । भोजन चाहता हुआ पूछता है कि आप किसे खिलायेंगे ? यहाँ किम्, कतर, कतम का प्रयोग है । 'कम्' विभक्त्यन्त किम् ही है । कतर और कतम डतर डतम-प्रत्ययान्त किम् हैं ।

६४७—लिप्स्यमान (चाहे हुए पदार्थ के द्वारा स्वर्गादि की) सिद्धि की प्रतीति होने पर भी भविष्यदर्थ में विकल्प से लट् होता है[3]—**यो नो बुभुक्षितेभ्योऽन्नं शीतार्तेभ्यो नग्नेभ्यश्चावरणं ददाति दास्यति दाता वा स स्वर्गं याति यास्यति याता वेत्याक्रोशन्ति प्रतिप्रतोलि भिक्षाकाः ।**

६५०—जिस धात्वर्थ से प्रैषादि (आदेश करना, स्वापेक्षया अपकृष्ट को कार्य में लगाना आदि) लोट् का अर्थ लक्षित होता है, उसे कहने वाली धातु से भविष्यदर्थ में विकल्प से लट् प्रत्यय आता है[4]—**उपाध्यायश्चेदागच्छति**

---

१. विभाषा कदाकर्ह्योः (३।३।५) ।
२. किंवृत्ते लिप्सायाम् (३।३।६) ।
३. लिप्स्यमानसिद्धौ च (३।३।७) ।
४. लोडर्थलक्षणे च (३।३।८) ।

आगमिष्यति आगन्ता वाऽथ त्वं व्याकरणमधीष्व, जब गुरु जी आजायें तो तू उनसे व्याकरण पढ़ना । **पिता चेत्प्रव्रजति प्रव्रजिष्यति प्रव्रजिता त्वमेव ज्येष्ठ इत्यम्बामनुजांश्च चिन्तयेत्याह मातुलः,** मामा ने कहा जब तुम्हारा पिता संन्यास लेगा, तब तुम बड़े हो इसलिये तुम ने ही माता और छोटे भाईयों की देखभाल करना ।

६५१—उपर्युक्त विषय में ऊर्ध्व-मौहूर्तिक भविष्यत् काल में लिङ् तथा लट् विकल्प से होते हैं[1]—**ऊर्ध्वं मुहूर्त्ताच्चेद् आगच्छेद् आगच्छति आगमिष्यति आगन्ता गुरुस्त्वं छन्दोऽधीष्व ।**

६५२—वर्तमान काल के समीपवर्ती भूत व भविष्यत् काल में होने वाली क्रिया को कहने वाली धातु से विकल्प से वर्तमान की तरह लट् आदि होते हैं ।[2]यह अतिदेश-विधायक सूत्र है । वत् ग्रहण सर्वसादृश्यार्थ है अर्थात् जिस किसी विशेषण (प्रकृति, प्रत्यय, उपाधि) को लेकर जो भी लट् विधान किया है वह वर्तमान-समीप-वर्ती भूत व भविष्यत् अर्थ में भी निर्दोष होगा । सूत्र में भूत व भविष्यत् शब्दोक्त नहीं, आर्थिक हैं । 'वर्तमान के समीपवर्ती' ऐसा कहने से ही इन की प्रतीति हो जाती है । वर्तमान काल के समीप भूत व भविष्यत् काल ही तो होंगे । कोई किसी से पूछता है--**कदाऽऽगतोसि,** तुम कब आये ? वह उत्तर देता है--**अयमागच्छामि । अयमागमम् ।** मैं अभी आया हूँ । यहाँ समीपवर्ती भूत काल में विकल्प से आगच्छामि (लट्) का प्रयोग हुआ है । 'अयम्' शब्द समीपता का द्योतक है । इसी प्रकार कोई किसी से पूछता है—**कदा गमिष्यसि ।** तुम कब जाओगे ? वह उत्तर देता है—**एष गच्छामि । एष गमिष्यामि ।** अभी जा रहा हूँ । यहाँ समीपवर्ती भविष्यत् काल में गच्छामि (लट्) का प्रयोग हुआ है । 'एषः' शब्द समीपता का द्योतक है । **कदा यूयमागतवन्तः । एते वयमागच्छामः ।** यहां समीपवर्ती भूतकाल में लट् हुआ है ।

६५३ आशंसा की प्रतीति होने पर धातु से परे भविष्यदर्थ में भूतकाल के और वर्तमान के प्रत्यय विकल्प से होते हैं ।[3] अप्राप्त प्रिय वस्तु की प्राप्ति की इच्छा को 'आशंसा' कहते हैं । आशंसा यद्यपि वर्तमान में होती है उसका विषय

---

१. लिङ् चोर्ध्वमौहूर्तिके (३।३।९) ।

२. वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा (३।३।१३१) ।

३. आशंसायां भूतवच्च (३।२।१३२) ।

भविष्यत्कालिक होता है। अतः भविष्यत् काल के अर्थ में यह अतिदेश विधान किय जा रहा है। **उपाध्यायश्चेद् आगमद् आगतः, आगच्छति, आगमिष्यति एते वयं व्याकरणम् अध्यगीष्महि**(अधि इङ्—लुङ्), **एते वयं व्याकरणमधीतवन्तः, अधीमहे, अध्येष्यामहे। देवश्चेद् अवर्षीद् वृष्टः, वर्षति, वर्षिष्यति, एते वयमवाप्स्म, उप्तवन्तः, वपामः, वप्स्यामः,।** हमारी इच्छा है यदि वृष्टि हो गई, हम बीज बोएँगे।

भूतवत् कहने से भूत सामान्य में विहित लुङ् ही होगा, भूत-विशेष में विहित लङ् और लिट् नहीं—सामान्यातिदेशे विशेषानतिदेशः (परिभाषा), सामान्य के अतिदेश में विशेष का अतिदेश नहीं होता।

६५४—आशंसा की प्रतीति होने पर क्षिप्र, शीघ्र, त्वरित आदि उपपद होने पर धातु से लृट् होगा[1]—**उपाध्ययश्चेत्त्वरितमागमिष्यति त्वरितं व्याकरणमध्येष्यामहे,** हमारी इच्छा है कि यदि उपाध्यायजी शीघ्र आजायें तो हम शीघ्र ही व्याकरण पढ़ेंगे। **देवश्चेत्क्षिप्रं वर्षिष्यति क्षिप्रं क्षेत्राणि बीजा करिष्यामः।** लुट् के विषय में भी लृट् ही होगा—**उपाध्यायश्चेत्त्वरितं श्व आगमिष्यति त्वरितं श्वोऽध्येष्यामहे।**

६५५—आशंसा-वाची उपपद होने पर भविष्यत् काल के अर्थ में धातु से लिङ् होता है क्षिप्र वाचक शब्द होने पर भी इस शास्त्र के **पर** होने से लिङ् ही होगा, लृट् नहीं[2]—**उपाध्यायश्चेदागच्छेद् आशंसे युक्तोऽधीयीय। उपाध्यायश्चेत् क्षिप्रमागच्छेदाशंसे क्षिप्रं युक्तोऽधीयीय।**

६५६—क्रिया-प्रबन्ध (=क्रिया-सातत्य=क्रियानैरन्तर्य) तथा क्रिया की समीपकालिकता गम्यमान होने पर धातु से लङ्, लुट् नहीं होते[3]—**यावज्जीवमन्नमदात्,** आयुभर अन्न-दान करता रहा। **त्रीन्वासरानवर्षीद् देवो** ऽनन्तरायम् अद्य प्रातरुपारंसीत्, तीन दिन लगातार वृष्टि हुई, आज प्रातः थमी है। **अयं नैष्ठिको ब्रह्मचारी बुभूषुः सर्वमायुर्वेदमध्येष्यते,** यह आमरण ब्रह्मचारी होना चाहता हुआ आयु भर वेद पढ़ेगा। **येयं पौर्णमास्यतिक्रान्ता तस्यामयं सोमेनायष्ट।** यह जो पौर्णमासी अभी-अभी निकली है उसमें इस ने सोम याग किया। **येयं पौर्णमास्यागामिनी तस्याम् अयं दारान् करिष्यति'** यह जो

---

१. क्षिप्रवचने लृट् (३।३।१३३)।

२. आशंसावचने लिङ् (३।३।१३४)।

३. नानद्यतनवत् क्रियाप्रबन्ध-सामीप्ययोः (३।३।१३५)।

पौर्णमासी आनेवाली है उसमें यह विवाह करेगा। **येयमव्यवहितपूर्वे मासे परीक्षाऽभूत्तामयं नाशकदुत्तरीतुम्, उत्तरभिश्चानन्तरे या भविष्यति तामयं ध्रुवं तरीष्यति।** यह जो पिछले ही महीने में परीक्षा हुई उसमें यह उत्तीर्ण नहीं हो सका, अब अगले महीने में जो हो रही है उसमें निश्चित ही यह उत्तीर्ण होगा।

६५७—भविष्यत् काल में होने वाली क्रिया को कहने वाली धातु से अनद्यतन भविष्यत् में लुट् नहीं होता जब देशकृत मर्यादा शब्द द्वारा कही गई हो और जब अवर (इधर) के विभाग में क्रिया हुई हो[1]—**योऽयमध्वाऽऽपटलिपुत्राद् गन्तव्यस्तस्य यदवरं कौशाम्ब्यास्तत्रौदनं भोक्ष्यामहे, तत्र सक्तून्पास्यामः,** पाटलिपुत्र तक जो हमने रास्ता तै करना है, उसका कौशाम्बी (=कोसम) से इधर का जो भाग है वहाँ हम भात खायेंगे, वहाँ सत्तू पीयेंगे। यहाँ आ पाटलिपुत्रात् में आङ् मर्यादावचन में है। सो यहाँ देशकृत मर्यादा है। गन्तव्य अध्वा का जो कौशाम्बी से अवर भाग, वहाँ ओदन-भोजन आदि होने से यहाँ सूत्र प्रवृत्ति का अवकाश है। पर-विभाग में क्रिया के होने पर अनद्यतन लुट् का नहीं होगा—**योऽयमध्वाऽऽपाटलिपुत्राद् गन्तव्यस्तस्य यत्कौशाम्ब्याः परं तत्रौदनं भोक्तास्महे, तत्र सक्तून्पातास्मः।**

६५८—भविष्यत्काल काल-कृत मर्यादा के कहे जाने पर अवर विभाग में होनी वाली क्रिया को कहने वाली धातु से अनद्यतन लुट् नहीं होता, यदि अहोरात्र-सम्बन्धी विभाग न हो। अहोरात्र-सम्बन्धी विभाग होने पर तो यथा-प्राप्त लुट् निर्बाध होगा[2]—**योऽयं संवत्सर आगामी तत्र यदवरमाग्रहायण्यास्तत्र युक्ता अध्येष्यामहे,** यह जो आने वाला वर्ष है, उसमें जो अगहन (मार्ग-शीर्ष) पूर्णिमा है उससे पूर्व हम एकाग्र होकर पढ़ेंगे।

६५९—भविष्यत् काल में मर्यादावचन होने पर पर-भाग में होने वाली क्रिया के लिये अनद्यतन लुट् का पाक्षिक निषेध है, पक्ष में लुट् विकल्प से होगा[3]—**योऽयं संवत्सर आगामी तस्य यत्परमाग्रहायण्यास्तत्र युक्ता अध्येष्यामहे, तत्र युक्ता अध्येतास्महे।**

६६०—लिङ् का निमित्त जो हेतु-हेतुमद्भाव, उसके होने पर, भविष्यत्कालिक क्रिया की अतिपत्ति=(असिद्धि) की प्रतीति होने पर धातु से लृङ्

१. भविष्यति मर्यादावचनेऽवरस्मिन् (३।३।१३६)।
२. कालविभागे चानहोरात्राणाम् (३।३।१३७)।
३. परस्मिन्विभाषा (३।३।१३७)।

प्रत्यय होता है।[1] **सुवृष्टिश्चेद् अभविष्यत्सुभिक्षमभविष्यत्**, यदि अच्छी वृष्टि होगी (जो हम किन्हीं अन्य लक्षणों से जानते हैं कि नहीं होगी) तो सुभिक्ष (अच्छा अनाज)होगा। **दक्षिणेन चेदयास्यन्न शकटं पर्याभविष्यत्**, यदि दक्षिण की ओर से छकड़ा आयगा (जो हम जानते है कि आयगा नहीं), तो नहीं उलटेगा।इन उदाहरणों में चेत् शब्द से हेतु-हेतुमद्भाव(निमित्त-नैमित्तिक-सम्बन्ध) द्योतित है। सुवृष्टि हेतु है। सुभिक्ष हेतुमान् (=कार्य)। निमित्त के न होने से नैमित्तिक भी न होगा ऐसा अनुमान कर वक्ता वाक्य प्रयुक्त करता है। **यद्यहं वर्षसहस्रमजीविष्यं तदा पुत्रशतमजनयिष्यम्**, यदि मैं हजार वर्ष जीऊँ (मैं जानता हूँ कि जरा के बहुत पहले आ जाने से इतना दीर्घ जीवन नहीं हो सकेगा) तो सौ पुत्र उत्पन्न करूँ। (भाषावृत्ति)

६६१—उपर्युक्त विषय में भूत काल-सम्बन्धी क्रियाऽतिपत्ति की प्रतीति होने पर भी लृङ् होता है[2]—**सुवृष्टिश्चेदभविष्यत्सुभिक्षमभविष्यत्**, यदि अच्छी वृष्टि हो जाती (जो किसी कारण नहीं हुई), तो अच्छा अनाज हो जाता (जो नहीं हुआ)। **दृष्टो मया भवत्पुत्रोऽन्नार्थी चङ्क्रम्यमाणः, अपरश्च द्विजो ब्राह्मणार्थी। यदि स तेन दृष्टोऽभविष्यत् तदाऽभोक्ष्यत। न तु भुक्तवान्।** (काशिका)। **राजानश्चेन्नाभविष्यन्पृथिव्यां दण्डधारणे। शूले मत्स्यानिवापक्ष्यन् दुर्बलान्बलवत्तराः** (नारदीय मनुसंहिता)॥ यदि पृथिवी पर दण्डधारण के निमित्त राजा न होते तो बलवान् निर्बलों को ऐसे भून देते जैसे सीखों पर मछलियों को भूनते है। **यद्भैक्ष्यमाचरिष्याम वृष्ण्यन्धकपुरे वयम्। ज्ञातीन् निष्पुरुषान्कृत्वा नेमां प्राप्स्याम दुर्गतिम्** (भा० शां० ७।३)॥ यदि हम वृष्णियों और अन्धकों के नगरों में भिक्षा मांगकर निर्वाह कर लेते तो आज अपने बन्धुओं को पुरुष-रहित करके इस दशा को न प्राप्त होते। **परस्परेण स्पृहणीयशोभं न चेदिदं द्वन्द्वमयोजयिष्यत्। अस्मिन्द्वये रूपविधानयत्नः पत्युः प्रजानां विफलोऽभविष्यत्** (रघु० ७।१४)॥ यदि विधाता एक दूसरे से वाञ्छनीय शोभा वाले इन दो को पति पत्नी सम्बन्ध से न जोड़ता तो इन में सौन्दर्य-निर्माण-विषयक उसका यत्न व्यर्थ जाता। **यदि सुरभिमवाप्स्यस्तन्मुखोच्छ्वासगन्धं तव रतिरभविष्यत् पुण्डरीके किमस्मिन्** (विक्रमो० ४।२२)॥ **गामधास्यत् कथं नागो मृणालमृदुभिः फणैः। आ रसातलमूलात्त्वमवालम्बिष्यथा न चेत्** (कुमार०   )॥ मल्लिनाथ का कहना है कि

१. लिङ्निमित्ते लृङ् क्रियातिपत्तौ (३।३।१३९)।
२. भूते च (३।३।१४०)।

यहाँ क्रियातिपत्ति के न होने से लृङ् का प्रयोग चिन्त्य है। हमारे विचार में हेतु भूत अनालम्बनरूप क्रिया की अतिपत्ति गम्यमान है और हेतुमत् पृथिवी का जो अधारण तदसिद्धि भी। अतः लृङ् प्रयोग निर्दोष है। **यद्यहमिममवेदिष्यं कथं ते नावक्ष्यम्** (प्रश्नोप० ६।१)। (भारद्वाज का कौसल्य राजपुत्र को उत्तर) यहाँ भी।

रामायण महाभारत आदि में लृङ् के विषय में लिङ् भी देखा जाता है, वह निश्चय ही अपाणिनीय है—**दृश्यमानस्तु युध्येथा मया युधि नृपात्मज। अद्य वैवस्वतं देवं पश्येस्त्वं निहतो मया** (रा० ४।१७।४७)॥ हे राजकुमार, यदि तुम मेरे साथ सामने होकर लड़ते तो आज तुम मृत्यु को प्रापित हुए सूर्य को देखते (अर्थात् तुम्हारे मारे जाने के पीछे सूर्य निकलता)। **यदि त्वं पुरा द्यूतात्कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम्। निवर्तयेथाः पुत्रांश्च न त्वां व्यसनमाव्रजेत्** (भा० द्रोण० ८६।४)॥ (हे धृतराष्ट्र), यदि आप पहले ही कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर तथा अपने पुत्रों को द्यूत से हटादेते, तो आप को यह विपत्ति न आती।

वैदिक साहित्य (निरुक्त आदि) में लृङ् के अविषय में भी लृङ् का प्रयोग देखा जाता है—**तयो र्भासोः सुसङ्गं दृष्ट्वैवमवक्ष्यत्** (निरुक्त ७।२३।११)। इन दो ज्योतिओं के संग को देखकर ही मन्त्रद्रष्टा ने ऐसा कहा होगा।

६३२—अपि तथा जातु के उपपद होने पर गर्हा (निन्दा) के गम्यमान होने पर लट् प्रत्यय आता है। यह सर्वलकारापवाद है।[1] इस विषय में लट् ही होता है, जिसकी भूत आदि में प्राप्ति नहीं थी और भूतादि में प्राप्त लुङादि नहीं होते। **अपि जायां त्यजसि जातु गणिकामाधत्से। अहो गर्ह्यमेतत्।** तू ने अपनी स्त्री का त्याग किया है, तू कर रहा है, तू करेगा, तूने वेश्या को घर में रखा है, तू रखेगा, यह निन्दित कर्म है। यहाँ निन्दा वाक्यार्थ से प्रतीत हो रही है, इसे वाक्य के अन्त में शब्द द्वारा कह दिया जाता है।

६६३—वोताप्योः (वा उताप्योः ३।३।१४१)। यह अधिकार सूत्र है। यहाँ से उताप्योः समर्थयोर्लिङ् (३।३।१५२) से पहले-पहले तक लिङ् का निमित्त होने पर भूतकालिके क्रियातिपत्ति होने पर विकल्प से लृङ होता है और भविष्यत्कालिक अतिपत्ति होने पर नित्य ही लृङ् होता है।

६६४—कथम् उपपद होने पर गर्हा की प्रतीति होने पर धातु से विकल्प से लिङ् और लट् होते हैं। पक्ष में यथाप्राप्त लकारान्तर भी होते हैं[2]—**कथं नाम तत्र भवान् वृषलं याजयेत्। कथं नाम तत्र भवान्वृषलं याजयति।** आपने

१. गर्हायां लडपिजात्वोः (३।३।१४२)।
२. विभाषा कथमि लिङ् च (३।३।१४३)।

शूद्र का यजन कैसे करा दिया ? पक्षान्तर में **कथं नाम तत्र भवान् वृषलं याजयिष्यति । कथं नाम तत्र भवान् वृषलमयाजयत् । कथं नाम तत्र भवान्वृषलमयीयजत् । कथं नाम तत्र भवान्वृषलं याजयाञ्चकार** । इन उदाहरणों में 'कथम्' शब्द के उपादान से लिङ् निमित्त भी है और गर्हा की प्रतीति भी । अतः भूत अर्थ में विकल्प से लृङ् होगा और भविष्यत् अर्थ में नित्य—**कथं नाम तत्र भवान् वृषलमयाजयिष्यत्** ।

६६५—किम् शब्द से निष्पन्न विभक्त्यन्त शब्द का प्रयोग होने पर तथा गर्हा (निन्दा) की प्रतीति होने पर धातु से लिङ् तथा लृट् प्रत्यय होते हैं [1]। यह सर्वलकारापवाद है । सूत्र में लिङ् ग्रहण अनुवर्तमान लट् की निवृत्ति के लिये है । **को नाम कतरो नाम वृषलो यं तत्र भवान् याजयेत्, यं तत्र भवान् याजयिष्यति** । लृङ्—**को नाम वृषलो यं तत्र भवानयाजयिष्यत्,** वह कौन ऐसा वृषल है जिस का आप यजन करा सकते । (यदि होता तो कराते, नहीं है, अतः नहीं करा सके) ।

६६६—अनवक्लृप्ति (असंभावना) तथा अमर्ष (अक्षमा, क्रोध) की प्रतीति होने पर किम् से निष्पन्न विभक्त्यन्त शब्द का प्रयोग हो चाहे न हो, धातु से लिङ् तथा लृट् प्रत्यय आते हैं ।[2] इस सूत्र में गर्हा अर्थ की अनुवृत्ति हट गई है ।

नावकल्पयामि न संभावयामि न श्रद्दधे कुले महति सम्भूतो भवान् गुरूनपवदेत्, गुरूनपवदिष्यति । आः कस्त्वं देवतां निन्देः, देवतां निन्दिष्यसि । 'आः' यह क्रोध द्योतक निपात है ।

६६७—किङ्किल तथा अस्त्यर्थक अस्ति, भवति, विद्यते के उपपद होने पर अनवक्लृप्ति तथा अमर्ष की प्रतीति होने पर धातु से लृट् होता है । यह लिङ् का अपवाद है[3]—**किङ्किल तत्र भवान् शूद्रान्नं भोक्ष्यसे, न श्रद्दधे, न मर्षयामि** । 'किङ्किल' यह निपात-समुदाय क्रोध का द्योतक है । **अस्ति भवति विद्यते वा तत्र भवाञ्शूद्रां गमिष्यति** । इस वाक्य का भवत्कर्तृकं शूद्रागमनमस्ति ऐसा अर्थ है ।

६६८—जातु, यद्, यदा, यदि—इन उपपदों के होते हुए अनवक्लृप्ति

---

१. किंवृत्ते लिङ्लृटौ (३।३।१४४) ।

२. अनवक्लृप्त्यमर्षयोरकिंवृत्तेपि (३।३।१४५) ।

३. किङ्किलास्त्यर्थेषु लृट् (३।३।१४६) ।

अौर अमर्ष की प्रतीति होने पर धातु से लिङ् होता है[1]—**जातु यद् यदा यदि वा त्वादृशोऽनृतं भाषेत न श्रद्दधे, न मर्षयामि ।**

६६९—यच्च, यत्र इन उपपदों के होते हुए भी अनवक्लृप्ति तथा अमर्ष की प्रतीति होने पर धातु से लिङ् होता है।[2] योगविभाग उत्तरत्र 'यच्च' 'यत्र' की अनुवृत्ति हो, 'जातु' 'यद्' की अनुवृत्ति न हो इसलिये किया है। **यच्च तत्र भवान्परस्वं हरेत्, नावकल्पयामि, न मर्षयामि । यत्र तत्र भवान् मान्यानवमानयेत्, नावकल्पयामि, न मर्षयामि ।**

६७०—गर्हा अर्थ की प्रतीति होने पर यच्च, यत्र उपपदों के रहते धातु से लिङ् होता है।[3] यह सर्वलकारापवाद है। **यच्च यत्र वा तत्र भवान् वृद्धो वृद्धः सन् ब्राह्मणो वृषलं याजयेत्, एतद् गर्हामहे । अहो अन्याय्यमेतत् ।**

६७१—चित्रीकरण (आश्चर्य, विस्मय) की प्रतीति होने पर यच्च, यत्र के उपपद होने पर धातु से लिङ् होता है।[4] यह सर्वलकारापवाद है। **यच्च यत्र वा तत्र भवान्सर्वं शाकलकमाम्नायं कण्ठेनोदीरयेत्, आश्चर्यमेतत्,** आश्चर्य है आप समग्र (ऋग्वेद) शाकल शाखा का मुख से उच्चारण करते हैं, आपने किया, आप करेंगे। **आश्चर्यं मृगपोतः केसरिकिशोरकं प्रत्यर्थयिष्यते,** आश्चर्य है हरिण का बच्चा सिंह शिशु का सामना करे।

६७२—यच्च, यत्र से भिन्न कोई और यदि-शब्द-व्यतिरिक्त उपपद हो और चित्रीकरण गम्यमान हो तो धातु से लृट् आता है, कोई और लकार नहीं।[5] **आश्चर्यं चित्रमद्भुतम् अन्धो नाम पर्वतमारोक्ष्यति । बधिरो नाम व्याकरणमध्येष्यते,** आश्चर्य है अन्धा पर्वत पर चढ़ता है, चढ़ गया, चढ़ेगा, बहिरा व्याकरण पढ़ता है, बहिरे ने व्याकरण पढ़ा, बहिरा व्याकरण पढ़ेगा। 'यदि' शब्द होने पर यथाप्राप्त लिङ् होगा—**आश्चर्यं यदि व्यासङ्गबहुलः सोऽध्ययने प्रवृत्तिमान्स्यात् ।**

६७३—समानार्थक उत वा अपि उपपद होने पर धातु से लिङ् होता

---

१. जातुयदोर्लिङ् (३।३।१४७)। यदायद्योरुपसंख्यानम् (वा०)।

२. यच्चयत्रयोः (३।३।१४८)।

३. गर्हायां च (३।३।१४९)।

४. चित्रीकरणे च (३।३।१५०)।

५. शेषे लृडयदौ (३।।१५१)।

है।[1] यह सर्वलकारापवाद है। 'बाढम्' इस अर्थ में उत और अपि समानार्थक हैं। बाढगाढदृढानि च——इस अमर के पाठ से 'बाढ' भृशार्थक है। **अभिजात इत्युत कुर्यात्कर्म देवदत्तोऽनाज्ञप्तोपि।** कुलीन इति बहु साधयेत्कर्माऽनादिष्टोपीत्यर्थः। **अप्यधीयीतायं विप्रो मेधावीति,** बह्वध्येष्यत इत्यर्थः। पर **उत गुरुचरणैः कृतान्प्रश्नानवोचः,** क्या तूने गुरु जी से किये गये प्रश्नों का उत्तर दिया? **अपिधास्यति द्वारं यज्ञदत्तः,** यज्ञदत्त द्वार को बन्द करेगा।

६७४——कामप्रवेदन (अपनी इच्छा का प्रकट करना) की प्रतीति होने पर धातु से लिङ् होता है, यदि 'कच्चित्' उपपद न हो।[2] इस विषय में और कोई लकार नहीं हो सकता——**कामो मे गृहे मे श्वो भुञ्जीत भवान्,** मेरी इच्छा है आप कल मेरे घर खाना खायें। **अभिलाषो मे प्रातर्विहारे साहचर्यं मे कुर्याः,** मेरी इच्छा है आप सुबह सैर में मेरे साथ हों। कच्चित् शब्द का प्रयोग होने पर सर्वलकारापवाद लिङ् नहीं होगा। **कच्चित् कुशलिनस्तातपादाः सुखमासते,** आशा है पूज्य पिताजी सकुशल होंगे। **कच्चित्** शब्द कोमल आमन्त्रण=इष्ट प्रश्न अर्थ में पढ़ा है। कामो मे, अभिलाषो मे इत्यादि कहे बिना ही केवल कच्चित् के प्रयोग से कामप्रवेदन द्योतित हो जाता है, अतः लिङ् का प्रसङ्ग है। कच्चित् के अभाव में ही लिङ् होगा। प्रकृत प्रत्युदाहरण में जो लट् का प्रयोग हुआ है वह 'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा' से हुआ है। **अपि नौ वशमागच्छेत् कोविदारध्वजो रणे** (रा० २।९६।२२)। मेरी इच्छा है कि रण में कोविदार-ध्वज मेरे वश में आजाये। यहां अपि कच्चित् अर्थ में है।

६७५—पर्याप्त (पूर्ण) सम्भावना के गम्यमान होने पर धातु से लिङ् होता है।[3] सूत्र में 'अलम्' 'संभावन' का विशेषण है। सिद्धाऽप्रयोगे—यह 'अलम्' का विशेषण है। सिद्धोऽप्रयोगो यस्य तद् 'अलम्'। जहाँ अलम् शब्द का प्रयोग नहीं है, पर अर्थ है, वह अलम् शब्द 'सिद्धाप्रयोग' है। **अपि शिरसा पर्वतं भिन्द्यात्,** पूरी संभावना है कि वह सिर से पर्वत को फोड़ दे। **अपि द्रोणपाकं भुञ्जीत,** पूरी संभावना है कि वह द्रोण-भर पक्वान्न को खा जाये।

---

१. उताप्योः समर्थयोर्लिङ् (३।३।१५२)।

२. कामप्रवेदनेऽकच्चिति (३।३।१५३)।

३. संभावनेऽलमिति चेत् सिद्धाप्रयोगे (३।३।१५४)।

संभावना की पर्याप्ति न होगी तो सर्वलकारापवाद लिङ् नहीं होगा—**विदेश-स्थो देवदत्तः प्रायेण गमिष्यति ग्रामम्।** संभावना की पर्याप्ति होने पर भी यदि अलम् शब्द का प्रयोग है तो लिङ् नहीं होगा—**अलं देवदत्तो हस्तिनं हनिष्यति।**

लक्ष्मीश्चन्द्रादपेयाद्वा हिमवान्वा हिमं त्यजेत्।
अतीयात्सागरो वेलां न प्रतिज्ञामहं पितुः (रा० २।११२।१८)॥

यह संभावित हो सकता है कि चाँद की कान्ति चाँद को छोड़ जाये, यह संभावित हो सकता है कि हिमालय हिम को छोड़ दे, यह भी संभावित हो सकता है कि समुद्र अपनी मर्यादा-रूप वेला (तट) को लाँघ जाये, पर यह संभव नहीं कि मैं पिता को दिये हुए वचन (प्रतिज्ञा) का परित्याग करूँ।

६७६—संभावनावाची धातु के उपपद होने पर और यद् शब्द का प्रयोग न होने पर उक्तार्थ में विकल्प से लिङ् होता है। यद् शब्द उपपद होने पर तो पूर्वविधि से नित्य लिङ् होगा[1]—**संभावयाम्यद्य सायं मद् गेहे भवान्भुञ्जीत भोक्ष्यते वा। संभावयामि यदद्य सायं भवान्मद्गेहे भुञ्जीत। संभावयामि देव-दत्त ऐषमः परीक्षां तरेत् तरीष्यति वा,** पूरी संभावना है देवदत्त इस वर्ष परीक्षा पास कर लेगा। **संभावयामि यदसौ दुस्तरामिमामापगां बाहुकस्तरेत्,** मुझे पूर्ण आशा है वह इस दुस्तर नदी को तैर कर पार कर जायगा। बाहुभ्यां तरतीति बाहुकः। इस विषय में सूत्रकार का अपना प्रयोग भी है—तदस्य तदस्मिन्स्यादिति (५।१।१६)।

६७७—हेतु-हेतुमद्भाव-सम्बन्ध के द्योत्य होने पर धातु से विकल्प से लिङ् होता है। भविष्यत्येवेष्यते ऐसी इष्टि पढ़ी है। सो यह विधि भविष्यत् अर्थ में ही होती है, और वह भी विभाषा, अतएव पक्ष में लृट् होता है[2]—**कृष्णं चेन्नमेः स्वर्गं यायाः,** यदि तुम कृष्ण को नमस्कार करोगे, तो स्वर्ग को जाओगे। पक्ष में **कृष्णं चेन्नंस्यसि, स्वर्गं यास्यसि। यदि साधुषु साधु वर्तथास्तदा वर्धेथाः,** यदि सज्जनों के प्रति सद् व्यवहार करोगे तो बढ़ोगे। पक्ष में **यदि साधुषु साधु वर्त्स्यसि तदा वर्त्स्यसि,** ऐसा भी कहेंगे। वृत्-लृट्-सिप् = वर्त्स्यसि। वृध्-लृट्-सिप् = वर्त्स्यसि।

स्वप्नेपि यद्यहं वीरं राघवं सहलक्ष्मणम्।
पश्येयं नावसीदेयं स्वप्नोपि मम मत्सरी॥ (रा० ५।३४।२१)

---

१. विभाषा धातौ संभावनावचनेऽयदि (३।३।१५५)।
२. हेतु-हेतुमतोर्लिङ् (३।३।१५६)।

भविष्यत् में ही यह विधि है, अतः हन्तीति पलायते—यहाँ लिङ् नहीं हुआ। इति शब्द हेतु अर्थ में है। हनन हेतु है और पलायन हेतुमत् है। इसी प्रकार वर्षतीति धावति—यहाँ भी लिङ् का अवकाश नहीं।

६७८—इच्छार्थक धातु के उपपद होने पर धातु मात्र से लिङ् तथा लोट् होते हैं जब अभिप्राय प्रकाशन किया जाय[1]—**इच्छामि (कामये प्रार्थये) भुञ्जीत भुङ्क्तां वा भवान्। इच्छामि पुत्रक त्वं व्याकरणमधीष्व, व्याकरणमधीयीथाः।** इस विधि के लिये उपपद-भूत इच्छार्थक तथा वह धातु जिससे प्रत्यय विधान किया जाय समानकर्तृक नहीं होतीं। इच्छन्करोति—यहाँ इच्छार्थक धातु तो उपपद है, पर काम-प्रवेदन (अभिप्राय-प्रकाशन) नहीं है, अतः लिङ् व लोट् नहीं हुआ।

६७९—समानकर्तृकेषु तुमुन् (३।३।१५८)—इस सूत्र से 'समानकर्तृकेषु' की अनुवृत्ति अगले सूत्र में आती है।

६८०—समानकर्तृक इच्छार्थक धातु के उपपद होने पर धातु मात्र से लिङ् होता है[2]—**इच्छामि च्छन्दोऽधीयीय**, मेरी इच्छा है मैं वेद पढ़ूँ। **कामये भूयोऽप्युपगङ्गमाश्रमेऽवृषीन्पश्येयम्। श्रुतिं शीलयेयमितीच्छति**, मैं वेद का परिशीलन करूँ वह ऐसा चाहता है। **अपि श्वः प्रातः प्रतिष्ठेयेतीच्छसि**, क्या तू चाहता है कि कल प्रातः चल पड़ूँ?

६८१—इच्छार्थक धातुओं से विकल्प से लिङ् होता है वर्तमान काल के अर्थ में[3]—**य इच्छेत् प्रियोऽहं लोकस्य स्यामिति स शब्दाञ्छीलयेत्**, जो चाहता है कि मैं लोक का प्यारा बन जाऊँ वह साधु शब्दों का अभ्यास करे। **इच्छेयं च गदाहस्तं राजन् द्रष्टुं वृकोदरम्** (भा० उ० ५५।३७)।

६८२—विधि (प्रेरण), निमन्त्रण (आवश्यक कर्म में बुलाना), आमन्त्रण (कामचारानुज्ञा, इच्छानुसार प्रवृत्ति की अनुमति देना), अधीष्ट (सत्कारपूर्वक कार्य करने की प्रार्थना), सम्प्रश्न (पूछना, अनुमति चाहना), प्रार्थना—इन अर्थों में धातु मात्र से लिङ् तथा लोट् होते हैं[4]—विधि आदि प्रत्ययार्थ (लिङर्थ तथा लोडर्थ) के विशेषण हैं। विध्यादि से विशिष्ट कर्ता आदि में लिङ् तथा

---

१. इच्छार्थेषु लिङ्लोटौ (३।३।१५७)।

२. लिङ् च (३।३।१५९)।

३. इच्छार्थेभ्यो विभाषा वर्तमाने (३।३।१६०)।

४. विधि-निमन्त्रणाऽऽमन्त्रणाऽधीष्ट-सम्प्रश्न-प्रार्थनेषु लिङ् (३।३।१६१)॥ लोट् च (३।३।१६२)।

लोट् होते हैं ऐसा सूत्रार्थ है—विधि—**न हिंस्यात् सर्वा(=सर्वाणि) भूतानि। ज्योतिष्टोमेन जुहुयात्स्वर्गकामः। अहरहः स्वाध्यायमधीयीत**, प्रतिदिन वेद पाठ करे। **अर्वागस्तमयात्कर्मेदमपवर्जयेः**, इस कामको सायंकाल से पहले-पहले समाप्त करो। **ब्राह्मे मुहूर्त्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत्** (मनु० ४।९२)। **न तत्रोपविशेद्यत एनमन्य उत्थापयेत्** (बौ० ध० २।३।६।२९)। निमन्त्रण में—**इह भवान् भुञ्जीत। श्वो भवानस्मद्गृहे श्राद्धं भुञ्जीत।** आमन्त्रण में—**इह तिष्ठेः। इतो वा यायाः। न वयं त्वामेकतरस्मिन्नर्थे नियन्त्रयामः**, आप की इच्छा है यहाँ ठहरें अथवा यहाँ से चले जायें, इन में किसी एक कर्म में हम आप को नियन्त्रित नहीं करते। अधीष्ट (अध्येषण) में—**अधीच्छामो भवन्तं भवानुपनयेत**, हमारी आप से प्रार्थना है कि आप इस लड़के का उपनयन करें। **अनेन व्याकरणमधीतम्, एनं छन्दोऽध्यापयेयु र्भवन्तः।** सम्प्रश्न में—**किं नु खलु भो व्याकरणमधीयीय।** प्रार्थना में—**भवति मे प्रार्थना वेदमधीयीय।**

लोट् के क्रम से उदाहरण—(१) **उपदिशन्ति शास्त्राणि कुरु कर्म त्यजेति च। तत्र कोभिप्रायः।** (२) **साधु भवानास्ताम्** (३) **अपि तिष्ठ। अपि याहि। प्रताम्य वा प्रज्वल वा प्रणश्य वा सहस्रशो वा स्फुटिता महीं व्रज** (रा २।१२।१०९)। (४) **अधीच्छामो भवान्माणवकमुपनयताम्।** (४) **अप्यन्तरायाण्यार्य**, श्रीमान् जी क्या मैं अन्दर आजाऊँ? **किं ते प्रियं करवाणि?** (६) **भवति मे प्रार्थना ब्रह्मचार्यसानि**, मेरी इच्छा है मैं ब्रह्मचारी होऊँ।

६८३—प्रैष(=विधि), अतिसर्ग (आमन्त्रण, कामचारानुज्ञा), प्राप्तकालता, अवसर का आजाना)—इन अर्थों में लोट् भी होता है और कृत्य प्रत्यय भी होते हैं।[1] कृत्यप्रत्यय के उदाहरण द्वितीय खण्ड में कृत् प्रकरण में दिये जा चुके हैं। प्रैष और अतिसर्ग के लोट् के उदाहरण भी ऊपर दिये जा चुके हैं, केवल प्राप्तकालता अर्थ में उदाहरण वक्तव्य है। **इदानीं दारान् कुरु। अवसितं तेऽध्ययनम्।** प्राप्तकालस्त्वं दारकरणे, दारक्रिया ते प्राप्तावसरेत्यर्थः।

६८४—ऊर्ध्वमौहूर्तिक अर्थ में वर्तमान धातु से प्रैषादि अर्थों में लिङ् होता है और यथाप्राप्त दूसरे प्रत्यय भी होते हैं[2]—**ऊर्ध्वं मुहूर्त्तात् उपरि मुहू-**

१. प्रैषातिसर्ग-प्राप्तकालेषु कृत्याश्च (३।३।१६३)।
२. लिङ् चोर्ध्वमौहूर्त्तिके (३।३।१६४)।

त्वस्य प्रश्नमेतं प्रति ब्रूयाः प्रति ब्रूहि इति वा', एक मुहूर्त्त के पश्चात् तुम्हें इस प्रश्न का उत्तर देना होगा, तुम चाहो तो उत्तर देना, तुम्हारे उत्तर देने का समय आ गया है।

६८५—प्रैषादि अर्थों में ऊर्ध्वमौहूर्तिक अर्थ में वर्तमान धातु से लोट् होता है, लिङ् नहीं, जब 'स्म' निपात उपपद हो[1]—**ऊर्ध्वं मुहूर्त्ताद् भवान् गृहान्गच्छतु स्म। अङ्ग ऊर्ध्वं मुहूर्त्तान् माणवकं भवानध्यापयतु स्म।**

६८६—अधीष्ट (सत्कारपूर्वक कार्य में लगाना) अर्थ में वर्तमान धातु से 'स्म' शब्द उपपद होने पर लोट् आता है।(लिङ् नहीं)[2]—**अङ्ग स्म राजन्माणवकमध्यापय। अङ्ग स्म राजन्नग्निहोत्रं जुहुधि।**

६८७—काल, समय, वेला—इनके उपपद होने पर और यद् शब्द के उपपद होने पर धातु से लिङ् प्रत्यय होता है।[3] प्रैषादि का सम्बन्ध यहाँ भी है। **कालोऽयं यत्त्वमाश्रमान्तरं संक्रामेः, समावृत्तो ह्यसि। वेलेयं यत्त्वं विद्याशालं गच्छेः। समय एष यद्भवान्वनं प्रतिष्ठेत**, समय आगया है कि आप वन को चले जायें।

कोई लोग प्रवर्तनायां लिङ् ऐसा सूत्र चाहते हैं। उनका कहना है कि विधि, निमन्त्रण आदि सभी प्रवर्तना (प्रेरणा) के ही प्रकार हैं। प्रवर्तना के तीन भेद लक्षित होते हैं—

प्रेषणाऽध्येषणाऽनुज्ञा त्रिविधा स्यात्प्रवर्तना।
अधः कक्षे चोर्ध्वकक्षे समकक्षे जने क्रमात्॥

६८८—कर्ता की धातुवाच्य क्रिया में योग्यता के वाच्य अथवा गम्यमान होने पर धातु से लिङ् प्रत्यय आता है, कृत्य तथा तृच् भी आते हैं।[4] कृत्य तथा तृच् के उदाहरण द्वितीय खण्ड में कृत् प्रकरण में दे चुके हैं। लिङ् का उदाहरण—**पञ्चविंशतिवर्षो भवान् षोडशवर्षां सवर्णां हृद्यां कन्यां वहेत्।** कन्यां वोढुमर्हति, अर्हिष्यति इत्यर्थः।

६८९—शक् धातु के अर्थ से विशिष्ट अर्थ को कहने वाली धातु से लिङ् प्रत्यय आता है और कृत्य प्रत्यय भी आते हैं।[5] कृत्य प्रत्ययों के उदाहरण

---

१. अधीष्टे च (३।३।१६३)। अधीष्टं सत्कारपूर्वको व्यापारः।
२. लिङ् यदि (३।३।१६८)।
३. अर्हे कृत्यतृचश्च (३।३।१६९)।
४. शकि लिङ् च (३।३।१७२)।

द्वितीय खण्ड में कृत् प्रकरण में दिये जा चुके हैं। लिङ् के उदाहरण—**नैतावन्तं भारं वहेदयम् ऋषभतरः**, यह बूढ़ा बैल इतना बोझा नहीं ढो सकता। **कुर्यां हरस्यापि पिनाकपाणेर्धैर्यच्युतिं के मम धन्विनोऽन्ये** (कुमार०), मैं पिनाकधारी रुद्र के धैर्य का भी लोप कर सकता हूँ और धनुर्धारी मेरे लिये क्या हैं। **विक्षेपशक्तिर्लिङ्गादि ब्रह्माण्डान्तं जगत् सृजेत्**, विक्षेप शक्ति लिङ्ग-शरीर से लेकर ब्रह्माण्ड तक जगत् को उत्पन्न करने को समर्थ है। **न स्वप्नेन जयेन्निद्रां न कामेन जयेत्स्त्रियम्। नेन्धनेन जयेदग्निं न पानेन सुरां जयेत्** (भा० उ० ३६।८२)॥

आचालयेयु र्ये शैलान् क्रुद्धा भिन्द्यु र्महीतलम्।
उत्पतेयुरथाकाशं क्षोभयेयुर्महोदधिम् (हरिवं० १।५३।७६)॥

जो क्रुद्ध हुए पर्वतों को हिला सकते हैं, पृथिवी को फाड़ सकते हैं, आकाश में उड़ सकते हैं और महा समुद्र को क्षुभित कर सकते हैं।

नखदंष्ट्रायुधाः सर्वे सर्वे सर्वास्त्रकोविदाः।
विचालयेयुः शैलेन्द्रान्भेदयेयुः स्थिरान् द्रुमान् (रा० १।१७।२६)॥

६६०—आशिस्—विशिष्ट अर्थ में वर्तमान धातु से लिङ् तथा लोट् प्रत्यय आते हैं।[1]—आशिस् अप्राप्त इष्टार्थ की प्राप्ति की इच्छा को कहते हैं। **पुत्रक शरच्चन्द्र ज्योग्जीव्या नित्यं चाभ्युदियाः**, प्रिय पुत्र शरच्चन्द्र, तुम चिर तक जीओ और नित्य बढ़ो! **वाक्योच्चयः क्रियादेष विदुषां मुदमुत्तमाम्**(वाक्य-मुक्तावली)। **मा न भूवं भूयासम्** (यो० भा०)। **सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः। आयुष्मानेधि देवदत्ता ३**, देवदत्त तू चिरजीवी हो।

६६१—माङ् उपपद होने पर धातु से लुङ् होता है और कोई लकार नहीं होता।[2] **शब्दं मा कार्षीः**, शोर मत कर। **मैवं वोचः**, ऐसा मत कहो। **मा कातरो भूः। मा भूदेवं क्षणमपि च ते विद्युता विप्रयोगः** (मेघ० १११)। माङ् के योग में सर्वलकारापवाद लुङ् होता है, अतः **मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्** इत्यादि में लिङ् प्रयोग निश्चय ही अपाणिनीय है। **मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्** इत्यादि में लोट् के समाधान के लिये अर्वाचीन वैयाकरणों ने अनुबन्ध

---

१. आशिषि लिङ्लोटौ (३।३।१७३)।
२. माङि लुङ् (३।३।१७५)।

रहित 'मा' शब्द की कल्पना की है। वह 'स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया' इस न्याय के अनुसार यत्नमात्र है।

६९२—माङ् के उत्तर स्थान में यदि 'स्म' शब्द भी पढ़ा हो तो धातु से लङ् भी होता है और यथा प्राप्त लुङ् भी[1]—**मा स्म कुरुत कर्माणि शान्तिर्वः श्रेयसीति मस्करिणः। क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते** (गीता)। **मा स्म शब्दं करोः**, शोर मत कर।

६९३—धात्वर्थों के विशेषण-विशेष्य-भाव रूप सम्बन्ध होने पर क्रिया-समभिहार-विशिष्ट क्रियावाची धातु से लोट् होता है सब कालो में।[2] लोट् के आदेश-भूत सभी प्रत्ययों के स्थान में 'हि' तथा 'स्व' होते हैं जो लोट्-धर्मक होते हैं, अर्थात् 'हि' की परस्मैपद संज्ञा होती है और 'स्व' की आत्मनेपद। हि और स्व तिङ्-संज्ञक भी होते हैं। यहाँ इतना और विशेष है कि लोट्-सम्बन्धी 'त' और 'ध्वम्' के स्थान में हि और स्व विकल्प से होते हैं। क्रिया-समभिहार का अर्थ पौनः पुन्य व भृश है ऐसा पूर्व यङन्त प्रक्रिया में कह चुके हैं। **याहि याहीति याति**, बार-बार जाता है। **याहि याहीति यातः। याहि याहीति यान्ति। याहि याहीत्ययात्**, बार-बार गया। **याहि याहीत्ययाताम्**। वे दो बार-बार गये। **याहि याहीत्ययुः**, वे बार-बार गये। **याहि याहीति यासि। याहि याहीति यामि। याहि याहीति यास्यति।** इत्यादि। **अधीष्वाधीष्वेत्येवायमधीते**, वह बार-बार पढ़ता है। **अधीष्वाधीष्वेत्येवाधीयाते**, वे दो बार-बार पढ़ते हैं। **अधीष्वाधीष्वेत्येवाहमध्यगीषि**, मैंने बार-बार पढ़ा। इसी प्रकार दूसरे लकारों में म० पु० एक० से भिन्न पुरुष-वचनों में उदाहरण दिये जा सकते हैं। त, तथा ध्वम् के स्थान में हि तथा स्व नहीं भी होते—**लुनीत लुनीतेत्येव यूयं लुनीथ। अधीध्वमधीध्वमित्येव यूयमधीध्वे।** पक्ष में **लुनीहि अधीष्व** भी कहेंगे।

शैवं देवं निजपदजुषामन्तरायावसायम्।
चित्रैः स्तोत्रैः प्रियसख भवान्दीव्य दीव्येति दीव्येत्।

(कोक सन्देश १।३५)॥

दीव्य दीव्येति दीव्येत्=आप बार-बार स्तुति करें।

इस लोट् विधान में जिस धातु से लोट् किया हो, उसी का अनुप्रयोग

---

१. स्मोत्तरे लङ् च (३।३।१७६)।

२. क्रियासमभिहारे लोट् लोटो हिस्वौ वा च त-ध्वमोः (३।४।२)।

होता है। **लुनीहि लुनीहीत्येवायं लुनाति,** ऐसा कहेंगे, लुनीहि लुनीहीत्येवायं छिनत्ति, ऐसा नहीं कह सकते। इस लोट् की संवादिनी रचना आज भी मराठी में पाई जाती है—कर कर करतो, बार-बार करता है। क्रियासमभिहार अर्थ में लोडन्त की द्विरुक्ति होती है, 'क्रियासमभिहारे द्वे वाच्ये' ऐसा वार्तिक है। उक्त उदाहरणों में ऐसी द्विरुक्ति हुई है।

६९४—अनेक क्रिया-समुच्चय के द्योत्य होने पर धातु से यह लोट् विधि विकल्प से होती है। लोट्-विधि पक्ष में समुच्चीयमान क्रिया-विशेषों की सामान्यभूत क्रिया की वाचक धातु का अनुप्रयोग होता है—**ओदनं भुङ्क्ष्व सक्तून्पिब धानाः खादेत्येवायमभ्यवहरते,** भात खाता है, सत्तू पीता है, दाने चबाता है इस प्रकार यह (कुछ न कुछ) खाता रहता है। यह विधि क्रियासमभिहार अर्थ में नहीं, ऐसा होता तो लोडन्त क्रियाओं की द्विरुक्ति होती। पक्ष में **ओदनं भुङ्क्ते सक्तून्पिबति धानाः खादतीत्येवायमभ्यवहरते** ऐसा भी कहेंगे। **भ्राष्ट्रमट मठमट खदूरमटेत्येवायमटति**—काशिकास्थ इस उदाहरण में भ्राष्ट्रादि कारक-भेद से क्रिया-भेद स्वीकार करने पर अनुप्रयुक्त 'अटति' को सामान्य-क्रियावाचक माना जा सकता है।

पुरीमवस्कन्द लुनीहि नन्दनं मुषाण रत्नानि हरामराङ्गनाः।
विगृह्य चक्रे नमुचिद्विषा बली य इत्थमस्वास्थ्यमहर्दिवं दिवः॥(१।१५)

जिस बली (रावण) ने नमुचि के शत्रु (इन्द्र) के साथ युद्ध कर अमरावती नगरी पर धावा किया, नन्दन उद्यान को काट डाला, रत्नों को छीना (लूटा) और देवाङ्गनाओं का अपहरण किया, इस प्रकार द्युलोक को प्रतिदिन क्षुभित किया। यहाँ अवस्कन्दन आदि क्रिया-विशेष हैं और अस्वास्थ्य करना (क्षुभित करना) सामान्य क्रिया है।

इति लकारार्थप्रक्रिया समाप्ता।

---

१. समुच्चयेऽन्यतरस्याम्(३।४।३)। समुच्चये सामान्यवचनस्य(३।४।५)।

धातूपसर्गयोग

भ्वादिगण का उपक्रम करते हुए भू धातु के अर्थ का निर्देश करते समय हमने कहा था कि धातुओं के जो अर्थ धातुपाठ में दिये गये हैं, उतने ही अर्थ नहीं हैं। धातुओं के नाना अर्थ हैं। धातुपाठ में धात्वर्थों का उदाहरण मात्र किया गया है, परिगणन नहीं। अनुक्त अर्थ भी बहुत से होते हैं। प्रायः उपसर्ग-योग से वे प्रकट होते हैं। अतः उपसर्गों को उनका द्योतक कहा जाता है, वाचकता धातु में ही रहती है। साधारण रूप से कहा जाता है कि उपसर्ग धातु के अर्थ को बदल देते हैं—

उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते ।
प्रहाराहारसंहारविहारपरिहारवत् ॥

हृ का हरना, ले जाना अर्थ है, पर प्र-हृ का प्रहार (चोट मारना, आघात करना), आ-हृ का (आहार-रूप में) खाना, सम्-हृ का नाश करना, सिकोड़ना, अपनी ओर खींचना, इकट्ठा करना, वि-हृ का क्रीडा करना, सैर करना, परि-हृ का त्यागना, वर्जन करना अर्थ है। उपसर्ग के कार्य का निरूपण करने वाली अभियुक्तोक्ति तो यह है—

धात्वर्थं बाधते कश्चित्कश्चित्तमनुवर्तते ।
तमेव विशिनष्टयन्य उपसर्गगतिस्त्रिधा ॥

उपसर्ग का त्रिविध कार्य देखा जाता है। कोई एक उपसर्ग धातु के अर्थ को बाध लेता है, धातुपाठ-निर्दिष्ट अर्थ से विरुद्ध अर्थ की प्रतीति कराता है, कोई एक धात्वर्थ का ही अनुवर्तन=अनुसरण करता है, कुछ नया अर्थ नहीं कहता, अथवा धात्वर्थ को ही कुछ विशेष-सहित कहता है, और कोई दूसरा धात्वर्थ में प्रकर्ष लाता है। अर्थ-बाध जैसे—तिष्ठति=ठहरता है। पर प्रतिष्ठते=चलता है। ईक्षते=देखता है। पर उपेक्षते=नहीं देखता है अर्थात् परिहार करता है। स्मृ का अर्थ याद करना है, पर प्र-स्मृ का भूलना। अर्थानुवृत्ति जैसे—आप्नोति=प्राप्त करता है। प्राप्नोति, अवाप्नोति भी=

प्राप्त करता है। अर्थयते=मांगता है। प्रार्थयते, अभ्यर्थयते भी=मांगता है। द्वेष्टि=नाभिनन्दति, नहीं चाहता है, द्वेष करता है। अपद्वेष्टि, प्रद्वेष्टि भी=नाभिनन्दति, नहीं चाहता है, द्वेष करता है। गच्छति=जाता है। आगच्छति= आता है=अभिमुखं गच्छति। आभिमुख्यविशिष्ट गमन अर्थ है। वदति=बोलता है। संवदति=साथ बोलता है। साहचर्य-विशिष्ट भाषण अर्थ है। अर्थाधिक्य (अर्थप्रकर्ष) में जैसे—ब्रवीति=कहता है। पर प्रब्रवीति =प्रवचन=व्याख्या करता है। सरति=सरकता है। पर प्रसरति=फैलता है। साधयति=सिद्ध करता है। पर प्रसाधयति=अलङ्करोति (अच्छी तरह से बनाता है)।

उपसर्गों का यथास्थान प्रयोग भाषा में वैचित्र्य तथा चारुत्व लाता है। प्रसाद तथा माधुर्य भी लाता है। एक सरल, प्रसिद्ध, सुखोच्चार्य धातु के साथ नाना उपसर्गों का योग नाना अर्थों को कहने वाली धातुओं के विकट, विषम, दुःखोच्चार्य तिङन्त रूपों के ग्रहण धारण के प्रयास से भी बचाता है। अतः हम यहाँ प्रतिदिन के व्यवहार में आने वाली १२ धातुओं के उपसर्ग-वश नाना अर्थों को दिखाते हुए लगभग २४० वाक्य देते हैं। इनसे विद्यार्थी को उपसर्गों का यथार्थ बोध होकर पर्याप्त रचना-सौकर्य प्राप्त होगा।

भू

१. त्वमचिरेण विरहवेदनामनुभवितासी[1]त्यादिशन्त्या[2]देशिकाः[3]।

२. सत्यं प्रभवति[4] तातः स्वस्य कन्यकायाः। तथाप्यनुरूपभर्तृगामिनी स्यादिति नित्यमिच्छति।

३. नाहं त्वत्साचिव्यमन्तरेण दुष्करमिदं कर्म भावयितुं प्रभवामि[5]। बह्वपि चेत्प्रयतेय।

४. प्रभवत्य[6]यं मल्लो मल्लान्तराय। प्रतीतान्यस्यावदानानि।

५. हिमवतो गङ्गा प्रभवति[7]। विष्णोश्चरणादिति च पौराणिकाः, अत एव ते तां विष्णुपदीमाहुः।

६. सुतजन्मजन्मा प्रहर्षो नास्यात्मनि प्रबभूव[8] प्रभोः।

७. निःस्वाध्यायानि विप्राणां कुलानि पराभूवन्[9] प्रभूतानि।

---

१. अनुभव करेगा। २. आदिशन्ति=भविष्यवाणी करते हैं। ३. भविष्यद् वक्ता। ४. अधिकार रखता है। ५. समर्थ हूँ। ६. समकक्ष है। ७. प्रादुर्भूत होती है। ८. समाया। ९. नष्ट हो गये।

८. निर्धनो गुणाढ्योपि परिभूयते[1], सधनो निर्गुणोपि सम्भाव्यते[2]।

९. यदाऽहं तस्य भाषितं परिभावयामि[3] तदा नात्र बहुगुणं विभावयामि[4]।

१०. विभावितैकदेशेन[5] देयं यदभियुज्यते (विक्रमोर्वशी)।

११. भवत्संभावनोत्थाय परितोषाय मूर्च्छते। अपि व्याप्तदिगन्तानि नाङ्गानि प्रभवन्ति[6] मे (कुमार० ६।५९)।

१२: करिपोतकः सिंहशिशुनाऽभिभूयत[7] इति नो विस्मयाय न।

१३. मङ्गलायतनानि गुणनिधानानि भवादृशा विरला एव भवे संभवन्ति[8]।

१४. सम्भूया[9]ऽम्भोधिमभ्येति महानद्या नगापगा (शिशु०)।

१५. अधिगतयाथातथ्या महर्षयो नश्वरमिमं देहं विहाय ब्रह्म संभवन्ति[10]।

१६. इयं स्थाली तण्डुलप्रस्थं संभवति[11], नातोऽधिकम्।

१७. इह देशे गुरुर्न केवलं बुद्धिमाचिनोति स्म शिष्यस्य, अन्नेनापि संभावयति[12] स्म तम्।

१८. पूर्वे पुत्रकाम्यया स्त्रियं सम्बभूवु[13]र्न कामतः।

१९. दारिद्र्याद्दुद्भवन्ति[14] दुःखान्यनेकानि।

२०. भृत्येषु नातिविस्रम्भेत, अतिविस्रम्भाद्ध्येते प्रभवन्ति[15]।

२१. विक्रान्ता अपि तेऽसांयुगीना[16] इति पराभवन्[17]।

कृ

१. एतद्देशस्था दासवद् अनुकुर्वन्त्या[18]ङ्ग्लानाम्। इदं विसदृशं तेषाम्।

२. सुप्रणीतो[19]ऽयङ्ग्रन्थः। अयं साधूपकरिष्यति प्रथमवैयाकरणानाम्[20]।

३. असतोऽपि माऽपकार्षीः किमुत सतः।

---

१. तिरस्कृत किया जाता है। २. संमानित किया जाता है। ३. सोचता हूँ। ४. देखता हूँ। ५. जिसके पास चोरी के माल का कुछ अंश मिल गया है, उसे। ६. (समाने=अपने अन्दर धारण करने को) समर्थ हैं। ७. दबाया जाता है। ८. जन्म लेते हैं। ९. मिलकर। १०. (में) मिल जाते हैं। ११. अपने अन्दर धारण कर सकती है। १२. बढ़ाता था। १३. मैथुन करते थे। १४. उत्पन्न होते है। १५. प्रभु हो जाते हैं, बल पकड़ जाते हैं। १६. सांयुगीन=युद्ध-विशारद। १७. हार गये। १८. नकल करते हैं। १९ प्रणीत—रचित। २०. प्रथमवैयाकरण=जिसने अभी-अभी व्याकरण पढ़ना प्रारम्भ किया है।

४. सत्सङ्गतिः पापमपाकरोति[1] जाड्यं च धियो हरति ।

५. राजान्नं तेज आदत्त इति पराकरोति[2] राज्ञः प्रतिग्रहं विप्रः ।

६. यो हि रामायणं प्रकुरुते[3] स साधिष्ठमुपकुरुते लोकस्य ।

७. शास्त्रं वेदाध्ययने नाधिकरोति[4] शूद्रमर्थिनं समर्थमपीति केचित् । न वयं तद्वचो मानयामः ।

८. ये शरीरस्थान् रिपूनधिकुर्वते[5] ते जयिनः ।

९. चित्तं विकरोति कामः, स यत्नतो नियन्तव्यः ।

१०. ओदनस्य पूर्णाश्छात्रा विकुर्वते[6] (काशिका) ।

११. रुचिरां मूर्तिमाकरोति पटे चित्रकारः ।

१२. साधुदान्ता अमी विकुर्वते[7] सैन्धवाः ।

१३. यद्ययं पाने प्रसजति ध्रुवं निराकरिष्यते[8] बन्धुतया[9] ।

१४. दुष्यन्तो निराकरोदनपराद्धां परिगृहीतपूर्वां शकुन्तलाम् ।

१५. माऽहं ब्रह्म निराकार्षम् मा मा ब्रह्म स्म निराकरोत् ।

१६. संस्कृताध्ययनं संस्करोति चित्तम् तेन संस्कृतं शीलनीयम् ।

१७. रोहिण्यां छन्दांस्युपाकुर्यात्[10] ।

१८. नाहं जाने केनोपायेन दोषमिमं प्रतिकुर्याम् ।

१९. तारकेणासुरेण विप्रकृता[11] देवा धाम स्वायम्भुवं ययुः ।

२०. पदमिदं प्रकृतिप्रत्ययादिभिर्व्याकुरु[12] शक्नोषि चेत् ।

२१. प्रकृतिप्रत्ययादि समाश्रित्य सूत्रप्रवृत्तिक्रमं चानुसृत्य प्रयोगार्हं परिनिष्ठितं पदं प्रकुरु[13] ।

२२. स्वमतव्याक्रियैव[14] परमतनिराक्रिया भवति ।

---

१. दूर करती है । २. परे कर देता है, लेने से इन्कार कर देता है । ३. कथा करता है । ४. अधिकार देता है । ५. अधिकार में, वश में कर लेते हैं । ६. ऊधम मचाते हैं । ७. सुन्दर चाल चलते हैं । ८. जाति पंक्ति से बाहिर निकाल दिया जायगा । ९. बन्धुता=बन्धुवर्ग । १०. विधिवत् प्रारम्भ करे । ११. तंग किए हुए, सताए हुए । १२. पृथक् कर, विश्लेषण कर । १३. सिद्ध कर । १४. व्याक्रिया=व्याख्या ।

हृ

१. बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति[1] (भा० आदि०)।

२. समिधं सोम्य आहर, उप त्वा नेष्ये[2] (छां० उ० ४।३।५)।

३. समाहृत्यान्यतन्त्राणि पञ्चतन्त्रमिदं कृतम्।

४. संहर[3] वाचं त्वरमाणमानसाः सम्प्रति सामाजिकाः।

५. संह्रियन्तां[4] गावः, गृहं प्रति निवर्तामहे।

६. न हि संहरते[5] ज्योत्स्नां चन्द्रश्चण्डालवेश्मनः (हितो०)।

७. इमौ बालौ सीताया आकृतिमनुहरतः[6] ।

८. अनुहरन्ते[7] पैतृकमश्वाः, मातृकं गावः।

९. पथ्यमभ्यवहरे[8] न्नापथ्यं कदाचन, अगदं चेदिच्छेत्।

१०. यः कल्ये विहरति[9] स कल्यो[10] भवति।

११. भ्रातरमुपरतं निशम्य स नभसि[11] जलधरो जलमिवाश्रुधारां व्यहार्षीत्[12]।

१२. परिहर[14] खलसम्पर्कम्, नातः परं पातित्यजननमस्ति।

१३. सत्यवचसो महर्षयो न जातु लोभाद्वा मोहाद्वा विपरीतां व्याहरन्ति[13] वाचम्।

१४. स्तेनो यत्किञ्चिदपहृत्य[15] झटित्यपासरत्।

१५. पुत्रकामः शास्त्रशिष्टिमनुरुध्य पूर्णिमायां पुत्रेष्टिमाहरेत्[16]।

१६. भोजनवेलातिक्रमे चिकित्सका दोषमुदाहरन्ति[1] (मालविका)।

१७. आः कार्यविनिमयेन मयि व्यवहर[2]त्यनात्मज्ञः (मालविका)।

---

१. प्रहार (आघात) करेगा। २. तुझे उपनीत करूँगा, तेरा उपनयन करूँगा। छान्दस होने से उपसर्ग क्रियापद से व्यवहित प्रयुक्त हुआ है। लोक में 'त्वामुपनेष्ये' ऐसा कहेंगे। ३. संक्षिप्त करो। ४. इकट्ठी की जायें। ५. परे हटाता है, संकुचित करता है। ६. सदृश हैं। ७. परिशीलन करते हैं। यहाँ 'गतम्' (चाल) गम्यमान है। ८. खाये। ९. सैर करता है। १०. समर्थ, स्वस्थ। ११. श्रावण मास में। इस अर्थ में नभस् पुं० है। १२. बहाया, छोड़ा। १३. परिहर=परित्याग कर। १४. कहते हैं। १५. छीनकर। १६. आहरेत्=यजेत्।

१. बतलाते हैं, कहते हैं। २. व्यवहार करता है, बर्तता है

१८. य इच्छेत् प्रियोऽहं लोकस्य स्यामिति स शब्दान् व्यवहरे[1]न्नाप-शब्दान् ।

१९. राजपरिग्रहोस्य प्राधान्यमुपहरति[2] (मालविका), नास्मिन्बहुगुणं लक्षये ।

२०. न रम्यमाहार्य[3]मपेक्षते गुणम् (किरात०) ।

गम्

१. अयमागन्तुरिह कस्मादागमदिति न जाने । अस्याकृतिः शङ्कयति नः ।

२. स तं देशं गतो यतो न प्रत्यागमत् कश्चित् ।

३. उपाध्यायमुपेत्य व्याकरणमागमय[4] । इतस्ततो मुधा मा भ्रमीः(अनर्थकं मा परिक्रमीः) ।

४. कुतस्तेऽयमेतावतो द्युम्नस्यागमः[5] ?

५. प्रयागे गङ्गां यमुनया सङ्गच्छते सङ्गमश्चैष प्रेक्षणीयो भवति ।

६. ग्रामं संगच्छन्नसावुपतप्तोऽभूत्, दुःखं च महदन्वभूत् ।

७. आयोध्यका लोकाः प्रवसन्तं राममन्वगच्छन् तमावर्तयितुं च प्रायस्यन् ।

८. रविरुद्गच्छति तमश्चापगच्छति, कलं च क्वणन्ति शकुन्तयः ।

९. लङ्कातो निवर्तमानं रामं भरतः प्रत्युज्जगाम[6] दृढं चालिलिङ्ग ।

१०. स च गृहान्निरगमत् प्रावर्षच्च देवः ।

११. परापतितः प्रवीरः, तं समागच्छानि[7] ।

१२. कामत्रभवतीमवगच्छानि[8] ? केनात्रागमोऽभूद्भवत्याः ।

१३. अद्य कश्चिद् विपश्चिदस्मदीयान् गृहानभ्यागतः,[9] स आतिथ्येन संभावनीयः ।

१४. आगमयस्व[10] तावन्माणवक, एत आयान्ति गुरुचरणाः ।

१५. त्वदुक्तं युक्तमिति पश्यन्नभ्युपगच्छामि[11], नाहमेतद् विरुन्धे ।

१६. यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति[12] तथा तथा विजानाति (मनु० ४।२०) ।

---

१. प्रयोग करे । २. देता है । ३. बाहिर से लाया गया, अर्थात् बनावटी । ४. सीखो, ग्रहण करो । ५. प्राप्ति । ६. सत्कार करने को आगे बढ़ा । ७. सामना करूँ । ८. जानूं । ९. अभी आया है, अतिथि रूप से पहुंचा है । १०. धीरज धरो, प्रतीक्षा करो । ११. स्वीकार करता हूं । १२. जानता है ।

१७. पुष्परजः पराग इत्युच्यते, परागच्छति[1] हि तत् पुष्पात् ।

१८. ममापि पुनर्भवं क्षपयतु नीललोहितः परिगत[2]-शक्तिरात्मभूः (शाकुन्तल) ।

१९. संगच्छध्वं[3] संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम् (ऋ० १०।१९१।२) ।

२०. अधृष्यश्चाभिगम्य[4] श्च यादोरत्नैरिवार्णवः (रघु० १।१६) ।

चर्

१. प्रचरति[5] कश्मला किंवदन्ती मुषितो देवदत्तः सर्वस्वमिति ।

२. यावत् स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले । तावद्रामायणकथा लोकेषु प्रचरिष्यति ॥ (रा० १।२।३६)

३. दुर्लभः पतिर्धूर्जटिरिति जानत्यपि पार्वती नित्यमुपचचार[6] गिरीशम् ।

४. स्थाने सा देवीशब्देनोपचर्यते[7] (मालविका) ।

५. यदि चिरमार्ता सा विधिवदुपचर्येत[8] संभावये निर्गता गदात् स्यात् ।

६. यः कश्चिदपचरिष्यति[9] स निग्रहीष्यते, नात्र पक्षपातो भविष्यति ।

७. स्वं श्रेयश्चेदिच्छसि कल्याणमतीन् सतोऽनुचर[10] ।

८. प्रैष्यश्चिरं बालं परिचचार[11] स्वामी च परितुष्टस्तस्मै विपुलमर्थमतिससर्ज ।

९. या पतिं व्यभिचरति[12] न तस्याः सन्ति लोकाः शुभाः ।

१०. इङ् अध्ययने इति धातुरधिमुपसर्गं न व्यभिचरति[13] । तज्ज्ञापयति धातूपसर्गयोर्धातुत्वमेवास्तीति । पृथक्त्वेन प्रक्लृप्तिस्त्वडादीनां व्यवस्थार्था ।

११. पुत्राः पितॄनत्यचरन्नार्यश्चात्यचरन्[14] पतीन् (भा०) ।

---

१. जुदा हो जाता है । २. परिगत=व्यापक । ३. संघटित हो जाओ, मिल जाओ । सम्पूर्वक वद् का निरुक्त, महाभाष्य आदि में आत्मनेपदमें प्रयोग देखा जाता है । ४. प्राप्य, सुप्राप, आसानी से पहुंचने योग्य । ५. फैल रही है । ६. सेवा की । ७. सत्कृत की जाती है । ८. इलाज किया जाय । ९. अपराध करेगा । १०. पीछे चल । ११. सेवा की । १२. पतिं व्यभिचरति =पति को छोड़ परपुरुष के साथ संगति करती है । १३. न व्यभि-चरति= नहीं छोड़ती, (अधि उपसर्ग के बिना इङ् का प्रयोग नहीं होता) । १४. आज्ञा का उल्लंघन किया, विरुद्ध आचरण किया ।

१२. लोका निकर्षणेषु नोच्चरेयुः[1], स्वगेहस्थे वर्चःस्थान[2] एवावश्यकं कुर्युः[3]।

१३. ये समुदाचारमुच्चरन्ते[4] तेऽवगीयन्ते।

१४. त्रिलोकीं समचरन्नारदो वृत्तं जिज्ञासमानो महिमानं च परेशस्योपलिप्समानः।

१५. भूयांसो जना अनेन संचरेण[5] संचरन्ते बहु च शब्दायन्ते।

१६. यथाग्नेर्विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति[6] तथा ब्रह्मण इमाः प्रजाः।

१७. लोकान् समाधिविधिमुपदिशन् विचचार[7] योगी।

१८. तत्र किल विराधादयोऽभिचरन्ति[8] लोकाननपराद्धान्।

१९. अलमुत्थाय, कुसुमपेलवानि तेऽङ्गानि नोपचार[9] मर्हन्ति।

२०. उपस्थितो गुरुजनः। आचारं प्रतिपद्यस्व।

नी

१. उपनय[10] रथम्, यावदारोहामि।

२. एहि, त्वामुपनेष्ये[11], न सत्यादगा[12] इति।

३. मुहम्मदानुगानां सविशेषसमादरे राजमन्त्रिणां कोऽभिप्राय इति न दुष्करमुन्नेतुम्[13]।

४. अवदातेनानेन चरितेन संजातपूर्वं कलङ्कपङ्कमपनेष्यसि।

५. चिरं श्रान्त्वा कार्यविरामेण विनयते[14] श्रमम्।

६. विनिन्युरेनं[15] गुरवो गुरुप्रियम् (रघु० ३।२९)।

७. कस्यां कलायामभिविनीते[16] भवत्यौ (मालविका)।

८. अर्हन्नार्हसि मे प्रणयं[17] विहन्तुम्।

९. ह्रीमती वधूः श्वशुराद् विनयति[18] वदनम्।

१०. स हस्तौ समानीय[19] गुरुं ववन्दे, स च तमाशिषाऽऽशशासे।

---

१. मलत्याग न करें। २. संडास। ३. आवश्यकं कुर्युः, हाजत पूरी करें, टट्टी करें। ४. उल्लंघन करते हैं। ५. संचर (पुं०)=मार्ग। ६. निकलते हैं। ७. घूमा। ८. हिंसा करते हैं, मारते हैं। ९. रिवाजी सत्कार। १०. पास लाओ। ११. तेरा उपनयन करूंगा। १२. अगाः=इण्—लुङ् म० पु० ए०। न सत्यादगाः=तू सत्य से परे नहीं गया, सत्य से विचलित नहीं हुआ। १३. बूझने को। १४. दूर करना है। १५. शिक्षित किया १६. अभिविनीत=शिक्षित। १७. प्रार्थना। १८. मोड़ लेती है। १९. इकट्ठा कर, जोड़ कर।

११. व्यपनयतु ते तामसीं वृत्तिमीशः, सात्त्विकीं च जनयतु येन त्वं सत्पथं लक्षयेः ।

१२. सर्वयोषिद्गुणालङ्कृतां जनकात्मजां सीतां परिणिनाय[1] रामः ।

१३. सा भीषणेन भ्रुकुटीबन्धेनाभ्यनैषीद्[2] भर्तरि क्रोधम् ।

१४. क्रोधं प्रभो संहर[3], दयस्व चेमां मुग्धां वनिताम् इत्येवं महादेवमनुनेतुम्[4] प्रववृतिरे देवाः ।

१५. केन प्रणीतेयं[5] पुस्तिका ? नात्र कमपि गुणं लक्षये । व्यर्थः प्रणेतुः प्रयासः ।

१६. उपवनात् कतिचिज्जपाकुसुमानि ममोपानय ।

१७. यो हि जलेन संनीतं[6] पयो विक्रीणीते स नरकं जिहीते ।

१८. कथं निरणयः[7] सोऽत्र विषयेऽसाधुदर्शीति ।

१९. न हि त्वया क्लेशस्यात्मा पदमुपनेतव्यः[8], सुखमास्स्व ।

२०. विपणीतः कानिचित् पौण्डरीकाणि दामानि ममानय ।

स्था

१. महाराजस्य श्रीरामस्याभिषेके लङ्कासमरसुहृदो वानरा राक्षसा नानादिग्देशवर्तिनः पावना महर्षयश्चोपतस्थिरे[9] ।

२. तारकेण विप्रकृता दिवौकसस्त्राणमिच्छन्तो ब्रह्माणमुपतस्थुः[10] ।

३. पूर्वे भगवन्तमादित्यं परस्य ज्योतिषः प्रतीक इत्युपतस्थिरे[11], ऋग्भिश्च तं तुष्टुविरे ।

४. अयं पन्था लवपुरमुपतिष्ठते[12], अयं च मूलस्थानम् ।

५. गुरोर्निर्देशमनुतिष्ठ[13] शास्त्रचिन्तायां च निरन्तरायां तिष्ठ ।

६. अहमत्र दिनकतिपयान्यवस्थास्ये[14] ततः पुरुषपुरं प्रति प्रस्थास्ये[15] ।

७. यो दीनानार्तांश्चोद्धरति स स्वर्गे लोके प्रतितिष्ठति[16] ।

८. शब्दोऽनित्य इति यदुक्तं भवद्भिस्तत्रैवं प्रत्यवतिष्ठामहे[17] ।

---

१. विवाह किया । २. अभिनय किया । ३. थामो, रोको । ४. मनाने के लिये । ५ प्रणीत=रचित । ६. संमिश्रित ७. निर्णय किया । ८. उपनेतव्य=प्रापणीय । पद=स्थान । ९. उपस्थित हुए । १०. पास गये । ११. पूजते थे । १२. पहुँचता है, जाता है । १३. करो । १४. ठहरूँगा । १५. चल पड़ूँगा । १६. स्थिर स्थान को प्राप्त होता है । १७. विरोध करते हैं ।

९. इदं तर्हि व्यवस्थितं न वयं विवादविषयं चर्चयिष्यामः ।

१०. सन्तिष्ठते[1] द्वादशवार्षिकम् ऋष्यशृङ्गस्य सत्रम्, प्रतिष्ठन्ते[2] च वसिष्ठप्रभृतयो महर्षयः ।

११. दारिद्र्योपहता बहवो रोगैराक्रान्ता अनुपचरिता[3] एवाकाले सन्तिष्ठन्ते ।[4] ।

१२. शब्दं नित्यमातिष्ठन्ते[5] वैयाकरणाः, तदितरे न सहन्ते ।

१३. अयमेकं ग्राममधितिष्ठतीति स्थायुक इत्युच्यते ।

१४. महात्मा श्रीगान्धी प्रतिसोमवासरं चतुर्विंशतिं होरा उपवासमास्थात्[6] ।

१५. मुक्तावुत्तिष्ठन्ते[7] मुनयः साङ्ख्येन योगेन वा ।

१६. राजकुमारः पुष्यरथमास्थाय[8] विहाराय निरगात् ।

१७. भोजनकाल उपतिष्ठसे[9], कार्यकाले क्व यासि ।

१८. अश्वारोहा अश्वारोहानुपतिष्ठन्ते[10] रथिकाश्च रथिकान् ।

१९. सर्वा इमाः प्रजाश्चेतना अचेतनाश्च स्फुलिङ्गा इवाग्नेर्ब्रह्मणो विप्रतिष्ठन्ते[11] ।

२०. अस्माद् ग्रामाच्छतमुत्तिष्ठति[12], सोऽयमल्पीयानायः ।

२१. मधुनि निस्तिष्ठन्ति[13] मक्षिकाः ।

पत्

१. शिष्यो गुरोश्चरणयोः प्रणिपतति[14], आशिषश्च बह्वी विन्दति ।

२. क्षते प्रहारा निपतन्त्यभीक्ष्णम्[15] ।

३. विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः[16] शतमुखः (भर्तृ० नी० ९) ।

४. उत्पतन्ति[17] खे बलाका मेघाभिकामा, जाने वर्षिष्यतीति ।

५. कदा परापतिष्यसि[18] ? कं कालं त्वां प्रतीक्षेय ?

---

१. समाप्त हो रहा है । २. जा रहे हैं । ३. अचिकित्सित (बिना भैषज्य) । ४. मर जाते हैं । ५. मानते हैं, प्रतिज्ञा करते हैं । ६. अधिकार रखता है । ७. यत्न करते हैं । ८. चढ़ कर । ९. उपस्थित हो जाते हो । १०. संगत होते हैं, अथवा मित्रता करते हैं । ११. निकलते हैं, उड़ते हैं । १२. उठता है, उत्पन्न होता है । १३. लगाव से बैठती हैं । १४. झुकता है, नमस्कार करता है । १५. लगते हैं । १६. विनाश । १७. उड़ रही हैं । १८. लौटोगे ।

६. स शत्रुसैन्ये संन्यपतत्[1], शतधा च तद् व्यदलयत् ।

७. आपातरम्या[2] विषयाः पर्यन्तपरितापिनः । (किरात० ११।१२) ।

८. विषयास्वादकषायितात्मनो मधुतराण्यापतन्ति[3] रूपादीनि ।

९. अयं वनोद्देशो जनसम्पात[4]शून्यः । नात्र पदपङ्क्तिर्दृश्यते काचित् ।

१०. नानादेशस्थाः प्रमुखा नयज्ञा नृपनीतिकृतां वर्तमानामवस्थां विमर्ष्टु-मिह संनिपतिष्यन्ति[5] ।

११. दूरे तिष्ठ, निष्पतन्ति[6] विस्फुलिङ्गा हुताशनात् ।

१२. धूमज्योतिः सलिलमरुतां सन्निपातः[7] क्व मेघः ।
सन्देशार्थाः क्व पटुकरणैः प्राणिभिः प्रापणीयाः । (मेघ०)

१३. नायमाचारः शिष्टशिष्टिमनुपतति ।[8]

१४. मुहुरनुपतति[9] स्यन्दने बद्धदृष्टिः (शाकुन्तल) ।

१५. उत्पतितोपि[10] हि चणकः किं शक्तो भ्राष्ट्रकं भङ्क्तुम् (पञ्चतं०)

१६. उत्पतितुकामः[11] सिंहोपि कोपात्सङ्कोचमापद्यते ।

१७. जपतां जुह्वतां चैव विनिपातो[12] न विद्यते (मनु० ४।१४६) ।

१८. कुसुमानि परिपतन्त्यलयः[13] ।

१९. सन्नि[14]पातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य ।

२०. त्वर्यताम्, अतिपतति[15] प्रस्थानवेला ।

वृत्

१. उपस्थितायां निशायां वासमावर्तन्ते[16] खेचराः ।

२. प्रवर्ततां[17] प्रकृतिहिताय पार्थिवः सरस्वती श्रुतिमहती महीयताम् ।

३. का प्रवृत्तिः[18] ? कथं ते कालो याति ? अप्यनन्तरायः सुखनिर्वेशः ?

---

१. टूट पड़ा । २. आपात=तत्काल थोड़ा सा समय । ३. प्रतीत होते हैं । ४. संचार । ५. एकत्रित होंगे । ६. निकल रहे हैं । ७. मेल, मिश्रण, समुदाय । ८. अनुकूल होता है । ९. पीछा करते हुए (रथ) पर । १०. उड़ा हुआ, भुड़का हुआ । ११. उछलना चाहता हुआ । १२. दुर्गति, नरक पात । १३. मंडराते हैं । १४. संयोग, सम्बन्ध, साथ में होना । १५. निकल रहा है, व्यतीत हो रहा है । १६. लौटते हैं । १७. प्रवृत्त हो, लग जाए । १८. समाचार ।

४. आविर्भूतमूलोऽयं वृक्षः पुरोद्वर्तते[1] ।

५. परिवर्ततेऽयं[2] लोकः । इह सर्वं चरिष्णु, नात्र किमपि स्थास्नु समस्ति ।

६. यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते[3] (गीता ३।२१) ॥

७. स किंसुतो यः पितुराज्ञामतिवर्तते[4] ।

८. शर्मिष्ठयाऽतिवृत्तास्मि[5] दुहित्रा वृषपर्वणः (भा० आदि० ८३।२८) ।

९. यद् गत्वा न निवर्तन्ते[6] तद् धाम परमं मम (गीता० ८।२१) ।

१०. चक्रवत् परिवर्तन्ते[7] दुःखानि च सुखानि च (हितोप० १।१७७) ।

११. आवर्तयिष्यते[8] ऽनुवाकः, सुग्रहो यथा स्यात् ।

१२. अहमक्षवलयमावर्तयन्तं[9] कुमारमदर्शम् । मन्ये शिवभक्तिरयमभूत् ।

१३. रज्जुमावर्तयति[10], तेन च वृत्तिं निर्वर्तयति ।[11]

१४. किं करोषि ? पय आवर्तयामि,[12] किलाटं निर्वर्तयिष्यामीति ।

१५. स्वर्णमावर्तयति[13] स्वर्णकारो मूषायाम् ।

१६. तस्यां दृढमनुरक्तं चेतो नाद्यापि व्यपवर्तते मे ।[14]

१७. व्यावर्तते[15] कौतूहलं विषयेषु मुनीनाम् ।

१८. आदौ संववृते[16] ब्रह्मा सर्वभूतपितामहः ।

१९. अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् ।
विवर्ततेऽ[17] र्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः (वाक्य० १।१) ॥

२०. अतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त इत्युदीरितः ।

सद्

१. शरदि सरितां प्रसीदति[18] जलम् ।

---

१. उद्वर्तते=उखड़ता है । 'पुरा' के योग से अर्थ है—उखड़ेगा । २. बदलता रहता है । ३. अनुसरण करता है, पीछे चलता है । ४. उल्लंघन करता है । ५. अतिशयित हो गई हूँ, मेरे से बढ़ गई है । ६. लौटते हैं । ७. घूमते रहते हैं । ८. दोहराया जायगा । ९. अक्षवलय=रुद्राक्षमाला । आवर्तयन्तम्=फेरते हुए को । १०. बटता है । ११. बनाता है, साधता है । १२. औटा रहा हूँ । १३. पिघलाता है । १४. टलता है, हटता है । १५. लौट जाता है । १६. उत्पन्न हुआ । १७. अर्थ-भावेन विवर्तते=अर्थ रूप में बदलता हुआ प्रतीत होता है । १८. विमल होता है ।

२. पुत्रस्य सुचरितेन प्रसीदतः[1] पितरौ ।

३. प्रसन्नो[2] ब्राह्मणशेषः । नायं व्याख्यासव्यपेक्षः ।

४. जङ्घालोऽसावतर्कितात्समयाद् अर्वागेव जलाशयमासदत्[3] ।

५. प्रत्यासीदति[4] परीक्षा, त्वं चाद्यापि पाठेऽनवहितः । कथङ्कारं तरीष्यसि परीक्षाम् ।

६. अश्वारोहाः सादिन उच्यन्ते हस्त्यारोहाश्च निषादिनः । तत्रोपसर्गकृतोऽर्थभेदः ।

७. श्रान्तो निषण्णः[5] कुरङ्गः, चिरमयमधावीत् ।

८. उपसेदिवा[6]न्कौत्सः पाणिनिम्, वैदिकं लौकिकं च व्याकरणं कृत्स्नमधिजग्मिवान् ।

९. विघ्नैः प्रतिहन्यमाना मध्यमा अवसीदन्ति[7] कार्यं च विरमयन्ति ।

१०. यद् गुरु तन्निषीदति[8] यल्लघु तदुत्प्लवते ।

११. यदि ते कार्यं नावसीदेत्[9] तदा श्वो मामुपेयाः ।

१२. त्रय्या हि रक्षितो लोकः प्रसीदति न सीदति (कौ० अ० १।३) ।

१३. आपन्नोऽपि न विषीदति[10] धैर्यधनो नरपुङ्गवः ।

१४. परिवर्तन्ते[11] युगधर्माः । उत्सन्नाः[12] केचिद् विषयः सूत्रकारैः सूत्र्यन्ते सम्प्रदायस्य रक्षणाय ।

१५. उत्सीदेयुरिमे[13] लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् (गीता ३।२४) ।

१६. उत्सादना[14]भ्यञ्जने शरीरस्य बहूपकुरुतः । एते हि शरीरं दीपयत ऊर्जयतश्च ।

१७. यदा सतां सुचारित्रं कृत्स्नं नैवानुगम्यते ।
एकदेशोऽनुगन्तव्यस्तथा गच्छन्न सीदति[15] ॥

१८. असत्येऽभिनिवेशस्ते त्वामुत्सादयिष्यतीति[16] जाने ।

१९. यो धर्मेणाजीवमर्जयति स कल्याणमासादयति[17] ।

---

१. प्रसन्न होते हैं । २. स्पष्ट है । ३. पहुँचा । ४. निकट आ रही है । ५. बैठा हुआ है । लेटकर बैठने अर्थ में निसद् का प्रयोग होता है । ६. सेवा में पहुँचा । ७. उत्साह-हीन हो जाते हैं । ८. नीचे बैठ जाता है । ९. कार्यं नावसीदेत्=कार्य की हानि न हो । १०. शोकाकुल हो जाता है । ११. बदलते रहते हैं । १२. नष्ट हो गई हैं । १३. नष्ट हो जायें । १४. उत्सादन =उबटना । १५. न सीदति=कष्ट नहीं पाता । १६. नष्ट कर देगा । १७. प्राप्त करता है ।

२०. अनेन रथवेगेन पूर्वप्रस्थितं वैनतेयमप्यासादयेयम्[1] (शाकुन्तल०)।

चि

१. स पुष्कलमन्नं भुङ्क्ते सुष्ठु च व्यायच्छते,[2] तस्मात्प्रचीयन्ते[3] तस्य गात्राणि ।

२. उद्याने प्रतानिनी बंहूनि कुसुमान्यवाचिनवं[4] शेखरं स्रक्ष्यामीति ।

३. इदमद्य निश्चिन्मो न वयं विश्रमिष्यामो यावन्न स्वातन्त्र्यं प्रतिलप्स्यामहे ।

४. यमर्थमेकस्तर्को नालं साधयितुम्, अभ्युच्चिता[5]स्तर्कास्तत्रालन्तरा भवन्ति ।

५. मांसाशिनो मांसमेवोपचिन्वन्ति[6] न प्रज्ञामित्याहुः ।

६. आचिनोति[7] बुद्धिम् आचिनोत्याचारमित्याचार्यः ।

७. व्यायामेन रक्तं शिरासु सम्यक् संचरति, मेदश्चापचीयते[8], वपुश्चोत्थानयोग्यं परिलघु निरामयं च भवति ।

८. रामो विचिनोति[9] सीतां वने, सुग्रीवादींश्च सहायान्करोति ।

९. ज्ञानकर्मणी समुच्चिते[10] मुक्तावुपयुज्येते इति के चित्, तदपरे न सहन्ते ।

१०. कदर्यो धनानि परार्थे संचिनोति[11] मक्षिकेव मधूनि ।

११. वाक्योच्चयः[12] क्रियादेष विदुषां मुदमुत्तमाम् ।

१२. ज्योतिर्विदेष लोकस्य कलयापि नोपकरोति स्वान्येव तु प्रचिनोति ।[13]

१३. चिरस्य दृष्ट इति नाहं परिचिनोमि[14] तम् ।

१४. चीयते[15] बालिशस्यापि सत्क्षेत्रपतिता कृषिः (मुद्रा० १।३) ।

१५. पराचितस्य[16] (=परं धितस्य) दास्यं शिरसि स्थितम् ।

---

१. पीछे से पहुँच जाऊँ । २. व्यायाम करता है । ३. बढ़ते हैं । ४. मैं ने चुने । ५. अभ्युच्चित=समुच्चित । ६. बढ़ाते हैं । ७. बढ़ाता है । ८. घटती है । ९. ढूँढता है । १०. इकट्ठे, एक साथ । ११. संचय करता है । १२. वाक्य-समुदाय । १३. बढ़ाता है । १४. जानता हूँ, पहचानता हूँ । १५. चीयते=उपचीयते । बिना उपसर्ग-योग के वृद्धि अर्थ में 'चि' का प्रयोग । ऐसे प्रयोग उपसर्गों के द्योतकत्व के साधक हैं । १६. पराचित=पर—आचित=भृत, वर्धित ।

१६. अज्ञातकुलशील एष प्रैष्यः कथं मयि वर्तिष्यत इति न निश्चनोमि[१] ।

१७. छन्दोविचिति[२] रपि षट्सु वेदाङ्गेष्वन्तः पतति ।

धा

१. पिधेहि[३] द्वारम् । रजोविक्षिपा वाति वात्या ।

२. गृहीतपाथेयोऽहमवशिष्टं मद्धनं ग्रामवणिजि निधास्यामि ।[४]

३. बलीयसाऽरिणा सन्दध्यात्[५] । विगृह्णानो हि ध्रुवमुत्सीदेत् ।

४. नाहं तेऽभिसन्धि[६]मुन्नयामि निर्भिन्नार्थतरकमुच्यताम् ।

५. यदि युद्धविराममिच्छसि, श्रूयतामभिसन्धिः[७] ।

६. ये राजानः परातिसन्धानं[८] विद्येत्यधीयते ते सन्तु किलाप्तवाचः ।

७. य आत्मानमतिसन्दध्यात्स[९] परस्मै स्यात्कथं हितः ।

८. अहो अस्य वाच्यधिकारः, भूयांसमर्थमल्पतरैरेव शब्दैरभिधत्ते[१०] ।

९. अभिधेहि[११] यत्तेऽभिधेयम् । अवहितः श्रोष्यामि ।

१०. अभिधान्याश्वं[१२] कीलकेऽभिधत्ते ।

११. मितं च सारं च वचो ब्रुवाणा भवादृशाः सर्वस्यावधेय[१३] वचना भवन्ति ।

१२. मद्वक्तव्ये ऽवधीयताम्[१४] । अपूर्वं किमपि निर्वक्तुकामोस्मि ।

१३. धारणिक ऋणापाकरणं यावद् यां धेनुमुत्तमर्णे आधत्ते[१५] (=आधि करोति) तां धेनुष्यां वदन्ति ।

१४. शास्त्रं ब्राह्मणस्य कृते षट् कर्माणि विदधाति[१६], तत्र त्रीणि वृत्त्यर्थानि ।

१५. पुरा भारते वर्षे गृहिणा वस्त्रयुगमेवोपयोक्तव्यमासीत्—परिधानीयं[१७] च प्रावरणं च । तदिदमुद्गमनीयाख्ययाऽप्रथत ।

१६. शुचिनी वाससी परिधत्ते[१८] यज्ञवेद्यां च संनिधत्ते ।

---

१. निश्चित रूप से जानता हूँ । २. विचिति=परीक्षा । ३. बन्द कर दो । 'अपि' के 'अ' का पाक्षिक लोप । ४. रखूंगा । ५. सन्धि करे । ६. अभिप्राय । ७. शर्त । ८. धोखा देना । ९. धोखा दे । १०. कहता है । ११. कहो । १२. अभिधानी=रस्सी । १३. ध्यान देने योग्य । १४. ध्यान दिया जाय । यहाँ अव-धा अकर्मक है । १५. धरोहर रखता है । १६. आज्ञा करता है, विधेय रूप से निर्देश करता हैं । १७. पहनने योग्य शाटक आदि । १८. पहनता है ।

१७. विपरिधेहि[1] वस्त्रे । इमे मलीमसे जाते । सति विभवे न मलवद्वासाः स्यादिति सूत्रकाराः समामनन्ति ।

१८. देवदत्तस्य सदनं विष्णुमित्रस्य सदनादव्यवहितपूर्वं[2] स्थितम्, तेन तौ प्रातिवेश्यौ भवतः ।

१९. ऋषयो व्यवहितविप्रकृष्टमपि पाणिनिहितामलकवत्पश्यन्ति ।

२०. याः समिधोऽग्निं परितो धीयन्ते ताः परिधय उच्यन्ते ।

२१. इयं कथा पुराणे विस्तरेण वर्णितेति तत एवानुसन्धेया ।[3]

२२. कुकारुकस्यैकमनुसन्धित्सतोऽपर[4] च्यवते ।

२३. अनुसन्धीयतां[5] कश्चिदनुरूपः प्रदेशो यत्र प्रच्छन्नगुप्तं धनराशिरयमुपनिधीयेत ।

२४. बाहुमुपधाय[6] सुखं शेते श्रमी । श्रान्तस्य हि ग्रावण्यपि निद्रोपजायते ।

२५. न ह्युपाधेरुपाधिर्भवति विशेषणस्य वा विशेषणम् (भाष्य) ।

---

१. बदल दो । २. व्यवधानरहित पूर्व । ३. जाननी चाहिये । ४. जोड़ना चाहते हुए का । ५. ढूंढा जाय । ६. बाँह को उपधान (सिरहाना) बनाकर (बाहु के ऊपर सिर रख कर) ।

इति सङ्ग्रहेण वर्णिताः केचन सोपसर्गका धातवः ।

अनुबन्ध (१)

प्रतिपाद्य विषय का प्रतिपादन हो चुका, पर वक्तव्य निःशेष नहीं हुआ। उक्त, अनुक्त और दुरुक्त की चिन्ता शेष है। वह अवसरप्राप्त है। उक्तार्थ का प्रमाणान्तर द्वारा समर्थन और अधिक विस्पष्टीकरण, अनुक्तार्थ की परिपूर्णता और दुरुक्तार्थ का परिशोधन इस अनुबन्ध का विषय है।

ऋतेरीयङ् (३।१।२६)—यह सूत्र ऋत् से स्वार्थ में ईयङ् प्रत्यय विधान करता है। ऋत् धातु इसी सूत्र में पढ़ी है, धातुपाठ में नहीं, अतः यह सौत्र है। ईयन्त ऋत् (ऋतीय) की सनाद्यन्त होने से (ईयङ् प्रत्यय के सन् आदि प्रत्ययों में से एक होने से) धातु संज्ञा है। इस नई धातु से ङित् होने के कारण आत्मनेपद प्रत्यय आते हैं। कर्तृवाचक सार्वधातुक प्रत्यय तिङ् परे रहते धातु से (७) से शप् आता है।

ऋत् (जुगुप्सा=घृणा करना, कृपा करना)

	लट्			लङ्		
१.	ऋतीयते	ऋतीयेते	ऋतीयन्ते	आर्तीयत	आर्तीयेताम्	आर्तीयन्त
				(आट्, वृद्धि)		
२.	ऋतीयसे	ऋतीयेथे	ऋतीयध्वे	आर्तीयथाः	आर्तीयेथाम्	आर्तीयध्वम्
३.	ऋतीये	ऋतीयावहे	ऋतीयामहे	आर्तीये	आर्तीयावहि	आर्तीयामहि

	लोट्			विधिलिङ्		
१.	ऋतीयताम्	ऋतीयेताम्	ऋतीयन्ताम्	ऋतीयेत	ऋतीयेयाताम्	ऋतीयेरन्
२.	ऋतीयस्व	ऋतीयेथाम्	ऋतीयध्वम्	ऋतीयेथाः	ऋतीयेयाथाम्	ऋतीयेध्वम्
३.	ऋतीयै	ऋतीयावहै	ऋतीयामहै	ऋतीयेय	ऋतीयेवहि	ऋतीयेमहि

'ऋतीय' के वैदिक साहित्य में प्रयोग मिलते हैं—**ब्रह्मचारी च पुंश्चली च ऋतीयेते** (काठक० ३४।५)। 'झगड़ा करते हैं' ऐसा अर्थ प्रतीत होता है। **वाक् च मनश्चार्तीयेताम्** (तै० सं० २।५।११।२)। **ऋतीयमानोहमस्मि** (बाष्कलोपनिषद्)।

क्रियासामान्यवाची कृ धातु किस तरह नाना क्रियाविशेषों को भी कहती है इसे हम अनुबन्ध(२)में दिखाएँगे। यहाँ हमें इसके विपरीत क्रिया-विशेष में पढ़ी हुई धातुएँ कहीं-कहीं क्रिया-सामान्य को कहती हैं—इसे दिखाना अभीष्ट है। णु स्तुतौ अदादि। स्तुति गुण-कीर्तन रूप शब्द विशेष का उच्चारण होता है। पर **आनुते शृगालः**=क्रोष्टा क्रोशति, गीदड़ शब्द करता है—यहाँ शब्दमात्र के उच्चारण अर्थ में प्रयोग हुआ है। **मार्गशीर्षे शुभे मासि यायाद्यात्रां महीपतिः**(मनु०७।१८२)। यायात्=कुर्यात्। **भार्या तु निहतं दृष्ट्वा रुराव करुणां गिरम्** (रा० १।२।११)। रुराव=चकार। **तद्रक्षो द्विगुणं चक्रे रवन्तं भैरवं रवम्**। रवन्तम्=कुर्वाणम्। **क्रमं बबन्ध क्रमितुं सकोपः** (भट्टि०२।६)। बन्ध् का यहाँ अर्थ केवल करना है। **भाविकृतयुगारम्भसूत्रपातमिव दिक्षु पातयन्** (=कुर्वन्)। **संवस्ते क्षालिते वस्त्रे**। वस् का यहाँ केवल क्रियामात्र (करना) अर्थ है। **इमे प्रदरा प्रदीर्यन्ते** (ऐ० ब्रा० ६।३५)। यहाँ दॄ करने अर्थ को कहती है। **सहस्रशोऽसौ शपथानशप्यत्** (भट्टि० ३।३२)। यहाँ शप् आक्रोश अर्थ को छोड़कर केवल 'करना' अर्थ में प्रयुक्त हुई है। **शिष्ट्वा वा भूमिदेवानां नरदेवसमागमे** (मनु० ११।८२)। यहाँ शास् का अर्थ अनुशासन नहीं, किन्तु केवल निवेदन, प्रख्यापन, कथन अर्थ में प्रयोग है। **गिरीशस्य यथान्यायमुपहारमुपाहरत्** (भा० आश्व० ६६।८२)। यहाँ 'उपहृ' का करना मात्र अर्थ है। '**अन्तावसायिन्**' नापित का नाम है। अव सो (और सो भी) का काटना अर्थ है, पर यहाँ 'अन्त' शब्द के होने से धात्वर्थ करना मात्र रह जाता है—नखाद्यन्तं करोतीत्यन्तावसायी।

ण्यन्त लभ् की द्विकर्मकता

ण्यन्त लभ् प्रायः द्विकर्मक मानी जाती है। अण्यन्तावस्था का कर्ता प्रयोज्य कर्म बन जाता है। यह तभी हो सकता है जब इसे गत्यर्थक माना जाय। शिष्ट-विवक्षा ऐसी ही है, इसे हम उदाहरणों द्वारा दिखाते हैं—**स क्षेमधन्वानममोघधन्वा पुत्रं प्रजाक्षेमविधानदक्षम्। क्ष्मां लम्भयित्वा**··· (रघु० १८)।। लम्भयित्वा=प्रापय्य। प्राप्त करवा कर। **मधुरैरवशानि लम्भयन्नपि तिर्यञ्चि शमं निरीक्षितैः** (किरात० २।५५) **गोपितुं भुवमिमां मरुत्वता शैलवासमनुनीय लम्भितः** (किरात० १६।६७)। **शरीरं वासुदेवस्य रामस्य च महात्मनः। संस्कारं लम्भयामास वृष्णीनां च प्रधानतः** (भा०आदि०२।३५६)।

ततः स राजा संस्कारं पुत्रपत्नीमलम्भयत् (मार्कण्डेय २२।४६)। **स्त्रीभावं चापि लम्भिता** (हरिवं० ६६।२६)॥ **तेन पित्रा स बालोपि विद्याः स्नेहेन लम्भितः** (क० स० सा० ६५।७४)। **दीर्घिकासु कमलानि विकासं लम्भयन्ति शिशिराः शशिभासः** ( )। **एतानौपहारिकमोदकानार्यमाणवकं लम्भय** (विक्रमोर्वशी ३)।

पर विरलतया ण्यन्त लभ् के प्रयोग में अण्यन्तावस्था का कर्ता प्रयोज्य कर्म नहीं भी बनता। तब अनुक्त कर्ता में तृतीया होती है—**सितं सितिम्ना सुतरां मुनेर्वपुर्विसारिभिः सौधमिवाथ लम्भयन्।** शिशु० १।२५)। सितिमा मुनेर्वपुर्लभते। तं सितिमानं मुनेर्वपुर्लभमानं प्रयुङ्क्ते, लम्भयति। शतरि—लम्भयन्। **दयिताभिरनन्ततेजसा मुनिनाऽसौ परिकल्प्य लम्भितः** (चरुः) (जानकी० ४।५)। दयिताश्चरुं लब्धवत्यः। मुनिर्दयिताभिश्चरुं लम्भितवान्। मुनिना दयिताभिश्चरुर्लम्भितः।

इस प्रयोग-द्वैविध्य की काव्यालंकार सूत्र वृत्ति का कर्ता वामन इस प्रकार व्यवस्था करता है—लभेर्गत्यर्थत्वाण्णिच्यणौ कर्तुः कर्मत्वाकर्मत्वे (५।८)। अस्त्ययं लभिः, यः प्राप्त्युपसर्जनां गतिमाह। अस्ति च यो गत्युपसर्जनां प्राप्तिमाहेति। अर्थात् प्राप्त्युपसर्जन गतिप्रधान लभ् का अर्थ मानने पर गत्यर्थाकर्मक—(३।४।७२) सूत्र से द्विकर्मकता सिद्ध होती है। गत्युपसर्जज प्राप्तिप्रधान धात्वर्थ मानने पर प्रयोज्यकर्मता बनती नहीं, अतः कर्ता के अनुक्त होने से उसमें तृतीया आती है। हमें यहाँ इतना कहना है कि गति की प्रधानता और प्राप्ति की उपसर्जनता (गौणता) का कौन निर्णय करेगा? ऊपर दिए हुए द्विकर्मकता के उदाहरणों को ही लीजिए। इनमें गति की प्रधानता किसे भासती है। प्राप्ति ही सर्वत्र मुख्यार्थ भासता है। यह बात और है कि सिद्धान्त रूप से सभी प्राप्ति गतिपूर्विका होती है। इनका परस्पर कार्यकारण-भाव सम्बन्ध है। गति कारण है, प्राप्ति कार्य है। प्रकृत उदाहरणों में मानसी गति मानी जा सकती है। पर ऐसी गति सार्वत्रिक है। कहाँ उसे प्राधान्यतः माना जाये और कहाँ न माना जाये, इसका कौन निर्णायक होगा? व्यवहार ही। तो वामन की व्यवस्था व्याख्यानमात्र रह जाती है। प्रयोग-निर्माण-पद्धति की प्रदर्शिका नहीं ठहरती। सो यह अकिञ्चित्कर हो जाती है। द्विकर्मकता में द्वितीया का प्रयोग प्रचुरतम है, वही मान्य है। द्विकर्मकता

के अभाव-पक्ष में अनुक्तकर्त्ता में तृतीया का प्रयोग विरल है, अतः अनुकार्य नहीं।

लभ् की समानार्थक आप् धातु को लीजिये। ण्यन्तावस्था में यह सर्वत्र निरपवाद रूप से द्विकर्मकतया प्रयुक्त हुई मिलती है।

वसतिं प्रिय कामिनां प्रियास्त्वदृते प्रापयितुं क ईश्वरः (कुमार० ४।११)। **स त्वं रथी तद्व्यपदेशनेयां प्रापय्य वाल्मीकिपदं त्यजैनाम्** (रघु० १४।४५)। **नक्तं भीरुरयं त्वमेव तमिमं राधे गृहं प्रापय**(अमरु०)। **अभिमन्युतनयं परीक्षितमुदरादुपरतमेव निर्गतमुत्तराप्रलापोपजनितकृपो भगवान्वासुदेवो दुर्लभानसून् प्रापितवान्** (कादम्बरी)। **सपत्नीः प्रापयन्त्यब्धिं सिन्धवो नगनिम्नगाः** (शिशु० २।१०४)। इससे स्पष्ट है कि ण्यन्त लभ् के प्रयोग में द्विकर्मकता न मानना माघ आदि एक-दो कवियों का स्वातन्त्र्यमात्र है। इसे शिष्टव्यवहार का अंग नहीं माना जा सकता।

धात्वर्थ-वैचित्र्य

अब यहाँ धात्वर्थ-वैचित्र्य के विषय में कहते हैं—ईक्ष दर्शने—यह भ्वादि धातु है, इस का देखना अर्थ है। इसका सन्प्रत्यय के अभाव में सन्नन्त के अर्थ में भी प्रयोग मिलता है—**मैथिलीमपि या हि त्वमीक्षसे चीरवासिनीम्** (रा० २।३८।११)। ईक्षसे=ईचिक्षिषे। इसके विपरीत नि-ध्यै के 'निदिध्यासन' (सन्नन्त से ल्युट्) रूप में सन् अर्थ कुछ भी नहीं। **आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः**—यहाँ भी सन् है पर सन् का अर्थ(इच्छा) कुछ भी नहीं। यह शब्द-स्वाभाव्य विशेष द्रष्टव्य है। वह प्रापणे स्वरितेत् भ्वा० धातु है। हल चलाने अर्थ में शानजन्त वह् का प्रयोग रामायण (२।७४।१५) में मिलता है—**अन्यदा किल धर्मज्ञा सुरभिः सुखसम्मता। वहमानौ ददर्शोर्व्यां पुत्रौ विगतचेतसौ**॥ यहाँ यह विशेष अवधेय है कि हल कर्म के शब्दोक्त न होने पर भी वह् मात्र का ऐसा अर्थ है।

स्था गतिनिवृत्ति अर्थ में पढ़ी है। स्थान गमन का प्रतियोगी है। पर क्रिया-विरति अर्थ में इस का रुचिर प्रयोग का० नी० सा० ६।४६ में आया है—**रेणुकायाः सुत इव मूलेष्वपि न तिष्ठति**, रेणुका के पुत्र परशुराम की तरह मूल-विध्वंस के विषय में भी नहीं थमता (मूलोन्मूलनादपि न विरमति)।

भज् सेवा अर्थ में पढ़ी है। पर किसी का भाग, अवयव होना—इस अर्थ में भी प्रयोग होता है—**अकारमात्रभक्तोऽयं मुमागमः**, यह मुम् आगम अकार का अवयव है (अकारान्त का नहीं)—काशिका ७।२।८२॥ बाँटना, बाँट कर देना—ऐसा भी अर्थ है। इस अर्थ में भज् से पूर्व 'वि' उपसर्ग होता है और नहीं भी होता—**किं मां बभक्थ** (=भेजिथ) श० ब्रा० १।६।२।३५॥ तू ने मुझे बाँट कर क्या दिया?

कृप् का काटना अर्थ हम दिखा चुके हैं। बाँटना भी इसका अर्थ है—**तान् ह स्म जित्वोचतुः—कल्पामहा इति** (ऐ० ब्रा०)।

नश् अदर्शन अर्थ में पढ़ी है। दृष्टि से ओझल होना मूल अर्थ है। इस मूल अर्थ में अण्यन्त नश् का उदाहरण दे चुके हैं। ण्यन्त का सुन्दर उदाहरण उपस्थित करते हैं—**नाश्य आर्यः शूद्रायाम्** (आप० ध० सू० २।२७।८)। शूद्रा में आसक्त आर्य को देश से निर्वासित कर देना चाहिये। (मूलार्थ है—दृष्टिपथादपनेतव्यः)।

ण्यन्त वह् का उठवाना, पहुँचाना अर्थ प्रसिद्ध है। 'उपयोग में लाना' अर्थ में भी इसका बहुल प्रयोग है—**वाह्यमानमयः पिण्डं महच्चापि न कृन्तति। तदल्पमपि धारावद् भवतीप्सितसिद्धये॥** (का० नी० सा० १२।२८)। वाह्यमान=व्यापार्यमाण। **पञ्च सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः। कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन्** (=उपयुञ्जानः=उपयोग करता हुआ)। मनु० ३।६८॥

या ण्यन्त का चलाना, भेजना, बिताना अर्थ प्रायः विदित है। बनाये रखना, जीवित रखना और (वैरादि का) शोधन (=अपाकरण) अर्थ में भी इसका प्रयोग देखने में आता है—**स्वदेहं यापयामास पित्तज्वरचिकित्सितैः।** (बृ० श्लो० सं० ३।२६)। शरीर को बनाये रखा। **दर्पान्निराकृता पूर्वं त्वया सौभाग्यवत्तया। राममाता सपत्नी ते कथं वैरं न यापयेत्** (शोधयेत्) (रा० २।८।३७)॥

ण्यन्त वृत् के अर्थों में भी अद्भुत वैचित्र्य पाया जाता है। वर्तते=भवति। वर्तयति=भावयति=उत्पादयति—ऐसा अण्यन्त धातु के साथ सम्बद्ध अर्थ होना चाहिये और होता भी है—**त्वष्टा यद्वज्रं स्वपा अवर्तयत्** (ऋ० १।८५।९)। विश्वकर्मा जो कर्मदक्ष है, ने जो वज्र बनाया। **मयि पञ्चत्वमापन्ने कां वृत्तिं वर्तयिष्यति।** पर इसका 'वर्णन' अर्थ में महाभारतादि में बहुलतया

प्रयोग मिलता है—**हन्त वो वर्तयिष्यामि दानस्य फलमुत्तमम्** (भा० १४। २७११)। **हन्त ते वर्तयिष्यामि वज्रनाभवधं नृप** (हरिवं० २।९१।४)। (समय का) बिताना अर्थ में भी प्रचुर प्रयोग है—**पुष्करे तु ततः शेषं कालं वर्तितवान् प्रभुः** (भा० १।७९७६) 'गोल करना' भी अर्थ है—**गुटिकां वर्तयति**=वर्तुलां करोति।

खरविशदमभ्यवहार्यं भक्षः, अर्थात् भक्ष वह भोज्य पदार्थ है जो कठिन हो अथवा विभक्तावयव हो। प्रायः वृत्त्यादि में यह अर्थ स्वीकार किया गया है। पर प्राचीन ऋषि इस भेद को स्वीकार नहीं करते थे—**त्रयाणां भक्षाणामेकमाहरिष्यन्ति सोमं वा दधि वाऽपो वा** (ऐ० ब्रा० ७।२९)।

अब प्रतिपादित-पूर्व विषय में जहाँ कुछ वक्तव्य है उसे अनुक्रम से कहते हैं—

पृ० २ टिप्पण सं० ५ के अन्त में इतना और पढ़िये—

पुरं च राष्ट्रं च मही च केवला (=कृत्स्ना)।
मया विसृष्टा भरताय दीयताम् (रा० २।३४।५५)॥

पृ० ६ पर भू सत्ता अर्थ में पढ़ी है। भू का अर्थ 'होना' 'हो जाना' भी है। इस अर्थ में वेद में प्रचुर प्रयोग है—**तदपश्यत्तदभवत्तदासीत्** (वा० सं० ३२।१२)। जीना अर्थ भी है—**भव एधस्व मोदस्व धनैस्तर्पय च द्विजान्** (भा० सभा० १२।३२)। ऐश्वर्यवान् होना, समृद्ध होना भी अर्थ है—**न ब्राह्मणस्तात चिरं बुभूषेदिच्छन्निमं लोकममुं च** (भा० ३।९७४)। बुभूषेत्= भूतिमिच्छेत्। **सनेम मित्रावरुणा सनन्तो भवेम द्यावापृथिवी भवन्तः** (=वर्धमानाः)। ऋ० ७।५२।१॥

पृ० २१. ह्वृ कौटिल्ये। दृंहस्व मा ह्वार्मा ते यज्ञपति ह्वार्षीत् (वा स०)। यह अकर्मक है। अतः सकर्मकत्व-लाभ के लिये णिच्-सहित का प्रयोग होता है—**चमसं मा विजिह्वरः** (ऋ० १०।१६।८)।

पृ० २४. वेद में धेट् का उपभोग अर्थ में औपचारिक प्रयोग मिलता है—

धीरमधीरा धयति श्वसन्तम् (ऋ० १।१७९।४)।

पृ० २९. शुच शोके के विषय में इतना अधिक पढ़िये—

गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः (गीता)।
सुभद्रे मा शुचः पुत्रम् (भा० द्रोण० ७८।४०)।

पृ० ३२ के नीचे कृपो रो लः (८।२।१८) यह टिप्पण पढ़ें।

पृ० ३३. सम्पूर्वक घृष् का स्पर्धा अर्थ भी है और तब यह अकर्मक है—

स प्रयोगनिपुणैः प्रयोक्तृभिः संजघर्ष सह मित्रसन्निधौ(रघु० १९।३६)।

स्पर्ध् का अर्थ भी धातुपाठ में 'संघर्ष' दिया है।

पृ० ३५. क्नूयी के आगे ऊयी तन्तुसन्ताने (बुनना) भी पढ़ें। इस का क्तान्त रूप 'ऊत' (वलि य-लोप)। प्र-सहित, प्रोत। वेञ् का भी प्र-पूर्वक क्तान्त —प्रोत।

पृ० ३७. अव् धातु के उन्नीस अर्थ बोपदेव ने एक कारिका में इस प्रकार निबद्ध किये हैं—

अव् रक्षणे गतौ कान्तौ प्रीतौ तृप्तौ द्युतौ श्रुतौ।
प्राप्तौ श्लेषेऽर्थने वेशे भागे वृद्धौ ग्रहे वधे॥
स्वाम्यर्थेऽवगमे कामे कृतौ

इन अर्थों में 'रक्षण' अति प्रसिद्ध है। प्रीति अर्थ में भी कहीं-कहीं प्रयोग मिलता है—**न मामवति सद्वीपा रत्नसूरपि मेदिनी** (रघु०१।६५)। निःसन्तान मुझ (दिलीप) को रत्नों की जन्भूमि सातों द्वीपों सहित भूमि भी प्रसन्न नहीं करती। इस अर्थ में अव् सकर्मक है, अकर्मक नहीं। शिष्ट अर्थ अति अप्रसिद्ध हैं।

पृ० ३७. वम् का गौणार्थ में एक अति सुन्दर प्रयोग है—

यस्तस्य वमतो बाणान्स्थातुमुत्सहतेऽग्रतः (रा० ५।३९।१५)।

पृ० ४४. स्पर्ध् की अकर्मकता के विषय में इतना और पढ़िये—

अयज्वानो यज्वभिः स्पर्धमानाः (ऋ० १।३३।५)।

ब्रह्मैव भूतानां ज्येष्ठम्। तेन कोऽर्हति स्पर्धितुम् (तै० ब्रा० २।८।८)।

वेद में 'दद धारणे' का प्रयोग मिलता है—**विश्वे देवाः पुष्करे त्वा ददन्त** (निरुक्त ५।१४।१)।

पृ० ४५. पण् का बेचना अर्थ भी है—**शुल्केन पणित्वा ददत आसुरः।** (कृत्यकल्पतरु खण्ड २, पृ० ८६ पर उद्धृत पैठीनसि का वचन)।

पृ० ४८. ध्वंस् का गति अर्थ भी है—**यत्र सर्वत्रापः प्रध्वंसेरन्** (आश्व० गृ० ४।१)।

पृ० ४९. काटने अर्थ में वप् का एक अति सुन्दर औपचारिक प्रयोग आया है—**ये ते शुक्रासः** (=शुक्राः) **क्षां** (क्ष्मां) **वपन्ति विषितासो अश्वाः** (ऋ० ६।६।४)।=चरने से पृथिवी को नंगा कर देते हैं।

पृ० ५०. ज्वर् का अर्थ तप्त, सन्तप्त होना भी है—**किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्** (बृ० उ० ४।४।१२)=शरीरतापमनुतप्येत।

पृ० ५१. फल् (ञिफला विशरणे) का रामायणस्थ उदाहरण—**फलेन्मूर्धा स्म ते राजन् सद्यः शतसहस्रधा** (२।६४।२२)।

ह्वल् का उदाहरण—**संज्ञां नोपलभे सूत मनो विह्वलतीव मे** (भा० आदि०१।२१८)। चल् के पीछे चर गति भक्षणयोः यह पढ़ें। चर् का 'करना, बनाना' अर्थ में भी प्रयोग देखा जाता है—

वयं नरेन्द्रं सत्यस्थं भरतं चराम (रा०), हम राजा भरत को अपने कर्म में सत्यस्थ बनायें। **को हि मे भोक्तुकामस्य विघ्नं चरति** (हरिवं० ६७९०)। कृ के पर्याय-रूप में इसका 'नियुक्त करना' अर्थ भी है—**चरिता भवता के च शूराः केऽत्र प्लवङ्गमाः। कीदृशाः कति वा सैन्ये वानरा ये दुरासदा.** (रा० ६।६।१६)॥

पृ० ५२. प्र-युच्छ् का ऋग्वेदस्थ प्रयोग—**विश्वान्देवाँ अमृताँ अप्रयुच्छतः** (ऋ० १०।६६।१३)। अन्यत्र भी वैदिक वाङ्मय में इसका अविरल प्रयोग है—यजुः ८।३॥३३।२७॥ आश्व० श्रौ० ४।७।४। आप० श्रौ० ६।१८।१॥

वि-पूर्वक वस् का चमकना (उषा का चमकना, पौ फटना) अर्थ भी है इसमें सायण प्रमाण है—**विपूर्वो वसतिर्व्युच्छने वर्तते—या व्यूषुर्याश्च नूनं व्युच्छान्** (ऋ० १।११३।१०)।

पृ० ५३. मुर्छा, यहां इतना और पढ़िए—**त एव मुक्तागुणशुद्धयोऽपि हर्म्येषु मूर्छन्ति न चन्द्रपादाः** (रघु० १६।१८)। मूर्छन्ति=प्रतिफलन्ति।

पृ० ५७. हिवि धिवि जिवि के पीछे 'इवि व्याप्तौ' पढ़िए। **स धीनां योगमिन्वति** (ऋ० १।१८।७)। **आ सुष्टुती**=(=सुष्टुत्या) **रोदसी विश्वमिन्वे** (ऋ० ३।३८।८)।

अर्थ-निर्देश-सहित धातुपाठ की प्राचीनता के विषय में भारत का निम्नस्थ श्लोक अवधेय है—

वक्त्रैकदेशे गण्डेति धातुमेतं प्रचक्षते।
तेनोन्नतेन गण्डेति विद्धि मामनलसंभवे (भा० १३।४४९९)।

पृ० ५९. इदित् धातुओं के अन्त में इतना और पढ़िये—ष्टभि स्कभि प्रतिबन्धे (स्तम्भ्, स्कम्भ्, रुकना, स्तब्ध, निश्चेष्ट होना, अकड़ना)। **प्राणा दध्वंसिरे गात्रं तस्तम्भे च प्रिये हते** (भट्टि० १४।५५)। **स्तम्भते पुरुषः प्रायो यौवनेन धनेन च।** स्तम्भते=अकड़ता है, गर्वित हो जाता है। मठि कठि शोके। शोक आध्यानम्=उत्सुकतापूर्वक स्मरण करना। प्रायः इनका उद्-

पूर्वक प्रयोग होता है—**उत्कण्ठते पितुः । उन्मण्ठते मातुः ।** मण्ठ् का प्रयोग सुतराम् अप्रसिद्ध है । अभिरभी शब्दे (दोनों इदित्) कहीं-कहीं पढ़ी हैं । अम्भते । रम्भते । **रम्भन्ते गावः**, गौएँ राँभती हैं । भडि परिभाषणे । परिहासः सनिन्द उपालम्भश्च परिभाषणम्, किसी की हँसी उड़ाना, अथवा निन्दा-युक्त दोषारोपण करना । भण्डत इति भण्डः । भण्ड एव भाण्डः । इस अर्थ में अमर का वचन भी अनुकूल है—यः सनिन्द उपालम्भस्तत्र स्यात्परिभाषणम् ।

पडि धातु के विषय में इतना और जानिये—पण्डो गमनकर्ता । जो श्राद्धादि कृत्य कराने के लिये तीर्थों में घूमते रहते हैं उन्हें आज भी पण्ड (पण्डा) कहते हैं । 'पण्डा' यह विलक्षण बुद्धि का भी नाम है । पण्डा संजाता ऽस्येति पण्डितः ।

पृ० ७२. 'वह प्रापणे' से अतिरिक्त भी एक वह धातु है—**नदन्मुखोल्का-विचितामिषाभिः स वाह्यते राजपथः शिवाभिः** (रघु० १६।१२) । वहेरन्योपि वहिधातुरस्तीत्युपदेशः (मल्लिनाथ) । वह्यते=गम्यते । 'ईर गतौ' से आगे 'कम्पने च' पढ़ें ।

पृ० ८२. अण्यन्त ईर् धातु के अर्थ निर्देश के अन्त में इतना और पढ़िये—**त्रिरह्नः पशवः प्रेरते प्रातः संगवे सायम्**(तै०ब्रा०१।४।६।२) । संगव=दिन के पांच भागों में से द्वितीय मुहूर्त-त्रयात्मक भाग ।

पृ० ८६. शीङ् का प्रयोग अचेतन पदार्थ के विषय में भी होता है—**शयाना वर्धते दूर्वा ।** (भाष्य) ।

पृ० ८६. द्यु अभिगमने का प्रयोग वेद में आया है—(अग्निः)**ऋभुर्न त्वेषो रभसानो अद्यौत्** (ऋ० ६।३।८) ।

पृ० ६५. अधि इक् स्मरणे का वैदिक उदाहरण—**अधीयत**(=अधीयते) **देवरातो रिक्थयोरुभयोर्ऋषिः** (ऐ० ब्रा० ७।१८) ।

पृ० ६८. सोपसर्गक मा के विषय में इतना और पढ़िये—

बृंहीयसीं लघिष्ठां वा गिरं निर्मान्ति वाग्मिनः ।
न च वाग्मित्वमेतेषां लघूक्त्यैव नियम्यते ॥ मनु० ५।६४ पर कुल्लूक द्वारा उद्धृत श्लोक । मुद्रित पाठ 'न चावश्यत्वमेतेषाम्' अनर्थक है ।

१०६. 'ह्रस्वः' सूत्र की जो व्याख्या जो पृ० ११४ पर दी गई है, उसे यहाँ विधि सं० १०६ के अनन्तर पढ़ें ।

पृ० १२०. विष्लृ व्याप्तौ के प्रयोग के विषय में एक और उदाहरण—**इमामिमां देवतां परिवेवेष्मि** (अथर्व० १५।१३।१३) । पर कहीं-कहीं ण्यन्त

विष् के प्रयोग में अन्नवाची शब्द से द्वितीया भी देखी जाती है—**उपनीय तु तत्सर्वं शनकैः सुसमाहितः । परिवेषयेत्...॥** मनु० ३।२२८ ।

पृ० १२४. तिम् का 'स्तब्ध होना' अर्थ में उदाहरण—**तिमिताश्चाभवन् सर्वे तत्र ते हरियूथपाः** (रा० ५।१।२६) ।

पृ० १२६. दीप् का रुचिर उदाहरण—

सन्ध्येव रागिणी वेश्या न चिरं पुत्रि दीप्यते (क० स० सा० १२।९३) ।

पृ० १२८. बुध् दिवा० का जानने अर्थ में वैदिक उदाहरण—**सर्वो हि कृतमनुबुध्यते** (श० ब्रा० २।२।३।१७) ।

अनुरुध् दिवा० का वैदिक उदाहरण—**अप्स्वग्ने सधिष्टव**(=ते स्थानम्) **सौषधीरनुरुध्यसे** (ऋ० ८।४३।९) । सौषधीः=स ओषधीः । सोऽचि लोपे चेत्पादपूरणम् (६।१।१३४) से 'स' के 'सु' (प्रथमा एक०) का लोप हो जाता है यदि ऐसा होने से पाद (ऋक्-पाद, कभी-कभी श्लोक-पाद भी) पूर्ण हो जाय । ऐसा होने पर पश्चात् वृद्धि एकादेश हुआ है । अनुरुध्यसे=कामयसे ।

पृ० १३०. प्रीङ् के उदाहरणों के अन्त में यह अधिक पढ़िये—

न विग्रहे मम मति र्न च प्रीये कुलक्षये (भा० आदि० १।१४३) ।

पृ० १३२. शक् (दिवा०) का सामर्थ्य अर्थ में एक और उदाहरण—

न शक्यामः प्रवेष्टुं विवरं भुवः (रा० २।५९।२२) ।

मर्षण=प्रसहन=अभिभव अर्थ में शक् के उदाहरण—

एवं मनुष्यमप्येकं गुणैरपि समन्वितम् ।
शक्यं द्विषन्तो मन्यन्ते वायुर्द्रुममिवैकजम् (भा० उ० ३६।६४)॥

शक्येष्वेवाभवद्यात्रा तस्य शक्तिमतः सतः (रघु० १७।५६) ।

पृ० १३३. रध् के विषय में एक और अत्यन्तोपयोगी उदाहरण पढ़िए—**मा रधाम द्विषते सोम राजन्** (ऋ० १०।१२८।५) । रधाम=रध् का माङ् उपपद होने पर लुङ् उ० पु० बहु० ।

पृ० १३७. ञिमिदा का वैदिक उदाहरण—**अनृतं हि कृत्वा मेद्यति** (श० ब्रा० २।४।२।६) । झूठ बोलकर (पापाचरण से) मोटा होता है ।

पृ० १४०. अनुपसर्गक 'हि' का एक और उदाहरण—**ते नो हिन्वन्तु सातये धिये जिषे** (=जयाय) । ऋ० १।१११।४॥

पृ० १४१. राध् की अकर्मकता का उदाहरण—**ददतं वै ते तमयाजयं-स्तस्माद् ददद्याज्यः । प्रतिगृह्णन्तो वै ते तमयाजयंस्तस्मात्प्रतिगृह्णता याज्यम् उभये राध्नुवन्ति** (भा० आदि० ३।९१ पर नीलकण्ठ द्वारा उद्धृत श्रुति) ।

कहीं-कहीं राध् का सकर्मकतया प्रयोग भी मिलता है—**तं काममनपराधं राध्नोति** (श० ब्रा० १।३।५।१०)।

पृ० १४५. लिप् के प्रयोग में कर्म-करणादि की व्यवस्था के विषय में कुछ उदाहरण दिये जा चुके हैं। अधिक विस्पष्टता के लिए कुछ और यहाँ दिये जाते हैं—**ताः (ओषधीः) जाताः पितरो विषेणालिम्पन्** (तै० ब्रा० २।१।१।२)। **क्षिप्रमङ्गानि लिम्पस्व पायसेन** (भा० १३।७४२५)। इनमें साधन द्रव्य में करणत्व बुद्धि करके तृतीया हुई है। **तच्चूर्णं तस्य बुर्बुद्धेरोष्ठौ श्मश्रूणि चालिपत्** (क० स० सा० ६१।४३)। यहाँ करण में कर्तृबुद्धि करके 'चूर्ण' में प्रथमा हुई है। **यः कपाले रसो लिप्त आसीत्**(श०ब्रा० ६।१।१।१२)। यहाँ लिप् का अकर्मकतया प्रयोग हुआ है, अतः 'कपाल' में अधिकरणत्व-विवक्षा में सप्तमी हुई है। **तस्यालिप्त शोकाग्निः स्वान्तं काष्ठमिव ज्वलन्** (भट्टि० ६।२२)। यहाँ 'करण' शोकाग्नि में कर्तृबुद्धि हुई है और धातु सकर्मकतया प्रयुक्त हुई है। यह सभी शिष्ट-व्यवहार-सम्मत है।

पृ० १४६. वेद में पिश् का 'टुकड़े करना' अर्थ में प्रयोग मिलता है—**पिंश दर्भ सपत्नान्मे** (अथर्व० १९।२८।९)।

ण्यन्त विज् (केवल) का एक और उदाहरण—**शिल्पकार्य उभयेन वेजिताः** (रघु० १९।३५)।

पृ० १४९. मृण् का वेद में प्रयोग—**अबाधेथाममृणतं नि शत्रून्** (ऋ० ४।२८।४)।

पृ० १६०. युज् के प्रयोग में कारक-द्वैविध्य—**युयुजुः स्यन्दनानश्वैः** (भट्टि० १३।९०)।

पृ० १६५. पृच् का बिना उपसर्ग के भी वेद से तिङन्त प्रयोग मिलता है—**तमित् पृणक्षि शवसोत राया** (ऋ० ६।१५।११)। तू उसे बल और धन से युक्त करता है।

पृ० १८३. चुद् के प्रश्नार्थ में अन्य उदाहरण—**ऋषिः कश्चिदिहागत्य मम जन्माभ्यचोदयत्** (भा० आदि० ७१।१९)।

क्षल् का एक उदाहरण—**विद्यातीर्थे विमलमतयः कल्मषं क्षालयन्ति**।

पृ० १८८. **तत्र त्वाऽहं हस्तिनं यातयिष्ये** (भा० १३।४८५६)। मैं तुझे हाथी के आगे डाल दूंगा। इतना और यत् धातु के उदाहरणों के अन्त में पढ़ें।

पृ० १६६. स्वार्थ में णिच् के अन्य उदाहरण—**ऋते वर्षान्न कौन्तेय जातु निर्वर्तयेत्फलम्** (निर्वर्तयेत्=निर्वर्तेत) । (भा० उ० ७६।३) ।

न ह्येको बहुभिर्वीरैर्याय्यो योधयितुं युधि (भा० ६।१८२८) । योधयितुम्=योद्धुम् । **नाभिव्याहारयेद् ब्रह्म स्वधा-निनयनादृते** (मनु० २।१७२) । अभिव्याहारयेत्=अभिव्याहरेत्=उच्चारयेत् ।

पृ० १६८. 'यु' के आगे 'पर युञ् बन्धने क्र्यादि अनिट् है, इतना अधिक पढ़ें ।

पृ० २०८. विधि सं०१८६ हलादि कित् ङित् के आगे 'आर्धधातुक' इतना अधिक पढ़ें ।

पृ० २४६. टिप्पण १ में 'स्वृ' अनिट् है ऐसा पढ़ें ।

पृ० २४७. 'सु' के नीचे सु (षु) प्रसवैश्वर्ययोः, अभ्यनुज्ञा देना, ईश्वर वा स्वामी होना, भ्वा० अदा० । असौषीत् । असौषीः । असौषम् । इतना अधिक पढ़ें ।

पृ० २४६. टिप्पण २ में इतना और पढ़िये—

दृश् शलन्त इगुपध अनिट् धातु है । इससे वक्ष्यमाण च्लि के स्थान में 'क्स' आदेश प्राप्त होता है । उसका 'न दृशः' (३।१।४७) से निषेध हो जाता है ।

पृ० २८१. टिप्पण २ के अन्त में—पा रक्षणे को णिच् परे रहते लुक् (ल्) आगम होता है । धूञ् तथा प्रीञ् को नुक् (न्) का आगम होता है । युक्, लुक्, नुक् कित् हैं, अतः पूर्व का अन्तावयव बनते हैं । उपधा-ह्रस्व होकर **न्यशीशयत्** (नि-शो-णिच्-युक्-लुङ्) । **अपीपलत्** (लुक्) । **अदूधुनत्** । **अपिप्रिणत्** (नुक्)—ऐसे रूप होंगे ।

पृ० २८६. टिप्पण १ के नीचे इतना अधिक पढ़ें—अङ्गाधिकार-विहित कार्यों का ही यहाँ अतिदेश विधान किया जा रहा है, अतः चिण् परे होने पर जो हन् को वध, इण् को गा, इङ् को गाङ् आदेश विहित किए हैं वे चिण्वद्भाव में नहीं होते । **हनिष्यते** । **घानिष्यते** । **एष्यते** । **आयिष्यते** । **अध्येष्यते** । **अध्यायिष्यते** ।

पृ० २६६. टिप्पण में इतना और पढ़िये—अवेक्षा प्रतिजागरः, यह अमर वचन भी 'प्रतिजागृ' की सकर्मकता का अनुग्राहक है ।

पृ० ३२०. ऊखतुः । उ उख् अतुः । यहाँ एकादेश 'ऊ' के पूर्व के प्रति अन्तवद्भाव होने से अभ्यास का 'ऊ' माने जाने पर (११६) से ह्रस्व क्यों नहीं

होता ? उत्तर—अभ्यास 'उ' और प्रकृति के 'उ' के स्थान में जो एकादेश हुआ है वह बहिरङ्ग है बह्वपेक्ष होने से और अभ्यासमात्र का आश्रय करके प्रवृत्त होने वाला ह्रस्वत्व अन्तरङ्ग है। अन्तरङ्ग की दृष्टि में बहिरङ्ग असिद्ध होता है—असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे। अतः 'ह्रस्वः' शास्त्र की दृष्टि में दीर्घैकादेश हुआ ही नहीं, तो ह्रस्वत्व किसे हो ?

पृ० ३२४. **स्वनतुः, स्वेनतुः** के आगे इतना और पढ़ें—पर फणादि न होने से ध्वन् से **दध्वनतुः, दध्वनुः** इत्यादि रूप होंगे। वैकल्पिक एत्व और अभ्यास-लोप नहीं होगा।

पृ० ३७४. विधि सं० ४४० में इतना और पढ़िये—सूत्र में स्वप् और प्रच्छ् का ग्रहण सन् प्रत्यय के लिये किया है। क्त्वा तो कित् ही है। केवल सेट् क्त्वा कित् नहीं होता।

पृ० ३८०. तृ से पहले इतना और पढ़ें—ॠ—**अरिरिषति। अरिरीषति।** ॠ इट् सन्। गुण। अर् इ स। द्वितीय एकाच् 'रिस्' को द्वित्व। (१६४) से विकल्प से इट् को दीर्घ।(४४६) से इट् का विकल्प होने से इट् के अभाव में (४३२) से झलादि सन् के कित् होने से (१४१) से ॠ को इर् होकर इर् सन् (स) इस अवस्था में (११४-ख) से दीर्घ होकर ईर् स, षत्व होकर ईर्ष। (२८०) से र् को द्वित्व-निषेध। पूर्वत्रासिद्धीयमद्विर्वचने, द्वित्व की कर्तव्यता में पूर्वत्रासिद्धीय कार्य असिद्धवत् नहीं होता। अतः एकाच् 'ष' को द्वित्व होता है। अभ्यास के 'अ' को (४३०) से 'इ'। **ईर्षिषति।**

३८१. 'पा' के नीचे 'ज्या' (क्षीण होना)—**जिज्यास। जिज्यासति।** अभ्यास-ह्रस्व। 'सन्यतः' से अभ्यास के 'अ' को 'इ'।

धा के नीचे धेट् (चूसना)—**धित्स। धित्सति**—इतना अधिक पढ़ें।

३८५. सूत्र में शप् द्वारा निर्देश (भर) होने से जुहोत्यादि भृञ् के सन्नन्त में इड्-विकल्प नहीं होगा—**बुभूर्षति**—यह एक ही रूप होगा।

पृ० ३९३. ण्यन्त धातुओं से यङ् नहीं होता, अनेकाच् होने से—ऐसा न्यासकार का कथन है।

पृ० ३९८. 'घ्रा' से पूर्व इतना और पढ़िये—ज्या—**जेजीयते।** ज्या-यङ्। (१२८)से सम्प्रसारण। पूर्वरूप। 'जि' को द्वित्व। अभ्यास-गुण। अभ्यासोत्तर खण्ड में (३८३) से दीर्घ।

पृ० ३९९. पङ्क्ति ५ में 'ऋृ' को (४८०) से 'दीर्घ' को शुद्ध करके ऐसे पढ़ें—ॠ को (१४१) से इर् हो जाता है, तब (११४—ख) से दीर्घ हो जाता है। 'कीर्, तीर् को द्वित्व होता है'। हलादि शेष होकर अभ्यास को गुण होता है। शॄ—शेशीर्यते। पॄ—पोपूर्यते। (११४-क) से ॠ को रपर उ। (११४-ख से दीर्घ)। अभ्यास-गुण—इतना और पढ़ें।

पृ० ४०३. पङ्क्ति ४ में 'दीखता है' इस से आगे 'प्रत्ययलक्षण से यङन्त होने से यङ्लुगन्त शब्द-रूप भी धातु है—इतना और पढ़ें।

पृ० ४०४. यहाँ यह शङ्का होती है कि यङ्लुगन्त से आत्मनेपद क्यों नहीं होता? प्रत्यय-लक्षण से ङित्त्व प्राप्त है। ङित्त्व-निमित्तक आत्मनेपद होना चाहिये। इस पर वृत्तिकार का कहना है—दाधर्ति-दर्धर्ति—(७।४।६५) सूत्र में 'तेतिक्ते'यह यङ्लुगन्त रूप निपातित किया है। यहाँ केवल आत्मनेपद का ही निपातन किया है। प्रत्यय-लक्षण से धातु के ङित् होने से आत्मनेपद सिद्ध था, तो फिर क्यों निपातन किया है? इसलिये कि यहाँ इस रूप में ही आत्मनेपद हो, अन्यत्र कहीं नहीं, यह ज्ञापित करने के लिये। पर सूक्ष्मदृक् भट्टोजिदीक्षित का कहना है कि प्रत्यय-लक्षण का यह विषय नहीं। प्रत्यय के असाधारण-रूप का आश्रयण करके जहाँ कार्य होता है वहीं प्रत्ययलक्षण होता है। प्रत्यय और अप्रत्यय के साधारण रूप का जहाँ आश्रयण हो वहाँ प्रत्यय-लक्षण नहीं होता। ङित्त्व प्रत्यय का असाधारण धर्म हो, ऐसा तो है नहीं। चित्रङ् का 'ङ्' प्रातिपदिक का है, प्रत्यय का नहीं। ऋतेरीयङ्—ङ् प्रत्यय का है। अत्वसन्तस्य चाधातोः (६।४।१४) में जो अस् ग्रहण किया है वह प्रत्यय का असाधारण रूप नहीं। अस् धातु का भी है और प्रत्यय का भी। जस् के रूप में अस् प्रत्यय है। पिण्डं ग्रसत इति पिण्डग्रः—यहाँ अस् ग्रस् धातु का अवयव है। ड-प्रत्यय हुआ है। डित्त्व-सामर्थ्य से अ-भ-संज्ञक के भी 'टि' अस् का लोप हुआ है। प्रत्यय-लक्षण न होने से 'असन्त' नहीं बना, अतः 'सु' परे रहते उपधा-दीर्घ नहीं हुआ। सुदृषत् प्रासादः। शोभना दृषदोऽस्य सुदृषत्। यहाँ अन्तर्वर्तिनी विभक्ति जस् (अस्) का लुक् होने पर प्रत्यय-लक्षण से 'सुदृषत्' असन्त नहीं बनता। अतः 'सु' परे उपधा-दीर्घ नहीं हुआ। 'अस्' चाहे सार्थक हो चाहे अनर्थक, तदन्त विधि का प्रयोजक होता है—अनिनस्मन्ग्रहणान्यर्थवताऽनर्थकेन च तदन्तविधिं प्रयोजयन्ति।

स्पर्ध्, शीङ् आदि जो अनुदात्तेत् तथा ङित् पढ़ी हैं उनसे भी आत्मनेपद

नहीं होता, कारण कि अनुबन्ध-निर्देश से जो विधि (कार्य) किया जाता है वह यङ्लुगन्त को नहीं होता।

पृ० ४२७. धने गृध्यति=धनायति। इस अर्थ में क्यजन्त 'धनाय' का निपातन किया है। गर्ध-मात्र अर्थ में वाजसनेयी संहिता तथा महाभारत से उदाहरण दिये जा चुके हैं। इसी अर्थ में भारवि का भी प्रयोग है—**अर्थितस्तु न महान्समीहते जीवितं किमु धनं धनायितुम्** (किरात० १३।५६)। 'धनाय' का सकर्मक प्रयोग भी अवधेय है।

पृ० ४२९. 'चित्रीय' का 'विस्मित करना' अर्थ में भारवि का प्रयोग—**चित्रीयमाणानतिलाघवेन प्रमाथिनस्तान्भवमार्गणानाम्** (किरात० १७।३१)।

पृ० ४३४. लौगाक्षि गृह्य (१।१७) में 'न संवस्त्रयेत्' सूत्र की व्याख्या में समानं वस्त्रं न कुर्यात्, आचार्यपरिहितं वस्त्रं न परिदधीत, ऐसा अर्थ किया है।

लकारार्थ

वैयाकरणों का सिद्धान्त है कि शब्द का अर्थ बौद्ध, बुद्धिस्थ बुद्धि-गम्य पदार्थ होता है। जिस पदार्थ की बौद्ध सत्ता है, बाह्य सत्ता भले ही न हो, वह शब्दार्थ है—**बौद्धः शब्दार्थः**। जब कहा जाता है कि प्रातिपदिकार्थः सत्ता, प्रातिपदिक का अर्थ सत्ता है, तब बाह्य सत्ता से अभिप्राय नहीं। यदि बाह्य सत्ता ही शब्दार्थ हो, तो शशशृङ्ग, खपुष्प, बन्ध्यासुत आदि शब्दों से प्रातिपदिकार्थ में प्रथमा नहीं हो सकेगी। बाह्य जगत् में शशशृङ्ग आदि कोई पदार्थ नहीं हैं। हाँ इनका अवभास अवश्य होता है। यह शब्द की महिमा है कि वह **अत्यन्तासत्यपि ह्यर्थे ज्ञानं शब्दः करोति हि**, पदार्थ का अत्यन्ताभाव होने पर भी उसका बोध कराता ही है। योगदर्शन में इस बोध को विकल्प नाम से कहा है—शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः (१।९)। हम कहते हैं इस मार्ग में कूआँ था, इस मार्ग में कूआँ है, इस मार्ग में कूआँ आयेगा। कूआँ पहले से ही विद्यमान है, उसके लिये कूआँ था, कूआँ आयेगा—यह कैसे कहा गया। उत्तर—जो मार्ग हमने अतिक्रान्त किया है, उसमें जो कूआँ, वह भी अतिक्रान्त हुआ है। वह बुद्धि से निरूपित हो चुका है, उसकी सत्ता भूतकालिक बन गई। अतः कूआँ था, ऐसा प्रयोग होता है। जिस कूएँ का अतिक्रमण नहीं हुआ, वह अभी तक बुद्धि से निरूपित नहीं हुआ। उसकी अभी बौद्धी सत्ता नहीं बनी। अतः हम कहते हैं मार्ग में कूआँ आयेगा। महाभारत में प्रयोग है—**व्यक्तं दूरे विराटस्य राजधानी भविष्यति** (विराट० ५।६)। विराट की नगरी पहले से

विद्यमान है, उसे होना नहीं, तो भी अभी वह बुद्धि द्वारा निरूपित नहीं हुई, अतः 'भविष्यति' लृट् लकार का प्रयोग हुआ है। बाह्य सत्ता को लेकर तो 'भवति' ही कह सकते थे। इसी प्रकार **यावत्स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले** (रा० १।२।३६)। भविष्यत्काल में होने वाले राजाओं के साथ सम्बद्ध पर्वतादि की स्थिति को बुद्धि अभी अपना विषय नहीं बना सकी। बुद्धि के लिये वह स्थिति भविष्यत्कालिक है। ऐसे ही

यथा च नो मतिर्वीर विषपीतो भविष्यति। (भा० १।१२८।६१)।
अगोपाश्चागता गावः कचस्तात न दृश्यते।
व्यक्तं हतो मृतो वापि कचस्तात भविष्यति (भा० १।७६।३२)॥

यहाँ भी लृट् प्रयोग उपपन्न होता है।

इत्युक्तादिचिन्ताविषयः प्रथमोऽनुबन्धः।

अनुबन्ध (२)

करोतिना सर्वधात्वर्थानुवादः क्रियते ।

धातुएँ अनेकार्थक हैं—यह वैयाकरणों का सिद्धान्त है। धातुपारायणों में जो अर्थ निर्देश किया गया है वह निदर्शन के लिये है, परिगणन के लिये नहीं। अमुक धातु के इस प्रकार के अर्थ होते हैं इसमें विवक्षा है, इतने ही होते हैं, इसमें नहीं। निर्दिष्ट अर्थों में कोई एक मुख्य अर्थ है और दूसरे गौण हैं, ऐसी कल्पना भी युक्त नहीं। अव् धातु के उन्नीस अर्थों में कौन गुण-प्रधान-भाव की कल्पना कर सकता है। क्वाचित्क उपचार से भी धातुओं की अनेकार्थता विहत नहीं होती। वप् बीजसन्तान (=बोना) अर्थ में पढ़ी है, लवन (काटना) अर्थ में भी प्रयुक्त होती है—**केशान् वपति**। दिश् अतिसर्जन (देना) अर्थ में पढ़ी है, उच्चारण में भी देखी जाती है—**सन्दिशति वाचम्** इति। शंस् स्तुति अर्थ में पढ़ी है, हिंसा में भी देखी जाती है—**नॄन् शंसतीति नृशंसः**। नृशंसो घातुकः क्रूरः (अमर)। अनेकार्थता का अभ्युपगम होने पर भी प्रत्येक धातु नानार्थक है, इसे उदाहरणों द्वारा दिखाना असम्भव-प्राय है। सर्वे सर्वार्थ-वाचकाः—यह जो क्रान्तदर्शी आचार्यों का दर्शन है वह कृ धातु के विषय में सुतराम् अवितथ है। कृ की विचित्र महिमा है। क्रिया-सामान्य-वाची होने से नाना क्रियाविशेषों को कहने का इसमें सामर्थ्य है, जो अपरिच्छेद्य है। साहित्याब्धि के आलोडन से उसका कुछ पता चल सकता है। सभी धात्वर्थों में कृ धातु का अर्थ=क्रियासामान्य होता ही है, तो क्या आश्चर्य है कि कृ अकेला ही उन-उन धात्वर्थों=क्रिया-विशेषों को भी कह दे। देवदत्तः पठति। यज्ञदत्तः शृणोति। विष्णुमित्रो व्याख्याति। एक आगन्तुक पूछता है—किमिमे कुर्वन्ति? यहाँ कृ से पठ्, श्रु, ख्या धातुओं के अर्थों का अनुवाद होता है। 'कृ' इन तीन के अर्थों को कह रही है। यह शब्द-स्वाभाव्य है कि सामान्य से विशेषाभिधान होता है और विशेष से सामान्याभिधान भी। वद् का कहना, उच्चारण करना अर्थ है। यह सामान्य है। सामान्यार्थक वद् भासनोपाधिक विशेष अर्थ को भी कहती है—**शास्त्रे वदते आचार्य्यः** (=भासमानो ब्रवीति)। मन्त्रि (मन्त्र्) गुप्तपरिभाषण में पढ़ी है। यह क्रियाविशेष को कहती है। पर **किं मन्त्रयसे**

मित्र (मित्र तू क्या कहता है)—यहाँ यह केवल परिभाषण (क्रिया-सामान्य) को कहती है। शंस् स्तुति अर्थ में पढ़ी है। स्तुति शब्दविशेष होता है। पर **नृपाय सुतजन्म शंसति**—यहाँ कीर्तन (शब्द, उच्चारण करना) रूप सामान्य क्रिया को कहती है। शप् आक्रोश (जो शाप अथवा शपथ-रूप शब्दविशेष है) अर्थ में पढ़ी है। पर **वसिष्ठश्चापि शपथं शेपे पैजवने नृपे**(मनु० ८।११०)। शेपे=चक्रे।

अब प्रकृत विषय को साहित्य से उद्धृत उदाहरणों द्वारा स्पष्ट करते हैं। **वितरति गुरुः प्राज्ञे विद्यां यथैव तथा जडे। न च खलु तयोर्ज्ञाने शक्तिं करोत्यपहन्ति वा** (उ० रा० च० २।४)। यहाँ करोति=अभूतपूर्वामुत्पादयति =नई उत्पन्न करता है। **भयं करोति**=भयं जनयति। **सत्सङ्गतिः कथय किं न करोति पुंसाम्** (भर्तृ० १।१६)। यहाँ करोति=साधयति। **चक्रे शोभयितुं पुरीम्** (रा० २।७।१०)। यहाँ 'कृ' आदिकर्म में प्रयुक्त हुई है। चक्रे=प्रारेभे। उसने नगरी को सुशोभित करना प्रारम्भ किया। **काष्ठं भस्म करोति**। (लकड़ी की भस्म बनाता है)। **स्वर्णं कुण्डलं करोति** (सोने का कुण्डल बनाता है)। **कुरु पदानि घनोरु शनैः शनैः**, हे वरारोहे धीरे-धीरे पैर धर। **करिष्यसि पदं पुनराश्रमेस्मिन्**(शाकुन्तल४), इस आश्रम में फिर पैर धरेगी। **शनैः शनैः श्यामिकया कृतं पदम्** (कुमार० ५।२१)। **आकृतिविशेषेष्वादरः पदं करोति**। इन सब में कृ निक्षेपण अर्थ को कहती है। **अश्मानमितः कुरु**। पत्थर को इधर रखिये। यहाँ कृ का 'स्थापन' अर्थ है। **दशम्यामुत्थाय पिता नाम करोति** (गृह्य सूत्र) —यहाँ करोति=निर्दिशति। नाम विशेष का निर्देश=उच्चारण करता है। **ब्रह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा** (मनु० २।७४)। **पदानि मिथ्या कारयते** (पदों को उदात्तादि का व्यतिक्रम करके बार-बार उच्चारण करता है)— यहाँ दोनों स्थलों में कृ का उच्चारण अर्थ है। शब्द-दर्दुरं करोति (४।४।३४)। इस सूत्र में कृ का प्रकृति प्रत्ययादि विभाग द्वारा जानना अर्थ है। कलापिवैशम्पायनान्तेवासिभ्यश्च (४।३।१०४) इस सूत्र की वृत्ति में काशिकाकार कहते हैं—प्रत्यक्षकारिणो गृह्यन्ते न तु शिष्यशिष्या इति। पदमञ्जरीकार हरदत्त का कहना है कि कृ का अर्थ यहाँ अध्ययन है। **ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान्** (मनु० २।१५४)। यहाँ मेधातिथि के अनुसार कृ का 'व्यवस्थापन' अर्थ है। ऋषियों ने व्यवस्था दी कि जो कोई साङ्गवेद का अध्येता है वह हमारे लिये बड़ा है। **विचर्चिकातः कुरु**, यहां कृ का अर्थ चिकित्सा करना है। विचर्चिका (गीली खुजली) की चिकित्सा कर। **पादौ कुरु**=पादौ उन्मृदान, पाओं

को झाड़ लो। कृ उन्मर्दन को कहता है। **इवं लतावेश्म विरिक्तमत्र पादौ करोमि यदि तन्वि ताम्यसि**(अभिनन्द कृत रामचरित ४।४६)। यहाँ करोमि=संवाहयामि=दबाऊँ। **यत्र शुल्को न क्रियते अबलेन बलीयसे**(अथर्व० ३।२६।३)। क्रियते=दीयते। **अभ्यागच्छन्सुराः सर्वे तपःफलचिकीर्षवः** (रा० १।६३।१)। चिकीर्षवः=दित्सवः, देना चाहते हुए। **उदकं करोति पितृभ्यः**—यहाँ कृ का अर्थ निवाप (=पितृदान) है। यही अर्थ गीता के '**पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः**' (१।४२) इस वचन में है। **पतितस्योदकं कार्यं सपिण्डैर्बान्धवैर्बहिः** (मनु० ११।१८२)—यहाँ भी। **कृतोदकः**=आचान्तः स्नात इति वा। यहाँ कृ का उपयोग करना अर्थ है।

कृञो द्वितीय-तृतीय-शम्ब-बीजात्कृषौ (५।४।५८) सूत्र में कृ का अर्थ कर्षण=हल चलाना है—**द्वितीया करोति क्षेत्रम्**, खेत में दोबार हल चलाता है। **बीजाकरोति क्षेत्रम्**=बीज बोते हुए खेत पर हल चलाता है। **अकृतं च कृतात्क्षेत्रात्** (मनु० १०।११४)। अकृत=अकृष्ट। **फालाहतमपि क्षेत्रं न कुर्याद्यो न कारयेत्** (याज्ञ० २।१५८)। जिस पर थोड़ा हल चल चुका है उस खेत पर भी जो (अङ्गीकार करके) हल नहीं चलाता और न किसी से हल चलवाता है। **पदकारः**—यहाँ पदानि करोति अवगृह्णाति इस व्युत्पत्ति के अनुसार कृ का अर्थ अवग्रह=पृथक्करण=(पद) छेद करना है। **शकृत् करोति**=मलं विसृजति। यहाँ विसर्ग=(मल—)त्याग अर्थ है। **शकृत्करिर्वत्सः**, यहाँ तथा **मूत्रपुरीषे करोति** यहाँ भी कृ का ऐसा ही अर्थ है। **आज्ञां करोति, वचनं करोति, आज्ञाकरः, वचनकरः**—यहाँ कृ का अनुष्ठान अथवा अनुवर्तन अर्थ है। **दारान्कुर्वीत** (स्त्रीग्रहण करे, विवाह करे)। **दारकर्म्मन्** (विवाह)—**सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने** (मनु० ३।५)। दारक्रिया=विवाह। यहाँ सर्वत्र कृ का अर्थ परिग्रहण, स्वीकार करना है। शूलात्पाके (५।४।६५) सूत्र से निष्पन्न **शूलाकरोति मांसम्**—इस प्रयोग में कृ का अर्थ पकाना है। अतः **कृताकृतास्तण्डुलाः** (याज्ञ० १।२८६)। यहां पक्के और कच्चे चावल—ऐसा अर्थ है। **कृतान्नम्**=सिद्धान्नम्। **समया करोति**=समय को बिताता है, टालमटोल करता है। करोति=यापयति। यह अर्थ समयाच्च यापनायाम् (५।४।६०) इस सूत्र में साक्षात् पढ़ा है। कृ का काल को समाप्त करना, मृत्यु को प्राप्त करना भी अर्थ है—**एवं त्वं पुत्रशोकेन राजन्कालं करिष्यसि** (रा० २।६४।५२)। **चक्रुस्तेनाभ्यनुज्ञाता दश वर्षाणि पञ्च च** (भा०)।

बह्वी : समा अकरमन्तरस्मिन् (ऋ० १०।१२४।४)। अकरम्=अवसम् । कृ का प्रतीक्षा करना भी अर्थ है—**वयं सर्वे सोत्सुकाः कृतक्षणास्तिष्ठामः । भगवंश्चिरेण पात्रमासाद्यते । भवांश्च गुणवानतिथिस्तदिच्छे श्राद्धं कर्तुं क्रियतां क्षण इति** (भा० आदि० ३।११५) क्रियतां क्षणः—ज़रा ठहरिये । **अस्त्रार्थमगमं पूर्वं धनुर्वेदचिकीर्षया** (भा० १।१३१।४०) । यहाँ कृ का अर्थ शिक्षा ग्रहण करना, सीखना है । **यां विद्यां कुरुते गुरौ** (आप० ध० १।७।१२) । यहाँ सीखना, पढ़ना अर्थ है । **मानितः कुरुतेऽस्त्राणि शक्रसद्मनि भारत** (भा० वन० १६२।२२) । अस्त्राणि कुरुते=अस्त्राण्यभ्यस्यति, शिक्षते । **चकाराङ्गिरसां श्रेष्ठाद् धनुर्वेदं गुरोस्तदा** (भा० शा० २।५) । चकार=शिशिक्षे । सीखा । **तन्मूलामतिमहतीं कथामकरोत्** (दशकु० पृ० १७३) । अकरोत्=प्राकथयत् ।

कृ का बलात्कार परस्त्रीगमन करना अर्थ है । इस अर्थ को अकेला कृ भी कहता है और प्र-उपसर्ग-सहित कृ भी—**अभिषह्य तु यः कन्यां कुर्याद् दर्पेण मानवः** (मनु० ८।३६७)। दारप्रकर्मेतिविषयकोऽध्यायोस्ति वात्स्यायनीये कामसूत्रे । **मयि जीवति राजेन्द्र न भयं कर्तुमर्हसि** (भा० द्रोण० १३।१२) । यहाँ कृ का अर्थ अनुभव करना है । **न चकार भयं प्राप्ते मयि महति मारिष** (भा० द्रोण० १०२।२३) । **न भयं कर्तुमर्हथ** (हरि० २।५०।३६) । **व्रीडां न कुरुषे कथम्** (भा० २।१५७७) । इन तीनों उदाहरणों में कृ का अर्थ अनुभव करना है । पर 'भयंकर' शब्द में निश्चय ही कृ का अर्थ प्रादुर्भूत करना, उत्पन्न करना है । **कृधि रत्नं यजमानाय सुक्रतो त्वं हि रत्नधा असि** (ऋ० ७।१६।६)। कृधि=कुरु=देहि=दो । **सत्सङ्गतिः कथय किन्न करोति पुंसाम्** (भर्तृ०) । करोति=जनयति=साधयति । **करोमि कामं कं तेऽद्य प्रवृणीष्व यथेच्छसि** (भा० ४।४३७) । करोमि=साधयामि । **कण्ठे हारमकरोत्**=कण्ठेन हारमधात्, गले में हार धारण कर लिया । **अध्यक्षान् विविधान् कुर्यात्तत्र तत्र विपश्चितः** (मनु० ७।८१)। कुर्यात्=नियुञ्जीत । नियुक्त करे । **कुरु करे गुरुमेकमयोघनम्**, हाथ में एक भारी अयः पिण्ड को धारण कर । हस्तेनाऽऽदत्स्वेत्यर्थः । कृ यहाँ आदान अर्थ में है । **आदाने करोतिशब्दः** (मी० सूत्र० ४।२।६) । यथा काष्ठानि करोति, गोमयानि करोति, आदाने करोतिशब्दो भवति, एवमिहापि द्रष्टव्यम् (शा० भा०) । **राज्ये सुतं कृत्वा** (मार्क० पु० १०६।३७)। कृत्वा=अभिषिच्य । **इमां चेदापदां घोरां तराम्यद्य सुदुष्कराम्** (भा० १०।२६२) । यहाँ कृ का अर्थ सहना है । **यस्याग्नौ न क्रियते यस्य चाग्रं न दीयते**

न तद्धोक्तव्यम् (आप० ध० २।१५)। यहाँ कृ हवन अर्थ में है। **सत्यं करोति ब्राह्मणः**, यहाँ करोति=शपते,ब्राह्मण सत्य की सौगन्ध खाता है। सत्यापपाश-रूप-वीणा (३।१।२५) सूत्र की वृत्ति में यह प्रत्युदाहरण दिया है। **चक्रुरस्त्रं महावीर्याः कुमाराः परमाद्भुतम्** (भा०आदि० १३४।२४)। चक्रुः=प्रादुश्चक्रुः। **केशाञ्जानाम्यहं कर्तुम्** (भा० विराट० ६।१८)। यहाँ 'कृ' का प्रसाधन=सँवारना अर्थ है। आज भी 'बाल बनाना' ऐसा वाग्व्यवहार है। **नखान् करोति**=कृन्तति=कल्पयति, नाखून काटता है। यहाँ कृ का कर्तन=काटना अर्थ है। **कृतानि प्रथमेनाह्ना योजनानि चतुर्दश** (रा० ६।२२।६४)। प्रथम दिन में चौदह योजन तय किये गये। यहां कृ का अतिक्रमण अर्थ है।

अभी तक हमने प्रायः तिङन्त कृ द्वारा किये गये धात्वर्थानुवाद का कुछ प्रदर्शन किया है। अब कृदन्त कृ जिस प्रकार नानार्थों को कहती है उसे दिङ्-मात्र लिखाते हैं—'कर्मन्' शब्द व्यायाम का भी वाचक है। इसमें कर्मवेषाद्यत् (५।१।१००) सूत्र ज्ञापक है। **कर्मणा सम्पादि शोभि शरीरं कर्मण्यम्**। यहां 'कर्म व्यायामः' ऐसा पदमञ्जरीकार हरदत्त का कहना है। चिकित्सा को भी 'कर्म' कहते हैं—**दंशच्छेदः पूर्वकर्मेति श्रूयते** (मालविका)। कर्माऽध्ययने वृत्तम् (४।४।६३) सूत्र में कर्म शब्द अपचार-परक है। ऐसा पदमञ्जरीकार ने अर्थनिर्देश किया है। अपचार=व्यतिक्रम=उल्लङ्घन। स्तेय भी कर्म शब्द का अर्थ है—**कृत्वा शरीर-परिणाह-सुखप्रवेशं शिक्षाबलेन बलेन च कर्ममार्गम्** (चारुदत्त)। **कारा** बन्धनालय, बन्दीगृह का नाम है। यहाँ कृ का बाँधना अर्थ है। क्रियते बध्यतेऽपराद्धो लोकोऽत्र। षिद्भिदादिभ्योऽङ् (३।३।१०४) सूत्र में 'कारा बन्धने' यह गणसूत्र पढ़ा है। यही इस धात्वर्थ में संकेत है। **कृताञ्जलि** शब्द में भी कृ बन्धनार्थक है। **मणिकारो वैकटिकः**—यहाँ कृ का परीक्षा अर्थ है। **मणीन्करोति** परीक्षते इति मणिकारः, जौहरी। संस्कृत में इसे 'रूपतर्क' भी कहते हैं। कर्मण्याक्रोशे कृञः खमुञ् (३।४।२५) सूत्र में 'कृ' का अर्थ उच्चारण है—**चोरङ्कारमाक्रोशति**=चोरशब्दमुच्चार्याक्रोशति । ल्युट्-प्रत्ययान्त 'करण' शब्द का 'ऋण को प्रमाणित करने वाला लेख', ऐसा भी अर्थ है—**स दत्त्वा निर्जितां वृद्धिं करणं परिवर्तयेत्** (मनु० ८।१५४)। क्यबन्त 'कृत्या' शब्द जादू का वाचक है—**तानि कृत्याहतानीव विनश्यन्ति समन्ततः** (मनु० ३।५८)। 'कारिका यातना-कृत्योः' ऐसा प्रायेण अमरकोष का पाठ है। कहीं **'यातना-वृत्त्योः'** ऐसा भी पाठ है। अतः क्षीरस्वामिद्वारा उद्धृत दुर्गसिंह का 'कारिके

वृत्तियातने' यह वचन उक्त पाठ का समर्थक है। कारिका विवरणश्लोक इति स्वामी। इससे स्पष्ट है कि यहाँ कृ का व्याख्यान अर्थ है। ण्यन्त कृ का शिक्षित करना, शिक्षा देना अर्थ भी है—**कारितशिक्षिते** (अमर)। कहीं-कहीं अमर में 'काचितशिक्यिते' ऐसा भी पाठ है। **स्यादचण्डी तु सुकरा** (अमर)। यहाँ सुकरा='सुखेन विनेया' ऐसा अर्थ है। अतः कृ यहाँ विनयन (सिधाना) अर्थ को कहती है। **एष पर्यायवासो मे वसूनां सन्निधौ कृतः** (भा० आदि० ९८।२४)। यहाँ कृ प्रार्थना अर्थ को कहती है। कृतः=प्रार्थितः।

'कृत्य' का 'भेद्य' अर्थ भी है—**क्रुद्ध-लुब्ध-भीतावमानिनस्तु परेषां कृत्याः।** (कौट० अ० १।१३)।

अमर क्रिया शब्द को नौ अर्थों में पढ़ता है।

आरम्भो निष्कृतिः शिक्षा पूजनं सम्प्रधारणम्।
उपायः कर्म चेष्टा च चिकित्सा च नव क्रियाः॥

आरम्भ में—**सर्वाः क्रिया मन्त्रमूला नृपाणाम्।** निष्कृति (प्रायश्चित्त) में—**महापातकिनां पुंसां भवेत्प्राणान्तिका क्रिया।** शिक्षा में—**क्रिया हि द्रव्यं विनयति नाद्रव्यम्**(कौट०अ०५।२)। **क्रिया हि वस्तूपहिता प्रसीदति**(रघु० ३।२९)। **बालाविमौ सुचपलावक्रियाविति सर्वथा** (हरिवं० २।२८।२४)। अक्रियौ= अशिक्षौ=शिक्षाहीन। शिक्षा अर्थ से अन्यत्र 'विद्या' अर्थ में भी क्रिया शब्द का प्रयोग देखा जाता है—**शिष्टा क्रिया कस्यचिदात्मसंस्था सङ्क्रान्तिरन्यस्य विशेष-युक्ता**(मालविका)। किसी अध्यापक की अपनी विद्या विशिष्ट (बढ़िया, उत्कृष्ट) होती है और किसी का (शिष्यों के प्रति) दान (का ढंग) बढ़िया होता है। पूजन में—**अग्निक्रिया**=अग्निपरिचर्या। सम्प्रधारण (युक्तायुक्त विचार) में—**क्रियां विना को हि जानाति कृत्यम्।** उपाय में—**सामादिकाः क्रियाः**= सामादय उपायाः। चेष्टा (हिलना जुलना) में—**स्तम्भे निष्क्रियो जन्तुः प्रलये गतचेतनः**, पक्षाघात में मनुष्य निश्चेष्ट हो जाता है और मोह (मूर्छा) में चेतना-रहित हो जाता है। चिकित्सा में—**पुनर्ज्वरे समुत्पन्ने क्रिया पूर्वज्वरा-नुगा** (चरक), दोबारा ज्वर आने पर चिकित्सा पूर्व ज्वर के अनुकूल होगी। इन नौ अर्थों के अतिरिक्त अर्थों में भी क्रिया-शब्द देखा जाता है—**स गुरुर्यः क्रियां कृत्वा वेदमस्मै प्रयच्छति** ( )। यहाँ क्रिया=गर्भाधानादि संस्कार।

और्ध्वदेहिक कर्म को भी 'क्रिया' शब्द से कहा जाता है--अतो न रोदितव्यं हि क्रियाः कार्याः प्रयत्नतः ।

करोते र्व्याक्रियां नूत्नां निर्मितां स्वमनीषया ।
अर्पयित्वेश्वरे प्रह्वः प्रमना विरमाम्यहम् ।।
सतोऽत्र प्रार्थये गुण्यान्गुणगृह्यान्विमत्सरान् ।
सानुग्रहं प्रवृत्तास्ते विमृशन्तु क्रियामिमाम् ।।

इति करोत्यर्थविवरणो द्वितीयोऽनुबन्धः ।

अनुबन्ध (३)

समानार्थक धातुसङ्ग्रह—(१)

विद्यानन्द ने क्रियाकलाप-नामक एक लघु ग्रन्थ का निर्माण किया जिसमें समानार्थक धातुओं को कारिकाओं में संगृहीत किया है। ऐसे ही भट्ट-मल्ल ने भी प्रायेण तत्समान कलेवर आख्यात-चन्द्रिका-नामक ग्रन्थ का इसी विषय में इसी ढंग से प्रणयन किया है। इन दोनों ग्रन्थों की उपयोगिता में कोई सन्देह नहीं। एक-स्थान में समानार्थक तत्तद्गणीय धातुओं का कारिका-निबद्ध संग्रह उस-उस धातु के ऐच्छिक प्रयोग से विद्यार्थियों की वाक्य-रचना में सौकर्य, वैचित्र्य और सौन्दर्य लायेगा। पुस्तक में बिखरी हुई धातुओं को उन्हें ढूंढना नहीं होगा। एक अर्थ को कहने वाली अनेक धातुओं में से किसी एक सरल, सरस, सुखोच्चार्य धातु के द्वारा वे अपने अभिधेय अर्थ को कह सकेंगे। हम यहाँ इन दो कृतियों में से कुछेक अत्यन्तोपयोगी कारिकाएँ संगृहीत करते हैं और अपने टिप्पणों द्वारा उन्हें विस्पष्ट करते हैं जिससे वे शीघ्र-ग्राह्य तथा हृदिस्थ हो सकें। साथ ही उनमें अपेक्षित विवेचन व परि-शोधन भी करते हैं जिससे यथेष्ट निर्भ्रान्त बोध हो सके। कारिकाओं में सर्वत्र अर्थ-निर्देश सप्तम्यन्त पद से किया गया है, जिसे स्थूलाक्षरों में मुद्रित किया गया है।

विन्दत्यासादयति[1] प्रपद्यते चाश्नुतेऽधिगच्छति च।
प्रतिपद्यते च लभते प्राप्नोत्यासीदती[2] **लाभार्थाः** ॥१॥
ज्ञाने मनुते[3] बोधत्यवधरति[4] च बुध्यतेऽवधारयति।

---

१. आङ् सद् चुरादि।

२. आङ् षद्लृ (सद्) भ्वा०। इस का प्रायः निकट होना, बैठना अर्थ है। आसन्न (=समीपवर्ती)। आसत्ति=सामीप्य। वेद्यामासीदति, वेदी पर बैठता है।

३. मनु अवबोधने तनादि। कारिकाकार मन ज्ञाने दिवादि को छोड़ गया है।

४. अवपूर्वक धृञ् भ्वा० विरल-प्रयोग है। साहित्य में णिच्सहित का प्रायिक प्रयोग मिलता है। अर्थ भी निश्चित जानना है, सामान्य रूप से जानना नहीं।

अवयाति चावगच्छत्यवैति[1] लक्षयति वेत्ति जानाति ।।२।।
नादे पटहादीनां स्वनति ध्वनति च रणत्यपि च ।
निनदे जलदादीनां रसति स्वनयति[2] च गर्जयति ।।३।।
'रटतीति कुत्सितरवे' 'भृङ्गरवे[3] झंकरोति गुञ्जति च' ।
'प्रायः कूजति नदति क्वणति विरौतीति पक्षिणां निनदे' ।।४।।
इच्छति वाञ्छति काङ्क्षति कामयते लिप्सते वष्टि ।
ईप्सत्यपेक्षते च स्पृहयति गृध्यति[4] च लुभ्यति च ।।५।।
आशंसते धनायति[5] समीहते तद्वदाशास्ते ।
अन्विष्यत्यभिलषतीत्यभिलाषे कविभिरुद्दिष्टाः ।।६।।
अभ्यर्थयते नाथति वृणोति वरयति वृणीते च ।
अर्दति मार्गति मार्गयति याचति याचतेऽर्थनार्थाः[6] स्युः ।।७।।
'ददते[7] ददाति दिशति च विश्राणयति प्रयच्छति च ।
उत्सृजति राति वितरत्यर्पयतीति स्मृता दाने' ।।८।।
लुभ्यति[8] च निवर्तयति च मार्जति[9] मार्जयति मार्ष्टि दूरयति[10] ।

---

१. अव-इण् गतौ, अदादि ।

२. स्वन् तथा गर्ज् से स्वार्थ में णिच् । णिच् रहित इन धातुओं का बहुल प्रयोग है ।

३. कुत्सितरव से अभिप्राय तीव्र, रूक्ष, दुःश्रव स्वर से है। करटा रटन्ति ।

४. गृध्, लुभ्—दोनों अकर्मक हैं ।

५. धनमात्मन इच्छति गृद्धः सन् ऐसा विग्रह है। कवि लोग धनाय (क्यजन्त धातु) को इच्छामात्र अर्थ में भी प्रयुक्त करते हैं।

६. अर्थनार्थाः, मांगना अर्थ है जिनका ।

७. दद दाने भ्वा० आ० ।

८. 'लुम्पति' पाठ होना चाहिये ।

९. मार्जति, मार्जयति, मार्ष्टि—यहाँ तीनों में मूल धातु मृज् है, जिसका अर्थ 'शुद्ध करना' है। मृज् अदादि है और चुरादि भी। चुरादि मृज् आधृषीय होने से विकल्पितणिच्क है, अतः पक्ष में शप् होकर 'मृजेर्वृद्धिः' से वृद्धि होकर 'मार्जति' रूप होता है। शोधन कलङ्क आदि को मिटाना होता है अतः शमन अर्थ हो जाता है।

१०. दूरं करोति इस विग्रह के आश्रित 'दवयति' ही साधु रूप निष्पन्न होता है।

अपसर्पति[1] च क्षपयत्यस्यति च प्रोञ्छतीति[2] **शमनार्थाः** ॥९॥
'**उन्मीलने**[3] विकसति प्रबुध्यते भिद्यते[4] च विदलयति[5] ।
उन्मीलत्युन्मिषति च विजृम्भते स्फुटति वोच्छ्वसिति ॥१०॥
'**विकसनकृतौ** भिनत्ति प्रबोधयत्यपि विकासयति ।
उन्मीलयति च दलयत्युन्निद्रयति[6] च विनिद्रयति' ॥११॥
'**वृद्धिकृतौ** मेदुरयति[7] कन्दलयत्युपचिनोति विशिनष्टि ।
उद्वेलयति च पुष्यति पुष्णाति प्रचुरयत्यपि च' ॥१२॥
'**शक्तौ** प्रभवति विभवत्युत्सहते च प्रगल्भते तरति ।
शक्नोति समर्थयते पारयतीष्टेऽध्यवस्यति[8] क्षमते ॥१३॥

सत्तायामस्ति—यहाँ से आख्यातचन्द्रिका से सङ्ग्रह का प्रारम्भ होता है । इन कारिकाओं में जहाँ 'अथ' शब्द पढ़ा है वहाँ उससे परे नये (उक्तार्थ से भिन्न) अर्थ में धातु-संग्रह का प्रारम्भ होता है ऐसा जानें । ऐसे ही 'स्यात्', 'भवेत्' शब्द के विषय में जानें । और जहाँ 'तु' पढ़ा है वहाँ 'तु' से पूर्वपठित धातु को लेकर आगे नये अर्थ में धातुएँ पढ़ी गई हैं ऐसा समझें । कारिकाओं में जो कहीं-कहीं

---

१. अप सृप् (भ्वा०) का अर्थ तो 'परे सरकना' है, पर यहाँ अन्तर्णीत-ण्यर्थ मानकर शमन अर्थ में पढ़ी गई है । इस अर्थ में यह शक्त है अथवा नहीं, इसमें सन्देह है ।

२. प्र-उञ्छ् का अर्थ 'पोंछना' हो जाता है । उञ्छ् का अर्थ कण-कण चुनना है । लिखितमपि ललाटे प्रोञ्छितुं कः समर्थः (भर्तृ०) । विवेक-प्रोञ्छ-नाय विषये रससेकः (नैषध० ५।३६) ।

३. उन्मीलन=खिलना ।

४. भिद्यते—यह कर्म कर्तरि प्रयोग है ।

५. यहाँ स्वार्थ में णिच् है । बिना णिच् के ही प्रयोग करना चाहिये ।

६. उन्निद्रं करोति । उन्निद्र—णिच् । विनिद्र—ये नामधातुएँ हैं ।

७. मेदुरं करोति मेदुरयति=मोटा करता है, बढ़ाता है । कन्दलवत् करोति=कन्दलयति । प्रचुरं करोति प्रचुरयति । मेदुर—णिच् आदि नाम-धातुएँ हैं । वेलामुत्क्रान्तम्=उद्वेलम् । उद्वेलं करोति=उद्वेलयति=बढ़ाता है ।

८. अध्यवस्यति=अधि अव-सो—लट्-तिप् । इसका अर्थ उत्साहवान् होना है, शक्त होना नहीं ।

'तत्र' शब्द पढ़ा है वह 'उसी अर्थ में' इस अर्थ को कहता है। और जो यहाँ 'तद्भेदे' ऐसा पढ़ा है उसका 'पूर्व धातूक्त क्रिया के विशेष प्रकार में' ऐसा अर्थ है। यहाँ 'आत्मने' आत्मनेपद के स्थान में पढ़ा है और 'परस्मै' परस्मैपद के स्थान में। कहीं-कहीं परस्मै० के स्थान में 'पम्' ऐसा भी पढ़ा है।

'सत्तायामस्ति भवति विद्यते' चाथ **जन्मनि**।
उत्पद्यते जायते च संभवत्युद्भवत्यपि' ॥१॥

अङ्कुराद्युद्भवे प्रायः प्ररोहति विरोहति।
'निष्पद्यते फलति च **सिद्धौ** सिध्यति राध्यति ॥२॥

'निर्वर्तते च' पञ्चाथ **स्थितौ** वसति तिष्ठति।
वर्तते निवसत्यास्ते ध्रियते[1] वावतिष्ठते ॥३॥

'जीवति श्वसिति प्राणित्यूर्जयत्यपि[2] **जीवने**'।
स्यात्प्रत्युज्जीवतिपदं पुनर्जीवनवाचकम् ॥४॥

प्रश्वसित्यत्र **निःश्वासे** तथा निःश्वसितीत्यपि।
परिणामे[3] परिणमत्यात्मनेपि विवर्तते ॥५॥

संपद्यते कल्पतेऽथ **वृद्धौ** बृहति वर्धते।
विपोल[4]त्येधते स्थूलयते[5] पुष्यति चेति षट् ॥६॥

वृद्धिभेदे समृद्ध्याख्ये 'समृद्ध्यति महीयते[6]।
आप्यायते स्फायते च क्रमते प्रथतेऽपि च ॥७॥

ऋद्ध्यत्यृध्नोति च तथा पूर्यते च नव क्रियाः'।
वृद्धौ तु सविकारायां[7] श्वयत्युच्छ्वयतीत्युभे ॥८॥

'**स्फुटति स्फोटने** फुल्लत्युन्मीलयति पुष्यति।

---

१. धृङ् अवस्थाने तुदा० आ०।
२. ऊर्ज बलप्राणनयोः, चुरा०।
३. परिणाम=विपरिणाम=परिवर्तन।
४. पुल महत्त्वे (बढ़ना), भ्वा प०।
५. स्थूल परिबृंहणे चुरा आ०।
६. महीङ् पूजायाम्, कण्ड्वादि। इस का समृद्ध होना अर्थ नहीं।
७. सविकारा वृद्धि=सूजन।

विजृम्भते विकचते[1] विकासे विकसत्यपि ॥९॥
'उच्छ्वसित्यपि तद्भेदे द्वयमुद्घटतेऽपि च' ।
संकोचे 'निमिषत्यत्र मुकुलीभवतीति च ॥१०॥
संकुचत्यपि पञ्च स्युर्मीलत्यपि निमीलति' ।
अथो जरायां जरति[2] जीर्यत्यपि जिनात्यपि ॥११॥
ह्रस्वत्वे 'खर्वति[3] ह्रस्वत्यत्र न्यञ्चत्यवाञ्चति' ।
'निकृष्यते त्वनुत्कर्षे हीयते चापकृष्यते ॥१२॥
कर्मकर्तरि' पञ्चाऽ'पक्षीयते चापचीयते ।
कुञ्चत्यल्पीभवत्यत्र घटते[4] च विदस्यति[5] ॥१३॥
दीयते[6] क्षयतीत्येतत्पदाष्टकमपक्षये' ।
अवघट्टत[7] इत्येतन्निम्नगादेरपक्षये ॥१४॥

---

१. कच बन्धने भ्वा० आ० । धातु सकर्मक है । विपूर्वक कच् का अर्थ 'खोलना' हो सकता है । पर तिङन्त रूप में विपूर्वक कच् का प्रयोग नहीं मिलता, और हमें नया प्रयोग गढ़ना नहीं । हमें व्यवहृत-पूर्व शब्दों का व्यवहार करना है ।

२. जॄ वयोहानौ चुरा० आधृषीय—जारयति । णिच् के अभाव में जरति ।

३. खर्व् तथा ह्रस्व् अल्पीभाव में कहीं भी नहीं पढ़ीं । खर्व दर्प अर्थ में भ्वादि गण में पढ़ी है । खर्ब गति अर्थ में भ्वादि गण में पढ़ी है । ह्रस्व् का कहीं भी पाठ नहीं है । खर्वो ह्रस्वश्च वामनः (अमर) । खर्व इवाचरतीति खर्वति । आचारे क्विप् । ऐसा समाधान हो सकता है । वस्तुतः उक्तार्थ में खर्वति तथा ह्रस्वति—दोनों का प्रयोग हेय है ।

४. अनुत्कर्ष, (=अपकर्ष, घटना, घटिया होना) अर्थ में घट चेष्टायाम् भ्वा० आ० का प्रयोग निष्प्रमाण है ।

५. दसु उपक्षये दिवा० प० का प्रायः उपपूर्वक प्रयोग होता है और इस का संकेत धात्वर्थ निर्देश (उपक्षय) में दिया है ।

६. दीङ् क्षये दिवा० आ० ।

७. अव-पूर्व घट्ट चलने भ्वा० आ० । हिन्दी के घाट शब्द का इसी धातु के साथ सम्बन्ध प्रतीत होता है । अवघट्टते नीचैश्चलति=नीचे की ओर जाता है, अतः अपक्षीयते का पर्यायवाची हो सकता है ।

सप्त प्रध्वंसते व्येति विनश्यति विलीयते ।
प्रलीयते विनाशे स्युः प्रणश्यति विपद्यते ॥१५॥
परैति प्रैति मरणे म्रियते च प्रमीयते ।
संतिष्ठते समाप्नोति विरमत्यारमत्यपि ॥१६॥
पर्यवस्यत्युपरमत्यात्मनेपि क्रियाद्वयम् ।
विविधायां क्रियाषट्कं[1] समाप्ताविदमीक्ष्यते ॥१७॥
निर्वायत्य[2] चिषः शान्तौ निर्वात्यप्यत्र शाम्यति ।
इति भावविकाराः षट् सभेदाः प्राय ईरिताः ॥१८॥
इति षड्भावविकारवर्गः ॥

स्फूर्तौ सप्ताविरस्य[3]त्याविर्भवति प्रादुरस्ति च ।
प्रादुर्भवति निर्माति[4] स्फुरति प्रतिभासते ॥१९॥
'ज्ञाने जानाति जानीते वेत्ति वेदावबुध्यते'
प्रत्येति मनुते चोपलभते प्रतिपद्यते ॥२०॥
अवगच्छति चावैति मन्यते चाधिगच्छति ।
विना कर्मात्मनेऽपि स्यात्संवेत्तीति चतुष्टयम्' ॥२१॥
'गृह्णाति च क्वचिज्ज्ञाने नीवदी[5] च क्वचिद्यथा ।

---

१. सम् आप् स्वा० प०, उप-रम् भ्वा० प०—ये छः धातुएँ अनेक प्रकार की समाप्ति को कहती हैं ।

२. निर्वायति—निर् (ओ) वै शोषणे भ्वा० प० । वैदिक साहित्य में अग्नि के शान्त होने अर्थ में इसका बहुल प्रयोग है । पर प्रायः उद् उपसर्ग-सहित प्रयोग मिलता है ।

३. आविर् अस्यति=प्रकट होता है । अस् दिवा० अकर्मक कैसे हो गई यह चिन्तास्पद है । हमारे विचार में 'आविरस्यति' कोई प्रयोग नहीं है ।

४. मा अदादि सोपसर्गक सकर्मक हो जाती है जैसे—तण्डुलान् परिमाति मुष्टिना—यहां । पर निर्पूर्वक 'मा' का अकर्मक प्रयोग और वह भी प्रादुर्भाव अर्थ में, यह सर्वथा दुर्घट है ।

५. नी, वद्—जो यहाँ ज्ञानार्थक पढ़ी हैं, वह भी सविभ्रम कथन है । शास्त्रकार ने नी का आत्मनेपद में नियम किया है जब विद्या-प्रापण से शिष्यों का सम्मानन अर्थ अभिप्रेत हो । नी का जानना, जतलाना अर्थ कहीं नहीं कहा । 'वद्' भी भासनोपाधिक भाषण अर्थ को ही कहती है । वदते=भासमानो भाषत इत्यर्थः ।

विद्यासु नयते प्राज्ञो वदते वा सुपण्डितः ॥२२॥
चित्ते-मनस्युरसिषु[1] करोति कुरुते पदे ।
'मनसा गोचरीभावे' **'मनस्वित्वे** मनस्यति'[2] ॥२३॥

विभ्राम्यति विपर्येति विपर्यस्यति **विभ्रमे** ।
'भ्रमति भ्रम्यतीत्येता' **'विमतौ** तु विमन्यते[3] ॥२४॥

क्रियात्रयं विवदते तथा विप्रतिपद्यते ।
संदिग्धेऽपि च संदेग्धि संशेते विचिकित्सति ॥२५॥

'क्रियाचतुष्कं संदेहे' **'विचारे** तु क्रिया **दश** ।
मीमांसते चर्चयति विन्ते च विमृशत्यपि ॥२६॥

तथा परामृशति च विचारयति चात्मने ।
अन्वीक्षतेऽनुसंधत्ते स्यात्परस्मैपदेऽप्यसौ' ॥२७॥

इत्यप्युपालोचते द्वौ पर्यालोचत इत्ययम् ।
'वितर्कयत्युन्नयति तथोत्प्रेक्षत ऊहते ॥२८॥

'उत्पश्यति **वितर्के'** 'ऽथ विविनक्ति **विवेचने** ।
वेवेक्त्यप्यात्मनेऽप्येतौ स्याद्विवेचयतीत्यपि ॥२९॥

'निश्चिनुते निर्णयते निर्णयति च **निर्णये**ऽध्यवस्यति च ।
निष्टङ्कयति च **सप्त** च निर्धारयतीह निश्चिनोति स्युः ॥३०॥

'विस्रम्भते तु प्रत्येति विश्वसित्याश्वसित्यपि ।
श्रद्धत्ते श्रद्दधातीति **विश्वासे षट्** क्रिया मताः ॥३१॥

'संकल्पयति **संकल्पे**ऽभिसंधत्त इति **द्वयम्'** ।
अपध्यायत्य**पध्याने**[4] दुःसंकल्पयतीति च ॥३२॥

---

१. चित्ते करोति (कुरुते), मनसि करोति (कुरुते), उरसि करोति (कुरुते) का अर्थ है 'मन में सोचता है' ।

२. मनस्यति—मनस् कण्ड्वादिगण के आकृतिगण होने से यक् ।

३. विपूर्वक मन ज्ञाने दिवा० का इस अर्थ में कहीं भी तिङन्त प्रयोग नहीं है । विपूर्वक मनु अवबोधने तनादि का ऋ० १०।९२।३ में प्रयोग है, पर वहां विवेचन करना अर्थ है ।

४. अपध्यान=अशुभ चिन्तन करना ।

'मिमीते मायते[1] माति मिनोति मिनुते मितौ' ।
प्रमानुमोपमासु[2] स्युः क्रमात्प्रानूपपूर्वकाः ॥३३॥
'ध्याने चिन्तयति ध्यायत्यमी भावयति त्रयः ।'
'स्मरणे त्वभिजानाति स्मरत्यध्येति च त्रयम्' ॥३४॥
'उत्कण्ठते तथोत्कण्ठ[3]त्युत्कण्ठयति चेत्यपि ।
पञ्चैवोत्कलिकायां[4] स्युराध्यायत्युन्मनायते' ॥३५॥
'प्रत्यभिजानात्यनुसन्धत्ते[5] प्रतिसन्दधात्यपि ।
प्रतिसन्धत्ते प्रत्यवमृशतीमाः प्रत्यभिज्ञाने' ॥३६॥
'विस्मृतौ विस्मरति च तथैव प्रस्मरत्यपि[6] ।'
'मोहे विचेतीभवति विमुह्यति च मूर्छति ॥३७॥
ऋच्छत्यपि[7] 'प्रमादे तु स्रंसते[8] विमनायते ।
प्रमाद्यतीति विमनीभवतीति चतुष्टयम्' ॥३८॥
'स[9]मादधात्यवदधात्यपि प्रणिदधाति च ।
आत्मने चावधाने स्युरवधारयतीत्यपि' ॥३९॥

---

१. माङ् दिवा० विरल प्रयोग है ।

२. प्रमिमीते । अनुमिमीते । उपमिमीते । प्रमिनोति । प्रमिनुते । अनु-मिनोति । अनुमिनुते ।

३. उत्कण्ठति । चुरादि आधृषीय ।

४. उत्कलिका = उत्कण्ठापूर्वक स्मरण ।

५. अनु सम् धा, प्रति सम् धा, प्रत्यवमृश् का अर्थ चिन्तनमात्र है, बुद्धि में लाना है । 'यह वही है जो मैं ने पूर्वकाल में देखा, सुना', इस प्रकार पहचानना नहीं है ।

६. प्रपूर्वक स्मृ का वही अर्थ है जो वि-पूर्वक का । प्र शब्द यहां विप-रीतार्थक है ।

७. ऋच्छ् तुदादि के अर्थों में इन्द्रियप्रलय भी पढ़ा है । पर इस अर्थ में प्रयोग दुर्लभ है ।

८. स्रंस् का प्रमाद अर्थ प्रसिद्ध नहीं ।

९. सम् आङ् धा, प्रनिधा का अर्थ लगाना है प्रायः मनः, चित्तम् इत्यादि कर्म होता है । गीता में 'प्रणिधाय कायम्'—यहाँ 'काय' कर्म के विषय में भी प्रयोग है ।

'**अङ्गीकारे** प्रतिश्रृणोत्यत्र संगिरतेपि'[1] **च** ।
अकर्मकं संश्रृणुते[2] परस्मै चेत्सकर्मकम् ॥४०॥
[3]ऊरर्यूर्युररीभ्यश्च करोति कुरुते पदे ।
अष्टौ स्युः प्रतिजानीतेऽभ्युपैत्यभ्युपगच्छति' ॥४१॥
'**अनुज्ञाने**ऽनुमनुतेऽनुजानात्यनुमन्यते ।'
अत्रैवाभ्यनुजानाति **चतस्रो**'ऽथ '**विलोकने** ॥४२॥
निर्वर्णयति निध्यायत्यालोकयति पश्यति ।
निरूपयति संपश्यत्यात्मने स्यादकर्मकम् ॥४३॥
आलोकते लक्षयते निभालयत[4] ईक्षते ।
नि[5]चायत्यात्मनेऽपि **द्वौ** निशाम[6]यति चेत्यपि ॥४४॥
लोचते लक्षयति च क्रियाः **पञ्चदश** स्मृताः' ॥४५॥
'श्रृणोत्याकर्णयति च तद्वन्निशामयत्यपि[7] ।
निशाम्यतीति **श्रवणे**' '**घ्रातौ** शिङ्घति जिघ्रति ॥४६॥
'स्पृशत्यामृशति **स्पर्शे** छुपत्यालभते[8]ऽपि च' ॥४७॥
'साक्षात्करोत्यात्मनेऽपि **प्रत्यक्षे**ऽध्यक्षयत्यपि ।
साक्षयत्यपि चाध्यक्षीकरोत्यनुभवत्यपि' ॥४८॥
'**आस्वादने** रसयति लेढि चास्वादयत्यपि ।
लीढे चेति **चतुष्कं** स्याद्' बुद्धिवर्गोऽयमीरितः ॥४९॥

---

१. आत्मनेपद प्रक्रिया में 'समः प्रतिज्ञाने' सूत्र पर हमारा विवरण पढ़ें ।

२. अङ्गीकार अर्थ में धातु के सकर्मक होने से आत्मनेपद नहीं होगा ।

३. ऊररी करोति, ऊरी करोति, उररी करोति ।

४. भल आभण्डने चुरादि अनुदात्तेत् । आभण्डन=निरूपण ।

५. निपूर्वक चायृ का देखना अर्थ है । अप-पूर्वक का पूजा अर्थ है । चायृ स्वरितेत् है ।

६. शम लक्ष आलोचने चुरा० आ० । अतः परस्मै० असाधु है ।

७. श्रवण अर्थ में 'निशाम्यति' प्रयुक्त होता है । चुरादि शम् का (धातुओं की अनेकार्थता स्वीकार करके) श्रवण अर्थ में प्रयोग मानने पर भी आत्मनेपद दुर्वार होगा ।

८. सत्येनायुधमालभे । यहाँ स्पर्श अर्थ स्पष्ट है ।

'अभिलष्यत्यभिलषत्यात्मनेऽप्यनुरुध्यते[1] ।
आकाङ्क्षति स्पृहयति नाथ (ध) ते वष्टि लिप्सते ॥५०॥
आशंसते कामयते वाञ्छतीच्छत्यभीप्सति ।
समीहते तथाशास्ते **वाञ्छायां तिथिसंख्यकाः**[2]' ॥५१॥
'**लोभे** त्रयं लुभ्यतीति धनायति च गृध्यति' ।
'उद्युङ्क्ते च प्रयतते क्रमते च व्यवस्यति ॥५२॥
उत्सहत्यात्मनेऽपि स्यात्**प्रयत्ने पदपञ्चकम्**' ।
'विप्रीयतेऽपरजति द्वेष्टि **द्वेषे**ऽपरज्यति ॥५३॥
विरुणद्धि विगृह्णाति **पञ्चामी** चात्मनेपदे'[3] ।
वैरायते[4] तु विद्वेष्टि विराध्नोति विरुध्यते ॥५४॥
विराध्यति तु[5] **वैरे** स्यात्तथा व्युत्तिष्ठते[6]ऽपि च' ।
अभ्यसूयत्यभ्यसू**यायाम्**' '**ईर्ष्यायामी**र्ष्यतीर्क्ष्यति' ॥५५॥
'संघर्षति स्पर्धते च **स्पर्धायां** प्रतिगर्जति' ।[7]
'मोदते ह्लादते हृष्यत्यानन्दति च तुष्यति ॥५६॥
प्रीणाति[8] प्रीयते **प्रीतौ** निर्वृणोत्यात्मनेऽपि च ।

---

१. अनो रुध कामे दिवा० आ० ।

२. तिथिशब्दः पञ्चदशापरपर्यायः । मासपक्षः पञ्चदशतिथ्यात्मको भवति ।

३. अपरजते, द्विष्टे, अपरज्यते, विरुन्धे, विगृह्णीते—द्विष् आदि पाँच स्वरितेत् होने से आत्मनेपदी भी हैं । रञ्ज् अकर्मक है । द्विष् सकर्मक है । वि-रुध् प्रायः सकर्मक है । वि-ग्रह्—सकर्मक व अकर्मक । इन दो का अर्थ द्वेष करना नहीं, विरोध करना, लड़ना अर्थ है ।

४. वैरं करोति । अकर्मक ।

५. 'तु' यहाँ 'च' के अर्थ में है ।

६. वि-उद्-स्था का विरोध में उठना अर्थ है । जैसे राजा के विरोध में प्रजा का व्युत्थान । वैर अर्थ नहीं है । व्युत्थान से वैर प्रकट होता है ।

७. प्रतिगर्ज् अकर्मक है । प्रतिस्पर्धा अर्थ है । अयोहृदयः प्रतिगर्जताम् (रघु० ९।९) । न जातु शक्तिरिन्दोस्ते मुखेन प्रतिगर्जितुम् ।

८. प्रीञ् तर्पणे कान्तौ च । यह प्रायः सकर्मक है । प्रसन्न करना, चाहना अर्थ है ।

प्रचेतीभवतीत्यत्र प्रमनीभवतीति च ॥५७॥

सुमनायत इत्येव सुमनीभवत्यपि ।
सुखायते च निर्वातीत्येताः[1] प्रोक्ताश्चतुर्दश' ॥५८॥

'लज्जते त्रपते मन्दाक्षयत्यपि हृणीयते ।
'जिह्रेतीति ह्रियां पञ्च' 'बिभेत्युद्विजते भये ॥५९॥

त्रसति त्रस्यति तथा' 'क्षमायां तु तितिक्षते ।
सहतीत्यात्मनेऽपि स्यात् त्रयं मृष्यति मर्षति ॥६०॥

क्षाम्यति[2] क्षमते चेति सप्त साहयतीत्यपि' ।
'अनादरेऽवजानाति तथा परिभवत्यपि ॥६१॥

एकादशावगणयत्यवधीरयतीति च ।
असत्तिरोभ्यां कुरुते[3] परस्मैपदभागपि ॥६२॥

तथाऽवमनुते चावमानयत्यवमन्यते ।
विमानयति चात्रावहेलयत्यपि हेडते' ॥६३॥

वञ्चने विप्रलभते तथा वञ्चयतेऽपि च ।
आत्मनेऽपि च द्वयं विप्रकरोति निकरोति च ॥६४॥

अत्रोल्लापयते चाभिसंधत्ते[4] छलयत्यपि ।
प्रतारयति चैवाभिसंदधाति विचत्यपि'[5] ॥६५॥

---

१. निर् वा का अर्थ शान्त होना, ठंडा होना है—वपुर्जलार्द्रापवनैर्न निर्ववौ (शिशु० १।६५) । त्वयि दृष्ट एव तस्य निर्वाति मनो मनोभवज्वलितम् (सुभाषित) । शीतलस्पर्श, स्नान आदि द्वारा गर्मी के कम होने से सुखित होने अर्थ में 'निर्वा' का प्रयोग होता है ।

२. क्षम् दिवा० अकर्मक है ।

३. असत्कुरुते । तिरस्कुरुते । परस्मैपद में भी असत्करोति । तिरस्करोति ।

४. जनं विद्वानेकः सकलमभिसन्धाय बहुशः (मालती० १।१४) । पराभिसन्धानपरं यद्यप्यस्य विचेष्टितम् (रघु० १७।७६) । अति सम् धा का प्रयोग बहुलतर है ।

५. व्यच व्याजीकरणे तुदा० प० ।

अपाद्राध्यति[१] राध्नोति रध्यती[२]त्यपराधने' ॥६६॥
'अपकारेऽपकुरुते क्षिणोत्यपकरोति च'।
पञ्च क्रोधे संरभते[३] रुष्यति क्रुध्यतीति च ॥६७॥
भामते कुप्यतीति' 'स्यादागृह्णात[४]यात्मनेऽपि च।
अभिपूर्वं निविशते[५] निर्बध्नात्याग्रहे त्रयम् ॥६८॥
करुणायां तु दयतेऽनुगृह्णात्यात्मनेऽपि च।
कृपायते[६] च करुणायते चाप्यनुकम्पते ॥६९॥
अनुक्रोशत्यपि स्युः षट्' 'तद्भेदे[७] तु प्रसीदति।
'शोके तु शोचतीत्येकं', 'विषीदत्यनुतत्यते ॥७०॥
अनुशेतेऽनुतपति पश्चात्तापे क्रिया मताः।
निर्विद्यते तु निर्वेदे निर्विण्णीभवतीत्यपि ॥७१॥
'क्रियाद्वयं विलपति विलापे परिदेवते[८]।
'रोदित्यस्रयति[९] क्रन्दत्यपि बाष्पायते[१०]ऽपि च' ॥७२॥

---

१. अप-पूर्वक राध् दिवा० स्वा० अकर्मक।

२. रध् हिंसासंराद्ध्योः, दिवा० प०। यद्यपि रध् हिंसा अर्थ में पढ़ी है, तो भी अप-पूर्वक रध् का अपराध करने अर्थ में प्रयोग नहीं मिलता।

३. सम्पूर्वक रभ् का क्रोध अर्थ में तिङन्त रूप में प्रयोग दुर्लभ है। मनमाने प्रयोग गढ़े नहीं जाते। संरम्भ, संरब्ध आदि कृदन्त रूप ही देखे जाते हैं।

४. आङ् ग्रह् का आग्रह करना अर्थ है। पर तिङन्त रूप में प्रयोग नहीं मिलता।

५. अभिनिविशेते। 'प्रति' का भी योग देखा जाता हैं—प्रत्यभिनिविशते।

६. कृपा—क्यङ्। करुणा—क्यङ्। भृशादिः। अकृपः कृपावान् भवति। अकरुणः करुणावान् भवति। कृपादयो वृत्तौ तद्वति वर्तन्ते।

७. देवता, गुरुजनादि की कृपा को 'प्रसाद' कहते हैं। अतः कृपा का प्रकार-विशेष है।

८. दिव परि कूजने चुरादि आ० धातु है, अतः 'परिदेवयते' शुद्ध रूप होगा।

९. अस्राणि करोति=मुञ्चति। अस्र-णिच्।

१. बाष्पमुद्वमति बाष्पायते=बाष्पायमाणनयनः।

'अनुरज्यत्यनुरजत्यात्मनेऽपि **पदद्वयम्** ।
प्रीयते स्निह्यति तथा **स्नेहे पदचतुष्टयम्** ॥७३॥
'**गर्वे**ऽभिमनुते गर्वयते हृप्यति माद्यति ।
अहंकरोत्यात्मनेऽपि क्षीबते चाभिमन्यते ॥७४॥
गर्वत्युद्धन्त्य[1]' '**थोन्मादे** लोडत्युन्माद्यतीति च' ।
ताम्यति क्लाम्यति **ग्लानौ** ग्लायति क्लाय[2]तीति च ॥७५॥
'मलिनीभवति **म्लानौ** म्लायत्यपि **पदद्वयम्**' ।
'खिद्यते ग्लेपते **दैन्ये**' श्राम्यतीति **परिश्रमे** ॥७६॥
तथैवायस्यतीत्यत्र प्रयस्यति **पदत्रयी** ।
'क्लिश्यते व्यथते दुःखायते कृच्छ्रायतेऽपि च ॥७७॥
दूयते चेति **दुःखित्वे**' '**जुगुप्सायां** जुगुप्सते ।
बीभत्सते' 'ऽथ **जृम्भायां** जृम्भते जम्भतेऽपि च' ॥७८॥
प्रमीलतीति **तन्द्रायां**[3] घूर्णते प्रचलायते[4]' ।
'शेते निद्राति निद्रायत्य[5]पि निद्रायते[6]ऽपि च ॥७९॥
तथा संविशति **स्वापे** स्वपित्यपि च **षट्क्रियाः**' ।
प्रबुध्यते तु जागर्ति **जागर्यायां पदद्वयम्** ॥८०॥
'**प्रबोधने** चेतयते प्रबोधयति चेतति' ।
हसत्यकर्मकं[7] **हासे** प्रहासे तु सकर्मकम् ॥८१॥
स्मयते **हसिते मन्दे** '**गर्ह्ये**' कुस्मयते स्मिते' ।
'**मध्यमे** स्याद्विहसति' '**सुप्रौढे**ऽपहसत्यदः ॥८२॥

---

१. उद् हन् अदादि प० । उद्धन्ति=गर्वित होता है, इस अर्थ में कहीं प्रयोग नहीं । क्तान्त उद्धत=गर्वित अवश्य प्रचुरतया प्रयुक्त होता है ।

२. क्लै कोई धातु नहीं ।

३. तन्द्रा=ऊंघना ।

४. प्रचल इवाचरति प्रचलायते । क्यङ् ।

५. द्रै भ्वा० प० ।

६. अनिद्रो निद्रावान्भवति=निद्रायते । क्यङ् ।

७. गच्छतः स्खलनं क्वापि विद्यते हि प्रमादतः । हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः ॥ यहाँ हस् अकर्मक है । पर दूसरे की हँसी उड़ाना अर्थ में सकर्मक है—आपद्गतं हससि किं द्रविणान्धमूढ (भर्तृ०) ।

'सनिन्दे[1] तूपहसति' 'परिहासे[2] तु भण्डते ।

इत्यन्तःकरणवर्गः ॥

आचष्टे वक्ति वदति लपत्याख्याति भाषते ॥८३॥

अभिधत्ते परस्मै च ब्रूते व्याहरतेऽत्र पम् ।

गृणात्युदीरयति च कीर्तयत्यालपत्यपि ॥८४॥

वदत्यपि भणत्यत्र कथयत्यपि वासति[3] ।

उक्तावावेदयति च क्रिया अष्टादशोदिताः[4]' ॥८५॥

'प्रलापे[5] तु प्रलपति कुत्रचिज्जल्पतीति च' ॥८६॥

'अनुवादेऽनुवदतेऽनुवक्तीत्यादयोपि च'।

'पठत्यधीतेऽध्ययने शिक्षणे शिक्षते अयम्' ॥८७॥

अभ्यस्यत्यामनति च 'पाठने पाठयत्यपि ।

शिक्षयत्यनुशास्तीति चतस्रोऽध्यापयत्यपि' ॥८८॥

'सत्यापयति सत्योक्ता' 'वथ मिथ्याभिशंसने[6]' ॥८९॥

आक्षारयत्यभिशपत्यभ्याचष्टेऽधिशंसति[7] ।

'अपशब्दयति म्लेच्छत्यपभ्रंशयतीत्यपि ॥९०॥

म्लेच्छयत्यपशब्दे स्युरपभाषत इत्यपि' ।

---

१. निन्दायुक्त हँसी उपहास होता है। मन्दः कवियशः-प्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम् (रघु० १।३)।

२. परिहास=नाना प्रकार की हँसी मखौल ।

३. वाशृ दिवादि आ० 'शब्द करना' अर्थ में पढ़ी है। सामान्यतया पशु पक्षियों के रुत में इस धातु का प्रयोग होता है। काको वाश्यते। शिवा वाश्यते। गौर्वाश्यते। इस अर्थ में 'वास्' कोई धातु नहीं है।

४. उदिताः=कथिताः। वद्-क्त ।

५. प्रलापो ऽनर्थकं वच इत्यमरः ।

६. मिथ्याभिशंसन=मिथ्या दोषारोपण। अथ मिथ्याभिशंसनमभिशाप इत्यमरः। आक्षारणा भी मिथ्याभिशंसन ही है, पर वह परस्त्रीगमननिमत्तक होता है—तत्र त्वाक्षारणा यः स्यादाक्रोशो मैथुनं प्रति (अमर)। मिथ्याभियोगोऽभ्याख्यानम् (अमर)। कारिका में अभ्याचष्टे पढ़ा है। चक्ष् को आर्धधातुक परे ख्याञ् आदेश होता है।

७. यहाँ 'अभिशंसति' पाठ चाहिये।

शपत **अयमा**क्रोशे शपत्याक्रोशतीत्यपि' ॥९१॥
मिथ्या कारयते त्वेतदन्य**थात्वेऽसकृत्कृते**[1] ।
स्खलति भ्रेषते **भ्रेषे** भ्रेषतीति **पदत्रयम्** ॥९२॥
जुगुप्सते तु **निन्दायां** गर्हते गर्हयत्यपि ।
आक्षिपत्यात्मने द्वे उपक्रोशति निन्दति ॥९३॥
तथा भर्त्सयते कुत्सयते गञ्जति च क्वचित् क्वचित्' ।
'**भयदे निन्दने** तर्जत्यत्र तर्जयतेऽपि च' ॥९४॥
'पर्यपाभ्यां वदत्येव **कलङ्कार्पणनिन्दने**' ।
उपालम्भे प्रतिभिन[2] त्युपालभत इत्यपि' ॥९५॥
विक्रोशति च **विक्रोशे** फूत्करोत्यात्मनेऽपि च' ।
स्तुतौ पणायति द्वे च नौति स्तौत्यात्मनेऽपि च ।९६॥
अथो स्तवीतीडयति वन्दते च प्रशंसति ।
क्वचित्तु श्लाघत इति स्तुतावेव पदं विदुः ॥९७॥
'**कत्थने** कत्थते तत्र श्लाघते शाडतेऽपि च' ।
'निबध्नाति ग्रथ्नाति च ग्रन्थति[3] ग्रन्थयत्यपि' ।
गुम्फने संदृभति च गुम्फते[4] चेति **षट्** क्रियाः ॥९८॥
समाहरति **संक्षेपे** संगृह्णाति समस्यति ।
संक्षिपत्यात्मनेऽप्येता '**स्तद्धे देऽथ** वयत्यपि' ॥९९॥
तथा कूणयते' 'चाथ **विस्तारे**[5] **सप्त** कीर्तिताः ।
विस्तृणोति व्यस्यति च विस्तृणात्यातनोति च ॥१००॥
चतस्र आत्मनेऽप्येताः प्रपञ्चयति **पञ्चमी** ।

---

१. अनेक बार अशुद्ध उच्चारण करना ।

२. प्रतिभिद् का निराकरण तिरस्करण अर्थ में माघ (९।५८) में तथा रघु० (१९।२२) में प्रयोग आया है—प्रतिभिद्य कान्तमपराधकृतम् । अङ्गनाः प्रत्यभैत्सुरवदन्त्य एव तम् ।

३. ग्रन्थ बन्धने चुरादि० आधृषीय—ग्रन्थयति । ग्रन्थति ।

४. गुफ गुम्फ ग्रन्थे तुदादि, प० । यह आत्मनेपदी नहीं ।

५. विस्तार अर्थ में सात धातुएँ पढ़ी हैं । ये शब्दविषयक प्रपञ्च को भी कहती हैं और सामान्य विस्तार को भी । पर व्याकरोति, व्याचष्टे, व्याख्याति, अर्थापयति—ये सविस्तर-कथन अर्थ में ही प्रयुक्त होती हैं ।

व्याख्याति व्याकरोत्यत्र व्याचष्टेऽर्थापयत्यपि ।
तथा व्याकुरुते व्यक्ति[1] व्यनक्ति व्यञ्जयत्यपि ॥१०१॥
एवं प्रकाशयत्यत्र **विवृतौ** स्फुटयत्यपि ।
उद्घाटयत्युद्घटयत्यपि व्यक्ती करोति च ॥१०२॥
'आकारयत्याह्वयति स्यादाह्वाने **क्रियाद्वयम्**' ।
'स्यात्संहूतौ[2] संह्वयते' **स्पर्धयाऽऽह्वयते ह्वे**'[3] ॥१०३॥
अनुयुङ्क्ते प्रश्नयति **प्रश्ने** ज्ञीप्सति पृच्छति ।
आपृच्छते तु **यात्रादौ** [4]तथाऽनुज्ञापयत्यपि' ॥१०४॥
'आभिमुख्येन वचने[5]ऽभिब्रवीत्यभिवक्ति च ।
प्रतिवक्त्युत्तरयति प्रत्याहेत्यादयोऽपि च' ॥१०५॥
'विज्ञापयति **विज्ञप्तौ** निवेदयति च द्वयम्' ।
'अपह्नुतेऽपजानीते निह्नुतेऽपनयत्यमी ॥१०६॥
अपह्नवे[6]' निराचष्टे प्रत्याचष्टे निरस्यति ।
सप्तापोहति च प्रत्यादिशत्यपि परास्यति ॥१०७॥
अपाकरोत्यात्मनेऽपि व्युदस्यत्यप्यपास्यति ।
प्रत्यासयति क्षेपयति स्यात्पराणुदतीति[7] च ॥१०८॥
निराकरोति च पराकरोति च **निराकृतौ** ।
उपमन्त्रयते चोपवदते सान्त्वयत्यपि ।
सान्त्वने षट् सामयति तथोपच्छन्दयत्यपि ॥१०९॥

---

१. व्यक्ति—यह भ्रममूलक पाठ है। कोई धातु ऐसी नहीं जिसका शितप्निर्देश ऐसा हो ।

२. एकसाथ बुलाना ।

३. स्पर्धया ह्वे, टक्कर लेने के लिये ललकारने में ।

४. आङ् प्रच्छ् का यात्रा (प्रस्थान) आदि में अनुज्ञा चाहना अर्थ है ।

५. आभिमुख्येन वदने=सम्बोधनपूर्वक बोलना अर्थ में ।

६. अपह्नव=इन्कार करना । ४ धातुएँ इस अर्थ में पढ़ी हैं । अपोहति (अप ऊह्) आदि पराकरोति तक निराकरण वाची हैं । इनसे पूर्व पठित निराचष्टे आदि तीन भी ।

७. कारिकामें' 'परानुदति' ऐसा अशुद्ध मुद्रित हुआ है, अतः हमने इसे शुद्ध कर दिया है ।

परस्मै चानुनयतेऽनुलोमयति **तद्विदि** ।
अनुकूलयतीति द्वे, सूचयत्यत्र **सूचने** ॥११०॥
तथा पिशुनयत्येष वाक्क्रियावर्ग ईरितः ।

इति वचनक्रियावर्गः ॥

'आरम्भे तु प्रक्रमते प्रस्तौतीत्यात्मनेऽपि च' ।
तथैवारभते चोपक्रमतेऽत्र **चतुष्टयम्** ॥१११॥
प्रकृत्याऽनुसृतौ चानुबध्नात्युद्घाटयत्यपि' ।
'कृतौ करोति कुरुते विधत्ते विदधाति च' ॥११२॥
तनुते वितनोत्यत्र सृजत्युत्पादयत्यपि ।
निर्मिमीते भावयति निर्माति रचयत्यपि ॥११३॥
निष्पादयति निर्वर्तयति साधयतीति च ।
अनुतिष्ठत्याचरति' **'श्रद्धायुक्ते**ऽनुसृज्यते[1]' ॥११४॥
'उत्तिष्ठते तु घटते **चेष्टायां सप्त** चेष्टते ।
व्यायच्छते व्याप्रियते प्रवर्तत इहेहते' ॥११५॥
विडुत्सर्गे तु गुवति हदतेऽथावमेहते[2] ।
मूत्रणे मूत्रयति च प्रस्रवत्यपि च **त्रयम्** ॥११६॥
'उन्माष्ट्र्युद्वर्तने[3] चोत्सादयत्युद्वर्तयत्यपि' ।
द्वयं तैलादिभिर्लेपे म्रक्षयत्यभ्यनक्ति च' ॥११७॥
'परिधाने परिदधात्यत्र संवस्त्रयत्यपि ।
आच्छादयति वस्ते च परिधत्ते च **पञ्चकम्**' ॥११८॥
'कटिबन्धे घटयति तथा परिकरो[4]त्यपि' ।

---

१. यहाँ श्रद्धा-युक्त सर्जन अर्थ में शुद्ध कर्ता में धातु से यक्, चिण् आदि होते हैं—सृज्यते स्रजं भक्तः=श्रद्धया सृजतीत्यर्थः । 'अनु' उपसर्ग अनावश्यक है ।

२. मिह सेचने भ्वा० प० । आत्मनेपद में पाठ भ्रममूलक है । अव-उपसर्ग अतन्त्र है ।

३. उद्वर्तन=उवटना । उन्मार्ष्टि—उद्पूर्वक मृज् अदादि प० ।

४. परिकर कटिबन्ध को कहते हैं, परिपूर्वक कृ का कटिबन्धन (कमर कसना) अर्थ में तिङन्त प्रयोग नहीं मिलता । और प्रयोग घड़े नहीं जाते । परिकरं करोति, परिकरं बध्नाति ऐसा ही कहने का ढंग है ।

प्रावृतौ प्रच्छदयति तथात्र प्रावृणोत्यपि ॥११६।
'अनुलिम्पति **चर्चायामुपदेग्ध्यात्मनेऽप्युभे ।**
चर्चयत्यथ' **भूषादिग्रहणे**[1] प्रतिमुञ्चति ॥१२०।
आमुञ्चत्यात्मनेप्येताः पिनह्यत्यपि नह्यति ।
'परिष्करोति **भूषायामात्मने**ऽलंकरोत्यपि ॥१२१॥
मण्डते मण्डयति च भूषयत्यपि भूषति ।
'प्रसाधयत्य' 'थोत्तंसत्य**वतंसे**[2]ऽवतंसति ॥१२२॥
सुरभीकरणे[3] धूपयति वासयतीत्यपि ॥१२३॥
'चकास्ति भासते भाति रोचते च प्रकाशते ।
शोभते भ्राजते राजत्यात्मनेऽप्यत्र दीव्यति ॥१२४॥
दीप्यते द्योतते **दीप्तौ** ज्वलत्युल्लसतीत्यपि' ।
नव क्रियाश्च **क्रीडायां** कुमारयति खेलति ।
विहरत्यात्मनेऽप्यत्र तथा क्रीडति दीव्यति ॥१२५॥
खेलायतीह ललति रमते विलसत्यपि ।
'विडम्बत्यनुकरोत्या[4]त्मनेऽनुहरत्यपि' ॥१२६॥
'भवेत्प्रतिनिधत्ते[5] तु **सादृश्ये**ऽत्रानुकल्पते' ।
'रिङ्गति स्खलतीत्येषा **स्खलने** स्यात्**क्रियाद्वयी**' ॥१२७॥

---

१. भूषणादि का ग्रहण—आङ् मुच्, प्रतिमुच्, नह् (तीनों बन्धनार्थक) से कहा जाता है ।

२. अवतंस=कर्णभूषण अथवा शिरोभूषण ।

३. सुगन्धित करने अर्थ में ।

४. अनुकरण अर्थ में ।

५. प्रतिनिधा तथा अनु-क्लृप्—दोनों सादृश्य (सदृश होना) अर्थ में पढ़ी हैं । यह ठीक है कि प्रतिनिधि शब्द लक्षणया सदृश को कहता है, कारण कि जो जिसके स्थान में रखा जाता है वह उसके सदृश होता है—'यो हि यत्स्थानमापन्नः स तद्धर्मं लभते' । अतः काव्यादर्श में सादृश्यवाची शब्दों के संग्रह में 'प्रतिनिधि' शब्द भी पढ़ा है । पर प्रतिनिधत्ते का अर्थ 'सदृश होना' हो नहीं सकता । धातु सकर्मक है । अर्थ है—(किसी दूसरे पदार्थ के स्थान में)रखता है । मुख्यार्थ की अनुपलब्धि होने पर गौणार्थ (तत्सदृश पदार्थान्तर)

'तर्षे तृष्यत्यमी धित[1]सत्युदन्यति पिपासति' ।
पिबत्याचामति धयत्यत्र **पाने** च पीयते'[2] ॥१२८॥

'बुभुक्षते क्षुध्यति जिघत्सत्यशनायति' ॥१२९॥

जेमत्यश्नाति चरति भक्षयत्यत्ति खादति ।
भुङ्क्ते तृणोति तर्णोति तथाऽभ्यवहरत्यपि ॥१३०॥

आत्मने च **त्रयं** प्साति जक्षिति प्रत्यवस्यति[3] ।
'उपयुङ्क्ते च **भुक्तौ** स्युः' '**दन्तच्छेदेन** चर्वति' ॥१३१॥

'**सध्वनौ** विष्वण[4]त्यत्र तथा चावष्वणत्यपि ।
निगीर्णौ तु गिलत्यत्र ग्रसते निगिरत्यपि' ॥१३२॥

को उपयोग में लाता है—दर्भाणां स्थाने शरैः प्रस्तरितव्यम्, दर्भ (कुश) के प्रसङ्ग में उसके न मिलने पर वेदि को शरों (सरकंडों) से ढांपना चाहिए । यहाँ आस्तरणक्रियायां शराः प्रतिनिधेयाः ऐसा कह सकते हैं । प्रतिनिधा का इस प्रकार प्रयोग होता है । प्रतिनिधत्ते=सदृशं भवति, सदृशं करोति, गुणी भवति, ऐसा संभव ही नहीं । इसी प्रकार अनुकल्प=प्रथम (मुख्य) कल्प के सदृश कल्पान्तर—प्रभुः प्रथमकल्पस्य योऽनुकल्पेन वर्तते (मनु० ११।३०) । मुख्यानुष्ठानसम्पन्नः सन्नापद्विहितेन प्रतिनिधिनाऽनुष्ठानं करोति—कुल्लूक । पर अनुपूर्वक क्लृप् का 'सादृश्य का विषय होना' अर्थ में कहीं भी प्रयोग नहीं । व्यवहार सुप्रतिष्ठित है, अस्मदादियों से नूतन निर्मित नहीं किया जा सकता, इसे संस्कृतज्ञ असकृत् भूल जाते हैं ।

१. धेट् पाने—सन् ।

२. पीङ् पाने दिवा० आ० ।

३. प्रति अव सो दिवा० प० । 'प्रत्यवसान' भोजन अर्थ में सूत्र में ही प्रयुक्त हुआ है अन्यत्र इसका प्रयोग दुर्लभ है । तिङन्त रूप में तो अत्यन्त दुर्लभ है । अतः परिहार्य है ।

४. स्वन् का अर्थ शब्द करना है । अवष्वण् अथवा विष्वण् का शब्द करते हुए खाना है । इसके प्रयोग में 'कर्म' छोड़ दिया जाता है—अवष्वणति=सशब्दं भुङ्क्ते । वस्तुतः 'खाते हुए शब्द करना' अर्थ है, अतः कर्म का प्रसङ्ग ही नहीं ।

'अपस्मरत्यपस्मारे'[1] 'विरेके तु विरिच्यते'।
कर्मकर्तर्यसौ तत्र भवेदतिसरत्यपि[2] ॥१३३॥
वान्तौ वमत्युद्गिरति छर्दयत्युद्गिलत्यपि।
निष्ठीव्यतीति थूत्कारे द्वयं निष्ठीवतीत्यपि ॥१३४॥
शेषे 'परिशिनष्टीति द्वितयं शेषयत्यपि'।
तृप्तौ तृप्यति तृप्नोति सुहिती भवतीत्यपि ॥१३५॥
विश्राम्यतीति विश्रान्तौ क्वचिद्विश्रमते[3] मतम्।
आस्ते निविशते[4] चोपविशत्यत्र निषीदति ॥१३६॥
ऊर्ध्वीभवति चोत्तिष्ठत्यूर्ध्वत्वे तिष्ठतीत्यपि'।
अनक्रामति पर्येति परीयत[5] इति क्रमे' ॥१३७॥
'आदाने स्वीकरोत्यत्र गृह्णात्यप्यात्मने द्वयम्।
उपादत्ते गृह्यते लाति षट् स्युः प्रतीच्छति' ॥१३८॥
त्यागे त्यजत्युत्सृजति जहात्युज्झति मुञ्चति।
उत्सृजति विसृजति मुञ्चते रहयत्यपि ॥१३९॥
आत्मने स्यात्परिहरत्यत्र मोक्षयतीत्यपि।
वर्जने वारयत्यत्र स्यान्निवारयतीति च ॥१४०॥
तथा वृणक्ति वृङ्क्ते च व्यासेधति निषेधति।
वर्जयत्यपि सप्तैताः' 'वरणे वरयत्यदः' ॥१४१॥
वावृत्यते[6] वृणोतीति वृणातीत्यात्मनेऽप्युभे।

---

१. सोऽपस्मरति, साऽस्य पित्र्या रुक्। उसे मिरगी पड़ती है, यह रोग उसे पिता से आया है। अप-स्मृ=मिरगी का रोगी होना।

२. अतिसरति—इस रूप में शिष्टप्रयोग नहीं। सुश्रुत में अतिसार्यते (अति-सृ-णिच् यक्) इस रूप में मिलता है।

३. वि श्रम् न तो भ्वादिगणीय है और न आत्मनेपदी।

४. नि-विश् का ठीक आसन ग्रहण करना अर्थ नहीं, किन्तु टिकना, ठहरना, बसना है।

५. परि ईङ् दिवा० आ०।

६. वावृतु—कोई लोग पत (तप) ऐश्वर्ये वा इस पूर्व धातु के अर्थ-निर्देश में पढ़े हुए 'वा' को 'वृतु' के साथ जोड़कर 'वावृतु' धातु मानते हैं। भट्टि उन में से एक है।

'आधत्ते[1] च निधत्ते च निदधात्यादधाति च ॥१४२॥
'आरोपयत्यर्पयति (न्यस्य) तीति **तथार्पणे**'।
विन्यस्यतीति **तद्भेदे** संनिवेशयतीत्यपि ॥१४३॥
करोति हस्तेपाणिभ्यां कुरुते[2] चोपयच्छते।
विवहत्युद्वहति **चोद्वाहे** परिणयत्यपि ॥१४४॥
चत्वारि वात्मने '**ज्येष्ठेऽनूढे** च परिविन्दति'।
'परिष्वजत आश्लिष्यत्यालिङ्गत्युपगूहति।
क्रोडीकरोत्यात्मने द्वावङ्कपालयतीति च ॥१४५॥
सप्त स्युः परिरम्भे परिरभते' 'ऽप्यथ **रिरंसायाम्**।
कामयतेऽत्र वृषस्यति रिरंसते चेत्परं योषित्' ॥१४६॥
'अश्वस्यति तु यद्यश्वा' '**चुम्बने** चुम्बतीत्यदः।
'व्यवैति[4] संविशत्यत्र[5] निधुवत्यपि **मैथुने** ॥१४७॥
मिथुनीभवतीत्यत्र संप्रयुङ्क्ते यभत्यपि'।
'उपभुङ्क्ते **तूपभोगे** संभुङ्क्ते निर्विशत्यपि' ॥१४८॥
प्रसूयते प्रसूते च **गर्भमोक्षे** विजायते[6]।
प्रजायते जनयति प्रसौतीति **षडीरिताः** ॥१४९॥
शूलत्यामयतीत्यत्र रुजत्यत्र **रुजि त्रयम्**।
'उल्लाघयति **भैषज्ये** भिषज्यति चिकित्सति'।
उपबर्हत्युपदधात्यात्मनेऽप्युपबर्हणे ॥१५०॥

इति मनुष्यचेष्टावर्गः।

'**शौचे** नेनिक्ते नेनेक्ति प्रक्षालयति धावति।
धावते शोधयति च' **तद्भेदे** मार्ष्टि मार्जति ॥१५१॥
अत्रोपसंस्करोतीति **चतस्रो** मार्जयत्यपि।

---

१. आधि (धरोहर) रूप से रखता है, ऐसा अर्थ है।

२. हस्ते करोति, पाणौ करोति=उद्वहति=उपयच्छते (उप-यम्)।

३. अङ्कपालीं करोति। अङ्कपाली=आलिङ्गन, गोद।

४. वि अव इण्। व्यवाय (पुं०)=मैथुन।

५. संविशेदार्तवे स्त्रियम् (मनु० ३।४८)।

६. समां समां विजायते समांसमीना गौः। जो गौ प्रतिवर्ष ब्याहती है।

'**पावित्र्ये** तु पुनातीति पुनीते पवतेऽपि च' ॥१५२॥
शुध्यतीति **शुचीभावे** विशुध्यत्यवदायति ।[1]
'**स्नाने** तु स्नायति स्नाति' '**तद्विशेषे** तु मज्जति[2] ।
ब्रुडत्याप्लवते चात्र **स्युश्चतस्रोऽवगाहते**' ॥१५३॥
उपस्पृशति चाचामत्युभे **आचमनात्मके** ।
आभिमुख्यागमेऽभ्येति[3] तथाभ्यायाति च **द्वयम्** ॥१५४॥
'प्राघुणत्यतिथीभावे तथाऽभ्यागच्छतीत्यपि' ।
अभिवादयति **प्रणतावुपसंगृह्णाति**[4] चात्मने द्वितयम् ।
नमति नमस्यति **षट्** स्युः प्रणिपतति वन्दते चात्र ॥१५५॥
'अथार्घत्यञ्चति यजत्यपचायति चात्मने ।
चतस्रः पूजयत्यत्र महयत्यर्हयत्यपि ॥१५६॥
सभाजयत्यर्चयते महत्याराधयत्यपि ।
सपर्यति चाराध्नोत्याराध्यति तथार्हति ॥१५७॥
मानयत्यपि **पूजायाम्**' '**आदरे** सत्करोति च ।
संमन्यते चाद्रियते तथा संभावयत्यपि' ॥१५८॥
शुश्रूषते परिचरत्युपास्ते वरिवस्यति ।
चतस्रः परिचर्यायाम्'...... ॥१५९॥
'यजत्यपि **सुरार्चाया**' 'मथ विश्रमयत्यपि ।
संवाहयति चात्र **द्वे पादाद्यङ्गोपमर्दने**' ॥१६०॥
'**दाने** ददाति दत्ते च ददते वितरत्यपि ।
प्रयच्छत्यर्पयति च दिशते दिशति क्वचित् ॥१६१॥

---

१. अव दैप् शोधने भ्वादि, यह सकर्मक है। यहाँ स्नान अर्थ में इस का न्यास ठीक नहीं।

२. मज्जति, ब्रुडति, आप्लवते=डुबकी लगाता है।

३. अभि इण्। अपनी ओर (इधर ही) आना।

४. उपसम्-ग्रह्=चरण पकड़ना। नमस्कार अर्थ नहीं है। जैसे 'गुरुं नमति' कहते हैं वैसे 'गुरुमुपसंगृह्णाति नहीं कह सकते। 'चरण'-कर्मक प्रयोग होगा। पूजा में जो 'सपर्यति' पढ़ा है वहाँ कण्ड्वादि यगन्त से स्वार्थ में णिच् किया है, वह व्यर्थ है।

अपवर्जयति स्पर्शयति विश्राणयत्यपि ।
तथा विलभते[1] राति प्रतिपादयतीत्यपि' ॥१६२॥
'जुहोति **हविषामग्नौ प्रक्षेपे** त्रितयं मतम् ।
स्वाहा-वौषड्वषड्भ्यश्च करोति कुरुतेऽपि च' ।
'**प्रक्षेपे** तु प्रतिवश (स) त्यत्र प्रक्षिप्यतीति च ॥१६३॥
मिनोत्यात्मनेऽपि स्युश्चतस्रः प्रक्षिपत्यपि ।
विक्षिपत्यात्मनेऽपि स्याद्**विक्षेपे** विक्षरत्यदः' ॥१६४॥
आमन्त्रणे केतयति निमन्त्रयत इत्यपि ।
अत्रामन्त्रयते' चाथ '**तर्पणे** धिनुतेऽवति ॥१६५॥
धिनोति प्रीणयति च **पञ्च** तर्पयतीत्यपि' ।
अनुज्ञायास्तु करणेऽनुजानात्यनुमन्यते ॥१६६॥
धापयत्यात्मनेऽपि द्वौ **धापने** पाययत्यमू ॥
द्वयं यामयतीत्यत्र परिवेवेष्टि चात्मने ॥१६७॥
'पिपर्ति पूरयति च पारयत्यपि **पूरणे** ।
अत्राप्याययति प्राति प्रीणातीत्य' थ '**तोषणे** ॥१६८॥
सुखाकरोति सुखयत्याह्लादयति चेत्यपि ।
धिनोत्यानन्दयति च मृडयत्यादयस्तथा' ॥१६९॥
'**अभुक्तौ** तूपवसतिर्लङ्घते व्रतयत्यपि' ।
तप्यते तु **तपस्यायां** तपस्यत्यप्युभे क्रिये ॥१७०॥
करोति कुरुते **मौण्ड्ये** भद्राभद्रापुरःसरे[2] ।
मुण्डयत्यत्र वपति तथा मुण्डयतेऽपि च ॥१७१॥
'उपेक्षते तथोदास्ते **पदे माध्यस्थ्यवाचिनी**' ।
'स्युर्विरज्यत्युपरमत्यात्मने विरजत्यमूः ॥१७२॥
उपशाम्यति **वैराग्ये** तथा निर्विद्यतेऽपि च' ।
'मुमुक्षते **मुमुक्षायाम्** अमृतीयति मोक्षते ॥१७३॥
प्रत्यञ्चति[3] समाधत्ते निर्विकल्पीभवत्यपि' ।
परिव्रजति **संन्यासे** संन्यस्यत्यात्मनेप्यदः ॥१७४॥

---

१. विलाभस्त्वतिसर्जनम् (अमर) । तिङन्त रूप में प्रयोग दुर्लभ है ।
२. भद्राकरोति = मुण्डयति ।
३. प्रति अञ्च् का अर्थ अन्दर की ओर जाना है, पीछे को लौटना है । यह अर्थ 'प्रत्यगात्मन्' पद में अभिव्यक्त है । इसी अर्थ में यहाँ 'समाधत्ते'

ब्रह्मीभवति **कैवल्ये**[1] निर्वातीति[2] **चतुष्टयम्** ।
कर्मकर्तरि तत्र द्वे मुच्यते चापवृज्यते[3] ॥१७५॥
इति ब्रह्मक्रियावर्गः ॥

'**ऐश्वर्ये** इन्दतीष्टे च तप्य[4]तेऽधीष्ट इत्यपि ।
प्रतिष्ठाप्तौ तु विख्याति प्रख्याति प्रतितिष्ठति ॥१७६॥
'**रक्षणे** त्रायते पाति गोपायति भुनक्ति च ।
पिपर्ति रक्षति तथा पालयत्यवतीति च ॥१७७॥
शास्ति '**शिष्टौ** शिक्षयति' '**दण्डे** दण्डयतीत्यदः ।
दाम्यत्य'[5] 'थ **वशीकारे** धारयत्यात्मनेऽपि च ॥१७८॥
तथा वशीकरोतीति संगृह्णाति च पूर्ववत् ।
'प्रपद्यते[6] तु **शरणागतौ** शरणयत्यपि' ।
'**स्थिरीकृतौ** स्थापयति तथा द्रढयतीत्यपि ॥१७९॥
'**धारणार्थे** धारयति दधाति च बिभर्ति च ।
द्वे आत्मने च दधते धरतीति च **पञ्चकम्**' ॥१८०॥
'नियुङ्क्ते आज्ञापयति निदिशत्यादिशत्यपि ।
द्वावात्मनेऽपि **चाज्ञायाम्**' 'अथ प्रस्थापयत्यपि ॥१८१॥
प्रेषणे प्रेषयति च प्रेष्यति प्रहिणोति च' ।

पढ़ा है । सम् आङ् धा प्रायः चित्त को एकाग्र करना, चिन्तन करना अर्थ में प्रयुक्त होती है ।

१. केवलस्य भावः कैवल्यम् पृथग्भावः=निस्त्रैगुण्यम् ।

२. 'निर्वाति' यहाँ 'निर्वाणो भवति' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । इस अर्थ में क्तान्त (निर्वाण) का ही प्रयोग व्यवहारानुगत है ।

३. अप वृज्—कर्मकर्तरि यक् । स्मृतियों में इसका प्रचुर प्रयोग है । अपवर्ग=कैवल्य ।

४. तप ऐश्वर्ये वा—ऐसा धातुपाठ स्वीकार करके यहाँ 'तप्यते' पढ़ा है । वस्तुतः पत ऐश्वर्ये वा ऐसा पाठ होना चाहिये । यह हमने दिवादिगण में इस धातु के विषय में सप्रमाण स्पष्ट किया है, वहीं देखें ।

५. दम् दिवा० सकर्मक है । दम् का अर्थ वश में करना है । दान्तः= जितेन्द्रियः । दान्तोऽश्वः, सिधाया हुआ घोड़ा ।

६. अत एव प्रपत्तिः शरणागतिः ऐसा कोषकार पढ़ते हैं ।

संदेशे वाचिकयते[1] संदिशत्यात्मनेऽपि च ॥१८२॥
'लिखत्य**क्षरविन्यासे** तथा लिपयति[2]' **द्वयम्** ।
प्रेरणे प्रेरयत्यत्र क्षिपतीत्यात्मनेऽपि च ॥१८३॥
कालयत्यस्यति तथा नुदतीति **पञ्चकम्** ।'
'सेवतेऽनुसरत्यत्र भजति श्रयतीति च ॥१८४॥
आत्मनेऽनुरुणद्धीति तिस्र एवानुवर्तते ।
अनुजीवति **सेवायां** जुषतेऽनुचरत्यपि' ॥१८५॥
'वृणीते इति **संभक्तौ**[3] वलतीत्यात्मनेऽपि च' ।
प्रापणे लम्भयत्यत्र हरत्यपि नयत्यपि ।
वहतीत्यात्मनेऽप्येताः प्रापयत्यापयत्यपि ॥१८६॥
ये ण्यन्ता गमनार्थास्ते धातवो णौऽसमार्थकाः ।
विलम्बते कुण्ठति[4] च व्याक्षिपत्यात्मनेपि च ॥१८७॥
मन्दायति[5] चिरयति **विलम्बतेऽथ** 'प्रतीक्षते ।
अनुपालयतीत्यत्र प्रतिपालयतीति च' ॥१८८॥
'प्रतीहारयति[6] **द्वारप्रवेशनविधौ क्रिया**' ।
संभ्राम्यति **त्वरायां** स्यात्त्वरते संभ्रमत्यपि ॥१८९॥
अस्यामाविजते'[7] 'चाथ **वैक्लव्ये** विक्लवत्यपि ।
विह्वलत्यत्र टलति' [अथ **कौटिल्ये**] वङ्कते कुटतीत्यपि ॥१९०॥
भुजति न्युब्जति तथा कुब्जतीति समार्थकम् ।
संवर्मयति संनह्यत्यत्र संनह्यतेऽपि च ॥१९१॥

---

१. वाचिकं करोति, वाचिकमाचष्ट इति । सन्देशवाक्=वाचिकम् ।

२. लिपिं करोतीति । लिपि—णिच् ।

३. संभक्ति=चुनाव, पसन्द करना ।

४. कुण्ठ् भ्वा० प० अतीक्ष्ण होना, धार का मन्द हो जाना । विलम्ब करने अर्थ में धातु की प्रसिद्धि नहीं ।

५. मन्दायते । मन्द से भृशादि होने से क्यङ् । परस्मैपद अशुद्ध है ।

६. प्रतीहारयति=द्वारं प्रवेशयति ।

७. आङ्पूर्वक विज् तुदा० आ० । अत एव आवेग=क्षोभ, व्याकुलता ।

'सज्जयत्यपि **संनाहे** तथा दंशयतेऽप्यदः' ।
'स्फुरति स्पन्दते **स्पन्दे**' '**चलने तु चतुष्टयम्** ॥१९२॥
चलति[1] प्रेङ्खति तथा घट्टते वेल्लतीति च' ।
'उत्सेधति[2] तथोन्नह्यत्युच्छ्रयत्यात्मने द्वयम्' ॥
क्षोभते क्षुभ्यति **क्षोभे**' '**गमने**ऽञ्चति गच्छति ॥१९३॥
प्रतिष्ठते जिहीते च सरति व्रजतीयते[3] ।
पद्यते याति चरति सर्पत्ययति[4] चञ्चति[5] ॥१९४॥
ऋच्छति प्रवते[6] गाते[7] चलत्येति च टीकते ।
अयते[8] क्रामतीर्यति क्रिया **द्वाविंशतिर्मताः**' ॥१९५॥
'निर्गच्छति तु निर्याति निष्क्रामति निरेति च ।
प्रायो निःसरणार्थाः स्युर्निःपूर्वा गमनार्थकाः ॥१९६॥
तदा त्वागमनार्थाः स्युर्यद्याङ्पूर्वा भवन्त्यमी ।
स्यात्प्रत्यावर्तते प्रत्यायाति व्याघोटते[9]ऽपि च ॥१९७॥
प्रत्याङ्पुरःसराः प्रत्यावृत्तौ स्युर्गमनार्थकाः ।
अनुपूर्वास्त एव स्युः सर्वेऽनुगमनार्थकाः ॥१९८॥

---

१. 'चलति' आदि चार धातुओं का हिलोरे लेना अर्थ है ।

२. उत्सेधति (उद्—सिध् भ्वा० प०) आदि तीन ऊपर को उठना, ऊँचा होना अर्थ में व्यवहृत होती हैं ।

३. ईङ् गतौ दिवा० आ० ।

४. भ्वादि गण में पढ़ी हुई इट किट कटी धातुओं में से अन्त्य धातु में प्रश्लेष द्वारा 'इ' धातु की कल्पना की जाती है । इ शप् ति=अयति (गुण) । वस्तुतः कवियों के प्रामादिक प्रयोग को समाहित करने का यह यत्नमात्र है ।

५. चञ्च् का अर्थ स्फुरण मात्र है । प्रायः भास्वर पदार्थों के विषय में इस धातु का प्रयोग होता है ।

६. प्रुङ् भ्वा० आ० ।

७. गाङ् अदा० आ० ।

८. अय गतौ भ्वा० आ० ।

९. घुट परिवर्तने भ्वा० आ० । वि आङ् पूर्वक इसका लौटना, लौट आना अर्थ कारिकाकार समझते हैं, इस में प्रमाण मृग्य है ।

अटति[1] स्यान्मृदुगतौ रिङ्गतीङ्गति च **त्रयम्** ।
लङ्घते तु **प्लुतगतौ** लङ्घत्युत्फलतीति[2] च ॥१९९॥
भेदे प्लुतगतेरेव वल्गति प्लवते[3] **द्वयम्** ।
'उड्डीयते तूड्डयते **खगता**वुत्पतत्यपि ॥२००॥
'धावति द्रवति **क्षिप्रगमने** जवतीत्यपि'[4] ।
अटाट्यते चङ्क्रमीति **द्वयं भ्रमणिकाविधौ** ॥२०१॥
'**तद्भेदे** भ्रमति भ्राम्यत्यपि पर्यटतीति च' ।
बंभ्रमीति **तदाधिक्ये** घूर्णते घूर्णतीति च ॥२०२॥
चंचूर्यते[5] जङ्गमीति पनीपद्यत इत्यपि ।
यङन्ता यङ्लुगन्ताश्च गत्यर्थाः कुटिले गमे ॥२०३॥
वलते **परिवृत्तौ** स्याद्घोटते परिवर्तते ।
उद्गच्छत्युदये **षट्** स्युरुज्जिहीत उदीयते ॥२०४॥
उदञ्च[6]त्युदयत्येतावात्मने द्वावुदेति च ॥
गत्यर्थाः प्राय उत्पूर्वा उदयस्याभिधायकाः ॥२०५॥
उन्मील[7]त्युन्नमति च **मेघाद्यभ्युद्गमे द्वयम्** ।
'स्त्यायतीति[8] प्रसरति **प्रसारे** विसरत्यपि' ॥२०६॥
'**संचारे** संचरत्येतत्तृतीयायुक्तमात्मने' ।
'स्रंसतेऽ**धोगतौ** भ्रश्यत्यपि भ्रंशत इत्यपि ॥२०७॥

---

१. अट् का अर्थ मृदु गति स्वीकार किया है और इसे रिङ्ग्, इङ्ग् के साथ समानार्थक पढ़ा है । रिङ्ग् रींगना होता है । अट् का यह अर्थ दुर्लभ है ।

२. उत्फलति = छलांग लगाता है । फल् का यह अर्थ धातुपाठ में निर्दिष्ट नहीं, पर पञ्चतन्त्रादि में इस अर्थ में प्रयोग मिलता है ।

३. प्लवते, वल्गति—उछल कर चलना अर्थ है, यही प्लुतगति का भेद है ।

४. जु—यह सौत्र धातु है । आत्मनेपद में प्रयोग होता है—विपाट्छुतुद्री पयसा जवेते (ऋ० ३।३३।१) ।

५. चर्—यङ् ।

६. अञ्चु गतौ याचने च, भ्वा० स्वरितेत् ।

७. उन्मीलन्ति मेघाः (उन्नमन्तीत्यर्थः) ऐसा कोई प्रयोग नहीं ।

८. स्त्यै ष्ट्यै भ्वा० प० । पर इसका प्रसार (फैलना) अर्थ नहीं है ।

पतत्यपि' '**द्रवादेस्तु** क्षरति च्यवते तथा ।
स्कन्दति श्च्योतति तथा स्रवत्यपि गलत्यपि ॥२०८॥
रीयते स्यन्दते चात्र श्चोततीति क्रिया **नव**' ।
विलीयते द्रवति च **कठोरक्षरणे द्वयम्** ॥२०९॥
'**अस्तंगमे**ऽस्तमयते निम्लोचत्यस्तमेति च' ।
'**अन्तर्द्धाने** तिरोन्तर्भ्यामुभे धत्ते दधाति[1] च' ॥२१०॥
'अपक्रामत्यपैतीति नश्यत्यपि पलायते ।
प्रायोऽपपूर्वा गत्यर्था अपयाने प्रकीर्तिताः ॥२११॥
'**पराङ्मुखत्वे** तु परावर्तते च पराञ्चति' ।
'अतिक्रामत्युच्चरते तथातिचरतीत्यपि ॥२१२॥
अत्येत्युल्लङ्घयत्याद्या धातवः **स्युरतिक्रमे** ।
'**निष्कासने** तु निष्क्रामत्यवकर्षति चात्र हि ॥२१३॥
निष्कालयति निःसारयति चेत्यादयः क्रियाः ।
संनिकर्षति[2] तु प्रत्यासीदत्यासीदतीत्यपि ॥२१४॥
परस्मै संनिकृषते संनिधत्ते तु **संनिधौ** ।
'**प्राप्तौ** प्राप्नोति लभते विन्दतेऽनुरुणद्धि[3] च ॥२१५॥
अनुरुन्धे भावयते विन्दत्यासादयत्यपि' ।
'व्याप्नोति व्यश्नुते **व्याप्तौ** वेवेष्टीत्यात्मनेऽपि च' ॥२१६॥
'पर्याप्नोति तु शक्नोति क्षमते प्रभवत्यपि ।
कल्पते पारयति च **सामर्थ्ये**ऽत्र पदानि **षट्**' ॥२१७॥
'**उद्यमे** चावगुरते[4] उद्गूरयत इत्यपि ।
उद्यच्छति तथोद्युङ्क्ते स्युः **पञ्चो**द्यच्छतेऽपि च' ॥२१८॥

---

१. तिरोधत्ते । अन्तर्धत्ते=तिरोहित हो जाता है ।

२. शुद्ध कर्ता में इस अर्थ में प्रयोग दुर्लभ है । कर्मकर्तरि 'संनिकृष्यते' ऐसा कहना चाहिये ।

३. प्राप्ति अर्थ में रुध् का अव-पूर्वक प्रयोग होता है । अनु-पूर्वक नहीं ।

४. उद्यम् का अर्थ उठाना, उद्योग करना है । अव-गुरी तुदा० आ०, गूर् चुरादि मारने के लिये शस्त्रादि उठाने अर्थ में प्रयुक्त होती हैं, उद्योग अर्थ में नहीं । उद्यम् (उद्यच्छति) दोनों में प्रसिद्ध है ।

'**वेष्टने**[1] वेष्टत इति परिक्षिपति चात्मने ।
परिश्रयति चेति द्वे वेष्ट्यत्यादयोऽपि च' ॥२१९॥
'निरुणद्धि निगृह्णात्यात्मने च **द्वौ निरोधने** ।
जयत्याक्रामति तथा धर्षयत्यपि धर्षति ॥२२०॥
विलङ्घयत्यभिभवत्यपि च न्यक्करोति च ।
तथा विजयते चास्कन्दतीत्य**भिभवे नव**' ॥२२१॥
विशेषय**त्यतिशये** विशिनष्टि प्रकर्षति ।
विशेष[2]त्यतिशेते च तथोत्कर्षयतीति च ॥२२२॥
उत्कृष्यते द्वयं कर्मकर्तर्यत्रातिरिच्यते ।
धूनने कम्पयत्यत्र तथा वेपयतीति च ॥२२३॥
त्रयं धुनोति धूनोति धुनातीत्यात्मनेऽपि च ॥२२४॥
धुवत्येवं धूनयति चलयत्यपि **चाष्टकम्** ।
कम्पे तु कम्पते त्वङ्गत्येजतेऽत्र च वेपते ॥२२५॥
लोलतीति क्रियाः षट् स्युः परिप्लवत[3] इत्यपि ।
आहन्ति ताडयति च **ताडने** जासयत्यपि[4] ॥२२६॥
प्रहरत्यात्मने चाथ' **तद्धदे** कुट्टयत्यपि ।
आस्फालय[5]त्यर्दयति तथैवाघट्टयत्यपि ॥२२७॥
विध्यति च्छिद्रयत्यत्र **वेधे**' भेदयति **त्रयम्** ।
आहतेऽकर्मकत्वे स्यात्स्वकीयाङ्गे च **कर्मणि** ॥२२८॥
'युध्यते संप्रहरते संग्रामयत इत्यपि ॥

---

१. वेष्टन = घेरना ।

२. शिष असर्वोपयोगे चुरादि आधृषीय । णिज्विकल्प ।

३. परिप्लु का हिलना, चञ्चल होना अर्थ यहाँ स्वीकार किया है । यह अर्थ परिप्लव, पारिप्लव कृदन्त शब्दों में तो प्रसिद्ध है, पर तिङन्त रूप में अप्रसिद्ध है । पारिप्लव में स्वार्थ में अण् तद्धित हुआ है ।

४. हिंसायाम् चुरा० । इसका प्रहार करना अर्थ नहीं । उज्जासयति = नष्ट भ्रष्ट करता है ।

५. आस्फाल् धातुपाठ में नहीं पढ़ी । 'बहुलमेतन्निदर्शनम्' इस गणसूत्र के अनुसार चौरादिक मानी जाती है ।

विगृह्णाति विगृह्णीते समरे कलहायते[1]'।
'पराक्रमे वीरयते पराक्रमत इत्यपि ॥२२६॥
ओजायते शूरयते तथा विक्रमते[2]ऽपि च'।
'हिनस्ति संज्ञपयति सूदते हन्ति तर्दति ॥२३०॥
प्रमापयत्यर्दयते निबर्हयति हिंसति।
तृणेढि घातयति च शृणात्युज्जासयत्यपि ॥२३१॥
प्रतिष्किर[3]त्यालभते[4] कषते मारयत्यपि।
कषत्युन्माथयत्यत्र क्षिणोतीत्यात्मनेऽपि च ॥२३२॥
क्षेणोति द्वे विशसति निस्तर्हयति रध्यति।
षड्विंशतिः सूदयति हिंसायां हिंसयत्यपि' ॥२३३॥
'कृणोति[5] कृणुते पुथ्यत्यपि क्रथति तुम्फति।
मीनात्युन्नाटयत्याद्या हिंसायां विरलोदयाः ॥२३४॥
'पीडने तु व्यथयति क्लिश्नाति च दुनोति च।
तपते ग्लापयत्यत्र बाधते पीडयत्यपि ॥२३५॥
धूपायति ग्लपयति तुदति क्लेशयत्यपि।
दुःखाकरोत्यात्मनेऽपि तुदते खेदयत्यपि ॥२३६॥
दुःखयत्युत्क्लमयति स्यात्कदर्थयतीत्यपि'।
'भनक्ति त्रोटयति च रुजत्यामर्दयत्यपि' ॥२३७॥
'क्षुणत्ति[6] अदते क्षुन्ते मृद्नाति च पिनष्टि च।
संचूर्णयत्यथ' 'ध्वंसयति क्षपयतीत्यपि ॥२३८॥

---

१. कलहायते=कलहं करोति। झगड़ा करता है।

२. यहाँ आत्मनेपद की प्राप्ति नहीं।

३. प्रति कॄ। हिंसार्थ में कॄ को सुट् आगम होता है। 'प्रतिस्किरति' ऐसा शुद्ध रूप होगा। षत्व की प्राप्ति नहीं।

४. आङ् लभ् का पशुयाग में ही प्रयोग होता है। कष् परस्मै० ही है।

५. कृवि हिंसाकरणयोश्च भ्वा० प०। 'कृणुते' यह प्रामादिक है। कृणोति आदि विरलोदय (विरलप्रयोग) हैं।

६. क्षुणत्ति=संचूर्णयति। क्षुद् श्नम् ति। क्षुणत्ति आदि का सामान्य पीडन अर्थ नहीं, किन्तु चूर्ण करना अर्थ है।

नाशने नाशयति च तिस्रो' 'ऽथोन्**मूलने** क्रियाः ।
उन्मूलयत्युत्खनति तथोज्जटयतीति च' ॥२३६॥
'उत्पाटयत्युत्खनते षडुद्धरति चात्मने ।
उल्लुञ्चतीति **केशादेरुत्पाटनविधौ** क्रियाः' ॥२४०॥
'**द्विधाकृतौ** पाटयति फालयत्यंशुकादिनः' ।
'निष्पीडयति निश्च्योतयति निर्गालयत्यपि' ॥२४१॥
वैरशुद्धौ प्रतिकरोत्यत्र निर्यातयत्यपि' ।

इति क्षत्रियचेष्टावर्गः ॥

कर्षणे तु कृषत्यत्र कृषते[1] कर्षतीत्यपि ॥२४२॥
रदत्येवं विलिखति खनत्यपि हलत्यपि ।
'आलोडयति **संगाहे** तथा संगाहतेऽपि च' ॥२४३॥
वपत्यु**प्तौ** प्रकिरति वपते ऽप्यथ **रोपणे** ।
'मूलयत्यपि संरोहयति संरोपयत्यपि' ॥२४४॥
स्थिरतायां ध्रुवत्यत्र मूलति प्रतितिष्ठति ।
शोषे तु शुष्यति तथा शुण्ठत्याश्यायते[2]ऽपि च ॥२४५॥
वापयतीति[3] च' '**सेके** तु सिञ्चत्यार्द्रीकरोति च ।
आत्मनेऽपि द्वयं वर्षत्यार्द्रयत्यपि शीकते ॥२४६॥
उनत्ति क्लेदयति च क्नोपय[4]त्युक्षतीति च ।
आर्द्रीभवत्यार्द्रभावे क्लिद्यति स्तिम्यतीति च ॥२४७॥

---

१. मूल में यहाँ 'कर्षते' पढ़ा था, पर कृष् भ्वा० आत्मनेपदी होती नहीं, अतः हमने शुद्ध कर दिया। यह भी ध्यान देने योग्य है कि हल चलाने अर्थ में तुदा० कृष् का ही प्रयोग देखा जाता है।

२. आङ् पूर्वक श्यैङ् का प्रयोग द्रवद्रव्य का संघात-रूप में परिणत होना, इस प्रकार के सूखने में होता है। यथा पन्थान आश्यानकर्दमाः। निदाघे शुष्यन्ति तरूणां पत्त्राणि, यहाँ 'आश्यायन्ते' नहीं कह सकते।

३. (ओ) वै शोषणे भ्वा० प० अकर्मक है, अतः सुखाने अर्थ में णिच् किया है। वै—वा पुक् णि शप् ति=वापयति। मूल में 'वाययति' अशुद्ध रूप मुद्रित था।

४. क्नूय् भ्वा० आ० अकर्मक है, अतः गीला करने अर्थ में णिच् का प्रयोग किया है।

वर्धने वर्धयत्यत्र बृंहयत्येधयत्यपि ।
संचये संबिभर्तीति[1] संचिनोत्यात्मने त्रयम् ॥२४८॥
तथैवोपचिनोत्यत्र संभाण्डयत[2] इत्यपि ।
राशीकारे पुञ्जयति कूटयत्यत्र युग्मकम्' ॥२४९॥
उच्चिनोति शिलत्**युञ्छे** त्रयमु**ञ्छय**तीत्यपि ।
अवहन्तीति **वैतुष्यकरणे** कण्डयत्यपि ॥२५०॥
फलीकरोति वितुषीकरोतीत्यात्मने द्वयम् ।
[3]पुरापुनात्यात्मनेऽपि प्रस्फोटयति[4] तत्समाः ॥२५१॥
मिमीते मायते[5] **माने** तथा मातीत्यकर्मकम् ।
तोलयत्यत्र **हेमादिमाने** तुल[6]यतीत्यपि ॥२५२॥
विक्रीणीते निमयतेऽवक्रीणीते च **विक्रये** ।
सत्याकरोत्यात्मनेऽपि तुल्ये सत्यापयत्यपि ॥२५३॥
क्रीणीते विनिमयते क्रीणातीति **क्रये तिस्रः** ।
स्यान्**नैपुण्ये** निपुणाति[7] निष्णाति च दक्षते चात्र ॥२५४॥
अर्जनेऽर्जत्यर्जयति गणने गणयत्यपि ।
कलयत्यपि संख्याति[8] **गुणने** गुणयत्यपि ॥२५५॥

---

१. संभार=सामग्री । संभृ=इकट्ठा करना ।

२. भाण्डानि समाचिनोति=संभाण्डयते । णिङ् ।

३. यहाँ मूलकारिकाकार को सम्भवतः परापुनाति पाठ अभिमत होगा। पर 'परा' का प्रयोग भी कहीं देखने में नहीं आता । परि पू का प्रयोग मिलता है—तितउः परिपवनं भवति । अव हन् आदि के साथ परा (परि) पू तथा प्रस्फुट् णिच् समानार्थक नहीं हैं । 'तत्समाः' कहना अनुचित है । परि पू का छानना अर्थ है । अव हन् का कूटना ।

४. प्रस्फुट् णिच्=सूप से फटकारना । अतः अमर का पाठ है—प्रस्फोटनं तु शूर्पोऽस्त्री ।

५. माङ् दिवा० आ० है ।

६. तुलां करोतीति विग्रहः । तुला=सादृश्य । तुलयति बराबर होता है । धातु सकर्मक है ।

७. निपुणाति, निष्णाति—यह कहीं भी प्रयुक्त नहीं हैं । केवल क्तान्त रूप देखकर कल्पित कर लिये गये हैं ।

८. न्यासकार के अनुसार सम्पूर्वक ख्या का तिङन्त रूप में प्रयोग नहीं होता । संचष्टे (गिनता है) ऐसा कहना चाहिए ।

आहन्तीति द्वयं **प्रोञ्छे** प्रोञ्छत्युत्सारयत्यपि ।
तद्भेदे लुम्पते लुम्पत्यत्र मार्जति **च त्रयम्** ॥२५६॥
विभागे वण्टयत्यत्र विभजत्यत्र विभजत्यात्मनेऽप्यदः ।
विभाजयत्यंशयति वण्टत्यपि च **पञ्चकम्** ॥२५७॥
तिरस्करोत्यपिदधात्यत्र व्यवदधात्यपि ।
पिदधात्यावृणोतीति संवृणोति स्तृणोति च ॥२५८॥
स्तृणातीत्यात्मनेऽप्य**ष्टौ**[1] तथा संगोपयत्यपि' ।
अपवारयति च्छादयति स्थग[2]यतीत्यपि ॥२५९॥
तिरय[3]**त्यावृतौ**, चाथ **निक्षेपे** निक्षिपत्यपि ।
निक्षिपत्यात्मनेऽपि द्वौ तथोपनिदधाति च ॥२६०॥
न्यस्यति प्रतिदत्ते[4], 'ऽथ निष्क्रयीकुरुते तथा' ॥
स्यात्प्रत्युपकरोत्यत्र निर्ऋणीभवतीति च' ॥२६१॥
प्रत्यर्पयतीति तु **न्यासार्पणे** निर्यातयत्यपि' ।
'अपेक्षतेऽभ्यर्थयते वनुतेऽर्दति नाथति ॥२६२॥
याच्ञायां भिक्षते मार्गयते याचति याचते' ॥
'मार्गत्यन्विच्छति गवेषयत्यन्विष्यतीति च ॥२६३॥
अन्वेषते[5] मार्गयति विचिनोत्यात्मनेऽप्यदः ॥
अन्वेषणे मृगयते[6] मृग्यतीति[7] **नव** क्रियाः ॥२६४॥

---

१. तिरस् कृ आदि आठ धातुएँ उभयपदी हैं। इनका तथा तिरयति पर्यन्त धातुओं का ढाँपना, छुपाना, ढकना, बन्द करना अर्थों में प्रयोग होता है। व्यव धा का ओट में रखना, जुदा करना अर्थ है। पर्वतको ग्रामाद् नदीं व्यवधत्ते ।

२. स्थग् लौकिक धातु है। धातुपाठ में नहीं पढ़ी। स्थगितमम्बुदैरम्बरम्, आकाश बादलों से घिर गया है। द्वारं पिधेहि, दर्वाजा बन्द कर दो।

३. तिरस् णिच्। टि लोप।

४. प्रतिदत्ते 'न्यास लौटाता है'—यही अर्थ है। इसका यहाँ अस्थाने पाठ है।

५. अनुएषृ (एष्) भ्वा० आ०। मार्ग् से लेकर नौ धातुएँ सभी अन्वेषणार्थक हैं।

६. मृग अन्वेषणे चुरा० अदन्त, आ०।

७. मृग कण्ड्वादि।

'दोहानुकूल्ये दुग्धे गौः' 'प्रस्नुते च **स्वयं स्रवे** ।
वियोजयति विश्लेषयति चात्र **वियोजने** ॥२६५॥
वियुज्यते विघटते तथा विश्लिष्यतीति च ।
विच्छिद्यते द्वयं कर्मकर्तरि व्यतिरिच्यते ॥२६६॥
'मिश्रणे मिश्रयत्यत्र तथा संयोजयत्यपि ।
कषयत्यत्र संमेलयति च्छुरयतीत्यपि ॥२६७॥
संयुनक्ति च **सप्तात्र** क्रियाः संघट्टयत्यपि' ।
'संयुज्यतेऽतिसंयौति संपृणक्त्यात्मनेऽपि च ॥२६८॥
संभिद्यते कर्मकर्तर्यत्र संसृज्य[1]**तीत्यदः** ।
संबध्नाति[2] मिलत[3]यत्र संगच्छति[4] च **संगतौ**' ॥२६९॥
विना कर्मात्मने चात्र तथा संनिपतत्यपि ।
उपसीद[5]त्युपनमत्यत्र स्यादुपकण्ठते' ॥२७०॥
तद्भेदे समवैतीति सचते चासजत्यपि ।
व्यतिषज्यत इत्येतत्पदं स्यात्कर्मकर्तरि ॥२७१॥
उत्फणत्युच्छलति च तथोद्रिच्यत इत्यपि ।
उत्सिच्यते तथो**त्सेके द्वितयं कर्मकर्तरि** ॥२७२॥
'उत्क्षेपणे तून्नयति तथोत्क्षिपति चात्मने ।
उदस्यत्युद्धरति च चत्वार्युत्तम्भयत्यपि ॥२७३॥
आनीतावानयत्येतदाहरत्यपि चात्मने ।
संमार्जयति संमार्ष्टि तथा परिसमूहति ॥२७४॥
आत्मनेऽपि च **संमार्गे**[6] 'उपदेग्ध्युपलिम्पति' ।

---

१. (सम्पूर्वक) सृज् दिवा० आ० अकर्मक । यह परस्मैपदी नहीं । संसृज् तुदा० सकर्मक है ।

२. सम् बन्ध् (सकर्मक), जोड़ना ।

३. मिल् मिलना, संगत होना, अकर्मक ।

४. सम् गम् जब अकर्मक हो तो आत्मनेपदी होती है ।

५. पास जाना, निकट होना । उप सद् नित्य सकर्मक है । उप नम् सकर्मक और अकर्मक दोनों । उपकण्ठ् का तिङन्त प्रयोग नहीं मिलता ।

६. संमार्ग, झाड़ू देकर सफाई करना । अग्नि परिसमूहति, ऐसा प्रयोग होता है । समूहिनी संमार्जनी (झाड़ू) का नाम है ।

आत्मनेऽपि पदद्वन्द्वं गोमयत्युपलेपने' ॥२७५॥
संदीपने ज्वलयति तथा संदीपयत्यपि ।
उद्द्योतयति संधुक्षयति च ज्वालयत्यपि ॥२७६॥
पाके तु रन्धयत्यत्र पचतीत्यात्मनेऽप्युभे ।
अधिश्रयति च श्राति[1] श्रपयत्यपि रध्यति ॥२७७॥
रध्यते पच्यते कर्मकर्तृकेऽत्र च राध्यति[2] ।
भर्जते[3] **पाकभेदे** स्यात्त्रयं भृज्जति भृज्जते ॥२७८॥
द्रवीकृतौ लीनयति लयति द्रावयत्यपि ।
लालयत्यपि वा लाययति लापयतीत्यपि ॥२७९॥
संदधात्यात्मने चाभिषुणोत्य**भिषवे द्वयम्** ।
स्वदते रोचते **रुच्यां संस्कृतौ** संस्करोत्यदः ॥२८०॥

इति वैश्यक्रियावर्गः ॥

आत्मने वयति **व्यूतावूयते**[4]ऽथ विषीव्यति ।
तथा निषीव्यति **स्यूतौ**[5] परिषीव्यति सीव्यति ॥२८१॥
तक्षति श्यति तक्ष्णोति कृश्यति ह्रसयत्यपि ।
तक्षणे[6] त्वक्षति तथा परिवास[7]यतीत्यपि ॥२८२॥
संक्ष्णुते **तीक्ष्णकरणे** क्ष्णौति चोत्तेजयत्यपि ।

---

१. श्रा पाके अदादि अकर्मक है । इसका पकना अर्थ है, पकाना नहीं । अधि श्रि भ्वा० उ० का अर्थ चुल्हे पर चढ़ाना है—स्थालीमधिश्रयति । चूल्हे से उतारने को अधः श्रयति कहते हैं । सीधा पकाना अर्थ नहीं, पकाने के लिए चढ़ाना अर्थ है ।

२. राध् जब अकर्मक हो तभी इससे श्यन् आता है । यहाँ पकाना अर्थ विवक्षित है, अतः श्यन् नहीं आ सकता ।

३. भर्जते=भूनता है । ऋजि भृजी भर्जने भ्वा० आ० ।

४. ऊयी (ऊय्) तन्तुसन्ताने (बुनना) । भ्वा० आ० ।

५. स्यूति=सीना । विषीव्यति आदि में वि, परि, नि उपसर्गों के योग से धातु सिव् के 'स्' को 'ष्' हुआ ।

६. तक्षण=तराशना, छीलना ।

७. परिपूर्वक वास् चुरा० ।

निशिनोति निशीशांस[1]त्यात्मनेऽपि पदद्वयम् ॥२८३॥
छेदने कृन्तति च्छिन्त्ते च्छिनत्ति च्छेदयत्यपि ।
छ्यति वर्धयती[2]त्यत्र वृश्चतीत्यथ **तद्भिदि** ॥२८४॥
प्रायो लुनीते **धान्यादेश्छेदे** दाति लुनाति च ।
त्रुटति त्रुटयति **च्छेदे** च्छिद्यते कर्मकर्तृके ॥२८५॥
भिन्त्ते विदारयति च भिनत्ति च **विदारणे** ।
आखण्डयत्यपि स्फोटयति भेदयति द्यति ॥२८६॥
परीक्षते निकषते[3] **शुद्धत्वादिविनिर्णये** ।
प्लोषति प्लुष्यति दहत्योषति ज्वलयत्यपि ॥२८७॥
मुष्णाति चोरयत्यत्र लुण्ठयत्यपि **मोषणे** ।
आत्मने चापि हरति म्लोच[4]त्यत्र च लुण्टति ॥२८८॥
उल्लुण्ठत्याच्छिनत्तीति द्वयमेतद् **बलाद्धृतौ** ।
प्रसहत्या[5]त्मनेऽप्यत्र हठतीति **बलात्कृतौ** ॥२८९॥
निष्कुष्णाति तु **निष्कर्षे** तथा निष्कर्षतीत्यपि ।
संदानयति[6] बध्नाति तथा संद्यति कीलति ॥२९०॥
नह्यतीत्यात्मने त्रीणि संयच्छति सिनोति च ।
पाशयत्यपि **बन्धे** च......॥२९१॥
'**स्तम्भे** स्तम्भते स्कम्भते तथा' ।
'अथ **स्तब्धीकृतौ** स्तुम्भयति स्कम्भयतीत्यपि' ॥२९२॥
प्रतिबध्नाति च तथा **विघ्ने** प्रत्यर्थयत्यदः ।

---

१. निपूर्वक शान तेजने से स्वार्थ में सन् । अनुदात्तेत् । अतः 'निशीशांसते' यही साधु है ।

२. वर्ध चुरादि० । इसी से वर्धकि (बढ़ई) शब्द व्युत्पन्न होता है ।

३. कष् भ्वा० प० । 'निकषते' असाधु है । स्वर्णं कषति (निकषति) स्वर्णकारः ।

४. म्लुच् गत्यर्थक है । यद्यपि 'मलिम्लुच' शब्द में स्तेय अर्थ स्पष्ट है । ग्रुच्, ग्लुच् तो स्तेयार्थक पढ़ी हैं ।

५. प्रसह् अभिभव अर्थ में रूढ है और सकर्मक है । हठ् बलात्कार अर्थ में अकर्मक है । तिङन्त रूप में प्रयोग दुर्लभ है ।

६. सम्-पूर्वक दान अवखण्डने तथा सम्-पूर्वक दो अवखण्डने का अर्थ 'बाँधना' हो जाता है ।

तथा विहन्त्यन्तरेति[१] प्रत्यूहत्यात्मनेऽपि च ॥२९३॥
विघ्नयत्यन्तरयति' प्रत्यवैति[२] च दुष्यति ।
दुष्करोत्यघयत्यत्र[3] दुष्कृते पङ्कयत्यपि ॥२९४॥
संततौ संतनोतीति तथा संतनुतेऽपि च ।
अत्र संतायते संतानयतीति **चतुष्टयम्** ॥२९५॥

इति शूद्रक्रियावर्गः ॥

'प्रभाति व्युच्छति **व्युष्टे** प्रत्यूषति[४] विभाति च ।
'**सूर्येन्दुग्रहणे** तूपप्लवते चोपरज्यति' ॥२९६॥
उपसंहरतीति स्यात्तथा निगमयत्यपि । (उपसंहारे)

इति प्रकीर्णवर्गः ॥

---

१. अन्तर् इण् का अर्थ वैदिक साहित्य में छोड़ना प्रसिद्ध है । तमन्तर् इत्य = तं मुक्त्वा, तं वर्जयित्वा । यहाँ इण् अन्तर्लीनण्यर्थक है ।

२. प्रति अव इण् का अर्थ शास्त्रातिक्रम के कारण दोष का भागी होना है । यह अकर्मक है ।

३. अघं पापं करोतीत्यघयति ।

४. ऊष रुजायाम् भ्वा० प० । प्रतिपूर्वक ऊष् का 'पौ फटना' अर्थ अत्यन्त अप्रसिद्ध है । प्रत्यूष (पुं०) प्रभात काल को कहता है ।

इति समानार्थकधातुविषयकस्तृतीयोऽनुबन्धः ।

समाप्तश्चायङ्ग्रन्थः ।

इति श्रीचारुदेवशास्त्रिणः कृतिषु व्याकरणचन्द्रोदये तिङन्त-निरूपणस्तृतीयः खण्डः पूर्तिमगात् ।

शुभं भूयादध्यायकानामध्यापकानां च ।

एतद्ग्रन्थोपात्तसूत्रवार्तिकादीनां सूची

एतद्ग्रन्थोपात्तधातूनां सूची

(अत्र धातूनां निरनुबन्धकरूपाणि दीयन्ते)

अशुद्धशोधनम्

पृष्ठे	पङ्क्तौ	अशुद्धम्	शुद्धम्
३	११	भदान्	भवान्
१२	६	क्षिये	क्षये
२३	७	अग्मि	अग्नि
२६	२४	पुप्	पुष्
३६	१२	अकाानषम्	अकानिषम्
४१	१६	इप्, गप्	इष्, गम्
५५	४	ऽन्तपक्त्यां	ऽन्नपक्त्यां
५६	२१	तिष्ठन्ति	तिष्ठति
७६	१६, २०	पा०	प०
८२	२७	समार्ते	समीर्ते
८४	६	ईशताम् (अस्पष्ट)	ईशताम्
"	१२	मर्त्थः	मर्त्यः
८७	११	अधाध्वम्	अधीध्वम्
६६	१२	वातये	वीतये
६८	८	यावापृथिवी	द्यावापृथिवी
१२८	१५	नैसद्	नैतद्
१४२	२७	श्नविकरणाः	श्नुविकरणाः
१४६	६	त्वातिचरामसि	त्वातिचृतामसि
१५०	४	स्नेह (तल् —)	स्नेहे (तिल्)
१६५	७	तञ्च्	तञ्चू
१६७	२०	ऋजुते	ऋणुते
२११	२६	कृत-चृद्	कृत-चृत
२३६	६	अस्त्रम्भिषि	अस्रम्भिषि
२४६	टि० १	स्वृ सेट्	स्वृ अनिट्
२५८	२३	स्ट्यै	ष्ट्यै

यहाँ दिये हुए रूपों में षत्वादि-रहित 'अस्त्यासीत्' आदि रूप शुद्ध जानें ।

पृष्ठे	पङ्क्तौ	अशुद्धम्	शुद्धम्
२६१	१२	अघृक्षत	अघृक्षन्त
२७२	टि० २	लघु 'उ' को	लघु 'उ'को दीर्घ ।
४६४	टि० १	दाणश्चतुर्थ्यर्थे	दाणश्च सा चेच्चतुर्थ्यर्थे

टिप्पणाभावपूर्तिः

अनवधानवश कुछेक अपेक्षित टिप्पण रह गये हैं। उन्हें यहाँ दिया जाता है और कुछ एक का अस्थान में संनिवेश हुआ है उन का उचित स्थान निर्दिष्ट किया जाता है—

पृ० १२७. ञाजनोर्जा (७।३।७९)—यह पृ० १२५ पर चाहिये।

,, १२५. ऋत इद् धातोः (७।१।१००)—यह पृ० १२४ पर चाहिये।

,, १९१. के नीचे धून्प्रीञोर्नुक् (वा०) पढ़ें।

,, २६९. स्रवति-शृणोति-आदि सूत्र पृ० २७० के नीचे चाहिये।

पृ० २९० के नीचे भञ्जेश्चिणि (६।४।३३) पढ़ें।

,, ३०५ के नीचे सन्लिटोर्जेः (७।३।५७)—यह टिप्पण १ के रूप में पढ़ें।

,, ३१६ के नीचे न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम् (३।१।३७) विधि सं० ३४५ के सम्बन्ध में पढ़ें।

,, ४४६ के नीचे कण्ड्वादिभ्यो यक् (३।१।२७) पढ़ें।

,, ४९० तपोऽनुतापे च (३।१।६५)—यह पृ० ४९९ के नीचे चाहिये।